विषय-सूची

दिव्य जीवन

द्वितीय ग्रंथ

पूर्वार्द्ध

परिशिष्ट

दिव्य जीवन

द्वितीय ग्रंथ

विद्या एवं अविद्या

– आध्यात्मिक क्रमविकास

पूर्वार्द्ध

अनंत चेतना और अविद्या



श्री अरविंद

अध्याय एक

अनिर्दिष्ट, विश्व-निर्देशनाएं और अनिर्देश्य

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-
प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम्. . . स आत्मा स विज्ञेयः ।।

वह अदृष्ट जो अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, लक्षणरहित है, अचिंत्य है, नामके द्वारा अनिर्देश्य है, एकात्मप्रत्यय ही जिसका सार है, विश्व-प्रपंचका जिसके अंदर उपशम हो गया है, जो 'शान्तं शिवम्', शांतिमय एवं आनंदमय है—वही वह आत्मा है, वही वह है जिसे जानना है।

—माण्डूक्योपनिषद्
7

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।

कोई उसे आश्चर्यवत् देखता है, कोई उसकी चर्चा आश्चर्यवत् करता है, कोई उसे सुनता है आश्चर्यवत्, किन्तु उसे जानता कोई नहीं।

—गीता
2.29

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
. . . . सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।

जो अक्षरकी, अनिर्देश्यकी, अव्यक्तकी, सर्वत्रगकी, अचिंत्यकी, कूटस्थ आत्माकी, अचलकी, ध्रुवकी खोज करते हैं,—सर्वत्र समबुद्धि रखनेवाले, सर्वभूतोंके हितमें रत वे लोग मुझे ही प्राप्त करते हैं।

—गीता
12.3,4

. . . . बुद्धेरात्मा महान्परः ।।
महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

बुद्धिसे परे महान् आत्मा है, महान् आत्मासे परे अव्यक्त है, अव्यक्तसे परे पुरुष है। उस पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है, वह परा काष्ठा है, वह परा गति, परम लक्ष्य है।

—कठोपनिषद्
3.10,11

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।

जिसके लिये सब कुछ वासुदेव है, ऐसा महात्मा दुर्लभ है।
—गीता
7.19

एक चित्-शक्ति है,—सत्तामें सर्वत्र अंतर्निहित, गुप्त रहते हुए भी क्रियाशील,—वही लोकोंकी स्रष्ट्री है, प्रकृतिका गुप्त रहस्य है। किंतु हमारे भौतिक जगत्में और हमारी अपनी सत्तामें चेतनाका युगल पक्ष रहता है; एक है ज्ञानकी शक्ति, एक है अज्ञानकी शक्ति। आत्म-संविद् अनंत सन्मात्रकी अनंत चेतनामें ज्ञान सर्वत्र निहित होगा या उसकी क्रियाके मर्म-मर्ममें सक्रिय होगा; किंतु यहाँ तो हमें वस्तुओंके आरंभमें एक निश्चेतना, एक सम्पूर्ण निर्ज्ञान ही सृष्टिकर्त्री विश्व-ऊर्जाके आधार या स्वभाव-रूपमें प्रकट होता दीखता है। इसी पूंजीसे भौतिक विश्वका प्रारंभ होता है। चेतना और ज्ञान प्रथमतः उन्मज्जित होते हैं तिमिरावृत अत्यणु गतियोंमें, बिंदुओंपर, लघु प्रमात्राओंमें जो साथ-साथ समाहृत होती हैं; एक धीमा और कठिन विकासक्रम होता है, चेतनाकी क्रियाओंका एक धीमे-धीमे वर्द्धित होता हुआ संगठन और सुधरता हुआ यंत्र-विन्यास होता है, निर्ज्ञानकी कोरी स्लेटपर अधिकाधिक लाभ अंकित किये जाते हैं। किन्तु, फिर भी, इनका रूप एक खोज करते अज्ञानकी, उस अज्ञानकी अर्जित प्राप्तियों और निर्माणोंका है, जो जाननेकी, समझनेकी, अन्वेषणकी, और धीमे-धीमे, संघर्ष करता हुआ, ज्ञानमें परिवर्तित होनेकी कोशिश करता है। यहाँपर प्राण सर्वसामान्य मृत्युकी नींवपर और पर्यावरणमें अपनी क्रियाओंको

कठिनाईसे स्थापित करता और बनाये रखता है, यह वह प्रथमतः प्राणके अत्यणुओंमें करता है, प्राण-रूप और प्राण-ऊर्जाकी प्रमात्राओंमें करता है, वर्द्धित होती संहतियोंमें करता है, और ये संहतियाँ अधिकाधिक जटिल अवयव-संस्थानोंकी, पेचीदे जीवनयंत्रकी सृष्टि करती हैं; उसी प्रकार, चेतना भी एक आदि निर्ज्ञान और वैश्व अज्ञानके अंधकारमें एक वर्द्धमान किंतु अस्थिर ज्योतिको स्थापित करती और बनाये रखती है।

और फिर, हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वह वस्तुओंके तत्त्वका या अस्तित्वके आधारोंका नहीं, अपितु दृश्य रूपोंका होता है। जहाँ कहीं हमारी चेतनाका उस चीजसे मिलना होता है जो कि आधार प्रतीत होती है, वह आधार यदि शून्यका नहीं तो एक कोरी रिक्तताका रूप ले लेता है, एक ऐसी आदि अवस्थाका, जो लक्षणहीन है और जहाँ ऐसे परिणामोंका समूह है जो उस आदि मूलमें अन्तर्निहित नहीं होते, और न उस आदि मूलमें ही ऐसा कुछ प्रतीत होता है जो उनका औचित्य सिद्ध कर सके या उनकी अवश्यंभाविता दृष्टिगोचर करा सके; ऐसी अधिरचनाका समूह खड़ा हो जाता है जिसका मूलगत अस्तित्वसे कोई स्पष्ट सहजात संबंध नहीं होता। विश्व-सत्ताका प्रथम रूप एक 'अनंत' होता है जो हमारी दृष्टिके लिये यदि अनिर्देश्य नहीं, तो अनिर्दिष्ट तो है ही। इस 'अनंत'में स्वयं विश्व, चाहे उसके ऊर्जा-रूपको लें, चाहे उसके रचना-रूपको, एक अनिर्दिष्ट निर्देशना, एक "असीम सांत" प्रतीत होता है। ये शब्द विरोधाभासी हैं, किन्तु आवश्यक भी; इनसे यह व्यंजित होता लगता है कि वस्तुओंके आधारमें बुद्धिसे अतीत रहस्य ही हमारे सम्मुख उपस्थित है; उस विश्वमें बहुत बड़ी संख्यावाले विविध सामान्य और विशेष निर्दिष्ट उद्भूत होते हैं जो 'अनंत'के स्वरूपके अन्दर दीखनेवाली किसी भी वस्तुके द्वारा समर्थित प्रतीत नहीं होते, बल्कि उसपर आरोपित किये गये, या, हो सकता है, स्वारोपित लगते हैं,—और प्रश्न यह होता है कि वे कहाँसे उद्भूत होते हैं। उन्हें उत्पन्न करनेवाली ऊर्जाको हम प्रकृतिका नाम देते हैं, किंतु इस शब्दसे कोई अर्थ नहीं निकलता जबतक कि हम यह न मान लें कि विश्वकी प्रकृति जैसी है वैसी वह एक शक्तिके कारण है जो उन्हें उनके अंतर्निहित सत्यके अनुसार संयोजित करती है। किंतु, स्वयं उस सत्यकी प्रकृति कहीं दिखाई नहीं देती; ये निर्दिष्ट जैसे हैं वैसे क्यों हैं, इसका कारण कहीं नहीं दिखाई देता। निस्संदेह, भौतिक वस्तुओंकी प्रक्रिया या बहुसंख्यक प्रक्रियाओंका पता लगाना मानव विज्ञानके लिये संभव रहा है, किन्तु यह ज्ञान मुख्य प्रश्नपर कोई प्रकाश नहीं डालता; हम

आद्य वैश्व प्रक्रियाओंका युक्तियुक्त समाधान तक भी नहीं जानते, क्योंकि जो परिणाम आते हैं वे उनके अवश्यम्भावी परिणाम-रूपमें नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक और वास्तविक परिणाम-रूपमें ही आते हैं। अंतमें, हम यह नहीं जानते कि ये निर्दिष्ट जिस आदि अनिर्दिष्ट या अनिर्देश्यपर—मानों अपने व्यवस्थित घटनकी प्रहेलिकामें रिक्त और सपाट पृष्ठभूमिपर—खड़े हैं, वे उसके अंदर या उससे बाहर आये ही कैसे। वस्तुओंके मूलमें हमारे सम्मुख एक 'अनंत' आता है जिसमें अव्याख्यात सांतोंका पुंज समाहित है, एक अविभाज्य आता है जो अंतहीन विभाजनोंसे भरपूर है, एक अक्षर आता है जो क्षरता और वैशिष्टयसे भरा है। समस्त वस्तुओंका आदि है एक विश्वव्यापी विरोधाभास, ऐसा विरोधाभास जिसका अर्थ समझनेकी कोई कुंजी नहीं।

निस्संदेह यह प्रश्न उठाना संभव है कि हमारे रूपायित विश्वको समाये रखनेवाले 'अनंत'की धारणा करनेकी क्या आवश्यकता है? किंतु यह भी है कि हमारा मन इस धारणाकी माँग अपनी धारणाओंके आवश्यक आधार-रूपमें अनिवार्यतः करता है,—क्योंकि वह देश या काल या सारसत्ताके लिये ऐसी कोई भी सीमा निर्धारित या नियत करनेमें असमर्थ रहता है जिसके परे कुछ भी न हो या जिसके पहले या बादमें कुछ भी न हो। यहाँ एक और विकल्प भी रहता है, वह है 'शून्य' या 'असत्' की धारणा; किंतु, 'शून्य' तो 'अनंत'की एक अगाधता मात्र ही हो सकता है जिसके अन्दर दृष्टिपात करनेसे हम इंकार करते हों; ऐसी दशामें, हमारे लिये जो कुछ सत् है उसे देखनेके लिये एक आधार-रूपमें, एक अभ्युपगम-रूपमें एक अनंत 'क' का स्थान असत्का एक अनन्त रहस्यमय शून्य ले लेगा। किंतु यदि हम भौतिक विश्व और उसकी बहुप्रचुर निर्देशनाओंके असीम विस्तारशील सांतके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको वास्तव माननेसे इंकार करते हैं तो भी पहेली वही-की-वही रह जाती है। अनंत सत्, अनंत असत् या सीमारहित सांत, ये सब हमारे लिये आदि अनिर्दिष्ट या अनिर्देश्य हैं; हम उनके लिये कोई स्पष्ट गुण, धर्म या आकार या ऐसा कुछ भी नियत नहीं कर सकते जो कि उनकी निर्देशनाओंको पूर्वनिर्दिष्ट करे। विश्वके मूलगत गुणधर्मको देश या काल या देश-कालके रूपमें वर्णित करनेसे भी हमें सहायता नहीं मिलती, क्योंकि यदि वे हमारी बुद्धि द्वारा रचित विमूर्तन ही न हों जिन्हें हम अपनी मनोदृष्टिसे विश्वपर आरोपित कर रहे हों, वे यदि विश्वके चित्रके निमित्त मनके लिये आवश्यक रहते परिप्रेक्ष्य ही न हों, तो भी वे अनिर्दिष्ट तो हैं ही, और उनके अन्दर

कोई ऐसा सूत्र नहीं मिलता जिससे कि उनके अन्दर घटित होनेवाली निर्देशनाओंके आदिका संधान मिल सके। यहाँ तक भी उस विचित्र प्रक्रियाकी व्याख्या नहीं हुई है जिसके द्वारा वस्तुएँ निर्दिष्ट होती हैं; न तो उनके बल, गुण तथा उपादानोंका स्पष्टीकरण हुआ है, न उनके सच्चे स्वभाव, उत्पत्ति और अर्थवत्ताका उद्घाटन ही।

हमारे विज्ञानके सामने यह अनंत अथवा अनिर्दिष्ट सत् वस्तुत: एक ऊर्जाके रूपमें प्रकट होता है; वह ऊर्जा अपने-आपके द्वारा नहीं, अपितु अपने कार्योंके द्वारा ज्ञात होती है, वह अपनी गतिमें शक्ति-तरंगोंको और उनमें असंख्य अत्यणुओंको उत्क्षिप्त करती है; ये अत्यणु वृहत्तर अत्यणु होनेके लिये समूहित होते हैं और, इस भांति, ऊर्जाकी समस्त सृष्टियोंके लिये, जो भौतिक आधारसे अधिकतम दूर हैं उनके लिये भी, संगठित जड़के जगत्के उन्मज्जनके लिये, प्राणके उन्मज्जनके लिये, चेतनाके उन्मज्जनके लिये, क्रमविकासशील प्रकृतिकी तब तक अव्याख्यात रह जानेवाली सारी क्रियाशीलताओंके लिये आधार बन जाते हैं। मूल प्रक्रियापर वहुसंख्यक प्रक्रियाएँ खड़ी की जाती हैं जिनका हम निरीक्षण कर सकते हैं, अनुसरण कर सकते हैं, उनमेंसे बहुतोंसे लाभ उठा सकते हैं, उन्हें व्यवहृत कर सकते हैं; किन्तु उनमेंसे कोई भी ऐसी नहीं है जिसकी, मूलभूत रूपसे, व्याख्या की जा सके। हम अब यह जानते हैं कि वैद्युत् अत्यणुओंके विभिन्न समूहन और विभिन्न संख्याएँ विभिन्न स्वभाव, गुण और बलवाले वृहत्तर परमाणविक अत्यणुओंकें प्राकटचके लिये संघटक सुयोग उत्पन्न कर सकते या बन जा सकते हैं,—इन्हें भूलसे कारण कहा जाता है, क्योंकि यहाँ वे केवल एक आवश्यक पूर्ववर्ती परिस्थिति ही प्रतीत होते हैं; किंतु हम यह जान पानेमें विफल रहते हैं कि ये भिन्न-भिन्न विन्यास इन भिन्न-भिन्न परमाणुओंको कैसे उत्पन्न करते हैं, अथवा, घटक सुयोग या कारणका वैशिष्टच घटित परिणाम या फलके वैशिष्टचको कैसे अवश्यम्भावी करता है। हम यह भी जानते हैं कि कतिपय अदृश्य परमाणविक अत्यणुओंके कतिपय संयोजन ऐसी नवीन और दृश्य निर्देशनाओंको उत्पन्न करते या उनकी उत्पत्तिके सुयोग प्रदान करते हैं जो अपने स्वभाव, गुण और बलमें अपने घटक परमाणुओंसे सर्वथा भिन्न होते हैं; किंतु, उदाहरणार्थ, हम यह नहीं जान पाते कि ऑक्सिजन और हाइड्रोजनके संयोजनका एक विशेष सिद्धांत-सूत्र जलका प्राकटच कैसे निर्धारित करता है, जब कि जल स्पष्टतया गैसोंके संयोजनसे अधिक कुछ होता है, एक नयी सृष्टि, पदार्थका एक नया रूप, एक विलकुल नये स्वरूपकी भौतिक अभिव्यक्ति होता है। हम देखते हैं कि वीज विकसित होकर

वृक्ष बन जाता है, हम इस रचनाकी प्रक्रिया-धाराका अनुसरण करते हैं और उसका उपयोग करते हैं, किंतु हम यह संधान नहीं पाते कि बीजसे वृक्ष कैसे विकसित होता है, वृक्षका प्राण और उसका रूप बीजके सत्त्व या ऊर्जामें कैसे अन्तर्हित हो गये, अथवा, बल्कि, यदि तथ्य ऐसा ही हो, तो बीज कैसे विकसित होकर वृक्ष बन जाता है। हम जानते हैं कि जीन (genes) और क्रोमोसोम (chromosomes) वंशगत संचरणोंका कारण होते हैं, केवल शरीरकी ही नहीं अपितु मनकी विभिन्नताओंका कारण भी, किंतु हम यह नहीं जान पाते कि मनके गुणधर्म इस निश्चेतन भौतिक वाहनमें कैसे धारित और संचारित हो सकते हैं। हम इसे जान या देख तो नहीं पाते, किंतु हमारे सामने प्रकृतिकी प्रक्रियाके विश्वस्त वर्णनके रूपमें यह प्रतिपादित किया जाता है कि एलेक्ट्रोनकी, परमाणुओं और उनसे बने अणुओंकी, कोषाणुओं, ग्रंथियों, रासायनिक स्रावों और शारीरिक प्रक्रियाओंकी ऐसी क्रीड़ा होती है जो किसी शेक्सपिअर या प्लाटोके स्नायुओं और मस्तिष्कपर ऐसी क्रिया करती है कि वह एक 'हैमलेट' या 'सिम्पोजियम' या 'रिपब्लिक'की रचना करा सकती है या उसकी रचनाके लिये क्रियात्मक सुयोग बन जाती है; किंतु हम यह नहीं जान या समझ पाते हैं कि ऐसी भौतिक क्रियाओंने इन उच्चतम कोटिके विचार और साहित्यकी रचना कैसे की होगी या उन्हें कैसे अवश्यम्भावी कर दिया होगा; यहाँ निर्देशक और निर्दिष्टके बीचका अंतर इतना चौड़ा हो जाता है कि इस प्रक्रियाको समझने या व्यवहृत करनेकी बात तो दूर, हम उसका अनुसरण भी नहीं कर पाते। विज्ञानके ये सिद्धांत-सूत्र व्यावहारिक रूपसे सही और अचूक हो सकते हैं, प्रकृतिकी प्रक्रियाओंके व्यावहारिक "कैसे"को शासित कर सकते हैं, किंतु उसके मर्मके "कैसे" या "क्यों"को प्रकट नहीं करते; बल्कि, वे किसी विश्व-मायावीके सिद्धांतसूत्र प्रतीत होते हैं जो सुनिश्चित हैं, अरोध्य हैं, जिनमें प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्रमें स्वचलित रूपसे सफल है, परंतु जिनका हेतु मूलतः अबोध्य है।

हमें उलझनमें डालनेवाली और भी बातें हैं; क्योंकि हम देखते हैं कि मूल अनिर्दिष्ट ऊर्जा अपने-आपके सामान्य निर्दिष्टोंको उद्भूत करती है, इन अनिर्दिष्टोंकी रूपधातुकी समुचित अवस्थाएँ और उस रूपधातुके निर्दिष्ट रूप होते हैं; उनकी रचनाओंके वैविध्यके संबंधमें देखते हुए हम उन निर्दिष्टोंको समान रूपसे जातिगत अनिर्दिष्ट कह सकते हैं,—ये निर्दिष्ट अपनी आधारभूत धातु-ऊर्जाके बहुसंख्यक, कभी-कभी असंख्य वैविध्य होते हैं: किंतु इनमेंसे कोई भी वैविध्य सामान्य अनिर्दिष्टकी किसी भी स्वभावगत

वस्तुसे पूर्वनिर्दिष्ट नहीं लगता। विद्युत-'शक्ति' अपने-आपके घनात्मक, ऋणात्मक और उदासीन रूप उत्पन्न करती है, ये रूप एक साथ ही तरंगें भी हैं और कण भी ; ऊर्जा-धातुकी एक वायवीय स्थिति विभिन्न गैसोंको बड़ी संख्या में उत्पन्न करती है ; ऊर्जा-धातुकी एक घनीभूत स्थिति होती है जिससे कि भूमि-तत्त्व उद्‌भूत होता है, उस स्थितिका विकास बहुत प्रकारकी भूमियों और चट्टानों और बहुसंख्यक खनिज पदार्थों और धातुओंके विभिन्न रूपोंमें होता है ; प्राण-तत्त्व अपने वनस्पति-प्रदेशकी रचना करता है जो बिल्कुल विभिन्न प्रकारके पौधों, वृक्षों, पुष्पोंके असंख्य प्रकारोंसे भरपूर होता है ; पशु-जीवनका तत्त्व जाति, उपजाति और वैयक्तिक वैचित्र्योंके एक विशाल वैविध्यकी उत्पत्ति करता है। इसी भाँति, वह तत्त्व मानव-प्राण और मन और उसके मानसिक प्ररूपोंमें होता हुआ, क्रमविकासके उस असमाप्त प्रकरणके अभीतक अलिखित रहनेवाले अंत या शायद अबतक गुह्य रहनेवाले उत्तरार्द्धकी ओर अग्रसर होता है। मूल निर्दिष्टमें एक सामान्य अभेदका अविच्छिन्न नियम सर्वत्र रहता है, और आधारभूत धातु तथा प्रकृतिके इस स्वरूपगत अभेदके अधीन जातिगत और वैयक्तिक निर्दिष्टोंमें एक प्रचुर वैचित्र्य रहता है; जाति या उपजातिमें भी अभेद अथवा सादृश्यका वैसा ही नियम प्रयुक्त रहता है, और वहाँ भी बहुसंख्यक वैविध्य रहता है जो व्यक्तिके अन्दर प्रायः सावधानीसे ब्योरोंतकमें निष्पन्न होता है। किंतु किसी सामान्य अथवा जातिगत निर्दिष्टके अन्दर हमें ऐसा कुछ नहीं मिलता जो उस निर्दिष्टसे उद्‌गत होनेवाले विविध निर्दिष्टोंको अवश्यम्भावी बनाता हो। आधारमें एक अपरिवर्तनीय अभेदकी और बाहरी तलपर निर्बंध तथा दुर्ज्ञेय विभिन्नताओंकी अनिवार्यता ही नियम जान पड़ती है, किन्तु वह कौन और क्या है जो इन्हें अनिवार्य बनाता या निर्दिष्ट करता है? निर्देशनाका हेतु क्या है, उसका मूल सत्य या उसका तात्पर्य क्या है? यह जो वैचित्र्यमय संभावनाओंकी उल्लासमयी क्रीड़ा है, जिसका लक्ष्य या अर्थ सृष्टिका आनन्द या सौन्दर्य होनेके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जान पड़ता, उसे विवश या प्रेरित करनेवाला कौन है? हो सकता है कि वह कोई 'मन' हो, कोई अन्वेषक और कुतूहली आविष्कार-कुशल 'विचार' हो, या कोई निभृत निर्देशिका 'इच्छा' हो, किन्तु जड़ प्रकृतिके प्रथम तथा मौल प्राकट्यमें उसका कोई चिह्न नहीं मिलता।

एक प्रथम व्याख्या जो संभव होती है वह यह संकेत करती है कि एक आत्म-संगठनकारी क्रियात्मक 'यदृच्छा' क्रिया कर रही है,—यह विरोधाभास इसलिये आवश्यक हो जाता है कि हम जिस विश्व-व्यापारको

प्रकृति कहते हैं उसमें एक ओर तो अनिवार्य व्यवस्था है, दूसरी ओर अवोध्य मनमानापन और स्वैर कल्पना है। कह सकते हैं कि प्रकृतिकी ऊर्जा एक निश्चेतन तथा क्रमविहीन शक्ति है जो किसी निर्देशक नियमके विना, विश्रृंखलतासे क्रिया करती है और सामान्य यदृच्छासे इसकी या उसकी रचना करती है,—निर्देशनाओंका प्रवेश उसकी क्रियाके एकरूप छंदकी निरंतर आवृत्तिके परिणामस्वरूप ही होता है, और चूंकि यह पुनरावृत्ति-कारी छंद वस्तुओंके अस्तित्वको वनाये रखनेमें सफल होता है केवल इसी कारण वे निर्देशनाएँ भी फलीभूत होंती हैं। किन्तु, इसमें यह अर्थ निहित रहता है कि वस्तुओंके मूलमें कहींपर एक निःसीम संभावना है अथवा असंख्य संभावनाओंका गर्भाशय है जो आद्या ऊर्जाके द्वारा उसमेंसे अभिव्यक्त होती हैं,—एक कोई अननुमेय निश्चेतन है, जिसे सत् या असत् इनमेंसे कोई भी नाम देनेमें हमें कठिनाई होती है; क्योंकि किसी ऐसे आदि और आधारके विना ऊर्जाका प्रकट होना और क्रिया करना बोधगम्य नहीं होता। परन्तु, विश्व-व्यापारके स्वरूपका एक विपरीत पहलू भी है; जिस रूपमें वह हमें दीखता है, उसमें वह इस मतका निषेध करता लगता है कि कोई विश्रृंखल क्रिया एक स्थायी व्यवस्थाको उत्पन्न कर रही है। यहाँ हम देखते हैं कि व्यवस्थापर, संभावनाओंके आधारमें किसी नियमके होनेपर अत्यधिक दृढ़ आग्रह है। वल्कि, यह अनुमान करना उचित होगा कि विश्वमें एक अंतर्निहित अनुल्लंघ्य सत्य है; वह हमसे अदृश्य रहता है, किन्तु वह बहुमुखी अभिव्यक्तिमें समर्थ सत्य है, अपनी विविधताओं और संभावनाओंके समूहको उद्भूत करनेमें समर्थ सत्य है जिन्हें स्रष्ट्री ऊर्जा अपनी क्रियासे इतनी सारी संसिद्ध वास्तविकताओंमें परिणत कर देती है। इससे हम एक दूसरी व्याख्यापर आते हैं—वह यह है कि वस्तुओंमें एक यांत्रिक नियति है, उसकी क्रियाओंको हम प्रकृतिके इतने सारे यांत्रिक नियमोंकी नाईं पहचानते हैं;—कह सकते हैं कि उस नियतिके पीछे वस्तुओंका कोई वैसा गुप्त अंतर्निहित सत्य है जिसकी हमने कल्पना की है, हम विश्वमें जिन प्रक्रियाओंको सक्रिय देखते हैं उनपर उसका शासन स्वयमेव होता है। किन्तु, विकासक्रममें जो अंतहीन और दुर्ज्ञेय वैचित्र्य दिखायी देते हैं उनकी निर्वाध क्रीड़ाका स्पष्टीकरण अकेला यांत्रिक नियतिका सिद्धांत नहीं कर पाता। उस नियतिके पीछे या उसके अन्दर एकत्वका एक ऐसा नियम विद्यमान होना चाहिये जो बहुत्वके सहवर्ती किन्तु आश्रित विधानके साथ संवद्ध हो, जहाँ दोनों ही अभिव्यक्त होनेका आग्रह करते हों। किन्तु किसका एकत्व, किसका बहुत्व? यांत्रिक नियति इसका उत्तर नहीं दे

सकती। फिर, इस सिद्धांतके मार्गमें एक और रोड़ा अटकता है, वह है चेतनाका निश्चेतनमेंसे उन्मज्जन; क्योंकि यह ऐसा व्यापार है जिसका कि निश्चेतन तथा यांत्रिक नियतिके किसी सर्वव्यापी सत्यमें कोई स्थान नहीं हो सकता। यदि ऐसी कोई आवश्यकता हो जो उस उन्मज्जनको बाध्य करती है, तो वह केवल यह हो सकती है कि निश्चेतनके अन्दर एक चेतना पहलेसे छिपी हुई विद्यमान है, वह चेतना विवर्तित होनेकी प्रतीक्षा कर रही है और जब सब कुछ तैयार हो जाता है तो अपने प्रतीयमान निर्ज्ञानके बंदीत्वको तोड़कर बाहर आ जाती है। निस्संदेह हम विश्वमें एक अमोघ नियम होनेकी कठिनाईसे यह अनुमान कर छुटकारा पा सकते हैं कि ऐसे किसी नियमका अस्तित्व ही नहीं है, प्रकृतिके अन्दर नियतिका नियम होनेको हमारे विचारने ही प्रकृतिपर आरोपित किया है, क्योंकि हमारी विचार-क्रियाको ऐसे अमोघ नियमकी आवश्यकता रहती है, ताकि वह अपने परिपार्श्वसे व्यवहार कर सके, किन्तु वस्तुतः ऐसा कुछ नहीं है; बल्कि केवल एक शक्ति है जो अत्यणुओंकी किसी यादृच्छिक क्रियामें परीक्षण कर रही है, ये अत्यणु अपनी समष्टि-क्रियामें सक्रिय रहनेवाली एक पुनरावृत्तिकारी दृढ़ताके द्वारा विभिन्न निर्देशनाओंको अपने सामान्य परिणामस्वरूप निर्मित करते हैं। इस भाँति हम अपने जीवनके आधारकी खोजमें नियतिसे लौटकर यदृच्छापर आ जाते हैं। किन्तु तब यह मन, यह चेतना क्या है, जो अपनी रचयित्री ऊर्जासे मूलतः इतनी भिन्न है कि उसे उस जगत्पर, जिसे उस ऊर्जाने बनाया है और जिसमें वह रहने को विवश है, अपने नियम-व्यवस्थाके भाव और आवश्यकताओं, अपने क्रियाकलापों के लिये, आरोपित करना पड़ा है। इस भाँति यहाँ द्विविध विरोध आ जाता है, एक तो चेतनाका मूलगत निश्चेतनमेंसे उन्मज्जित होना, और दूसरा, निश्चेतन यदृच्छाके द्वारा सृष्ट जगत्के दीप्तिमान अंतिम परिणाम-रूपमें नियम-व्यवस्था तथा युक्ति-बुद्धिमय मनका अभिव्यक्त होना। ये वस्तुएँ संभव तो हो सकती हैं, किन्तु हम उन्हें अपनी स्वीकृति प्रदान करें उससे पहले यह आवश्यक होता है कि अबतक उनकी जो व्याख्याएँ की गयी हैं उनसे अच्छी कोई और व्याख्या दी जाय।

इससे अन्य व्याख्याओंके लिये मार्ग खुल जाता है जो यह कहती हैं कि चेतना ही एक प्रतीयमान आद्या निश्चेतनामेंसे इस जगत्की सृष्टि करती है। ऐसा लगता है कि किसी 'मन'ने, किसी 'इच्छा'ने विश्वकी कल्पना और उसका संगठन किया है, किन्तु उसने अपने-आपको अपनी सृष्टिके पीछे छिपा लिया है; उसका पहला निर्माण एक निश्चेतन ऊर्जाका और

वस्तुके जड़-रूपका पर्दा रहा है, जो उसकी विद्यमानतापर एक आवरणका काम करता है और, साथ ही, एक नमनीय सृजनक्षम आधारका भी, जिसपर वह उस प्रकार क्रिया कर सकती है जैसे शिल्पी अपने रूपों और प्रतिमानोंके उत्पादनके लिये मूक और अनुगत सामग्रीका व्यवहार करता है। सुतरां, हम अपने चारों ओर जो ये वस्तुएँ देखते हैं वे सब एक विश्व-बहिर्भूत ईश्वरके, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वदर्शी 'मन' तथा 'इच्छा'से युक्त सत्-पुरुषके विचार हैं; वह ईश्वर, वह सत्-पुरुष भौतिक विश्वके गणितीय नियमके लिये, उसके सौन्दर्य-कला-कौशलके लिये, उसकी एकरूपता और विविधताकी, संगतियों और विसंगतियोंकी, संयुक्त और परस्पर मिश्रित होते विरोधोंकी विचित्र क्रीड़ाके लिये, एक निश्चेतन वैश्व व्यवस्थाके अन्दर अपने अस्तित्वके लिये संघर्ष करती और अपने-आपको प्रतिष्ठित करना चाहती चेतनाके नाटकके लिये उत्तरदायी है। वह ईश्वर यदि हमारे लिये अदृश्य है, हमारे मन तथा इन्द्रियोंके लिये अगम्य है, तो इस तथ्यसे कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि विश्वसे बाहर स्थित रहनेवाले स्रष्टाके स्वतःप्रमाण अथवा प्रत्यक्ष लक्षणकी ऐसे विश्वमें मिलनेकी आशा नहीं की जा सकती जो उस स्रष्टाकी विद्यमानतासे रहित हो : एक महा 'बुद्धि'के, नियमके, परिकल्पनाके, सिद्धान्त-सूत्रके, लक्ष्यके लिये साधनके अनुकूलीकरणके, सतत और निःशेष आविष्कारके जो सुस्पष्ट संकेत सर्वत्र, उन्मुक्त कल्पनाके कार्योंमें भी (किन्तु वह उन्मुक्त-कल्पना भी एक नियामिका 'युक्तिबुद्धि'के द्वारा नियंत्रित रहती है) दृष्टिगोचर होते हैं, वे विश्वके ऐसे मूलके पर्याप्त प्रमाण माने जा सकते हैं। या, यदि यह स्रष्टा सम्पूर्णतया विश्वसे बाहर नहीं है, अपितु अपनी कृतियोंमें भी अंतःस्थ है, तो भी यह आवश्यक नहीं कि उसका अन्य कोई चिह्न मिले; ऐसा अन्य चिह्न निस्संदेह केवल किसी ऐसी चेतनाको मिल सकता है जो कि इस निश्चेतन जगत्में क्रमविकसित हो रही हो, और यह भी केवल तभी जब कि उसका विकास ऐसे बिंदुपर पहुँच जाय जहाँ वह अन्तर्यामी सत्ताके प्रति संविद् हो सके। इस क्रमविकसनशील चेतनाका बीचमें आना कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करेगा, क्योंकि उसके प्राकट्यसे वस्तुओंके आधारभूत स्वरूपका कोई व्याघात नहीं होगा; जो मन सर्वशक्तिमान् है वह अपने-आपका कुछ अंश अपने जीवोंमें सरलतासे भर सकता है। किन्तु एक कठिनाई रह जाती है; वह है सृष्टिका स्वेच्छाचारी स्वभाव, उसके उद्देश्यकी अबोधगम्यता, उसके अनावश्यक अज्ञान, संघर्ष तथा कष्टके नियमकी अभद्र निरर्थकता, उसकी उपसंहार या परिणामसे रहित समाप्ति। तो क्या यह लीला है? किन्तु जिसका

स्वभाव दिव्य मानना होगा, उस दिव्य पुरुषकी लीलामें इतने सारे अदिव्य तत्त्वों और पात्रोंकी निशानी क्यों? यदि यह प्रस्ताव रखा जाय कि जगत्‌में जो कुछ भी हम क्रियान्वित होता देखते हैं ईश्वरके ही विचार हैं, तो यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है कि ईश्वर इनसे श्रेष्ठतर विचार भी तो भलीभाँति रख सकता था और सबसे उत्तम विचार यह होता कि वह असुखी और अबोध्य विश्वकी सृष्टि ही न करता। विश्व-जीवनकी जितनी भी ईश्वरवादी व्याख्याएँ विश्व-बहिर्भूत देवसे आरंभ करती हैं वे सब इसी कठिनाईपर ठोकर खाती हैं और इस कठिनाईको टाल ही सकती हैं। यह कठिनाई विलुप्त तो केवल तभी हो सकती है जब कि विश्वका स्रष्टा, सृष्टिसे अतीत रहता हुआ भी, सृष्टिमें अंतःस्थ हो, स्वयं ही किसी प्रकारसे नट भी हो और नाट्य भी, ऐसा 'अनंत' हो जो कि अनंत संभावनाओंको एक क्रमविकासमान विश्वव्यवस्थाके निर्धारित रूपमें ढाल रहा हो।

इस प्राक्कल्पनाके अनुसार जड़ ऊर्जाकी क्रियाके पीछे कोई चेतना होनी चाहिये,—गुप्त और संवृत, विश्वव्यापी और अनन्त,—जो उस पुरोभाग-स्थित ऊर्जाकी क्रियाके द्वारा अपना एक क्रमविकासशील अभिव्यक्तिका साधन निर्मित करती होगी, भौतिक विश्वके असीम सांतमें निजके अन्दरसे एक सृष्टिका सर्जन करती होगी। यह चेतना अपने प्रतीयमान विरोधी तत्त्वमेंसे विवर्तित हो, इसके लिये, वह जिस जड़ विश्व-धातुमें निवर्तित होनेका अभिप्राय रखती है उसके निर्माणके लिये जड़ ऊर्जाकी प्रतीयमान निश्चेतना अपरिहार्य होगी; क्योंकि किसी ऐसे उपायके बिना सम्पूर्ण निवर्तन असंभव होगा। यदि 'अनंत' अपने ही अन्दरसे कोई ऐसी सृष्टि करता है तो यह भौतिक छद्मवेशमें उसकी स्वसत्ताके सत्यों और शक्तियोंकी ही अभिव्यक्ति होगी : इन सत्यों या शक्तियोंके रूप या वाहन वे आधाररूप सामान्य या मूलभूत 'निर्दिष्ट' होंगे जो हमें प्रकृतिमें दिखायी देते हैं; वे विशिष्ट, निर्दिष्ट, जो कि अन्यथा अपने मूलकी अस्पष्ट सामान्य उपादान-वस्तुमेंसे उन्मज्जित अज्ञातकारण वैविध्य मात्र होते, उन संभावनाओंके उपयुक्त रूप या वाहन होंगे जिन्हें इन मूलभूत निर्दिष्टोंके अन्दर रहनेवाले सत्यों या शक्तियोंने अपने अन्दर धारण कर रखा था। अनंत चेतनाके लिये संभावनाओंका मुक्त वैचित्र्य स्वाभाविक है, यह विधान निश्चेतन यदृच्छा-पक्षकी व्याख्या होगा जिसे हम प्रकृतिकी क्रियाओंमें देखते हैं,—वह देखनेमें ही निश्चेतन है, और इस भाँति दिखाई पड़नेका कारण है जड़ तत्त्वके अन्दर हुआ सम्पूर्ण निवर्त्तन, वह आवरण जिसके द्वारा गुप्त

चेतनाने अपनी उपस्थिति छिपा ली है। और, अनंतके सत्य, अनंतकी वास्तविक शक्तियाँ अमोघ रूपसे अपनी पूर्ति कर रही हैं, यह विधान प्रकृतिमें दीखनेवाली यांत्रिक नियतिके विपरीत पक्षकी व्याख्या होगा,—वह देखनेमें ही यंत्रवत् है और उसके इस भाँति दीखनेका कारण निश्चेतनाका वही पर्दा है। तब यह पूर्णतः बोधगम्य हो जाता है कि निश्चेतन अपने कार्योंको गणितीय शिल्प-चातुरीके, परिकल्पनाके, संख्याओंके कार्यसाधक विन्यासके, साधनोंको उद्देश्योंके अनुकूल करनेके, असीम उपाय और आविष्कारके,—लगभग यह भी कह सकते हैं, एक निरंतर परीक्षणात्मक कुशलता और उद्देश्यकी स्वचलताके—अविच्छिन्न विधानसे किस कारण करता है। तब प्रतीयमान निश्चेतनामेंसे चेतनाका प्राकट्य भी अव्याख्येय नहीं रह जाता।

यह प्राक्कल्पना यदि मान्य ठहर गयी तो प्रकृतिकी समस्त अव्याख्यात प्रक्रियाओंको अपना अर्थ और अपना स्थान प्राप्त हो जायगा। ऊर्जा ही रूपधातुको उत्पन्न करती प्रतीत होती है, किन्तु, वस्तुतः, जैसे सत्ता चित्-शक्तिमें अन्तर्निहित है, वैसे ही रूपधातु भी ऊर्जामें अन्तर्निहित होगी,—ऊर्जा उस शक्तिकी अभिव्यक्ति होगी और रूपधातु होगी उस गुप्त सत्ताकी अभिव्यक्ति। किन्तु, चूँकि वह आध्यात्मिक रूपधातु है, अतः वह स्थूल इन्द्रियके द्वारा तबतक ग्राह्य नहीं होगी जबतक कि ऊर्जा उसे उन इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य जड़के रूप नहीं दे देती। यह भी समझमें आना शुरू हो जाता है कि रूपरेखा, परिमाण और संख्याका विन्यास किस प्रकार गुण और धर्मकी अभिव्यक्तिका आधार हो सकता है; कारण, रूपरेखा, परिमाण और संख्या सत्ता-धातुके वैभव हैं, गुण और धर्म सत्तामें विद्यमान चित् और उसकी शक्तिके वैभव हैं; अतः वे रूपधातुके किसी छंद और प्रक्रियाके द्वारा अभिव्यक्त और सक्रिय किये जा सकते हैं। बीजमेंसे वृक्षके विकासकी व्याख्या, अन्य सारे सदृश व्यापारोंकी भाँति, हमने जिसे सत्-भाव कहा है उसकी अन्तर्यामी विद्यमानताके द्वारा हो जायगी; ऊर्जा-धातुके अन्दर स्वयं 'अनंत' आत्म-संकोचित है, उसमेंसे 'अनंत'की अपनी सत्ताके बलके जिस सार्थक रूप, जिस सजीव शरीरको उन्मज्जित होना है, 'अनंत'को उसका आत्म-प्रत्यक्ष होता है, वह आत्म-प्रत्यक्ष आंतरिकतः बीजके रूपमें संचारित हो जाता है, उस रूपमें निर्वर्तित गुह्य चेतनामें संचारित हो जाता है और उसमेंसे स्वभावतः विवर्तित भी होता है। इसी सिद्धान्तके आधारपर यह समझनेमें भी कठिनाई नहीं होगी कि जीन और क्रोमोसोम जैसे जड़ स्वभाववाले अत्यणु उन मनोगुणोंको किस भाँति अपने अन्दर लिये

चल सकते हैं जो कि मानव-बीजमेंसे उन्मज्जित होनेवाली स्थूल, शारीरिक आकृतिमें संचारित किये जाते हैं; यह कार्य जड़तत्त्वकी बाह्यतामें भी मूलतः उसी नियमपर होगा जिसे हम अपने आंतरिक अनुभवमें पाते हैं,—क्योंकि हम देखते हैं कि अवचेतन स्थूल सत्ता अंतःकरणके मानसिक उपादानोंको, विगत घटनाओंकी छापोंको, अभ्यासोंको, मन और प्राणके स्थिर संस्कारोंको, चरित्रके स्थिर रूपोंको अपने अन्दर लिये चलती है, और एक गुह्य प्रक्रियाके द्वारा उन्हें जागृत चेतनाकी ओर ऊपर भेजती है, इस प्रकार वह हमारी प्रकृतिके बहुतसे क्रिया-कलापोंको उत्पन्न या प्रभावित करती है।

इसी आधारपर यह समझनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी कि शरीरके अंग-प्रत्यंगोंकी क्रियाएँ मानसिक क्रियाओंको निर्धारित करनेमें क्योंकर सहायक होती हैं: क्योंकि शरीर अचेतन जड़मात्र नहीं है; वह गुप्ततया-सचेतन ऊर्जाकी रचना है जिसने उसमें रूप धारण किया है। स्वयं यह शरीर गुह्य रूपसे सचेतन रहता है; वह, साथ-ही-साथ, एक प्रकट चेतनाकी, उस चेतनाकी अभिव्यक्तिका माध्यम भी है जो हमारी स्थूल ऊर्जा-धातुमें उन्मज्जित हुई है और आत्म-संविद् है। इस मानसिक अधिवासीकी गति-विधियोंके लिये शरीरकी क्रियाएँ आवश्यक यंत्र या उपकरण होती हैं; शारीरिक करणको गतिशील करके ही उसके अन्दर उन्मज्जित होता हुआ, विकसित होता हुआ चिन्मय पुरुष अपनी मनो-रचनाओंको, इच्छा-रचनाओंको संचारित कर सकता है और उन्हें जड़तत्त्वमें अपने-आपकी एक स्थूल अभिव्यक्तिमें परिवर्तित कर सकता है। मनकी रचनाएँ मानसिक आकारसे स्थूल अभिव्यक्तिमें आनेमें, करणकी सामर्थ्य और उसकी प्रक्रियाओंके द्वारा, कुछ दूरीतक अवश्य ही परिवर्तित होंगी; वह अभिव्यक्ति वास्तविक हो सके उसके पहले उपकरणकी क्रियाएँ आवश्यक होती हैं और वे अपना प्रभाव डालती ही हैं। शारीरिक करण कुछ दिशाओंमें अपने प्रयोक्तापर प्रभुत्व भी कर सकता है, सक्रिय मन तथा इच्छा नियंत्रण या हस्तक्षेप कर सकें उसके पूर्व ही वह अभ्यासकी एक शक्तिके द्वारा अपनेमें निवास करनेवाली चेतनाकी अस्वैच्छिक प्रतिक्रियाओंका प्रस्ताव या सृजन भी कर दे सकता है। यह सब इसलिये संभव है कि शरीरकी एक स्वकीय "अवचेतन" चेतना है जिसका हमारी समग्र आत्माभि-व्यक्तिमें एक अपना स्थान है; यहाँतक कि यदि हम केवल इस बाह्य करणपर ही दृष्टिपात करें तो इस निर्णयपर पहुँच जा सकते हैं कि शरीर मनका निर्धारण करता है; किन्तु यह तो केवल एक गौण सत्य है, मुख्य

सत्य यह है कि मन शरीरका निर्धारण करता है। इस दृष्टिसे एक और भी गभीरतर सत्य धारणागम्य होता है; यह कि एक आध्यात्मिक सत्ता, अपनी आच्छादिका वस्तुका अंतरात्मा रहती हुई, मन और शरीर दोनोंकी मूल निर्धारिका है। दूसरी ओर, प्रक्रियाके विपरीत क्रमको देखें तो वहाँ मन अपने भाव और आदेश शरीरमें संचारित कर सकता है, उसे नवीन क्रियाका साधन होनेके लिये प्रशिक्षित कर सकता है, उसपर अपनी अभ्यस्त माँगों या आदेशोंकी छाप भी इस भाँति लगा सकता है कि शारीरिक सहज-प्रवृत्ति उन्हें तब भी स्वचलित रूपसे संपादित करती रहे जब कि मन सचेतन रूपसे उनकी इच्छा न भी कर रहा हो। यही नहीं, शारीरिक सहज-प्रवृत्ति उन अधिक असाधारण, किन्तु भली-भाँति अभिप्रमाणित, माँगों या आदेशोंका भी संपादन स्वचलित रूपसे करती है जिनके द्वारा मन शरीरकी प्रतिक्रियाओंकी निर्देशना करना सीख सकता है। यह वह असाधारण दूरीतक कर सकता है, इसकी सीमा क्वचित् ही बाँधी जा सकती है; यह शरीरकी क्रियाके सामान्य धर्म या नियमोंको अभिभूत करनेतक भी जा सकता है। वहाँ हमारी सत्ताके इन दो तत्त्वोंके बीचके ये तथा अन्य अबोधगम्य पहलू आसानीसे बोधगम्य हो जाते हैं : क्योंकि सजीव जड़तत्त्वमें रहनेवाली निगूढ़ चेतना ही अपने महत्तर साथीसे इन्हें प्राप्त करती है; शरीरमें रहनेवाली यह चेतना ही, अपनी निजी अन्तर्गूढ़ और गुह्य विधिसे, अपने ऊपर की गयी माँगका बोध या अनुभव करती है और उस उन्मज्जित या विकसित चेतनाकी आज्ञाका पालन करती है जो शरीरकी अध्यक्षता कर रही है। अंतमें, यह धारणा उचित ठहरती है कि विश्वकी रचना एक दिव्य मन तथा 'इच्छा'ने की है, जब कि साथ-ही-साथ उसके अन्दर जो पेचीदे तत्त्व हैं, जिन्हें हमारी युक्तिधर्मी मानसता स्रष्टाके स्वेच्छाचारी आदेशके मत्थे मढ़ना स्वीकार नहीं करती, उनकी व्याख्या हमें इस रूपमें मिलती है कि वे अपने विरोधी तत्त्वमेंसे कठिनाईसे उन्मज्जित होती चेतनाके अनिवार्य व्यापार हैं,—किन्तु उसका व्रत है इन विपरीत व्यापारोंका अतिक्रमण करना और धीमे तथा कठिन विकासक्रमके द्वारा अपनी महत्तर सत्यता एवं सच्चे स्वभावको अभिव्यक्त करना।

किन्तु, यदि हम सत्ताके जड़ छोरसे चलते हैं तो हमें न इस प्राक्कल्पनाकी ही निश्चित प्रामाणिकता मिल पाती है, न प्रकृति और उसकी प्रक्रियाकी अन्य किसी व्याख्याकी। मूल निश्चेतनाके द्वारा डाला गया पर्दा इतना अधिक मोटा है कि मन उसे विदीर्ण नहीं कर सकता, परंतु जो कुछ अभिव्यक्त हुआ है उसका गुप्त उद्भव इस पर्देके पीछे ही

छिपा रहता है, प्रकृतिके जड़रूपी पुरोभागमें जो व्यापार और प्रक्रियाएँ हमारे सामने आती हैं उनके आधारभूत सत्य और शक्तियाँ भी उस पर्देके पीछे ही स्थित हैं। अधिक निश्चितताके साथ जाननेके लिये हमें विकसनशील चेतनाके घुमावका तबतक अनुसरण करते जाना होगा जबतक कि वह आत्म-प्रबोधनकी उस ऊँचाई और विशालतामें न पहुँच जाय जहाँ आद्य रहस्य स्वतः-उद्घाटित होता है; वस्तुतः यह प्राक्कल्पना की जा सकती है कि यह विकसनशील चेतना विश्वमें निगूढ़ आद्या चेतनाकी एक क्रमिक अभिव्यक्ति ही है, उस निगूढ़ आद्या चेतनाने आरंभसे जो कुछ धारण कर रखा है उसे यह विकसनशील चेतना अवश्य विकसित करेगी, अंततोगत्वा बाहर लायगी। इस सत्यको प्राणमें खोजना स्पष्टतया आशारहित होगा; क्योंकि प्राण ऐसे रूपायणसे आरंभ करता है जिसमें चेतना तब भी मनसे नीचेकी रहती है और अतः हमारे जैसे मनोमय प्राणियोंको वह निश्चेतन या, अधिक-से-अधिक, अवचेतन प्रतीत होती है, और प्राणकी इस भूमिकाकी हमारी अपनी छानवीन भी, हम जब इसे बाहरसे अध्ययन करते हुए करते हैं, गुप्त सत्यकी प्राप्तिके लिये हमारी जड़की छानवीनसे अधिक फलप्रद नहीं हो सकती। जब मन प्राणमें विकसित होता है तब भी उसका प्रथम क्रियात्मक रूप कर्ममें, प्राणिक तथा शारीरिक आवश्यकताओं और आग्रहोंमें, अन्तर्वेगों, कामनाओं, संवेदनों और भावावेगोंमें ग्रस्त मानसताका रहता है; इन वस्तुओंसे पीछे हटकर खड़े होनेकी, उनका निरीक्षण करनेकी और उन्हें जाननेकी सामर्थ्य उसमें नहीं होती। समझकी, आविष्कारकी, निर्वाध अवधारणकी पहली आशा मानव-मनमें मिलती है; यहाँ हम आत्म-ज्ञान तथा जगत्-ज्ञानकी संभावनाके समीप आते लग सकते हैं। किन्तु, वस्तुतः, हमारा मन आरंभमें तथ्यों और प्रक्रियाओंका प्रेक्षण मात्र कर सकता है और बाकीके लिये उसे निगमन और अनुमान करने पड़ते हैं, प्राक्कल्पनाएँ वनानी पड़ती हैं, तर्क करना होता है और परिकल्पना करनी होती है। चेतनाके रहस्यका उद्घाटन करनेके लिये उसे अपने-आपको जानना होगा और अपनी निजकी सत्ता तथा प्रक्रियाकी सत्यताका निर्णय करना होगा; किन्तु, जैसे पशु-जीवनमें उन्मज्जित होती चेतना प्राणिक कर्म तथा गतिधारामें अंतर्ग्रस्त रहती है, वैसे ही मानव-सत्तामें मनश्चेतना अपने ही विचार-भँवरमें अंतर्ग्रस्त रहती है, यह ऐसी क्रिया होती है जिसमें वह अविरत बहायी ले जायी जाती है, और जिसमें उसके स्वयं तर्कों और परिकल्पनाओंकी प्रवृत्ति, दिशा और अवस्थाएँ, उसके अपने स्वभाव, मानसिक घुमाव, ऊर्जाकी भूतकालकी रचना और रेखा, झुकाव,

पसंदगी, एक सहज स्वाभाविक निर्वाचनके द्वारा निर्दिष्ट होती हैं,—हम अपनी विचार-क्रियाको वस्तुओंके सत्यके अनुसार निर्धारित नहीं करते, बल्कि वह निर्धारण हमारे लिये हमारी प्रकृति करती है। निस्संदेह, हम एक विशेष अनासक्त भावसे पीछे हटकर खड़े हो जा सकते हैं और अपने अन्दर मानस-ऊर्जाकी क्रियाओंका प्रेक्षण कर सकते हैं; किन्तु तब भी हम केवल उसकी प्रक्रियाको ही देखते हैं, अपने मानसिक निर्धारणोंके किसी आदि उद्गमको नहीं: हम मनकी प्रक्रियाके बारेमें मत और प्राक्कल्पनाएँ बना सकते हैं, किन्तु हमारे स्वरूपके, हमारी चेतनाके, हमारी समग्र प्रकृतिके भीतरी रहस्यपर पर्दा तब भी पड़ा रहता है।

हमारे आत्म-प्रेक्षणका गभीरतर परिणाम केवल तभी संभव होता है जब कि हम स्वयं मनको अचंचल करनेकी यौगिक प्रक्रियाका अनुसरण करते हैं। क्योंकि प्रथम हमें यह देखनेमें आता है कि मन एक सूक्ष्म धातु है, एक सामान्य निर्दिष्ट है—या जातिमूलक अनिर्दिष्ट है—जिसे कि मानस-ऊर्जा, जब वह क्रियाशील होती है, निजके रूपों या विशेष निर्देशनाओंमें, विचारों, प्रत्ययों, प्रत्यक्षों, मनोभावनाओं, इच्छाकी क्रियाशीलताओं और अनुभवकी प्रतिक्रियाओंमें डालती है, किन्तु जब वह ऊर्जा निष्क्रिय होती है तब वह या तो तामसिक अवसन्नतामें या आत्म-सत्ताकी निश्चल-नीरवता और शांतिमें निवास करता है। फिर हम यह देखते हैं कि हमारे मनकी सबकी सब निर्देशनाएँ स्वयं मनसे ही उद्भूत नहीं होतीं; वस्तुतः मानस-ऊर्जाकी लहरें और तरंगें उसमें बाहरसे प्रवेश करती हैं: वे उसमें किसी विश्व मनसे या अन्य मनोंसे आकर रूप लेतीं या रूपायित हुई ही प्रकट होती हैं और हम उन्हें अपने निजके विचार मानने लगते हैं। हम अपने अन्दर एक गुह्य अथवा अवगूढ़ मनको भी देख सकते हैं जिससे विचार, प्रत्यक्ष बोध, इच्छाके अंतर्वेग और मनकी भावनाएँ उद्भूत होती हैं; हम चेतनाके उच्चतर स्तर भी देख सकते हैं जहाँसे एक श्रेष्ठतर मानस-ऊर्जा हमारे द्वारा या हमपर क्रिया करती है। अंतमें हमें यह ज्ञात होता है कि इन सबका प्रेक्षण करनेवाला एक मनोमय पुरुष है जो मानस-ऊर्जा और मानस-धातुको अवलंब दिये रहता है; इस पुरुषके विद्यमान रहे बिना, अपने इस धारयिता और अनुमति-उत्सके बिना न तो उनका अस्तित्व रह सकता था, न उनकी क्रिया ही हो सकती थी। यह मनोमय पुरुष प्रथम एक मौन साक्षीके रूपमें प्रकट होता है, और यदि यही उसका सम्पूर्ण स्वरूप हो तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि मनकी निर्देशनाएँ प्रकृतिके द्वारा पुरुषपर आरोपित प्रातिभासिक क्रियाशीलता

हैं या, नहीं तो, प्रकृतिके द्वारा उसके सामने उपस्थित की गयी सृष्टि हैं, एक विचार-जगत् हैं जिसे प्रकृति निर्मित करती हैं और साक्षी पुरुषको भेंट कर देती है। किन्तु, इसके अनन्तर, हमें पता लगता है कि यह पुरुष अपनी मौन या स्वीकारी साक्षीकी स्थितिसे हट जा सकता है; वह प्रतिक्रियाओंका जनक हो सकता है, स्वीकार कर सकता है, अस्वीकार कर सकता है, यहाँतक कि शासन और नियमन कर सकता है, आदेशदाता और ज्ञाता बन जा सकता है। यह ज्ञान भी उदित होता हैं कि यह मानस-धातु मनोमय पुरुषको ही अभिव्यक्त करती है, उसकी अपनी अभिव्यंजिका धातु है और मानस-ऊर्जा उसीकी चित्-शक्ति है; तब यह निष्कर्ष युक्तिसंगत हो जाता है कि मनकी समस्त निर्देशनाएँ भी पुरुषकी सत्तासे ही उद्भूत होती हैं। किंतु यह निष्कर्ष इस तथ्यसे पेचीदा बन जाता है कि, एक अन्य दृष्टिकोणसे, हमारा व्यक्तिगत मानस विश्व-मानसकी एक रचना होने; वैश्व विचार-लहरों, भाव-तरंगों, इच्छा-संकेतों, भावना-लहरों, इन्द्रिय-संकेतों, रूप-संकेतोंके ग्रहण, आपरिवर्तन और प्रसारणका यंत्र होनेकी अपेक्षा किंचित् ही अधिक कुछ लगता है। निस्संदेह, इस मनकी अपनी पहलेसे ही सिद्ध अभिव्यक्ति,-पूर्वप्रवणताएँ, प्रवृत्तियाँ, निजी स्वभाव और प्रकृति होती हैं; विश्वमनसे जो कुछ भी आता है उसे व्यक्तिगत मनमें केवल तभी स्थान मिल सकता है जब वह वैयक्तिक मनोमय पुरुषकी आत्माभिव्यक्तिमें, पुरुषकी व्यक्तिगत प्रकृतिमें स्वीकृत और आत्मसात् किया जाता हो। किंतु फिर भी, इन जटिलताओंको देखते हुए, यह प्रश्न अमीमांसित ही रह जाता है, क्या यह समस्त विकासक्रम और क्रिया किसी विश्व-ऊर्जाके द्वारा मनोमय पुरुषके सामने उपस्थित की गयी प्रातिभासिक सृष्टि है या मानस-ऊर्जाके द्वारा 'पुरुष'की अनिर्दिष्ट, संभवतः अनिर्देश्य, सत्तापर आरोपित क्रियाशीलता है, या क्या यह सब अंतःस्थ आत्माके किसी सक्रिय सत्यके द्वारा पूर्वनिर्धारित कोई वस्तु है जो मनके बाह्य तलपर अभिव्यक्त मात्र होती है ? इसे जाननेके लिये हमें सत्ता एवं चेतनाकी एक वैश्व स्थितिका स्पर्श करना होगा या उसमें प्रवेश पाना होगा, जहाँ वस्तुओंका समग्रत्व और उनका सर्वांगीण तत्त्व हमारे सीमित मनोनुभवकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह व्यक्त होंगे।

अधिमानसिक चेतना व्यष्टि-मनसे परे, अज्ञानमें स्थित विश्वमनसे भी परेकी ऐसी ही स्थिति या तत्त्व है। वह अपने अन्दर वैश्व सत्यका एक प्रथम, अव्यवहित और प्रभुतापूर्ण संबोध लिये चलती है। अतएव, वहाँ हम विश्वकी मूल क्रियाके कुछ अंशको समझनेकी, विश्व-प्रकृतिकी मूलगत गतिविधिके अंदर अपनी अंतर्दृष्टिकी कुछ पैठकी आशा कर सकते हैं।

निस्संदेह एक बात स्पष्ट हो जाती है; यहाँ यह स्वतःसिद्ध है कि व्यक्ति और विश्व दोनोंका उद्गम एक दोनोंसे ही अतीत सद्वस्तुसे होता है, वह सद्वस्तु ही उनके अंदर रूप लेती है: अतएव, व्यष्टि-जीवके मन और प्राणको, प्रकृतिके अन्दर स्थित व्यष्टि-पुरुषको विश्व-पुरुषकी आंशिक आत्माभिव्यक्ति ही होना चाहिये, और उसके द्वारा तथा सीधे, दोनों तरहसे ही उस विश्वातीत सद्वस्तुकी आत्माभिव्यक्ति होना चाहिये,—वह अभिव्यक्ति अनुबन्धित और अर्ध-आवृत हो सकती है, किंतु, फिर भी, उसकी सार्थकता यही है। तथापि, हम यह भी देखते हैं कि वह अभिव्यक्ति क्या होगी यह भी स्वयं व्यक्तिके द्वारा निर्दिष्ट होता है: वह अपनी प्रकृतिमें विश्वसत्ताके या उस सद्वस्तुके अपने अंशको जितना कुछ प्राप्त, आत्मसात्, रूपायित कर सकता है, केवल उतना ही उसके मन, प्राण तथा शारीरिक अंगोंमें आकार ले सकता है; वह जो कुछ प्रकट करता है वह उस सद्वस्तुसे ही निर्गत कोई वस्तु है, कोई ऐसी वस्तु है जो विश्वके अंदर विद्यमान है, किन्तु उसका प्राकट्य वह अपनी ही आत्माभिव्यक्तिकी भाषामें, आत्मप्रकृतिकी ही भाषामें करता है। किंतु जिस मूल प्रश्नको विश्व-प्रपंचने हमारे सामने रखा है उसका समाधान अधिमानस-ज्ञानके द्वारा नहीं होता। यहाँ प्रश्न यह है, क्या मनोमय पुरुषका विचारका, अनुभवका, इन्द्रियज्ञानके जगत्का निर्माण सत्यतः आत्माभिव्यक्ति है, उसकी अपनी आध्यात्मिक सत्ताके किसी सत्यसे उद्गत होती हुई आत्म-निर्देशना है, उस सत्यकी क्रियात्मक संभावनाओंकी अभिव्यक्ति है? या क्या ऐसा नहीं है कि प्रकृतिने ही उस सृजन या निर्माणको उसके सम्मुख उपस्थित किया हो, और वह वस्तु उसकी अपनी या उसपर आश्रित केवल इस अर्थमें कही जा सकती हो, कि वह उस प्रकृतिके उसके व्यक्तिगत रूपायणमें व्यष्टि-रूप हो गयी है? या फिर, क्या यह हो सकता है कि वह एक विश्व-कल्पनाकी क्रीड़ा हो, अपनी ही सनातन शुद्ध सत्ताके शून्य अनिर्देश्यपर आरोपित की गयी अनंतकी अपनी ही कपोल-कल्पना हो? सृष्टिके संबंधमें ये तीन दृष्टियाँ हैं, इनके ठीक होनेकी संभावना एक-समान लगती है, और इनके बीच सुनिश्चित रूपसे निर्णय करनेमें मन असमर्थ है, क्योंकि प्रत्येक दृष्टि अपने-अपने मानसिक तर्कसे और संबोधि तथा अनुभवके आश्रयसे सज्जित है। इस पेचीदगीको अधिमानस और बढ़ाता ही प्रतीत होता है, क्योंकि अधिमानसी दृष्टि प्रत्येक संभावनाको यह अनुमति देती है कि वह अपने-आपको स्वतंत्रतासे रूपायित करे और अपनी-अपनी सत्ताको संबोधमें, क्रियात्मक आत्म-उपस्थापनमें, अभिपुष्टिकारी अनुभवमें उपलब्ध करे।

अधिमानसमें, मनकी समस्त उच्चतर भूमिकाओंमें हमें एक द्वन्द्व-विभाग पुनरावर्तित होता दिखाई देता है; एक ओर है शुद्ध नीरव आत्मा,—अलक्षण, निर्गुण, अव्यवहार्य, स्वयंभू, आत्मस्थ, स्वयंपूर्ण—और दूसरी ओर है अपने-आपको विश्वके रूपोंमें अवक्षिप्त करती एक सृजनकारिणी चेतना और शक्तिकी, निर्देशना करनेवाली एक ज्ञानात्मिका शक्तिकी प्रबल क्रियात्मकता। यह वियुति फिर भी एक संस्थिति है, मानों ये दोनों देखनेमें एक-दूसरेके विपरीत होते हुए भी सह-संबंधी या सम्पूरक ही हों; यही उन्नत होकर निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्मके सह-अस्तित्वमें बदल जाती हैं,—निर्गुण ब्रह्म है निराकार, वह मूलभूत दिव्य परम तत्त्व जो समस्त संबंधों या निर्देशनाओंसे रहित है; सगुण ब्रह्म है अनंत गुणवान्, वह मूलभूत दिव्य परम तत्त्व जो समस्त संबंधों तथा निर्देशनाओंका उत्स-मूल, आधार तथा स्वामी है। हम यदि निर्गुणका अनुसरण आत्मानुभूतिमें यथासंभव दूरीतक करते जाते हैं तो एक परम निर्विशेषपर पहुँचते हैं जो समस्त संबंधों और निर्देशनाओंसे शून्य हैं, अस्तित्वका अनिर्वचनीय प्रथम और अंतिम छोर है। और यदि हम सगुणके द्वारा अनुभूतिके किसी चरम संभाव्यमें प्रवेश करते हैं तो एक दिव्य निर्विशेषपर, एक साकार परम एवं सर्वत्र-विद्यमान ईश्वरपर पहुँचते हैं जो विश्वव्यापी और विश्वातीत दोनों है, समस्त संबंधों और निर्देशनाओंका अनंत स्वामी है, अपनी सत्तामें कोटि-कोटि विश्वोंको धारण कर सकता और प्रत्येकको अपनी आत्म-ज्योतिकी केवल एक रश्मिसे और अपनी अनिर्वचनीय सत्ताकी केवल एक कलासे व्याप्त कर दे सकता है। 'शाश्वत'के जो ये दो सत्य मनके सम्मुख एक-दूसरेका बहिष्कार करनेवाले विकल्पोंके रूपमें आते हैं उनका पोषण अधिमानस-चेतना समान रूपसे करती है, वह उन्हें एक ही सद्वस्तुके परम पहलुओंके रूपमें स्वीकार करती है: अतः उनके पीछे कहीं पर एक और भी महत्तर तुरीय होना चाहिये जो उनका उद्गम हो अथवा दोनोंको अपनी परम शाश्वततामें धारण किये रहता हो। किंतु ऐसे विरोधी तत्त्व भी जिसके एक-से सत्य हैं, वह एक आद्य अनिर्देश्य रहस्य होनेके अतिरिक्त और क्या हो सकता है, जिसे जानना, जिसे समझना मनके लिये असंभव है? निस्संदेह हम उसे कुछ मात्रामें एक विशेष प्रकारकी अनुभूति या उपलब्धिमें, उसके पहलुओंके द्वारा, उसकी शक्तियोंके द्वारा, मूलगत इति-भाव और नेति-भावके अविच्छिन्न क्रमके द्वारा जान सकते हैं जिनके द्वारा ही हमें उसकी खोज करनी होती है, यह खोज हम उनमें चाहे पृथक्-पृथक् करें अथवा दोनोंमें एक साथ अखंड रूपसे; किंतु अंततोगत्वा

वह उच्चतम मनोशक्तिकी पहुँचके बाहर और अज्ञेय ही रहता प्रतीत होता है।

किंतु, यदि परम निर्विशेष वास्तवमें एक शुद्ध अनिर्देश्य हो, तो कोई भी सृष्टि, कोई भी अभिव्यक्ति, कोई भी विश्व संभव नहीं। और फिर भी विश्वका अस्तित्व तो है। अतः वह क्या है जो इस आत्म-प्रतिषेधकी रचना करता है, अघटनको घटित करता है, आत्म-विभाजनकी इस सुलझ न सकनेवाली पहेलीको जन्म देता है? उसे एक प्रकारकी शक्ति तो होना ही चाहिये, और चूंकि निर्विशेष ही एकमात्र सद्वस्तु है, समस्त वस्तुओंका एकमेव मूल है, यह शक्ति उसीसे निःसृत हुई होनी चाहिये, उसके साथ उसका कोई संबंध होना चाहिये, एक सम्पर्क, एक निर्भरता होनी चाहिये। कारण, वह शक्ति यदि परम सद्वस्तुसे सर्वथा भिन्न कुछ ही है, वह यदि एक विश्वकृत् कल्पना ही है जो अनिर्देश्यके सनातन शून्यपर अपनी निर्देशनाएँ आरोपित करती है, तो किसी निर्विशेष परब्रह्मका एकमेव अस्तित्व मान्य नहीं रह जाता; उस स्थितिमें वस्तुओंके मूलमें एक ऐसा द्वैत आ जाता है जो सांख्यके पुरुष तथा प्रकृतिके द्वैतवादसे तत्त्वतः भिन्न नहीं। वह यदि उस निर्विशेषकी ही एक शक्ति, वस्तुतः उसकी एकमात्र शक्ति है, तो हमें इस तार्किक असंभवताका सामना करना होता है कि परम पुरुषकी सत्ता और उसकी सत्ताकी शक्ति एक-दूसरीसे सर्वथा विपरीत, दो परम विरोधी हैं; क्योंकि ब्रह्म तो संबंधों और निर्देशनाओंकी समस्त संभावनासे मुक्त है, किंतु माया एक सृजनकारिणी कल्पना है जो इन्हीं वस्तुओंको ब्रह्मपर आरोपित करती हैं, संबंधों और निर्देशनाओंकी प्रवर्तिका है जिनका अनुमंता और साक्षी ब्रह्मको अवश्य ही होना चाहिये,—तार्किक बुद्धिके लिये यह सिद्धान्त अस्वीकार्य होगा। इसे स्वीकार किया भी जाय तो केवल एक बुद्धियुक्तिसे परेके रहस्यकी नाईं ही किया जा सकता है, जो "सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्" है, जो न वास्तव है, न अवास्तव, और जिसका स्वरूप अव्याख्येय है। किन्तु इतनी वड़ी कठिनाइयाँ सामने हैं कि इसे केवल तभी स्वीकार किया जा सकता है यदि यह दार्शनिक अनुसंधान और आध्यात्मिक अनुभूतिके अनिवार्य निष्कर्ष, अंत और शिखरकी नाईं दुर्निवार रूपसे आ खड़ा होता हो। क्योंकि, यदि समस्त वस्तुएँ भ्रममूलक सृष्टियाँ हों, तो भी, कम-से-कम, उनका अस्तित्व प्रत्यक्-चेतनामें तो रहेगा ही और उस अद्वितीय सन्मात्रकी चेतनाको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उनका अस्तित्व नहीं हो सकता; तव वे उस अनिर्देश्यकी प्रत्यक्-निर्देशनाएँ हो जाती हैं। इसके विपरीत, यदि इस शक्तिकी निर्देशनाएँ यथार्थ रचनाएँ हैं तो वे

किसमेंसे निर्दिष्ट होती हैं, उनका उपादान क्या है? वे उस निर्विशेषसे भिन्न किसी शून्यसे, किसी असत्से निर्मित हुई हों, यह संभव नहीं; क्योंकि यह एक नया द्वैत खड़ा कर देगा, जिस महत्तर अनिर्देश्य 'क' को हमने एकमात्र सद्वस्तु मान लिया है उसके सामने एक महत् भावात्मक शून्यको खड़ा कर देगा। अतः यह स्पष्ट है कि वह सद्वस्तु कोई अटल अनिर्देश्य नहीं हो सकती। जो कुछ भी सृष्ट हुआ है उसीका और उसीमें होगा, और जो कुछ पूर्ण सत्के उपादानसे बना है वह स्वयं भी सत् ही होगा। जो सनातन सत्य है, अनंत सत् है, उसका एकमात्र परिणाम वास्तव होनेकी प्रतीति करानेवाला वास्तवताका कोई वृहत् निराधार नकार ही नहीं हो सकता। यह पूर्णतया समझमें आनेवाली बात है कि निर्विशेष इस अर्थमें अनिर्देश्य है और होना ही चाहिये कि वह किसी भी निर्देशना या संभव निर्देशनाओंके कुल योगसे सीमित नहीं हो सकता, किन्तु इस अर्थमें नहीं कि वह आत्म-निर्देशनामें असमर्थ है। ऐसा नहीं हो सकता कि परम सत् अपनी सत्ताकी सच्ची आत्म-निर्देशनाओंका सृजन करनेमें असमर्थ हो, यथार्थ आत्म-सृष्टि अथवा अभिव्यक्तिको अपने स्वयम्भू आनंत्यमें धारण करनेमें असमर्थ हो।

तो, अधिमानस हमें कोई अंतिम और निश्चयात्मक समाधान नहीं देता; अतः इसका उत्तर हमें उसके परेके अतिमानसिक ज्ञानमें ही खोजना होगा। अतिमानसिक ऋत-चेतना अनंत तथा शाश्वतकी आत्म-संवित् है, साथ-ही-साथ उस आत्म-संवित्में अन्तर्निहित आत्म-निर्देशनाकी शक्ति भी; इनमें पहली चीज उसका आधार और स्थिति है, दूसरी है उसकी सत्ताकी शक्ति, उसकी आत्म-सत्ताकी क्रियात्मकता। वह सब जिसे आत्म-संवित्की कालातीत नित्यता अपने अन्दर सत्ताके सत्यके रूपमें देखती है, उसे उसकी सत्ताकी चित्-शक्ति काल-नित्यतामें अभिव्यक्त करती है। अतएव, अतिमानसके लिये 'परम' कोई अटल अनिर्देश्य, सर्व-निषेधक निर्विशेष नहीं है; ऐसी आनंत्यमयी सत्ता जो अपने स्वरूपकी अक्षर विशुद्धतामें स्वयं-सम्पूर्ण हो, और जिसकी एकमात्र शक्ति ऐसी शुद्ध चेतना हो जो सत्ताकी परिवर्तनरहित नित्यतापर ही, अपनी आत्म-सत्ताके अचल आनन्दपर ही समाहित रह पाती हो, परम सद्वस्तुका सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है। आनंत्यमयी सत्ता आनंत्यमयी शक्ति भी होनी ही चाहिये; अपने अन्दर एक सनातन विश्राम और शांतिको समाविष्ट रखती हुई भी वह एक सनातन क्रिया तथा सृष्टिके लिये समर्थ रहनी ही चाहिये : किन्तु यह क्रिया भी उसके अपने ही अन्दर होगी, यह सृष्टि उसके अपने ही शाश्वत तथा अनन्त

आत्म-स्वरूपमेंसे की गयी होगी, क्योंकि इससे भिन्न ऐसा कुछ हो नहीं सकता जिसमेंसे वह सृष्टि कर सके; यदि सृष्टिका ऐसा कोई आधार हो भी जो स्वयं उससे कुछ अन्य प्रतीत होता हो, तो वह भी वास्तवमें उसीके अन्दर और उसीका होगा और उसकी सत्तासे बाहरका नहीं हो सकता। अनंत शक्ति केवल ऐसी शक्ति नहीं हो सकती जो एक विशुद्ध निष्क्रिय एकरूपतामें, एक निर्विकल्प प्रशांतिमें विश्राम करती रहती हो; उसके अन्दर अपनी सत्ता एवं ऊर्जाकी अनंत शक्तियाँ होनी ही चाहियें; जो चेतना अनंत है वह अपनी ही आत्म-संवित्के अंतहीन सत्योंको अपने अन्दर अवश्य धारण किये होगी। इनकी सक्रिय अवस्थामें इनकी प्रतीति हमारे संबोधको उसकी सत्ताके पहलुओंकी नाईं, हमारे आध्यात्मिक बोधको उसकी क्रियात्मकताकी शक्तियों और गतियोंकी नाईं, हमारे सौन्दर्यबोधको उसकी सत्ताके आनन्दके साधनों और रूपोंकी नाईं होगी। वैसी अवस्थामें सृष्टि एक आत्माभिव्यक्ति होगी; वह अनंतकी अनंत संभावनाओंका एक व्यवस्थित प्रविस्तारण होगी। किन्तु प्रत्येक संभावना यह संकेत करती है कि उसके पीछे सत्ताका एक सत्य है, सत्के अन्दर उसकी एक वास्तविकता है, क्योंकि उस अवलंबदाता सत्यके बिना कोई भी 'संभाव्य' हो नहीं सकते थे। अभिव्यक्तिमें 'सत्'का कोई मूलगत तत्त्व हमारे संबोधको दिव्य निर्विशेषके किसी मूलगत आध्यात्मिक रूपकी नाईं प्रकट होगा; उसमेंसे उसकी समस्त संभव अभिव्यक्तियाँ, उसकी अन्तर्जात क्रियाधाराएँ उन्मज्जित होंगी : और फिर, वे अपने-अपने सार्थक रूपोंकी, अभिव्यंजिका शक्तियोंकी, सहज प्रक्रियाओंकी सृष्टि करेंगी, बल्कि उन्हें एक अनभिव्यक्त प्रसुप्तावस्थासे बाहर लायेंगी; उनकी आत्म-सत्ता उनका अपना-अपना स्वरूप, अपना-अपना स्वभाव विकसित करेगी। तो यही सृष्टिकी सम्पूर्ण प्रक्रिया होगी, किन्तु अपने मनमें हमें सम्पूर्ण प्रक्रिया नहीं दिखाई देती, हमें केवल संभावनाएँ दीखती हैं जो अपने-आपको वास्तविकताओंमें परिणत करती हैं, और यद्यपि हम अनुमान करते या अटकल लगाते हैं, हमें उनके पीछे रहनेवाली ऐसी अवश्यमेवताकी, ऐसे पूर्व-निर्धारक सत्यकी, ऐसे अनुल्लंघ्य विधानकी निश्चिति नहीं रहती जो संभावनाओंको समर्थ बनाता हो, वास्तविकताओंको निर्णीत करता हो। हमारा मन भूतार्थका प्रेक्षक है, संभावनाओंका आविष्कारक या अन्वेषक है, किन्तु उन गुह्य अनुल्लंघ्य विधानोंका द्रष्टा नहीं जो कि किसी सृष्टिकी गतियों और रूपोंको अवश्यंभावी बनाते हैं; क्योंकि, विश्व-सत्ताके पुरोभागमें केवल शक्तियाँ ही होती हैं जो अपनी वीर्य-विभूतियोंके संयोगके किसी संतुलनके द्वारा परिणामोंको निर्धारित

करती हैं; यदि कोई एक या अनेक आद्य निर्धारक हैं तो वे हमारे अज्ञानके कारण हमसे छिपे रहते हैं। किन्तु ये अनुल्लंघ्य विधान अतिमानसिक ऋत-चित्के लिये प्रत्यक्ष होंगे, उसकी दृष्टि और उसके अनुभवके उपादान ही होंगे : अतिमानसिक सृजन-प्रक्रियामें ये अनुल्लंघ्य विधान, संभावनाओंका संयोग और परिणामगत वास्तविकताएँ एक अखंड समग्रता होंगी, एक अविभाज्य गतिधारा होंगी ; संभावनाएँ और वास्तविकताएँ अपने प्रवर्तक अनुल्लंघ्य विधानोंकी अनिवार्यताको अपने अन्दर लिये रहेंगी,—उनके समस्त परिणाम, उनकी सारी सृष्टि उस सत्यकी काया होंगी जिसे वे सर्व-सत्तामयके पूर्वनियत सार्थक रूपों और शक्तियोंमें अभिव्यक्त करती हैं।

निर्विशेपके विपयमें हमारा मूलभूत संवोध, उसके संवंधमें हमारा सारभूत आध्यात्मिक अनुभव एक अनंत तथा शाश्वत सत्ताकी, एक अनंत तथा शाश्वत चेतनाकी, सत्ताके एक अनंत तथा शाश्वत आनंदकी संवोधि अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति होता है। इस मूल एकत्वको तीन स्वयंभू पक्षोंमें विविक्त, यहाँतक कि पृथक् करना भी, अधिमानसिक और मानसिक संवोधमें संभव होता है; कारण, शुद्ध अहैतुक शाश्वत आनन्दको हम इतनी तीव्रतासे अनुभव कर सकते हैं कि हम केवल वही हो जाते हैं, सत्ता और चेतना उसके अन्दर अवलुप्त प्रतीत होती हैं, उनकी विद्यमानता स्पष्ट भासित नहीं होती; शुद्ध एवं निर्विशेप चैतन्यका भी वैसा ही अनुभव और उसके साथ वैसा ही अनन्य तादात्म्य संभव है, और शुद्ध तथा निर्विशेष सत्का भी सदृश तादात्म्यकारी अनुभव हो सकता है। किन्तु अतिमानसिक संवोधके लिये ये तीनों सदैव एक अवियोज्य त्रिपुटी होते हैं, यद्यपि इनमेंसे कोई एक दूसरोंके आगे खड़ा होकर अपने निजी आध्यात्मिक निर्दिष्टोंको अभिव्यक्त कर सकता है; क्योंकि प्रत्येकके अपने-अपने मौल रूप या अन्तर्निहित आत्म-रूपायण होते हैं, किन्तु समग्र रूपसे इन सवकी मूल उत्पत्ति उस त्र्येक निर्विशेपसे हुई है। प्रेम, हर्ष तथा सौन्दर्य 'सत्ता'के दिव्य आनन्दके मूलभूत निर्दिष्ट हैं और हम यह तुरत देख ले सकते हैं कि वह आनंद ही उनका उपादान और स्वरूप है : वे उस निर्विशेषकी सत्तापर आरोपित विजातीय कुछ नहीं हैं, न ही वे ऐसी सृष्टियाँ हैं जो उससे अवलंब पाती हों, किन्तु उससे बाहरकी हों; वे उसकी सत्ताके सत्य हैं, उसकी चेतनाका सहज धर्म हैं, उसकी सत्ताकी शक्तिकी वीर्य-विभूतियाँ हैं। यही बात निर्विशेष चेतनाके मौल निर्दिष्टोंकी, ज्ञान तथा इच्छाकी है, वे आद्या चित्-शक्तिके सत्य और वीर्य-विभूतियाँ हैं और उसके स्वभावमें ही अंतर्निहित हैं। यह सत्यता तब और भी स्पष्ट हो जाती

है जब हम निर्विशेष सत्ताके मूलभूत आध्यात्मिक निर्दिष्टोंपर ध्यान देते हैं; वे हैं उसकी त्रिक शक्तियाँ, उसकी समस्त आत्म-सृष्टि अथवा अभिव्यक्तिके लिये आवश्यक प्रथम स्वीकृत सत्य,—वे हैं आत्मा, ईश्वर, पुरुष।

आत्म-अभिव्यक्तिकी प्रक्रियाका और भी आगेतक अनुसरण करें तो हम देखेंगे कि इनमेंसे प्रत्येक रूप या शक्ति अपनी सर्वप्रथम क्रियामें एक त्रित्व या त्रिपुटीका आश्रय ग्रहण करती है; कारण, ज्ञान अनिवार्यतया ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानके त्रित्वपर आश्रित होता है; प्रेम प्रेमी, प्रिय और प्रेमके त्रित्वमें मिलता है; इच्छाकी आत्म-पूर्ति इच्छाके प्रभु, इच्छाके विषय और कार्यकारिणी शक्तिके त्रित्वमें होती है; हर्षको अपना भौतिक और पूर्ण आह्लाद भोक्ता, भोग्य और उनके संयोजक आनंदमें मिलता है; आत्मा भी उसी अनिवार्य रूपसे विषयी-रूप आत्मा, विषय-रूप आत्मा और विषयी-विषयरूप आत्माको एक साथ मिलानेवाली आत्म-संवित्के त्रित्वमें प्रकट होता और उसीमें अपनी अभिव्यक्तिको प्रतिष्ठित करता है। ये और अन्य प्राथमिक शक्तियाँ तथा रूप अपना स्थान अनंतकी मूलभूत आध्यात्मिक आत्म-निर्देशनाओंमें ग्रहण करते हैं; अन्य सब मूलभूत आध्यात्मिक निर्दिष्टोंके निर्दिष्ट हैं,—वे सत्ता, चेतना शक्ति एवं आनंदके सार्थक संबंध, सार्थक बल, सार्थक रूप हैं, 'शाश्वत'की चित्-शक्तिकी सत्य-प्रक्रियाकी ऊर्जाएँ, अवस्थाएँ, विधियाँ, रेखाएँ हैं, उसकी अभिव्यक्तिके अनुल्लंघ्य विधान, संभावनाएँ, विशेषताएँ हैं। शक्तियों और संभावनाओंके इस समस्त प्रविस्तारणको और उनके अन्तर्निहित परिणामोंको अतिमानसका संबोध एक अंतरंग एकत्वके अन्दर एक साथ धारण किये रहता है; वह उन्हें आद्य सत्यपर सचेतन भावसे प्रतिष्ठित रखता और जिन सत्योंको वे अभिव्यक्त करते हैं और जो उनके स्वरूप हैं उनके सामंजस्यमें उन्हें बनाये रखता है। वहाँ कल्पनाओंका कोई आरोपण नहीं है, कोई स्वेच्छाचारी सृष्टि नहीं है, कोई विभाजन, विखंडन, असमाधेय विरोध या वैषम्य भी नहीं है। किन्तु अज्ञानमय मनमें ये व्यापार प्रकट होते हैं, क्योंकि वहाँ एक सीमित चेतना प्रत्येक वस्तुको इस भाँति देखती और उससे व्यवहार करती है मानों वे सब संबोधके पृथक् विषय हों या पृथक् अस्तित्व हों, और इसी भाँति वह उन्हें जानना, अधिकृत करना और भोगना चाहती है और उनपर प्रभुता प्राप्त करती या उनकी प्रभुताको सहन करती है; किन्तु उसके अज्ञानके पीछे, उसमें रहनेवाला अंतरात्मा जिसकी खोज करता है वह है वह सद्वस्तु, वह सत्य, वह चेतना, वह शक्ति, वह आनंद जिसके द्वारा उनका अस्तित्व है। मनको सीखना है कि वह अपने निजके अन्दर

आवृत इस सच्ची खोज और सच्चे ज्ञानके प्रति जागृत हो,—जागृत हो उस सद्वस्तुके प्रति जिससे समस्त वस्तुएँ अपना सत्य प्राप्त करती हैं, उस चेतनाके प्रति समस्त चेतनाएँ जिसके अंश हैं, उस बलके प्रति जिससे कि सबको अपनी अंतर्निहित सत्ताकी शक्ति मिलती है, उस आनंदके प्रति सब आनंद जिसकी आंशिक आकृतियाँ हैं। चेतनाका यह परिसीमन और चेतनाकी अखंडताके प्रति यह जागृति भी आत्माभिव्यक्तिकी एक प्रक्रिया हैं, आत्माकी एक आत्म-निर्देशना हैं; सीमित चेतनाकी वस्तुएँ अपने प्रतीयमान रूपमें परम सत्यके विपरीत होती हुईं भी अपने गभीरतर अर्थ और प्रकृत स्वरूपमें एक दिव्य अर्थ रखती हैं; वे भी अनंतका कोई सत्य या अनंतकी कोई संभावना बाहर लाती हैं। वस्तुओंके विषयमें अतिमानसिक संबोध, जो सर्वत्र उस अद्वय सत्यको ही देखता है, जहाँतक मनकी भाषामें व्यक्त किया जा सकता है, किसी ऐसे ही स्वभावका होगा और हमारे जीवनके विषयमें अपनी व्याख्या, सृष्टिके रहस्य और विश्वकी अर्थवत्ताके विषयमें अपना विवरण हमारे लिये किसी ऐसे ही रूपमें विन्यस्त करेगा।

साथ ही हमारी निर्विशेषकी धारणामें और हमारे आध्यात्मिक अनुभवमें अनिर्देश्यता भी एक आवश्यक तत्त्व है : सत्ता और वस्तुओंपर अतिमानसिक दृष्टिका यह दूसरा पहलू है। निर्विशेषकी सीमा या परिभाषा किसी एक निर्देशनाके द्वारा या निर्देशनाओंके किसी भी कुलयोगके द्वारा नहीं की जा सकती; दूसरी ओर वह शुद्ध सत्ताकी किसी अनिर्देश्य रिक्ततासे भी आबद्ध नहीं है। इसके विपरीत वह समस्त निर्देशनाओंका उत्स है : उसकी अनिर्देश्यता उसकी सत्ताकी अनंतता और उसकी सत्ताकी शक्तिकी अनंतता दोनोंकी स्वाभाविक अवस्था, आवश्यक अवस्था है; वह अनंत रूपसे सब वस्तुएँ हो सकता है क्योंकि वह कोई भी विशेष वस्तु नहीं है और किसी भी परिभाषा-शक्य समग्रतासे परे है। निर्विशेषकी यह स्वरूपभूत अनिर्देश्यता ही हमारी चेतनामें हमारी आध्यात्मिक अनुभूतिके नेतिवाचक भावोंके द्वारा,—अक्षर अचल आत्मा, निर्गुण ब्रह्म, निर्गुण शाश्वत, शुद्ध लक्षणरहित एकमात्र सत्, निर्व्यक्तिक, क्रियाशून्य नीरवता, अ-सत्, अनिर्वचनीय तथा अज्ञेयके द्वारा—अनूदित होती है। दूसरी ओर वह समस्त निर्देशनाओंका सार और उत्स भी है, और यह क्रियात्मक सार हमारे सामने मूलभूत इतिवाचक भावोंके द्वारा अभिव्यक्त होता है जिनमें कि निर्विशेष हमें समान रूपसे मिलता है; कारण वह आत्मा ही, जो सगुण ब्रह्म है, अनंत गुणवान् शाश्वत है, वह एक है जो बहु भी है, वह अनंत पुरुष है जो समस्त पुरुषों और व्यक्तित्वोंका उत्स और आधार है, सृष्टिका ईश्वर है,

शब्द-ब्रह्म है, समस्त कर्म एवं क्रियाका प्रभु है, वही सकल भूत बन जाता है; यही वह है जिसे जाननेसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है: ये इतिभाव उन नेति-भावोंके समरूप होते हैं। क्योंकि उस 'एकं सत्'के दो पार्श्वोंको पृथक्-पृथक् कर देना अतिमानसिक संबोधमें संभव नहीं,—उन्हें पार्श्व कहना भी अत्युक्ति है, क्योंकि वे एक-दूसरेके अन्दर हैं, उनका सह-अस्तित्व अथवा अस्तित्वैक्य सनातन है और उनकी अन्योन्यपालिका शक्तियाँ अनंतकी आत्माभिव्यक्तिकी भित्ति होती हैं।

किन्तु उनका पृथक् संबोध भी कोई सम्पूर्ण भ्रम या अज्ञानकी सम्पूर्ण भ्रान्ति नहीं है; आध्यात्मिक अनुभूतिके लिये उसका भी एक प्रामाण्य है। क्योंकि, निर्विशेषके ये आद्य रूप मूलभूत आध्यात्मिक निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट हैं जो कि इस आध्यात्मिक छोरपर या आध्यात्मिक प्रारंभमें, अवरोहण और आरोहण करती अभिव्यक्तिके भौतिक छोरके या निश्चेतन प्रारंभके सामान्य निर्दिष्टों अथवा जातिमूलक अनिर्दिष्टोंके समरूप होते हैं। जो हमें नेतिवाचक प्रतीत होते हैं वे अनंतकी अपनी निजी निर्देशनाओंकी सीमामें न बँधनेवाली स्वतंत्रता अपने अन्दर लिये चलते हैं; उनकी उपलब्धि अन्तःस्थ आत्माको वियुक्त करती है, हमें मुक्त करती और इस परमतामें भाग लेनेमें समर्थ करती है : इस प्रकार जब हम एक बार निर्विकार आत्माके अनुभवमें चले जाते या उसके बीचसे गुजरते हैं तो हम अपनी सत्ताकी आंतरिक स्थितिमें प्रकृतिकी निर्देशनाओं और सृष्टियोंके द्वारा आबद्ध और सीमित नहीं रह जाते। दूसरी ओर, क्रियात्मक रूपमें, यह मूल स्वतंत्रता चेतनाको यह सामर्थ्य देती है कि वह निर्देशनाओंके जगत्की सृष्टि, उससे आबद्ध हुए बिना करे; वह उसे यह सामर्थ्य भी देती है कि उसने जो कुछ भी सृष्ट किया है उससे विलग हो जाय और उसे एक उच्चतर सत्य-व्यवस्थामें पुनः सृष्ट करे। आत्माकी जो सत्ताकी सत्यमयी संभावनाओंके अनंत वैचित्र्यकी शक्ति है वह इसी स्वतंत्रतापर आधारित है, और उसकी जो अपनी क्रियाओंसे स्वयं बँधे बिना नियति या व्यवस्था-तंत्रके किसी भी रूप और प्रत्येक रूपकी सृष्टि करनेकी क्षमता है, यह भी इसी स्वतंत्रतापर आधारित है : व्यष्टि-जीव भी इन नेतिवाची निर्विशेषोंके अनुभवके द्वारा उस क्रियात्मक स्वतंत्रतामें भाग ले सकता है, आत्म-रूपायणके एक क्रमसे उच्चतर क्रममें जा सकता है। जब उसे मनकी भूमिकासे अतिमानसिक भूमिकाकी ओर जाना होता है तो उस अवस्थामें मानसता और मनोमय अहंके एक समग्र निर्वाणमें प्रवेश करनेकी, आत्माकी नीरवतामें चले जानेकी अनुभूति बीचमें आ सकती

है; यह अनुभूति यदि अपरिहार्य न हो तो भी अत्यन्त मुक्तिप्रद रूपमें सहायक तो होती ही है। किन्तु चेतनाका जो मध्यवर्ती शिखर है, जहाँसे अभिव्यक्त सत्ताके ऊपर चढ़ते और नीचे उतरते सोपानोंकी स्पष्ट दृष्टि प्राप्त होती है और *आरोहण तथा अवरोहणकी स्वच्छन्द शक्तिपर अधिकार-प्राप्ति* एक आध्यात्मिक विशेषाधिकार हो जाती है, वहाँतक संक्रमण करनेके पूर्व, हर दशामें, शुद्ध आत्माकी अनुभूति तो होनी ही होगी। आद्य रूपों तथा शक्तियोंमेंसे प्रत्येकके साथ तादात्म्यकी एक स्वतंत्र सम्पूर्णता,—न कि जिस प्रकार मनमें होता है, उस प्रकार किसी एकमात्र अभिभूतकारी अनुभवमें संकुचित हो जाना, जो अंतिम और सर्वांगीण प्रतीत हो; क्योंकि ऐसा होना सत्ताके समस्त रूपों और शक्तियोंके एकत्वकी अनुभूतिसे असंगत होगा,—अनंतकी चेतनाकी एक अंतर्निहित सामर्थ्य है। अधिमानस-संबोधका और उसकी प्रत्येक पहलू, प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक संभावनाको उसकी स्वतंत्र परिपूर्णतातक ले जानेकी इच्छाका आधार और न्याय-संगति वस्तुतः यही है। किन्तु अतिमानस सबके एकत्वकी आध्यात्मिक अनुभूतिको सर्वदा और प्रत्येक स्थिति या अवस्थामें बनाये रखता है; उस एकत्वकी *अंतरंग विद्यमानता* तब भी रहती है जब कि प्रत्येक वस्तुको सम्पूर्णतम रूपसे गृहीत किया गया होता है, प्रत्येक स्थितिको उसका निजका सम्पूर्ण आनंद, बल और मूल्य प्रदान किया गया होता है। इस भाँति, जब नेति-भावके सत्यको संपूर्णतः स्वीकार किया जाता है तब भी इति-भावको दृष्टिसे ओझल नहीं होने दिया जाता। इस सर्वाधार एकत्वके बोधको *अधिमानस तब भी बनाये रखता है; उसके लिये वही स्वतंत्र अनुभवका* सुरक्षित आधार है। मनमें सारे पहलुओंके एकत्वका ज्ञान बाह्य तलपर खो जाता है, चेतना तल्लीनकारी, एकांतिक-पृथक् इति-प्रतिपादनोंमें निमग्न हो जाती है; किन्तु वहाँ भी, मनके अज्ञानमें भी एकान्तिक तल्लीनताके पीछे अखंड सद्वस्तु फिर भी रहती है और वह सद्वस्तु एक गंभीर मानसिक बोधि-रूपमें या सर्वांगीण एकत्वके एक अंतःस्थ सत्यके विचार या भावना-रूपमें पुनः प्राप्त की जा सकती है; आध्यात्मिक मनमें इसका विकास एक सर्वदा-विद्यमान अनुभूतिके रूपमें किया जा सकता है।

सर्वगत सद्वस्तुके समस्त पहलुओंका मूलभूत सत्य परम सत्‌में रहता है। इस प्रकार, शाश्वत सद्वस्तुकी विरोधिनी, उसका प्रतिषेध प्रतीत होनेवाली निश्चेतनाका रूप या बल भी आत्म-संविद् एवं सर्व-चेतन अनंतके द्वारा अपने अन्दर धारण किये हुए एक सत्यके अनुरूप ही होता है। अधिक निकटसे देखते हैं तो हम पाते हैं कि यह अनंतकी वह शक्ति है जिससे

वह चेतनाको आत्म-निवर्तनकी समाधिमें, अपने ही अगाध तलोंमें आवृत आत्माकी आत्म-विस्मृतिमें निमग्न करता है जहाँ कुछ भी अभिव्यक्त नहीं, परंतु सब कुछ अचिंत्य रूपसे विद्यमान है और उस अनिर्वचनीय प्रसुप्तावस्थासे उन्मज्जित हो सकता है। आत्माकी उत्तुंग भूमियोंमें यह वैश्व अथवा अनंत समाधि-निद्रा हमारे संबोधके सामने एक ज्योतिर्मयी अतिचेतनाकी पराकोटि-रूपमें प्रकट होती है : सत्ताके अन्य छोरपर वह हमारे संबोधके समक्ष आत्माके उस सामर्थ्य-रूपमें प्रकट होती है जिससे वह अपने ही सामने अपनी सत्ताके सत्योंके विरोधी रूपोंको उपस्थित करता है। ये विरोधी रूप हैं असत्की अगाधता, निश्चेतनाकी अमा-निशा, एक अगाध संवेदनहीन मूर्च्छा, जिसमेंसे, फिर भी, सत्-चित्-आनन्दके समस्त रूप अभिव्यक्त हो सकते हैं; किन्तु वे सीमित अभिधाओंमें ही, धीमे-धीमे उन्मज्जित और वर्द्धित होते आत्म-रूपायणोंमें, इतना ही नहीं, अपने-आपकी विपरीत अभिधाओंमें भी प्रकट होते हैं; यह एक गूढ़ सर्व-सत्तामयकी, सर्वानंदमयकी, सर्वज्ञानमयकी क्रीड़ा है; किन्तु वह अपनी ही आत्म-विस्मृति, आत्म-विरोध और आत्म-सीमनके नियमोंका पालन करता जाता है जबतक कि वह उसका अतिक्रमण करनेके लिये तैयार नहीं हो जाय। भौतिक विश्वमें हम जिस निश्चेतना और अज्ञानको क्रियाशील देखते हैं वह यही है। यह अनंत एवं शाश्वत सत्का निषेध नहीं, अपितु उसकी ही एक अभिधा, एक विधि है।

विश्व-सत्ताके इस समग्र संबोधमें अज्ञानका व्यापार जो अर्थ धारण करता है, विश्वकी आध्यात्मिक व्यवस्थामें उसका जो स्थान निर्धारित है, उसका यहाँ अवलोकन करना महत्वपूर्ण है। हम जो कुछ अनुभव करते हैं वह सब यदि कोई अध्यारोप हो, निर्विशेषमें कोई मिथ्या सृष्टि हो, तो विश्व-जीवन और व्यष्टि-जीवन दोनों-के-दोनों स्वरूपतः एक अज्ञान ही हो जायँगे; निर्विशेषकी अनिर्देश्य आत्म-संवित् ही एकमात्र यथार्थ ज्ञान होगी। यदि सब कुछ साक्षी कालातीत 'शाश्वत'की सत्यताकी भूमिकामें उपस्थित की गयी कालगत और प्रपंचात्मक सृष्टिका निर्माण हो और सृष्टि यदि उस 'सद्वस्तु'की अभिव्यक्ति न हो, प्रत्युत कोई स्वेच्छाचारी स्वतः-परिणामिनी वैश्व रचना हो, तो यह भी एक प्रकारका अध्यारोप ही होगा। तब सृष्टिके संबंधमें हमारा ज्ञान क्षणभंगुर चेतना और सत्ताकी अस्थायी रचनाका, 'शाश्वत'की दृष्टिके सामनेसे गुजरती एक अनिश्चित संभूतिका ज्ञान होगा, न कि सद्वस्तुका ज्ञान; यह भी एक अज्ञान ही होगा। किन्तु यदि सब कुछ उस सद्वस्तुकी अभिव्यक्ति हो और स्वयं भी सत् हो, कारण

वह सद्वस्तु उसके उपादान-रूपमें उसमें अन्तर्वर्ती है और वह उस सद्वस्तुके सारसे, उस सद्वस्तुकी विद्यमानतासे सत्त्ववान् है, तो व्यष्टि-सत्ता और जगत्-सत्ताकी संवित्, अपने आध्यात्मिक मूल और स्वरूपमें, अनंत आत्मज्ञान तथा सर्वज्ञानकी एक क्रीड़ा होगी : अज्ञान केवल एक गौण गति, एक निरुद्ध या सीमित संबोध या एक आंशिक और अपूर्ण विकासमान् ज्ञान हो सकेगा, जिसके अन्दर भी और पीछे भी सच्चा और समग्र आत्म-ज्ञान तथा सर्वज्ञान प्रच्छन्न है। यह अज्ञान एक स्वल्पकालीन व्यापार होगा, न कि विश्व-जीवनका कारण और सार; उसकी अनिवार्य परम परिणति आत्माके प्रत्यावर्तनमें, विश्वसे निकलकर किसी एकमात्र अतिचेतन आत्मज्ञानकी ओर नहीं, प्रत्युत स्वयं विश्वके अन्दर एक सर्वांगीण आत्मज्ञान और सर्वज्ञानकी ओर प्रत्यावर्तनमें होगी।

यह आपत्ति की जा सकती है कि अतिमानसिक ज्ञान, इतना सब होनेपर भी, वस्तुओंका अंतिम सत्य तो नहीं है। चेतनाका अतिमानसिक स्तर अधिमानस तथा मनसे चलकर सच्चिदानंदकी पूर्ण अनुभूतिकी ओर जानेके मार्गमें एक मध्यवर्ती डग होता है और अभिव्यक्त आत्माके उच्चतम शिखर उस स्तरसे परे हैं; वहाँ सत्ता अवश्य ही, बहुत्वके अन्दर उस 'एक'की निर्देशनापर बिल्कुल ही आश्रित नहीं होगी, अपितु वह एकत्वमें केवल और मात्र एक शुद्ध तादात्म्यको अभिव्यक्त करेगी। किन्तु अतिमानसिक ऋत-चित्का इन लोकोंमें अभाव नहीं होगा, क्योंकि वह सच्चिदानन्दकी एक अन्तर्निहित शक्ति है; अंतर यह होगा कि ये निर्देशनाएँ सीमांकन नहीं होंगी, बल्कि नमनशील होंगी, उनका एक-दूसरेमें संलयन हुआ होगा, प्रत्येक एक सीमाहीन सांत होगी। वस्तुतः वहाँ सब कुछ प्रत्येकमें और प्रत्येक सब कुछमें आमूल और सर्वांगीण रूपसे रहता है,—वहाँ तादात्म्यकी एक मूलभूत संवित्की चेतनाके परस्पर समावेश और अन्योन्य अंतर्प्रवेशकी पराकाष्ठा होगी; ज्ञानकी जो कल्पना हम करते हैं वैसा ज्ञान वहाँ नहीं होगा, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं होगी, कारण सब कुछ स्वयं सत्ताके अन्दर चेतनाकी अपरोक्ष क्रिया-रूप होगा, तदात्म, घनिष्ठ, अंतरतः आत्मवित् और सर्ववित्। किन्तु फिर भी चेतनाके संबंधका, सत्ताके पारस्परिक आनन्दके संबंधका, सत्ताके आत्मबलके साथ सत्ताके आत्मबलके संबंधका बहिष्कार नहीं होगा; ये उच्चतम आध्यात्मिक लोक रिक्त अनिर्देश्यताका क्षेत्र नहीं होंगे, शुद्ध सत्ताकी रिक्तता नहीं होंगे।

किन्तु, अब यह कहा जा सकता है कि ऐसा होनेपर भी, कम-से-कम, स्वयं सच्चिदानन्दमें, अभिव्यक्तिके सारे लोकोंसे ऊपर तो, शुद्ध सत्ता एवं

चेतना तथा अस्तित्वके शुद्ध आनन्दके आत्म-ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। अथवा, वस्तुतः यह हो सकता है कि स्वयं यह त्रिक सत् अनंतकी आदि आध्यात्मिक आत्म-निर्देशनाओंकी त्रिपुटी हो; तब समस्त निर्देशनाओंकी भाँति इनके अस्तित्वका भी अनिर्वचनीय निर्विशेषमें अंत हो जायगा। किन्तु हमने यह स्थिति अपनायी है कि वे परम सत्के अन्तर्निहित सत्य ही होने चाहियें; आध्यात्मिक मनके लिये संभव होनेवाली उच्चतम अनुभूतिमें वे जैसे होते हैं निर्विशेषमें वे चाहे उससे अनिर्वचनीय रूपसे भिन्न ही होते हों, उनकी चरम सत्यता निर्विशेषके अन्दर पूर्व-विद्यमान होनी ही चाहिये। निर्विशेष न तो अनंत रिक्तताकी कोई रहस्यमयता है, न निषेधोंका चरम योगफल ही; ऐसी कोई अभिव्यक्ति हो नहीं सकती जो आद्या तथा सर्वव्यापी सद्वस्तुकी किसी स्वरूप-शक्तिके द्वारा प्रमाणित न होती हो।

अध्याय दो

ब्रह्म, पुरुष, ईश्वर,—माया, प्रकृति, शक्ति

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

वह भूतोंमें अविभक्त है और फिर भी ऐसे स्थित है मानों विभक्त हो।

—गीता
13.16

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनंत ब्रह्म।

—तैत्तिरीय उपनिषद्
2.1

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि शाश्वत जानो।

—गीता
13.19

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥

मायाको प्रकृति और मायाके प्रभुको महेश्वर मानो।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
4.10

देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
... ... विदाम ... ...
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः ... ... साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

यह विश्वमें उस परम देवकी महिमा-शक्ति ही है जो ब्रह्मके चक्रको घुमाती है। वह जो सकल ईश्वरोंके महेश्वर हैं, सकल देवोंके परम देव हैं, उन्हें अवश्य जानना चाहिये। उनकी शक्ति भी परम है और उस शक्तिके ज्ञान एवं बलकी स्वाभाविक क्रिया बहुविध है। सकल भूतोंके अंदर निगूढ़ है एक परमदेव, सकल भूतोंका अंतरात्मा, सर्वव्यापी, निर्गुण, 'केवल', सकल कर्मोंका अध्यक्ष, साक्षी, ज्ञाता।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
6.1,7,8,11

अतएव, एक परम 'सद्वस्तु' है, शाश्वत, निर्विशेष तथा अनंत। चूंकि वह निर्विशेष और अनंत है अतः वह स्वरूपतः अनिर्देश्य है। सांत और परिभाषाकारक मन उसकी परिभाषा और धारणा नहीं कर सकता; मन द्वारा सृष्ट वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती; न तो उसका वर्णन हमारी निषेधोक्तियोंसे, नेति, नेतिसे हो सकता है, क्योंकि हम उसे यह कहते हुए सीमित नहीं कर सकते कि वह यह नहीं है, वह वह नहीं है, और न उसका वर्णन हमारी स्वीकारोक्तियों, 'इति'योंसे ही हो सकता है, क्योंकि हम उसकी निर्देशना यह कहते हुए भी नहीं कर सकते कि वह यह है, वह वह है। किंतु, तो भी, हमारे लिये वह इस भाँति अज्ञेय होते हुए भी सर्वथा और हर प्रकारसे अज्ञेय नहीं है; वह निजके लिये स्वयं-प्रकाश है, और वह अवर्णनीय तो है, किंतु तादात्म्य-जन्य ज्ञानके लिये स्वयं-प्रकाश है। यह ज्ञान-क्षमता आध्यात्मिक पुरुषमें अवश्य होगी; क्योंकि वह आध्यात्मिक पुरुष सार-रूपमें और अपने मूल एवं अंतरंग प्रकृत-स्वरूपमें इस परम सत्से भिन्न नहीं है।

किंतु, यद्यपि यह परम तथा शाश्वत 'अनंत' अपनी निर्विशेषता तथा अनंतताके कारण मनके लिये इस भाँति अनिर्देश्य होता है, तथापि हमें यह ज्ञात होता है कि विश्वमें हमारी चेतनाके सम्मुख वह 'अनंत' अपने-आपको अपनी सत्ताके उन मूलभूत और यथार्थ सत्योंके द्वारा निर्दिष्ट करता है जो विश्वके परे हैं, विश्वके अन्दर हैं और उसके अस्तित्वका सच्चा आधार हैं। ये सत्य हमारे धारणात्मक संबोधके सामने ऐसे मूलभूत पहलुओंकी नाईं आते हैं जिनमें हम सर्वगत सद्वस्तुको देखते और अनुभव करते हैं। उनका स्वरूप बौद्धिक ज्ञानके द्वारा नहीं, वरन् एक आध्यात्मिक संबोधिके द्वारा, हमारी चेतनाकी स्वरूप-धातुमें होनेवाली एक आध्यात्मिक अनुभूतिके द्वारा ही हमारी सीधी पकड़में आता है; किंतु वे एक विशाल और

नमनशील भावके द्वारा भी धारणा-ग्राह्य हो सकते हैं और उन्हें किसी भाँति एक ऐसी नमनशील भाषा द्वारा व्यक्त भी किया जा सकता है जो कठोर परिभाषापर अत्यधिक आग्रह न रखती हो या उस भावकी विशालता और सूक्ष्मताको सीमित न करती हो। इस अनुभूति या इस भावको किसी निकटतासे व्यक्त करनेके लिये एक ऐसी भाषाकी रचना करनी होगी जिसकी तत्त्व-दार्शनिकतामें संबोधि हो और जो, साथ ही, रहस्योद्घाटक बलके साथ काव्यमयी हो और सार्थक तथा जीवंत रूपकोंको अंतरंग, सूचक तथा स्पष्ट संकेतके वाहन-रूपमें प्रवेश देती हो,—वैसी भाषा हो जैसी कि हमें वेदों और उपनिषदोंमें एक सूक्ष्म तथा सारगर्भित घनविग्रहमें गढ़ी मिलती है। तत्त्वदार्शनिक विचारकी सामान्य भाषामें हमें एक दूरके संकेतसे, विमूर्तनोंके द्वारा प्रदत्त एक 'लगभग'से संतोष कर लेना होता है; वह हमारी मानसिक बुद्धिके लिये फिर भी कुछ उपादेय हो सकती है, क्योंकि तर्क और बुद्धिसे समझनेकी हमारी पद्धतिके लिये इसी प्रकारकी भाषा अनुकूल होती है; किन्तु उसे यदि यथार्थतः उपादेय होना हो तो मानसिक बुद्धिको सांत तर्कशीलताकी सीमाओंमेंसे बाहर निकल आनेको राजी होना होगा और 'अनंत'के तर्कका अभ्यस्त होना होगा। केवल इसी शर्तपर, इस प्रकार देखने और विचार करनेसे ही, अकथनीयके बारेमें कहना विरोधाभासी या व्यर्थ नहीं रह जायगा। किंतु, यदि हम 'अनंत'पर सांत तर्कणा प्रयुक्त करनेका हठ करें तो सर्वगत सद्वस्तु हमसे छूटी रहेगी और हमारी पकड़में उसके बदले एक अमूर्त छाया ही आयगी, भाषामें पथराया हुआ कोई निर्जीव रूप ही आयगा, कोई कठोर और तीक्ष्ण रेखा-चित्र ही आयगा जो उस सद्वस्तुकी बात तो करेगा किन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं करेगा। यह आवश्यक है कि हमारी जाननेकी विधि जिसे हमें जानना है उसके उपयुक्त हो; अन्यथा हमें एक दूरवर्ती परिकल्पनाकी, ज्ञानके किसी आकारकी ही प्राप्ति होगी, न कि सच्चे ज्ञानकी।

हमारे सम्मुख जो परम सत्य-रूप इस भांति अभिव्यक्त होता है वह है सत्ताका एक शाश्वत, अनंत एवं निर्विशेष स्वयम्भुत्व, आत्म-संवित्, आत्मानंद; वह निखिल वस्तुओंका प्रतिष्ठान है, वह निखिल वस्तुओंको गुप्त रूपसे अवलंब देता और उनमें व्याप्त होता है। और यह स्वयंभुत्व अपने-आपको आत्म-स्वरूपके तीन रूपों—आत्मा, पुरुष एवं ईश्वर—में व्यक्त करता है। परम सद्वस्तु-स्वरूप ब्रह्म आत्मा, पुरुष, ईश्वर है; भारतके इन शब्दोंकी उत्पत्तिके मूलमें संबोधि है, और जहाँ एक ओर उनमें एक व्यापक निर्दिष्टता है, दूसरी ओर उनमें एक नमनीय प्रयोगका तत्त्व भी है,

इससे उनके व्यवहारमें अस्पष्टता और एक अति-सीमित करनेवाली बौद्धिक धारणाके कठोर जाल, दोनोंसे रक्षा होती है। परम ब्रह्म वह है जिसे पाश्चात्य तत्त्वदर्शनमें Absolute (निर्विशेष) कहा गया है : किंतु ब्रह्म, साथ ही, सर्वगत सद्‌वस्तु भी है जिसके भीतर उस सबका, जो कि सापेक्ष है, उसीके रूपों या उसीकी गतियोंके रूपमें अस्तित्व रहता है; यह एक वैसा निर्विशेष या निरपेक्ष है जो समस्त विशेषों या सापेक्षताओंको अपने आलिंगनमें लेता है। उपनिषदें घोषित करती हैं कि यह सब ब्रह्म है; मन ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, अन्न ब्रह्म है; प्राणके देवता, पवनके देवता वायुको संबोधित कर कहा गया है, "हे वायु! तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो"; और मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सबकी ओर निर्देश करते हुए प्रत्येकका उस एकके साथ अलग-अलग तादात्म्य किया गया है, "हे ब्रह्म! तुम्हीं यह वृद्ध, यह कुमार, यह कुमारी, यह पक्षी, यह कीट हो।" ब्रह्म वह चेतना है जो कि, जो कुछ भी अस्तित्वमान् है, उसके अन्दर अपने-आपको जानती है; ब्रह्म वह शक्ति है जो कि देव, असुर और राक्षसके बलका आश्रय है, वह शक्ति है जो कि मनुष्यमें, पशुमें और प्रकृतिके रूपों और ऊर्जाओंमें क्रिया करती है; ब्रह्म है आनंद, अस्तित्वका निगूढ़ आनंद जो कि हमारी सत्ताका आकाश है और जिसके बिना कोई न तो श्वास ले सकता, न जी सकता है। ब्रह्म सबमें अंतःस्थ अंतरात्मा है; वह हर सृष्ट रूपके अंदर निवास करता और उसीके अनुरूप उसने रूप धारण किया है। सकल भूतोंका ईश्वर वह है जो सचेतन भूतमें तो चेतन है ही, निश्चेतन वस्तुओंमें भी 'चेतन' है; वह वह 'एक' है जो शक्ति-प्रकृतिके हाथोंमें निष्क्रिय रहनेवाले बहुका स्वामी और नियंता है। वह कालातीत है और काल भी; वह देश है और देशमें जो कुछ है वह सब भी; वह कार्य-कारण-संबंध है और कारण तथा परिणाम भी : वह मनीषी और उसका मनन, योद्धा और उसका साहस, द्यूतकार और उसका द्यूत है। समस्त वास्तवताएँ, समस्त रूप, समस्त प्रतीतियाँ ब्रह्म हैं : ब्रह्म निर्विशेष, विश्वातीत और अव्यवहार्य है,—ब्रह्म वह विश्वातीत सत् है जो विश्वका भर्ता है, ब्रह्म वह विश्वात्मा है जो समस्त भूतोंका आधार है, और ब्रह्म प्रत्येक व्यक्तिका आत्मा भी है : अन्तरात्मा अथवा चैत्य सत्ता ईश्वरका सनातन अंश है; उसकी पराप्रकृति या चित्-शक्ति ही जीव-लोकमें जीवभूत हो गयी है। एकमात्र ब्रह्म ही है, और उसीके कारण सब हैं, क्योंकि सब के सब ब्रह्म ही हैं; यह 'सद्‌वस्तु' ही, हम आत्मा तथा प्रकृतिमें जो कुछ भी देखते हैं, उस सबका सत्य है। ब्रह्म ही, ईश्वर ही, अपनी योगमायाके द्वारा, आत्मा-

भिव्यक्तिमें प्रकट की गयी अपनी चित्-शक्तिकी शक्तिके द्वारा यह सब कुछ हुआ है : वह चिन्मय सत् है, अंतरात्मा है, आत्मा है, पुरुष है, और अपनी प्रकृतिके द्वारा ही, अपनी चिन्मयी स्वयंभू-सत्ताकी शक्तिके द्वारा ही वह सकल वस्तुएँ है ; वह ईश्वर है, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् सर्वशासक है, और अपनी चित्-शक्तिके द्वारा ही वह अपने-आपको कालमें व्यक्त करता और विश्वपर शासन करता है। इन वचनों और सदृश उक्तियोंको साथ लेनेपर इनमें सब कुछ समाविष्ट हो जाता है। मनके लिये संभव रहता है कि काट-छाँट और निर्वाचन करे, एक परिबद्ध सिद्धान्त निर्मित कर ले और जो कुछ उसके अंदर न जचता हो उस सबका निराकरण किसी भी व्याख्याके द्वारा कर दे ; किन्तु हमें यदि पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है तो हमें एक सम्पूर्ण और बहुमुखी वर्णनापर खड़े होना होगा।

अतएव, आध्यात्मिक अनुभवका प्रथम सत्य है सत्ताका एक निर्विशेष, शाश्वत एवं अनंत स्वयम्भुत्व, आत्म-संवित्, आत्मानन्द जो विश्वसे परे रहता हुआ भी विश्वको गुप्त रूपसे धारण करता और उसमें व्याप्त है। किन्तु सत्ताके इस सत्यके निर्व्यक्तिक और सव्यक्तिक पहलू साथ-साथ रहते हैं ; वह केवल सन्मात्र ही नहीं, अपितु वह एकतम पुरुष है जो निर्विशेष, शाश्वत एवं अनंत है। जिस प्रकार निर्विशेष और सर्वगत सद्वस्तु-स्वरूप ब्रह्म हमारे सामने आत्मा, पुरुष और ईश्वर, इन तीन मूलभूत रूपोंमें प्रकट होता है, वैसे ही उसकी चेतनाकी शक्ति भी हमारे सामने तीन रूपोंमें प्रकट होती है। माया-रूपमें वह उस चेतनाकी वह आत्मा-शक्ति है जो समस्त वस्तुओंकी सृष्टि धारणात्मक रूपसे करती है ; प्रकृति-रूपमें वह क्रियात्मक रूपसे कार्यकारिणी बनायी गयी वह शक्ति है जो समस्त वस्तुओंको चिन्मय पुरुष या आत्माकी साक्षी दृष्टिके नीचे कार्यान्वित करती है ; शक्ति-रूपमें वह ईश्वरकी, दिव्य पुरुषकी चिन्मयी शक्ति है जो समस्त दिव्यक्रियाओंकी धारणात्मक रूपसे सृष्टिकारिणी और क्रियात्मक रूपसे कार्यकारिणी दोनों ही होती है। ये तीन रूप और उनकी शक्तियाँ सम्पूर्ण विश्व-सत्ता और समस्त प्रकृतिके आधार और आयतन हैं और इन्हें एक साथ अखंड एककी नाईं लिया जाय तो इनसे विश्वातीत तुरीयता, विश्वक सार्वभौमता और हमारी वैयक्तिक सत्ताकी पृथक्कारिताके बीच रहनेवाली प्रतीयमान विषमता और असंगतिमें मेल बैठ जाता है ; उस एक सद्वस्तुकी इस रूप-त्रिपुटीसे निर्विशेष, विश्व-प्रकृति और स्वयं हम एक एकत्वमें जुड़ जाते हैं। वस्तुतः, स्वतंत्र रूपमें लेनेपर, निर्विशेषका, परम ब्रह्मका अस्तित्व सापेक्ष विश्वका प्रत्याख्यान करेगा और वैसे ही हमारा अपना वास्तव अस्तित्व

निर्विशेषकी एकमात्र अव्यवहार्य सत्यतासे असंगत होगा। किंतु ब्रह्म, साथ-ही-साथ, समस्त सापेक्षताओंमें सर्वव्यापी भी है; वह समस्त सापेक्षोंसे स्वतंत्र निरपेक्ष है, समस्त सापेक्षोंका आधारदायी निरपेक्ष है, समस्त सापेक्षोंका शासक, उनमें व्याप्त, उनका उपादानभूत निरपेक्ष है; ऐसा कुछ भी नहीं है जो सर्वव्यापी 'सद्वस्तु' न हो। इस त्रिविध रूप और त्रिविध शक्तिका प्रेक्षण करनेपर हम देख पाते हैं कि यह कैसे संभव है।

स्वयम्भू सत् और उसकी कृतियोंके इस चित्रको यदि हम एकात्मिका निःसीम अखंडताकी दृष्टिसे देखते हैं तो हमें वह विच्छेदरहित दीखता है और अपनी असंदिग्ध समग्रतासे हमें प्रभावित करता है, किंतु तार्किक बुद्धिके विश्लेषणके लिये इससे प्रचुर कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, जैसा कि किसी असीम सत्ताके बोधमेंसे कोई तर्कसंगत सिद्धान्त निर्माण करनेके प्रयत्नमें होना अनिवार्य है; क्योंकि, ऐसा जो कोई भी प्रयास होगा वह, या तो वस्तुओंके जटिल सत्यका मनमाने ढंगसे विभाजन करता हुआ, संगति-धारामें व्याघात करेगा अथवा अपने विपुल समावेशके कारण तार्किक रूपसे असाध्य हो जायगा। कारण, हम देखते हैं कि 'अनिर्देश्य' अपने-आपको अनंत और सांतके रूपमें निर्दिष्ट करता है, 'अक्षर' निरंतर क्षरता और अंतहीन भेदोंको प्रवेश देता है, 'एकं' असंख्य बहु हो जाता है, 'निर्व्यक्तिक' व्यक्तित्वकी सृष्टि करता या उसका आश्रय होता है, यही नहीं, वह स्वयं भी एक पुरुष है; आत्माकी एक प्रकृति है और फिर भी वह अपनी प्रकृतिसे भिन्न है; सत्-पुरुष संभूतिमें आता है और फिर भी वह सर्वदा अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है और अपनी संभूतियोंसे भिन्न रहता है; विश्वपुरुष व्यष्टि-भावको धारण करता है और व्यष्टि-जीव विश्व-भावको; ब्रह्म एक साथ ही निर्गुण और अनंत गुण होनेमें समर्थ है, कर्मोंका प्रभु और कर्त्ता होता हुआ भी वह अकर्त्ता है और प्रकृतिकी क्रियाओंका मौन द्रष्टा भी। हम यदि प्रकृतिकी इन क्रियाओंके सावधानीसे देखें बेराबर ऐसा होता आ रहा है इस कारण वस्तुओंकी प्रक्रियाको बिना विचारे मान लेना यदि छोड़ दें, अति परिचयके अवगुंठनको यदि एक बार हटा दें, तो हमें ज्ञात होगा कि प्रकृति समग्र रूपमें या खंड रूपमें जो कुछ भी करती है वह एक चमत्कार है, किसी दुर्बोध जादूका कृत्य है। 'स्वयंभू'की सत्ता और उसके अन्दर प्रकट हुआ जगत्, इनमेंसे प्रत्येक और ये दोनों बुद्धिसे परेका रहस्य हैं। हमें वस्तुओंके अन्दर एक युक्तिधारा दिखाई देती है, क्योंकि भौतिक सांतकी प्रक्रियाएँ हमारी दृष्टिमें संगतिशालिनी होती हैं और उनका नियम निर्देश्य प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुओंके अंदरकी इस

युक्तिधाराकी जब हम ध्यानसे परीक्षा करते हैं तो प्रति क्षण वह अयौक्तिक अथवा अवयौक्तिक तथा अतियौक्तिकसे टकराती प्रतीत होती है। जब हम जड़से प्राणमें और प्राणसे मनमें जाते हैं तो प्रक्रियाकी यह संगति, यह निर्देश्यता वढ़नेके स्थानपर घटती ही लगती है। सांत यदि युक्तियुक्त प्रतीत होनेके लिये कुछ दूरीतक राजी होता है तो भी अत्यणु तो उन नियमों-से आवद्ध होना अस्वीकार कर देता है और 'अनंत' उनसे अग्राह्य रहता है। जहाँतक विश्वकी क्रिया और उसकी सार्थकताकी वात है, वह हमारी पहुँचसे सर्वथा परे रह जाती है; यदि आत्मा, ईश्वर या अध्यात्म-सत्ता है भी, तो जगत्के साथ और हमारे साथ उसके व्यवहार हमारे लिये अगम्य हैं, वे ऐसा कोई सूत्र प्रदान नहीं करते जिसका हम अनुसरण कर सकें। ईश्वर और प्रकृति और स्वयं हम भी एक रहस्यमयी रीतिसे चलते हैं, वह रीति केवल अंशतः और कुछ विन्दुओंपर ही वोधगम्य होती है, किन्तु उसका समग्र रूप हमारी समझसे परे होता है। मायाकी सारी कृतियाँ एक युक्तिसे अतीत जादूई शक्तिकी रचना लगती हैं, वह शक्ति विश्वको अपनी वुद्धिमत्ता अथवा अपनी उन्मुक्त कल्पनाके अनुसार आयोजित करती है, किंतु वह वुद्धिमत्ता ऐसी है जो हमारी नहीं है और वह उन्मुक्त कल्पना भी ऐसी है जो हमारी कल्पनाको चकरा देती है। जो आत्मा वस्तुओंको अभिव्यक्त करता है, अथवा अपनेको उनके अन्दर इतने अस्पष्ट रूपमें अभि-व्यक्त करता है, वह हमारी वुद्धिको ऐन्द्रजालिक लगता है और उसकी शक्ति या माया सृजनात्मक इन्द्रजाल लगती है: किन्तु इन्द्रजाल भ्रमोंकी सृष्टि कर सकता है, विस्मयकारी वास्तविकताएँ रच सकता है, और हमारे लिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि युक्तिसे अतीत इन प्रक्रियाओं-मेंसे कौनसी इस विश्वमें हमारे सामने है।

किंतु, वास्तवमें, अपनी इस धारणाका कारण हमें अवश्य ही परम सत् अथवा वैश्व स्वयंभू सत्तामें स्थित किसी मिथ्या अथवा कपोलकल्पित वस्तुमें नहीं, अपितु उसकी वहुविध सत्ताके परम संधान-सूत्रको पकड़ पाने-की, अथवा उसकी क्रियाकी गुप्त योजना और विधिका पता लगा पानेकी, हमारी अपनी असमर्थतामें खोजना होगा। स्वयंभू सत् अनंत है और उसकी सत्ता तथा क्रियाकी रीति भी 'अनंत'की ही रीति होनी चाहिये; किंतु हमारी चेतना सीमित है, हमारी वुद्धि सांत वस्तुओंके आधारपर वनी है। सुतरां, यह अनुमान करना अयौक्तिक होगा कि सांत चेतना और वुद्धि 'अनंत'का मापक हो सकती है। यह लघुता उस भूमाका निर्णय नहीं कर सकती; अपने स्वल्प साधनोंके सीमित उपयोगतक वँधी रहनेवाली यह दरिद्रता उन

समृद्धियोंकी वैभवशाली व्यवस्थाकी धारणा नहीं कर सकती; अज्ञानी अर्धज्ञान सर्वज्ञानकी गतियोंका अनुसरण नहीं कर सकता। हमारी तर्कणा हमारे भौतिक प्रकृतिकी सांत क्रियाओंके अनुभवपर, सीमाओंके अन्दर कार्य करनेवाली किसी वस्तुके अपूर्ण प्रेक्षण और अनिश्चित बोधपर आधारित होती है; उसने उसी आधारपर कुछ धारणाएँ बना ली हैं जिन्हें वह सर्वसामान्य और विश्वव्यापी बना देना चाहती है, और जो कुछ भी इन धारणाओंके प्रतिकूल होता या उनसे अलग हटता है उसे वह अयौक्तिक, मिथ्या या अव्याख्येय मानती है। किन्तु, सद्वस्तुकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं और यह आवश्यक नहीं कि किसी एकके लिए उपयुक्त धारणाएँ, मापक अथवा मानदंड अन्य श्रेणीपर भी लागू हों। हमारी स्थूल सत्ता प्रथमतः अत्यणुओं, इलेक्ट्रनों, परमाणुओं, अणुओं और कोषाणुओंके समाहारपर बनी है; किन्तु इन अत्यणुओंकी क्रियाके नियमसे मानव-शरीरकी सारी स्थूल क्रियाओंकी ही व्याख्या नहीं होती, अतः इनके द्वारा मनुष्यके अतिभौतिक अंगोंकी क्रियाके, उसकी प्राणिक गतिविधि, मानसिक गतिविधि और आन्तरात्मिक गतिविधिके समूचे नियम तथा प्रक्रियाकी व्याख्या कर पाना तो और भी कम संभव होगा। शरीरमें सांत अवयव अपने-अपने अभ्यास, गुण-धर्म और विशिष्ट कर्म-रीतियोंको लेकर रचे गये हैं; स्वयं शरीर भी एक ऐसा सांत है जो उन लघुतर सांतोंकी एक संहति मात्र नहीं है जिन्हें वह अंगों, अवयवों, अपने क्रिया-व्यापारोंके घटक उपकरणकी भाँति उपयोगमें लाता है। शरीरकी एक स्वकीय सत्ता प्रस्फुटित हुई है, शरीरका एक अपना सामान्य नियम है जो इन तत्त्वों या घटकोंपर आश्रित रहनेसे परे चला जाता है। फिर, प्राण और मन अतिभौतिक सांत हैं; उनकी क्रियाकी एक अपनी ही, शरीरके नियमसे भिन्न और सूक्ष्मतर रीति होती है। शारीरिक अंग प्राण और मनके उपकरण हैं, परंतु इस कारण प्राण और मन उनपर चाहे कितना ही निर्भर क्यों न करें, इससे उनका आंतरिक स्वभाव मिट नहीं जाता; हमारी प्राणिक तथा मानसिक सत्तामें और प्राणिक तथा मानसिक शक्तियोंमें भौतिक शरीरकी क्रियासे अधिक और भिन्न कुछ भी रहता है। किंतु, इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सांत अपने प्रकृत स्वरूपमें एक अनंत है, या उसके पीछे एक अनंत है जिसने कि आत्म-रूपायणके लिए ही उस सांतका निर्माण किया है, और वह अनंत ही उसका निर्माता, धारयिता और निर्देशक है। अतः, सांतकी सत्ता, नियम तथा प्रक्रियाको भी उसके अन्दर या पीछे निगूढ़ रहनेवाले तत्त्वके ज्ञानके बिना समग्र रूपसे नहीं समझा जा सकता : हमारे सांत ज्ञान, धारणाएँ, मानदंड

अपनी सीमाओंमें वैध हो सकते हैं, किन्तु वे असम्पूर्ण और आपेक्षिक रहते हैं। देश और कालमें जो विभक्त है उसके प्रेक्षणपर आधारित नियम अविभाज्यकी सत्ता और क्रियापर विश्वस्ततासे प्रयुक्त नहीं किया जा सकता; वह केवल देशातीत और कालातीत 'अनंत' पर ही प्रयुक्त होनेके अयोग्य नहीं, वरन् कालरूप 'अनंत' अथवा देशरूप 'अनंत' पर भी लागू नहीं हो सकता। जो नियम और प्रक्रिया हमारी बाह्य सत्ताके लिये अनिवार्य है, यह आवश्यक नहीं कि हमारे अन्दर जो गुह्य है उसके लिये भी वही अनिवार्य हो। इसके अतिरिक्त, जो अवयौक्तिक है, उससे व्यवहार करना युक्तिपर प्रतिष्ठित हमारी बुद्धिको कठिन लगता है: और प्राण अवयौक्तिक है। हम देखते हैं कि प्राणपर प्रयुक्त होनेमें हमारी बौद्धिक युक्ति सर्वदा उसपर एक नियंत्रण, माप, कृत्रिम-हिस्र-आवद्धकारी नियम लादती रहती है जो या तो प्राणको निर्जीव वा ठस कर देनेमें सफल होता है, अथवा उसे कठोर रूपों और रूढ़ियोंमें जकड़ देता है जो उसकी सामर्थ्यको पंगु या बन्दी बना देती हैं, या, अंतमें, एक गोलमालकी रचना हो जाती है, प्राण विद्रोह कर उठता है, हमारी बुद्धिने उसपर जो व्यवस्थाएँ और अधिरचनाएँ बनायी थीं उनका ह्रास अथवा विघटन होता है। एक सहज-प्रवृत्तिकी, एक संबोधिकी आवश्यकता रहती है जो बुद्धिके अपने पास है नहीं, और जब वह स्वतः मनकी क्रियाको सहायता देनेके लिये आती है तो बुद्धि उसकी बात सदा सुनती भी नहीं। किन्तु अप्रतर्क्यको समझना और उससे व्यवहार करना तो हमारी बुद्धिके लिए अवश्य ही और भी अधिक कठिन होगा; तर्कातीत है आत्माका प्रदेश, और उसकी गतिविधि-की वृहत्ता, सूक्ष्मता, गभीरता, जटिलतामें बुद्धि खो जाती है; यहाँ एक-मात्र संबोधि और आंतरिक अनुभव पथप्रदर्शक होते हैं; या यदि अन्य कोई है तो वह वही है जिसका एक तीक्ष्ण किनारा मात्र, जिससे प्रक्षिप्त एक प्रखर किरण मात्र ही संबोधि होती है,—अंतिम ज्ञानदीप्ति तो अप्रतर्क्य ऋत-चित्से ही, अतिमानसिक दृष्टि और ज्ञानसे ही प्राप्त होगी।

परन्तु, अवश्य ही, इसी कारण 'अनंत'की सत्ता और क्रियाको युक्तिसे सर्वथा रहित इन्द्रजाल नहीं मान लेना चाहिये। इसके विपरीत, अनंतके समस्त क्रिया-व्यापारोंमें एक महत्तर युक्ति होती है, किन्तु वह युक्ति मानसिक किंवा बौद्धिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक होती है। उसमें भी एक न्याय-रीति रहती है, क्योंकि वहाँ संबंधों और संबद्धताओंको अचूक रूपसे देखा और कार्यान्वित किया जाता है; जो हमारी सांत बुद्धि-के लिये इन्द्रजाल है वह 'अनंत'की न्याय-रीति है। वह एक महत्तर युक्ति,

महत्तर न्याय-रीति है, क्योंकि वह अपनी क्रियाओंमें अधिक वृहत्, सूक्ष्म और संश्लिष्ट है। हमारा प्रेक्षण जिन तथ्योंको नहीं पकड़ पाता उन सबको अनंतकी युक्ति, न्याय-रीति ग्रहण कर लेती है, वह उनसे ऐसे परिणाम निकालती है जिनकी प्रत्याशा हमारे निगमन और आगमन नहीं कर सकते, क्योंकि हमारे निष्कर्ष और अनुमान दुर्बल भित्तिपर खड़े होते हैं, अचूक नहीं होते और आसानीसे टूट जाते हैं। यदि हम किसी घटनाका अवलोकन करते हैं तो उसका निर्णय और उसकी व्याख्या हम उसके परिणामसे अथवा उसके वाह्यतम घटक अवयवों, परिस्थितियों या कारणोंकी झाँकीसे करते हैं; किंतु प्रत्येक घटना शक्तियोंके एक जटिल संगमका परिणाम होती है जो न तो हमारे देखनेमें आती हैं और न आ सकती हैं, क्योंकि समस्त शक्तियाँ हमारे लिए अदृश्य हैं। परंतु अनंतकी आध्यात्मिक दृष्टिके लिए वे अदृश्य नहीं : उनमेंसे कुछ तो ऐसी वास्तविकताएँ होती हैं जो किसी नवीन वास्तविकताको उत्पन्न या घटित करनेके लिए कार्य कर रही हैं, कुछ ऐसी सम्भावनाएँ होती हैं जो पूर्व-विद्यमान वास्तविकताओंके समीप हैं और एक प्रकारसे उनके समवायमें सम्मिलित हैं; किन्तु वीचमें नयी संभावनाओंका प्रवेश सदा ही हो जा सकता है जो अचानक क्रियात्मक संभाव्यताएँ वन जाती हैं और अपने-आपको उस शक्ति-संगममें जोड़ देती हैं ; और, इन सबके पीछे ऐसे एक या अनेक अनुल्लंध्य विधान होते हैं जिन्हें वास्तविक करनेके लिए ये संभावनाएँ श्रमरत हैं। इसके अलावा, शक्तियोंके उसी सगमसे विभिन्न परिणाम संभव रहते हैं; उनसे क्या निर्गत होगा यह एक ऐसी अनुमतिसे निर्धारित होता है जो निस्संदेह सारे समय प्रतीक्षा कर रही थी और तैयार थी, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वह हस्तक्षेप करने और प्रत्येक वस्तुमें उलटफेर करने तेजीसे चली आती है, यह अनुमति एक निर्णायक दिव्य आदेश होती है। हमारी वुद्धि यह सव नहीं पकड़ सकती क्योंकि वह अज्ञानका करण है, उसकी दृष्टि वहुत सीमित है, उसके संचित ज्ञानका भंडार स्वल्प है, वह ज्ञान सदा कोई वहुत निश्चित या विश्वसनीय भी नहीं होता, और इसके अलावा, उस वुद्धिको अपरोक्ष संवित्का साधन भी नहीं होता। वास्तवमें, संबोधि और वुद्धिमें यही अंतर है कि संवोधि एक प्रत्यक्ष संवित्से उत्पन्न होती है, जव कि वुद्धि एक ऐसे ज्ञानकी परोक्ष क्रिया है जो अपना निर्माण अज्ञातमेंसे चिह्नों और संकेतों और एकत्रित तथ्योंके द्वारा कठिनाईसे करता है। किन्तु, जो हमारी युक्ति-वुद्धि और इन्द्रियोंको प्रत्यक्ष नहीं होता, वह अनंत चेतनाको स्वतःप्रत्यक्ष रहता है, और यदि अनतकी कोई इच्छा है, तो वह, अवश्य ही, ऐसी इच्छा होगी

जो इस परिपूर्ण ज्ञानमें क्रिया करती हो और एक समग्र स्वत:प्रामाण्यका पूर्ण स्वत:स्फूर्त परिणाम हो। वह न तो कोई ऐसी व्याहत क्रमवैकासिक शक्ति है जो उससे आबद्ध हो जिसे कि उसने विकसित किया है, और न वह कोई ऐसी कल्पनात्मक इच्छा ही है जो स्वच्छन्द चपलचित्ततासे शून्यमें क्रिया कर रही हो; वह है सांतकी निर्देशनाओंमें अपने-आपका प्रतिष्ठापन करते 'अनंत'का सत्य।

स्पष्ट है कि यह आवश्यक नहीं कि ऐसी चेतना और इच्छा हमारी सीमित बुद्धिके निष्कर्षोंके साथ सामंजस्य रखती हुई, या उससे परिचित और हमारे निर्मित भावों द्वारा अनुमोदित क्रियाविधिके अनुसार, या किसी सीमित और आंशिक शुभके लिये क्रिया करनेवाली किसी नैतिक बुद्धिके अधीन रहकर कार्य करे; वह तो ऐसी वस्तुओंको प्रवेश दे सकती है और देती है जिन्हें हमारी बुद्धि अयौक्तिक और अनैतिक मानती है, क्योंकि वैसा करना अंतिम और समग्र शुभके लिए और एक विश्व-प्रयोजनको कार्यान्वित करनेके लिए आवश्यक था। जो हमें कुछ आंशिक तथ्यों, उद्देश्यों, अभीष्टोंकी दृष्टिसे अयौक्तिक अथवा निन्दनीय लगता है, वही तथ्यों और अभीष्टोंके एक बहुत बृहत्तर हेतु और समष्टिकी दृष्टिसे पूर्णत: यौक्तिक और अनुमोदनीय प्रतीत हो सकता है। बुद्धि अपनी आंशिक दृष्टि साथ लिये अपने निर्मित निष्कर्ष खड़े करती है, उन्हें वह ज्ञान और कर्मके सर्वसामान्य नियमोंका रूप देनेका प्रयत्न करती है और जिसका उसके साथ मेल नहीं खाता उसे किसी मानसिक उपायसे अपने नियमके अन्तर्गत लानेको विवश करती या उससे पीछा छुड़ा लेती है। किन्तु, अनंत चेतनामें ऐसे नियम नहीं; इसके बदले वहाँ विशाल अंतर्भूत सत्य होंगे जो स्वचलित रूपसे निष्कर्षों और परिणामोंपर शासन करेंगे, किन्तु वह चेतना परिस्थितियोंकी भिन्न समष्टिके प्रति उनका अनुकूलन भिन्न प्रकारसे और स्वत:स्फूर्त रूपसे करेगी। इस लचीलेपन और स्वतंत्र अनुकूलनके कारण संकीर्णतर बुद्धिको ऐसा लगेगा कि उस चेतनाको कोई मानदंड ही नहीं है। उसी भाँति, हम अनंत सत्ताके तत्त्व और सक्रिय परिचालनका निर्णय सांत संभूतिके मानदंडोंसे नहीं कर सकते,—हो सकता है कि सांतके लिए जो असंभव हों वे महत्तर और स्वतंत्रतर सद्वस्तुके लिए सामान्य और स्वयं-प्रकाश रूपसे स्वाभाविक स्थितियाँ और उद्देश्य हों। अखंडोंका निर्माण उनके अंशोंसे करनेवाली हमारी खंडभूत मानस-चेतना और मूलस्थ एवं समग्र चेतना, दृष्टि तथा ज्ञानके बीच अंतर यही है। जब तक हम अपनी बुद्धिको अपने प्रधान अवलंब-रूपमें व्यवहृत करनेको बाध्य होते हैं तब तक निस्संदेह यह संभव

नहीं होता कि वह एक अविकसित अथवा अर्ध-गठित संबोधिके लिए अपना स्थान सर्वथा छोड़ दे। परन्तु, 'अनंत' और उसकी सत्ता एवं क्रियाके विषयमें विचार करते समय हमारे लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपनी बुद्धिको अधिक-से-अधिक नमनीय होनेको विवश करें और हम जिस-पर विचार करनेका प्रयास कर रहे हैं उसकी विशालतर स्थितियों तथा संभावनाओंकी संवित्की ओर उसका उन्मेष करें। उस असीम 'तत्' पर हमारे सीमित तथा सीमाकारी निष्कर्षोंका प्रयोग नहीं चलेगा। यदि हम किसी एक ही पहलूपर एकाग्र हो जायँ और उसे ही सम्पूर्ण मान बैठें तो हम हाथी और अंधे मनुष्योंकी कहानीके उदाहरण बन जाते हैं जिसमें प्रत्येक अंधे अन्वेषकने भिन्न-भिन्न अंगोंका स्पर्श किया और यह निष्कर्ष निकाला कि सम्पूर्ण पशु उसके स्पर्श किये हुए अंगसे मिलती-जुलती ही कोई वस्तु है। अनंतके किसी एक पहलूका अनुभव अपने-आपमें प्रामाणिक है, किंतु उससे न तो हम यह सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अनंत एकमात्र वही है, और न शेष अनंतको उसी पहलूकी सीमामें देखना और आध्यात्मिक अनुभवके अन्य सारे दृष्टिकोणोंका बहिष्कार करना ही निरापद होगा। अनंत एक साथ ही सारतत्त्व है, असीम समग्रत्व है और बहुत्व है; अनंतको सत्यतः जाननेके लिये इन सबको जानना होगा। केवल अंगोंको देखना और समग्रताको बिल्कुल ही न देखना अथवा उसे अंगोंके संकलन-रूपमें ही देखना एक ज्ञान तो है, किन्तु साथ ही अज्ञान भी। केवल समग्रताको देखना और अंगोंकी उपेक्षा करना भी एक ज्ञान है और साथ ही अज्ञान भी, क्योंकि अंग चूंकि तत्त्वतः तुरीयका है, अतः वह समग्रसे भी महत्तर हो सकता है। केवल सार-वस्तुको इसलिए देखना कि इससे हम सीधे तुरीयकी ओर वापस चले जाते हैं, और समग्रता तथा खंडोंका निषेध करना, अंतिमसे पहलेका ज्ञान होता है, किन्तु यहाँ भी एक बड़ा भारी अज्ञान है। आवश्यक यह है कि संपूर्ण ज्ञान हो और हमारी बुद्धि पर्याप्त सुनम्य हो जिससे कि वह सब दिशाओं, सब पहलुओंको देख सके और उनके द्वारा उसकी खोज कर सके जिसमें वे एक हैं।

इस प्रकार, यह भी होता है कि हम यदि परम 'सद्वस्तु' के केवल आत्मस्वरूपको देखें तो उसकी निश्चल-नीरवतापर एकाग्र हो जायं और अनंतका क्रियात्मक सत्य हमसे छूट जाय; हम यदि केवल ईश्वरको देखें तो क्रियात्मक सत्यको तो पकड़ लें किन्तु शाश्वत स्थिति एवं अनंत नीरवता हमसे छूट जाय, हमें केवल क्रियात्मक सत्ताकी, क्रियात्मक चेतनाकी, सत्ता-के क्रियात्मक आनन्दकी संवित् रहे, किन्तु शुद्ध सत्ता, शुद्ध चेतना, सत्ताका

शुद्ध आनंद हमसे छूट जाय। हम यदि केवल पुरुष-प्रकृतिपर एकाग्र हों तो हो सकता है कि हम केवल पुरुष और प्रकृति, आत्मा और जड़के द्वि-विभाजनको देखें, किन्तु उनका एकत्व हमसे छूटा रह जाय। अनंतकी क्रियापर विचार करते हुए हमें उस शिष्यकी भूलसे बचना होगा जिसने अपने-आपको ब्रह्म मान लिया, संकरी राहसे हट जानेके लिये दी गयी महावतकी चेतावनीको सुननेसे इंकार किया और तब हाथीने सूँड़से उसे उठाकर रास्तेसे बाहर हटा दिया। विस्मित शिष्यको गुरुने कहा, "निस्सं-देह तुम ब्रह्म हो, किन्तु तुमने महावत ब्रह्मकी बात क्यों नहीं मानी और हाथी ब्रह्मके रास्तेसे क्यों नहीं हट गये?" अनंतके अन्य सारे पार्श्वों और पहलुओं-का बहिष्कार करते हुए सत्यके किसी एक पार्श्वपर बल देने और उसीसे पूरा निष्कर्ष निकालने अथवा उसीपर आश्रित रहकर क्रिया करनेकी भूल हमें नहीं करनी है। "सोऽहम"की अनुभूति सत्य है, किन्तु उसके आधार-पर हम तबतक निरापदतासे अग्रसर नहीं हो सकते जबतक कि हम यह अनुभव न कर लें कि सब कुछ वह 'तत्' है; हमारी आत्म-सत्ता एक तथ्य अवश्य है, किन्तु हमें अन्य आत्माओंके प्रति भी संविद् होना होगा, अन्य भूतोंमें रहनेवाले अद्वय आत्माके प्रति और हमारे आत्मा तथा अन्योंके आत्मा, दोनोंका अतिक्रमण करनेवाले उस 'तत्'के प्रति भी संविद् होना होगा। 'अनंत' बहुत्वके अंदर भी एक रहता है और उसकी क्रिया एक परमा बुद्धिके ही द्वारा ग्राह्य होती है जो बुद्धि कि सबको दृष्टिगत करती और अभेद-संवित्‌के साथ क्रिया करती है। वह अभेद-संवित् अपने-आपको भेदके अन्दर देख लेती है और अपने स्वकीय भेदोंका आदर भी करती है। फलस्वरूप, प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक सत्ताका अपना स्वरूप और अपना स्वधर्म होता है और समग्र क्रियामें सबका मान रहता है। अनंतका ज्ञान और कर्म अप्रतिबद्ध परिवर्तनशीलताके अन्दर भी एक रहता है: समस्त परिस्थितियोंमें कर्मकी एकरूपतापर आग्रह करना अनंत सत्यके दृष्टिकोणसे वैसी ही भूल होगा जैसी कि वैचित्र्यके पीछे रहनेवाले एकत्वकारी सत्य और सामंजस्यके बिना कर्मके वैचित्र्यपर आग्रह करना। यदि हम इस महत्तर सत्यके अनुसार कार्य करना चाहते हैं तो हमारे अपने आचरण-सिद्धांतमें केवल अपने आत्मापर अथवा केवल अन्य आत्माओंपर आग्रह करना समान रूपसे भूल होगा। हमें तो कर्मके एकत्वको और कर्मके समग्र, अनंत रूपसे नमनीय और साथ ही सामंजस्यपूर्ण वैचित्र्यको सर्वके आत्मापर ही आधारित करना होगा; क्योंकि यही अनंतकी क्रियाका स्व-भाव है।

निर्विशेष और सर्वत्र-विद्यमान 'सद्वस्तु'की धारणा बनानेका प्रयत्न करनेमें हमारी बुद्धिके सामने जो कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें यदि हम अनंतके न्याय-विधानको ध्यानगत रखते हुए एक विशालतर अधिक नमनीय बुद्धिके दृष्टिकोणसे देखें तो पायेंगे कि सारी कठिनाई शब्दों और धारणाकी है, यथार्थ नहीं। हमारी बुद्धि अपने निर्विशेष-विषयक प्रत्ययपर दृष्टि डालती है और देखती है कि उसे अवश्य ही अनिर्देश्य होना चाहिये, और, साथ ही, वह निर्देशनाओंके जगत्को देखती है जो निर्विशेषसे उद्भूत होता और उसीके अंदर अस्तित्वमान् है,—क्योंकि न तो वह अन्यत्र कहींसे उद्भूत हो सकता, न अन्यत्र कहीं उसका अस्तित्व ही हो सकता है। तब वह इस स्वीकृतिसे और भी चकराती है—परंतु यह स्वीकृति उपर्युक्त आधार-वाक्योंपर कदाचित् ही विवादास्पद होती है—कि वे सारे निर्दिष्ट स्वयं इस अनिर्देश्य निर्विशेषके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। किन्तु यह विसंगति तब विलीन हो जाती है जब हम यह समझ लेते हैं कि अनि-र्देश्यता अपने सच्चे अर्थमें अभावात्मक नहीं, अनन्तपर असामर्थ्यका कोई आरोपण नहीं, वरन् भावात्मक है; वह उसकी अपने अंदर एक स्वतंत्रता है जिसे उसकी अपनी ही निर्देशनाएँ सीमित नहीं कर सकतीं, और, अवश्य ही, वह अपनेसे भिन्न किसी वस्तुके द्वारा की गयी बाह्य निर्देशनाओंसे भी स्वतंत्र है, क्योंकि किसी भी ऐसे अनात्माके अस्तित्वमें आनेकी कोई भी यथार्थ संभावना नहीं होती। 'अनंत' असीम रूपसे स्वतंत्र है, अपने-आपको अनंत प्रकारसे निर्दिष्ट करनेको स्वतंत्र है, अपनी स्व-सृष्टियोंके समस्त अव-रोधक प्रभावसे स्वतंत्र है। वस्तुतः, अनंत सृष्टि नहीं करता, वह तो बस उसे अभिव्यक्त करता है जो उसके अपने अन्दर, उसके अपने सद्वस्तु-सारके अन्दर है; स्वयं वह समस्त सद्वस्तुओंका सार है और समस्त सद्वस्तुएँ उस एकमेव 'सद्वस्तु'की वीर्य-विभूतियाँ हैं। बनाने या बनाये जानेके प्रचलित अर्थमें निर्विशेष न तो सृष्टि करता है, न सृष्ट होता है; सृष्टि होनेकी चर्चा हम केवल इस अर्थमें कर सकते हैं कि 'सत्-पुरुष' स्वरूप-धातु और स्वरूप-स्थितिमें जो कुछ है, वही वह रूप तथा क्रियास्पंदमें संभूत होता है। तो भी, हमें उस विशेष और भावात्मक अर्थमें ही उसकी अनिर्दे-श्यतापर बल देना है, उसकी स्वतंत्र अनंत आत्म-निर्देशनाके अभावके अर्थ-में नहीं, बल्कि उसकी अपरिहार्य परिस्थितिके अर्थमें; क्योंकि उसके बिना परम 'सद्वस्तु' या तो एक स्थिर शाश्वत निर्दिष्ट होगी, या एक ऐसा अनि-र्दिष्ट होगी जो अपने अन्दर अंतर्निहित निर्देशनाकी संभावनाओंकी किसी समष्टि-से बंधा और सीमित हो। अपनी निजी सृष्टिके समस्त सीमायनसे, समग्र

वंधनसे उसकी जो स्वतंत्रता है स्वयं उसे एक सीमाका, आत्म-निर्देशनाकी नितांत असामर्थ्यका, आत्म-निर्देशनाकी स्वतंत्रताके संपूर्ण अभावका रूप नहीं दिया जा सकता; बल्कि, ऐसा करना ही विसंगत होगा, यह अनंत और असीम्यको निपेधके द्वारा निर्दिष्ट और सीमित करनेका प्रयत्न होगा। निर्विशेषके स्वभावके जो दो पार्श्व हैं, एक तो सारभूत, दूसरा आत्म-सर्जनात्मक अथवा क्रियात्मक, इस केन्द्रीय तथ्यमें कोई यथार्थ विसंगति प्रवेश नहीं करती; एक शुद्ध अनंत सार-वस्तु ही अपने-आपको अनंत विधियोंसे रूपायित कर सकती है। यहाँ एक कथन दूसरेका पूरक है, कोई परस्पर खंडन नहीं, कोई परस्पर असंगति नहीं; यह मानव-बुद्धिके द्वारा मानव-भाषामें एक ही अटल तथ्यका द्विविध कथन है।

जव हम परम 'सद्वस्तु'के सत्यका अवलोकन सीधी और परिशुद्ध दृष्टिसे करते हैं तो सर्वत्र वही संगति घटित होती है। उसकी अनुभूतिमें हमें गुण, धर्म और लक्षणके समस्त सीमावंधनसे स्वरूपतः मुक्त रहते एक अनंतकी संवित् होती है। दूसरी ओर, हमें एक ऐसे अनंतकी संवित् होती है जो असंख्य गुणों, धर्मों और लक्षणोंसे प्रपूर्ण है। यहाँ भी असीम्य स्वतंत्रताकी व्यंजना भावात्मक है, निषेधात्मक नहीं; हम जो देखते हैं उसका वह निषेध नहीं करती, अपितु, इसके विपरीत वह इसके लिये अपरिहार्य रहनेवाली अवस्थाका आधार प्रदान करती है, गुणों तथा लक्षणोंके द्वारा एक मुक्त और अनंत आत्माभिव्यक्ति संभव करती है। चित्-सत्ताकी किसी विशिष्ट शक्तिकी प्रकृति या चरित्र ही गुण है, अथवा हम यह कह सकते हैं कि सत्ताकी चेतना, अपने अंतस्तत्त्वको अभिव्यक्त करती हुई, जिस शक्तिको वाहर लाती है उसपर एक मौलिक छाप लगा देती है जिससे वह पहचानी जा सके और उसे ही हम गुण या चरित्र कहते हैं। गुण-रूपमें साहस वाह्य सत्ताकी एक ऐसी ही शक्ति है, वह मेरी चेतनाका एक विशिष्ट चरित्र है जो कि मेरी सत्ताकी एक रूपायित शक्तिको प्रकट करता है, क्रियामें मेरी प्रकृतिकी एक विशिष्ट प्रकारकी शक्तिको प्रकट या सृष्ट करता है। इसी भाँति, औषधमें जो रोग-निवारणकी शक्ति है वह उसका गुण-धर्म है, जिस वनस्पति या धातुसे वह औषध वना है वह उसकी सत्ताकी एक जन्मजात विशेष शक्ति है, और यह विशेषता उस सत्-भावके द्वारा निर्धारित होती है जो उस वनस्पति या धातुमें संवृत चेतनामें प्रच्छन्न रहता है; वह भाव वनस्पति या धातुमें उसे वाहर लाता है जो कि उसकी अभिव्यक्तिके मूलमें था और अव उसकी सत्ताकी शक्तिके रूपमें इस भाँति वलान्वित होकर वाहर आया है। समस्त गुण, धर्म और लक्षण चित्-सत्ताकी ऐसी ही

शक्तियाँ हैं जिन्हें निर्विशेषने अपने ही अंदरसे इस भाँति प्रकट किया है। निर्विशेष सब कुछ अपने अन्दर रखता है, उसमें सब कुछ प्रकट करने[1] की स्वतंत्र शक्ति है। तथापि, हम निर्विशेषको साहसके गुण अथवा नीरोगीकरणकी शक्तिके रूपमें मर्यादित नहीं कर सकते, हम यह भी नहीं कह सकते कि वे निर्विशेषके विशिष्ट लक्षण हैं, न हम गुणोंकी कोई समष्टि बनाकर ही यह कह सकते हैं कि "यही निर्विशेष है।" किन्तु हम निर्विशेषके लिये यह भी नहीं कह सकते कि वह कोई ऐसा शुद्ध रिक्त है जो इन वस्तुओंको अभिव्यक्त करनेमें असमर्थ है; इसके विपरीत वहाँ समस्त सामर्थ्य हैं, समस्त गुणों और धर्मोंकी शक्तियाँ उसमें अन्तर्निहित हैं। परन्तु मन एक कठिनाईमें पड़ जाता है, क्योंकि उसे कहना पड़ता है, "निर्विशेष या अनंत इन वस्तुओंमेंसे कोई भी नहीं है, ये वस्तुएँ वह निर्विशेष या अनंत नहीं हैं"। और, साथ ही उसे यह भी कहना पड़ता है, "वह निर्विशेष ये समस्त वस्तुएँ हैं, ये समस्त वस्तुएँ 'तत्'से भिन्न और कुछ नहीं हैं, क्योंकि वह 'तत्' ही एकमात्र सत् और सर्व-सत् है।" यहाँ यह स्पष्ट है कि विचार-धारणा और शब्द-व्यंजनाकी अनुपयुक्त ससीमता ही कठिनाई उत्पन्न करती है, जब कि यथार्थतः कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि यह कहना कि वह निर्विशेप कोई साहस या नीरोगण-शक्ति है, या कि साहस और नीरोगण-शक्ति वह निर्विशेष है, स्पष्टतया अयुक्त होगा। किंतु, साथ ही, यह कहना भी उतना ही अयुक्त होगा कि वह निर्विशेप अपनी अभिव्यक्तियोंमें साहस या नीरोगण-शक्तिको आत्म-व्यंजनाओंके रूपमें प्रकट करनेमें समर्थ नहीं है। जब सांतका तर्क विफल हो जाता है तब हमें एक सीधी और अप्रतिबद्ध दृष्टिसे देखना चाहिये कि उसके पीछे अनंतके तर्कमें क्या है। हम तब यह अनुभव कर सकेंगे कि 'अनंत' गुण, लक्षण और शक्तिमें अनंत होता है, किन्तु गुणों, लक्षणों और शक्तियोंकी कोई भी समष्टि 'अनंत'का वर्णन नहीं कर सकती।

हम देखते हैं कि निर्विशेष, आत्मा, भगवान्, अध्यात्म-सत्ता, सत् 'एकमेवाद्वितीयम्' है; विश्वातीत एक है, विश्वात्मक एक है : परंतु हम यह भी देखते हैं कि भूत बहु हैं और प्रत्येकके एक आत्मा है, एक अध्यात्म-सत्ता है, एक सदृश किन्तु फिर भी भिन्न प्रकृति है। और, चूंकि सकल वस्तुओंकी अध्यात्म-सत्ता और उनका सार एक है, अतः हम यह माननेको बाध्य हो जाते हैं कि ये समस्त बहु वह 'एक' ही होंगे, और यह परिणाम निकलता है कि वह 'एक' ही बहु है या बहु हो गया

1. संस्कृतके 'सृष्टि' शब्दका अर्थ है जो सत्ताके अन्दर है उसे मुक्त या प्रकट करना।

है, एकोहं वहुस्याम। परन्तु, यहाँ प्रश्न यह होता है कि जो ससीम या सापेक्ष है वह निरपेक्ष या निर्विशेष कैसे हो सकता है, मनुष्य या पशु या पक्षी दिव्य पुरुष कैसे हो सकता है? किन्तु यह प्रतीयमान विरोध खड़ा करनेमें मन दुहरी भूल करता है। वह गणितीय सांत एकांककी भाषामें विचार करता है जो कि ससीमतामें ही एकक है, ऐसा एक है जो कि दोसे कम है और केवल भाग और खंडीकरणके द्वारा या योग और गुणनके द्वारा ही दो हो सकता है। किन्तु ब्रह्मका एकत्व एक अनंत एकत्व है, वह वह सारभूत और अनंत एकत्व है जो सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों और अरवोंको समा सकता है। ज्योतिष द्वारा कल्पित अथवा उससे भी परेके किन्हीं भी अंकोंकी राशि एकत्र की जाय, उनका गुणन किया जाय तो भी वे संख्याएँ कभी उस एकत्वसे आगे नहीं जा सकतीं, उससे अधिक नहीं हो सकतीं; क्योंकि, उपनिषद्की भाषामें, "वह" चलता नहीं है, किन्तु उसका पीछा किया जाय और उसे पकड़ना चाहा जाय तो वह सर्वदा आगे वहुत दूर रहेगा। उसके वारेमें कहा जा सकता है कि उसमें यदि अनंत वहुत्वकी सामर्थ्य नहीं रहे तो वह अनंत एकत्व ही नहीं होगा; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता, कि वह 'एक' वहु है या कि वहुके समाहारमें उसे सीमित या वर्णित किया जा सकता है। इसके विपरीत, वह अनंत वहु हो सकता है, क्योंकि वह वहुत्वके समस्त सीमा-वंधन या वर्णनसे परे और, साथ ही, सांत धारणात्मक एकत्वके समस्त सीमायनसे भी परे है। वहुत्ववाद एक भूल है, क्योंकि, यद्यपि एक आध्यात्मिक वहुत्व है, तथापि वे अनेक आत्मागण आश्रित और अन्योन्याश्रित सत्ताएँ हैं; उनका सर्वयोग भी न तो वह 'एक' ही है, न विश्वकी समग्रता ही; वे उस 'एक'पर आश्रित हैं और उसके एकत्वके द्वारा ही उनका अस्तित्व है। तथापि, वहुत्व अयथार्थ नहीं है, वह अद्वय आत्मा ही व्यष्टि-रूपमें इन वहु आत्माओंमें निवास करता है और वे वहु आत्मागण उस 'एक'में और उस एक 'शाश्वत'के द्वारा शाश्वत हैं। मनकी वुद्धिके लिये यह कठिन है, क्योंकि वह अनंत और सांतके वीच एक विरोध खड़ा कर देती है और सांतताको वहुत्वके साथ युक्त कर देती है और अनंतताको एकत्वके साथ। किन्तु, अनंतकी न्याय-रीतिमें ऐसा कोई विरोध नहीं, वहाँ 'एक'के अन्दर वहुकी सनातनता पूर्णतः स्वाभाविक तथा संभव वस्तु है।

इसके अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि अध्यात्म-सत्ताकी, ब्रह्मकी एक अनंत शुद्ध स्वरूप-स्थिति एवं निश्चल-नीरवता है। हम यह भी देखते हैं कि ब्रह्मकी एक निःसीम गतिधारा है, एक शक्ति है, अनंतका एक

क्रियात्मक आध्यात्मिक सर्वधारक आत्म-प्रसार है। इन दोनोंका अनुभव अपने-आपमें प्रामाणिक और यथार्थ होते हुए भी हमारी धारणाएँ एक ओर निश्चल-नीरवता तथा स्थिति, दूसरी ओर क्रियात्मकता तथा गति, इनके बीच एक विरोध थोपती हैं; परन्तु अनंतकी युक्ति तथा न्याय-रीतिके लिये ऐसा कोई विरोध नहीं हो सकता। मात्र नीरव एवं निश्चल अनंत, ऐसा अनंत जो अनंत बल और क्रियात्मकता और ऊर्जासे रहित हो, किसी एक पक्षका अनुभव होनेके अतिरिक्त अन्य किसी रूपमें मान्य नहीं हो सकता। अशक्त निर्विशेषकी, बलहीन ब्रह्मकी कल्पना नहीं की जा सकती : अनंतकी क्रियाशक्ति अनंत ऊर्जा होनी चाहिये, निर्विशेषकी शक्ति सर्वशक्ति होनी चाहिये, ब्रह्मकी शक्ति असीम्य शक्ति होनी चाहिये। किन्तु, नीरवता और स्थिति ही गतिका आधार हैं; सनातन निश्चलता अनंत सचलताकी आवश्यकीय अवस्था, उसका क्षेत्र, यहाँतक कि उसका सार भी है; सत्ताकी शक्तिकी वृहत् क्रियाकी परिस्थिति और नींव है स्थाणु सत्ता। हम जब इस नीरवता, स्थाणुता और निश्चलताकी किसी अनुभूतितक पहुँचते हैं तभी हम उसपर एक ऐसी शक्ति और ऊर्जा आधारित कर सकते हैं जो हमारी बाहरी चंचल अवस्थामें अकल्पनीय रहती। हम जो विरोध खडा करते हैं वह मानसिक और धारणात्मक है; यथार्थमें ब्रह्मकी निश्चल-नीरवता और ब्रह्मकी क्रियात्मकता संपूरक सत्य और अवियोज्य हैं। अक्षर एवं निश्चल-नीरव ब्रह्म अपनी अनंत ऊर्जाको अपने अन्दर निश्चल और नीरव रूपमें धारण किये रह सकता है, क्योंकि वह अपनी शक्तियोंसे बँधा नहीं है, उनके अधीन या उनका करण नहीं है, वस्तुतः, वह उन्हें अधिकृत रखता है, उन्हें मुक्त करता है और एक सनातन और अनंत क्रियामें समर्थ है, उसे न तो थकान होती है, न ठहरनेकी आवश्यकता ही, और, इसके अलावा, उसकी क्रिया और गतिधारामें सर्वदा-अनुस्यूत नीरव निश्चलता एक क्षणके लिये भी, उसकी क्रिया और गतिके द्वारा न तो विचलित होती है, न विक्षुव्ध, न परिवर्तित ही। प्रकृतिकी समस्त ध्वनियों और क्रियाओंके स्वयं मर्ममूलमें ब्रह्मकी साक्षी नीरवता विद्यमान है। हमारे लिये इन्हें समझना कठिन हो सकता है, क्योंकि हमारी अपनी वहिस्तलीय सांत सामर्थ्य दोनों दिशाओंमें सीमित है और हमारी धारणाएँ हमारी सीमाओंपर आधारित हैं; किन्तु यह देख पाना सरल होना चाहिये कि ये सापेक्ष और सांत धारणाएँ 'निर्विशेष' एवं 'अनंत'पर प्रयुक्त नहीं हो सकतीं।

अनंतके विषयमें हमारी धारणा यह है कि वह अरूप है, किन्तु, सर्वत्र, अपने चारों ओर, हम रूप ही रूप देखते हैं, और 'दिव्य पुरुष'के विषयमें

यह प्रतिपादित किया जा सकता और किया जाता है कि वह एक साथ ही रूप और अरूप दोनों है। कारण, यहाँ भी प्रतीयमान विसंगतिके पीछे कोई यथार्थ विरोध नहीं है; अरूपता रूपायणकी शक्तिका कोई निषेध नहीं, प्रत्युत अनंतके मुक्त रूपायणके लिये आवश्यक परिस्थिति है : क्योंकि, अन्यथा, सांत विश्वमें मात्र एक ही रूप होता, या संभव रूपोंका कोई नियत निर्धारण या संकलन ही होता। अरूपता परम 'सद्वस्तु'के आध्यात्मिक सारका, अध्यात्म-वस्तुका धर्म होती है; समस्त सांत वास्तवताएँ उसी वस्तुकी शक्तियाँ, रूप, आत्म-रूपायण हैं : भगवान् अरूप और अनाम हैं, किन्तु इसी कारण वह सत्ताके समस्त संभव नाम और रूप व्यक्त करनेमें समर्थ हैं। रूप अभिव्यक्तियाँ हैं, न कि शून्यमेंसे किये गये मनमाने आविष्कार; क्योंकि रेखा और रंग, संहति और अभिकल्प जो कि रूपके अपरिहार्य तत्त्व हैं, सर्वदा अपने भीतर एक अर्थ रखते हैं, और कहा जा सकता है कि वे एक अदृष्ट सद्वस्तुके दृश्यमान किये जाते गुप्त मूल्य और अर्थ हैं। यही कारण है कि आकृति, रेखा, रंग, संहति और संघटन उसे मूर्त कर सकते हैं जो कि अन्यथा अदृष्ट रह जाता, उसका बोध करा सकते हैं जो कि, अन्यथा, इन्द्रियके लिये अगोचर होता। रूपको रूपहीनका अन्तर्जात शरीर, अनिवार्य आत्म-प्रकटन कहा जा सकता है, और यह बात केवल बाह्य आकारोंके संबंधमें ही नहीं, अपितु मन और प्राणके उन अदृष्ट रूपायणोंके संबंधमें भी सत्य है जिन्हें हम केवल अपने विचारके द्वारा गृहीत करते हैं और उन संवेद्य रूपोंके संबंधमें भी सत्य है जिनकी संवित् आंतरिक चेतनाकी सूक्ष्म पकड़को ही हो सकती है। नाम, अपने गभीरतर अर्थमें, वह शब्द नहीं है जिसके द्वारा विषयका वर्णन किया जाता है, वरन् वह वस्तुओंके रूपके अन्दर सशरीर हुए तत्त्वके बल, गुण और प्रकृतिका समाहार है जिन्हें हम एक निर्देशिका ध्वनिमें, एक ज्ञेय नाममें संकलित करनेका प्रयत्न करते हैं। इस अर्थमें हम कह सकते हैं कि नाम है नामन (लैटिनका Numen); देवोंके गुप्त नाम उनकी स्वरूप-सत्ताके बल, गुण और वैशिष्ट्य हैं जिन्हें हमारी चेतना ग्रहण करती और धारणागम्य बनाती है। अनंत नामहीन है, किन्तु उस नामहीनतामें समस्त संभव नाम, देवताओंके नामन, समस्त सद्वस्तुओंके नाम और रूप पूर्वदृष्ट और पूर्वकल्पित हैं, क्योंकि वे सर्वमय सत्तामें निगूढ़ और अन्तर्निहित हैं।

इन विचारोंसे स्पष्ट हो जाता है कि अनंत और सांतका सह-अस्तित्व, जो कि सार्वभौम सत्ताका स्वभाव ही है, दो विरोधोंकी कोई सन्निधि या

उनका अन्योन्य समावेश नहीं है, अपितु उतना ही स्वाभाविक और अनिवार्य है जितना कि सूर्यके साथ प्रकाश और तेजका संबंध। सांत अनंतका एक सामनेका प्रकट रूप और आत्म-निर्धारण है; किसी भी सांतका अस्तित्व अपने-आपमें और अपने ही द्वारा नहीं हो सकता, उसका अस्तित्व अनंतके द्वारा है और इस कारण है कि वह सार-रूपमें अनंतके साथ एक है। क्योंकि, अनंतसे हमारा अभिप्राय देश और कालके अन्दर मात्र किसी असीम्य आत्म-विस्तारसे नहीं होता, अपितु ऐसे कुछसे होता है जो देशातीत और कालातीत भी है, एक स्वयंभू अनिर्देश्य और असीम्य है जो अपने-आपको महतो महीयान् और अणोरणीयान् दोनों रूपोंमें प्रकट कर सकता है,—काल - क्षणमें, देश - बिंदुमें, चलमान परिस्थितिमें भी। सांतको अविभाज्यके एक विभाजन-रूपमें देखा जाता है; किन्तु बात ऐसी है नहीं: क्योंकि, यह विभाजन केवल प्रतीयमान ही है; सीमांकन तो है, किन्तु कोई यथार्थ पार्थक्य संभव नहीं। किसी वृक्ष या अन्य वस्तुको जब हम शारीरिक आँखोंसे नहीं देखकर अंतर्दृष्टि और अंतरिन्द्रियसे देखते हैं तो हमें संवित् होती है एक अनंत एकमेव सद्वस्तुकी, जो उस वृक्ष या अन्य वस्तुकी संघटिका है, उसके प्रत्येक परमाणु और अणुमें व्याप्त है, अपने अन्दरसे उनकी रचना करती है और सम्पूर्ण प्रकृतिका, संभूतिकी प्रक्रियाका, अन्तर्वासी ऊर्जाकी क्रिया-विधिका निर्माण करती है। ये सब-के-सब वही हैं, वह अनंत, वह 'सद्वस्तु' ही। हम देखते हैं कि यह सद्वस्तु अविभक्त रहकर विस्तृत हो रही है और सकल वस्तुओंको संयुक्त कर रही है; फलस्वरूप, यथार्थमें, कोई भी वस्तु न तो उससे पृथक् है न अन्य वस्तुओंसे ही। गीता कहती है, "वह भूतोंमें अविभक्त और फिर भी मानों विभक्त रूपसे स्थित है।" इस प्रकार, प्रत्येक वस्तु वही अनंत है और मूल सत्तामें अन्य सारी वस्तुओंके साथ एक है, वे अन्य सारी वस्तुएँ भी उस अनंतके ही नाम और रूप, बल और नामन हैं।

समस्त विभाजनों और वैचित्र्योंके मध्य रहनेवाला यह अनपनेय एकत्व अनंतका गणित है जिसका संकेत उपनिषद्के इस श्लोकमें किया गया है: पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। यह पूर्ण है और 'वह' पूर्ण है; पूर्णमेंसे पूर्ण घटानेसे पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। कारण, 'सद्वस्तु'के अनंत आत्म-गुणनके विषयमें भी ऐसा कहा जा सकता है कि समस्त वस्तुएँ वही आत्म-गुणन हैं; वह 'एक' बहु हो जाता है, परन्तु ये समस्त 'बहु' वह 'तत्' हैं जो पहले भी आत्म-स्वरूप

था और सदा ही है और वह होता हुआ भी वही 'एक' रहता है। सांतके प्राकट्यसे वह 'एक' विभक्त नहीं हो जाता, क्योंकि वह एक 'अनंत' ही हमारे सामने बहु सांतोंके रूपमें प्रकट होता है : सृष्टि 'अनंत' में कुछ भी जोड़ती नहीं, सृष्टिके बाद भी अनंत वही रहता है जो वह पहले था। 'अनंत' वस्तुओंका कोई योगफल नहीं है, 'अनंत' वह 'तत्' है जो समस्त वस्तुएँ हैं और उनसे अधिक कुछ भी है। यदि अनंतका यह न्याय-विधान हमारी सांत बुद्धिकी धारणाओंके प्रतिकूल है, तो इसका कारण यह है कि वह उस बुद्धिसे अतीत है और सीमित प्रपंचकी सामग्रीको अपना आधार नहीं बनाता, अपितु 'सद्वस्तु'का आलिंगन करता और समस्त प्रपंच-विषयोंके सत्यको 'सद्वस्तु'के सत्यमें देखता है; वह उन्हें पृथक्-पृथक् सत्ता, गति, नाम, रूप और वस्तुके रूपमें नहीं देखता; क्योंकि वे पृथक्-पृथक् हो नहीं सकते, वस्तुतः वे वैसे केवल तभी हो सकते थे यदि वे शून्यमें होनेवाले प्रपंच होते, ऐसी वस्तुएँ होते जिनका कोई एक सर्वसामान्य आधार या सार न हो, जो मूलतः असंबद्ध हों, केवल सह-अस्तित्व और व्यावहारिक संबंधसे संबद्ध हों, न कि ऐसी वास्तवताएँ जिनका अस्तित्व अपने एकत्वके मूलके द्वारा है, और जो, जहाँतक उन्हें स्वाधीन माना जा सकता है, अपनी बाहरी या आंतरिक आकृति और गतिधाराकी स्वतंत्रतामें अपने जनक 'अनंत'पर आश्रित रहनेके कारण ही, उस अद्वय 'अभिन्न'के साथ अपने गुप्त तादात्म्यके कारण ही सुरक्षित रहती हैं। वह 'अभिन्न' उनका मूल, उनके रूपका कारण, उनकी विभिन्न शक्तियोंकी एकमात्र शक्ति, उनकी उपादान-वस्तु है।

वह 'अभिन्न' हमारे विचारोंके अनुसार अक्षर है, नित्य एकरूप है, क्योंकि यदि वह परिवर्तनके अधीन हो, या हो जाता हो, या भिन्नताओंको अंगीकार करता हो, तो वह 'अभिन्न नहीं रह जाता। किन्तु, सर्वत्र हमें दिखाई देता है एक अनंत रूपसे परिवर्तनशील मूलगत एकत्व, वही प्रकृति-का सच्चा मूल तत्त्व जान पड़ता है। आधारभूत शक्ति एक है, परन्तु वह अपने अन्दरसे असंख्य शक्तियाँ अभिव्यक्त करती है; आधारभूत रूप-धातु एक है, परन्तु वह अनेक विभिन्न धातुएँ और लाखों असदृश पदार्थ विकसित करती है। मन एक है किन्तु वह अपने-आपको बहुसंख्यक मानसिक अवस्थाओं, मानसिक रचनाओं, विचारों और दृष्टियोंमें विभेदित करता है जो परस्पर भिन्न होती हैं और सामंजस्य या विरोधकी अवस्थामें प्रवेश करती हैं। प्राण एक है परन्तु प्राणके रूप असदृश और असंख्य हैं। मानवता प्रकृत्या एक है, किन्तु उसके जाति-प्ररूप भिन्न-भिन्न हैं, और प्रत्येक

मानव व्यक्तिका अपना आपा है और वह किसी-न-किसी रूपमें दूसरोंसे असदृश होता है। प्रकृति एक ही वृक्षकी पत्तियोंपर भिन्नताकी रेखाएँ अंकित करनेका आग्रह करती है; वह भेदीकरणको इतनी दूरीतक ले गयी है कि यह पाया गया है कि किसी एक मनुष्यके अंगूठेकी रेखाएँ हर अन्य मनुष्यके अंगूठेकी रेखाओंसे भिन्न होती हैं, यहाँतक कि उसी भेदके वलपर उसे पहचाना भी जा सकता है,—किन्तु, मूलतः, सव मनुष्य एक समान हैं और उनमें कोई सारभूत भिन्नता नहीं। एकत्व या अभिन्नत्व सर्वत्र है, भिन्नत्व भी सर्वत्र है; अंतर्वासी परम 'सद्वस्तु'ने विश्वका निर्माण एक ही बीजके लाखों भिन्न-भिन्न रूपोंमें विकसनके सिद्धान्तके आधारपर किया है। किन्तु, पुनः यह 'अनंत'का ही न्याय-विधान है, क्योंकि परम 'सद्वस्तु'का सार अपरिवर्तनशील रहता हुआ एकरूप रहता है, वह रूप, धर्म और गतिधारा-की इन असंख्य भिन्नताओंको निश्चिन्ततासे धारण कर सकता है, क्योंकि ये भिन्नताएँ यदि अरवगुना भी कर दी जायँ तो भी इससे सनातन 'अभिन्न'की मूलगत अक्षरतापर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। चूँकि आत्मा अथवा अध्यात्म-सत्ता वस्तुओं और भूतोंमें सर्वत्र एक ही है, अतः प्रकृति अनंत विभेदीकरण-की यह विलासिता वरत सकती है। यदि यह सुरक्षित आधार न हो जिससे कि कुछ भी परिवर्तित न होनेपर भी सव कुछ परिवर्तित हो जाता है, तो इस क्रीड़ामें प्रकृतिकी सारी क्रियाएँ और सृष्टियाँ छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जायँगी; उसकी विसंवादी गतियों और सृष्टियोंको एक साथ बाँध रखनेवाला कुछ भी न रहेगा। 'अभिन्न'की अक्षरता या अपरिवर्तन-शीलता वैचित्र्यके लिये असमर्थ अपरिवर्तनशील एकरूपताकी एकस्वरतामें नहीं, अपितु सत्ताकी एक ऐसी अपरिवर्तनीयतामें रहती है जो सत्ताके अनंत रूपायणमें समर्थ है, किन्तु जिसे कोई भी विभेदीकरण नष्ट, विकल या ह्रसित नहीं कर सकता। आत्मा ही कीट, पक्षी, पशु और मनुष्य हो जाता है, किन्तु इन परिवर्तनोंके वीच वह सर्वदा वही आत्मा रहता है, क्योंकि वह 'एक' ही अपने-आपको अंतहीन वैचित्र्यमें अनंत रूपसे अभि-व्यक्त करता है। हमारी वाहरी वुद्धि इस निष्कर्षकी ओर झुकी रहती है कि वैचित्र्य असत्य है, एक प्रतिभास मात्र है; किन्तु हम यदि कुछ गहरे देखें तो पायँगे कि एक यथार्थ वैचित्र्य यथार्थ एकत्वको व्यक्त करता है, उसे मानों उसकी अधिकतम क्षमतामें प्रदर्शित करता है, जो कुछ भी वह हो सकता है और उसके अन्दर है, उसे प्रकट करता है, उसके श्वेत रंगके अन्दर संगलित वहु रंगोंको मुक्त करता है; एकत्व अपने-आपको अनंत रूपसे उसके अन्दर पाता है जो हमें उसका अपने एकत्वसे छिटक जाना

लगता है, परन्तु यथार्थमें उस एकत्वका अक्षय वैचित्र्य-प्रदर्शन ही है। यही विश्वका चमत्कार है, विश्वकी माया है, और साथ ही, 'अनंत'की आत्म-दृष्टि और स्वानुभूतिके लिये पूर्णतया युक्तिसंगत, स्वाभाविक और सामान्य भी।

निस्संदेह, ब्रह्मकी माया अनंत-वैचित्र्यशील एकत्वका इन्द्रजाल और उसका न्यायविधान दोनों ही है। वस्तुतः, यदि केवल सीमित एकत्व और एकसमानताकी कोई अनम्य एकस्वरता ही रहती तो बौद्धिक युक्ति और न्यायके लिये स्थान नहीं रहता, क्योंकि तर्क या न्याय है संबंधोंको यथोचित रूपमें देखना, बौद्धिक युक्तिका उच्चतम कार्य है उस एक उपादान, एक नियम, संयोजक अंतर्हित तत्त्वको खोज निकालना जो बहुको, विभिन्नको, विसंवादी और विषमको संबद्ध और एकताबद्ध करता है। समस्त विश्व-सत्ता इन दो छोरोंके बीच विचरण करती है,—उस 'एक'का विविधीकरण, और बहु तथा विविधका एकीकरण। और ऐसा होनेका कारण अवश्य ही यह होगा कि एक और बहु अनंतके मूलभूत रूप हैं। दिव्य आत्मज्ञान और सर्वज्ञान अपनी अभिव्यक्तिमें जो कुछ प्रकट करता है वह उसकी सत्ताका सत्य ही होगा और उस सत्यकी क्रीड़ा उसकी लीला है।

अतः यही ब्रह्मकी वैश्व सत्ताकी रीतिका न्याय है और मायाकी बुद्धिकी, उसकी अनंत प्रज्ञाकी आधारभूत क्रिया है। जो बात ब्रह्मकी वैश्व सत्ताकी है वही उसकी चेतनाकी, मायाकी भी है। वह अपने-आपके किसी सांत प्रतिबंधसे या किसी एक स्थितिसे या अपने किसी एक क्रिया-विधानसे आबद्ध नहीं है; वह एक साथ ही बहुत सारी वस्तुएँ हो सकती है, उसकी बहुतसी समन्वित गतियाँ हो सकती हैं जो सांत बुद्धिको परस्पर-विरोधी प्रतीत हों। वह एक है, परन्तु असंख्य रूपसे बहुविध है, अनंत रूपसे नमनशील है, अक्षय रूपसे अनुकूलनशील है। माया 'शाश्वत' तथा 'अनंत'की परम और विश्वव्यापी चेतना एवं शक्ति है, और स्वयं स्वरूपतः निर्बंध तथा असीम्य होनेके कारण, वह एक ही समय चेतनाकी बहुतसी अवस्थाओंको, शक्तिके बहुत सारे विन्यासोंको प्रकट कर सकती है, और ऐसा करती हुई भी वह सर्वदा वही चित्-शक्ति बनी रहती है। वह एक साथ ही विश्वातीता, विश्वात्मिका एवं व्यष्टिरूपा है; वह परम विश्वातीत सत्स्वरूप ही है जो अपने-आपको सर्वसत्ता-रूपमें, विश्वात्मा-रूपमें, विश्व-प्रकृतिकी चित्-शक्ति-रूपमें जानता है, और साथ ही यह अनुभव करता है कि वही सकल भूतोंके अन्दर व्यष्टि-सत्ता और चेतना है। व्यष्टि-चेतना अपने-आपको सीमित और पृथक् देख सकती है, किन्तु वह अपनी सीमाओंको हटा भी

सकती है, और अपने-आपको विश्वात्मक और, फिर, विश्वातीत भी जान सकती है; ऐसा इस कारण है कि इन समस्त अवस्थाओं या स्थितियोंमें या उनके आधारमें वही त्रिक चेतना त्रिविध अवस्थामें रहती है। अतः वह 'एक' यदि अपने-आपको ऊपरसे विश्वातीत सत्तामें, या मध्यसे विश्वात्मामें, या नीचेसे चेतन व्यष्टि-सत्तामें, इस भांति त्रिविध रूपसे देखे या अनुभव करे, तो इसमें कोई कठिनाई नहीं होती। इसे स्वाभाविक और न्यायसंगत स्वीकार करनेके लिए केवल यह मानना होता है कि उस 'एकमेव सत्'की चेतनाकी विभिन्न यथार्थ स्थितियाँ हो सकती हैं, और ऐसा होना उस सत्के लिये असंभव नहीं होता जो मुक्त और अनंत है और किसी एक अवस्थाके साथ नहीं बाँधा जा सकता। जो चेतना अनंत है उसके लिये आत्म-विभिन्नीकरणकी निर्बंध शक्ति अवश्य ही स्वाभाविक होगी। यदि चेतनाकी बहुविध स्थितिकी संभावना मान ली जाती है तो उसकी स्थितिके विभिन्नीकरणकी रीतियोंकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती, बशर्ते कि उस 'एक' को यह संवित् हो कि वह उन सबके अन्दर एक साथ है; क्योंकि वह 'एक' और 'अनंत' इस भाँति विश्वभावसे सचेतन होगा ही। अब केवल एक कठिनाई आती है, वह है अनंत आत्मज्ञान तथा सर्वज्ञानके साथ हमारी जैसी सीमित अथवा निर्मित चेतनाकी स्थिति—अज्ञान-स्थिति—के संबंधोंको समझनेकी; यह कठिनाई भी और आगे विचार करनेपर सुलझ जा सकती है।

अनंत चेतनाकी जो दूसरी संभावना अवश्यमान्य है, वह है समग्र असीम्य चेतना तथा ज्ञानके अन्दर एक गौण गतिके रूपमें उसकी आत्म-सीमाकरणकी अथवा आनुषंगिक आत्म-रूपायणकी शक्ति; वह अनंतकी आत्म-निर्देशनाकी शक्तिका आवश्यक परिणाम है। आत्म-सत्ताकी प्रत्येक आत्म-निर्देशनाको अपने आत्म-सत्य तथा आत्म-प्रकृतिकी अपनी संवित् होनी ही चाहिये; या यदि हम इसे इस भाँति कहना चाहें, उस निर्देशनामें सत्को अवश्य ही इस भाँति आत्म-संविद् होना चाहिये। आध्यात्मिक व्यष्टित्वका अर्थ यह है कि प्रत्येक वैयक्तिक आत्मा अथवा अध्यात्म-सत्ता आत्म-दर्शन और सर्वदर्शनका एक केन्द्र है; इस दर्शनका क्षेत्र, चाहें तो कहें उसकी निःसीम परिधि, सबके लिये एक हो सकती है, किन्तु केन्द्र भिन्न हो सकता है—किसी दैशिक वृत्तके अंदर दैशिक विन्दुमें स्थित केन्द्रकी नाईं नहीं, अपितु एक अन्तश्चेतनाके केन्द्रकी नाईं, जो कि विश्व-सत्तामें विविध रूपसे सचेतन रहनेवाले बहुके सह-अस्तित्वके द्वारा दूसरोंके साथ संबंधित होगा। किसी भी लोकमें स्थित प्रत्येक भूत लोक तो वही देखेगा, किंतु अपनी आत्म-

सत्ताकी भूमिसे अपने स्वभावकी एक अपनी ही रीतिके अनुसार देखेगा : क्योंकि, हरेक 'अनंत'के अपने स्व-सत्यको, आत्म-निर्देशनाकी और विश्व-निर्देशनाओंसे मिलनेकी अपनी स्व-रीतिको अभिव्यक्त करेगा ; वैचित्र्यके अंदर एकत्वके नियमके कारण उसकी दृष्टि निस्संदेह मूलरूपसे दूसरोंकी दृष्टि जैसी होगी, तो भी, वह अपनी स्वकीय विशिष्टता विकसित करेगी,—जैसे कि हम देखते हैं कि समस्त मानव जीव विश्वकी उन्हीं वस्तुओंके प्रति एक ही मानवीय रीतिसे सचेतन होते हैं, किन्तु, तो भी, सर्वदा एक वैयक्तिक भिन्नता रहती है। यह आत्म-परिसीमन मूलगत नहीं, अपितु एक सर्वसामान्य विश्वात्मकता या समग्रताका एक वैयक्तिक विशिष्टीकरण होगा; आध्यात्मिक व्यक्ति कार्य करेगा उस एक सत्यके अपने स्वकीय केन्द्रसे और अपने स्वभावके अनुसार ही, परन्तु एक सर्वसामान्य आधार-पर स्थित होकर, और वह अन्य आत्मा और अन्य प्रकृतिके प्रति अंधा भी न होगा। यह कोई अज्ञानकी क्रिया नहीं होगी, अपितु चेतना अपनी क्रियाको पूरे ज्ञानके साथ सीमित कर रही होगी। किन्तु, इस वैयक्तिक सत्ताके आत्म-परिसीमनके अतिरिक्त, 'अनंत'की चेतनामें वैश्व परिसीमनकी भी एक शक्ति होगी; अपनी क्रियाको सीमाबद्ध करनेकी सामर्थ्य भी उसमें होनी ही चाहिये जिससे वह किसी विशेष जगत् या विश्वको आधार दे सके और उसे उसकी स्वकीय व्यवस्था, सामंजस्य, आत्म-निर्माणमें बनाये रख सके। कारण, किसी विश्वकी रचनाके लिये यह आवश्यक होता है कि उस जगत्‌की अध्यक्षता करनेके लिये अनंत चेतनाका कोई विशेष निर्धारण हो और उस गति-धाराके लिए जो कुछ आवश्यक नहीं है उसे पीछेकी ओर रोक रखा जाय। उसी प्रकार मन, प्राण अथवा जड़तत्त्व जैसी किसी शक्तिकी स्वतंत्र क्रियाको प्रकट करनेके लिए आत्म-परिसीमनके ऐसे ही किसी तत्त्वका अवलंब आवश्यक होगा। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि चूंकि 'अनंत' असीम्य है अतएव ऐसी गतिधारा उसके लिये असंभव होगी; इसके विपरीत यह उसकी बहुतसी शक्तियोंमेंसे एक होगी क्योंकि उसकी शक्तियाँ भी असीम्य हैं। किन्तु यह भी, अन्य आत्म-निर्देशनाओंकी भाँति, अन्य सांत निर्माणोंकी भाँति, कोई पार्थक्य या यथार्थ विभाजन नहीं होगा; वस्तुतः, समस्त अनंत चेतना उसके चारों ओर और उसके पीछे विद्यमान होगी, उसे अवलंब दे रही होगी और वह विशेष गतिधारा स्वयं भी केवल अपने-आपके प्रति ही नहीं, अपितु, साररूपमें, उसके पीछे जो कुछ भी है उस सबके प्रति भी अंतरंगतः सचेतन होगी। 'अनंत'की अखंड चेतनामें ऐसा अनिवार्य रूपसे होगा। किन्तु हम यह कल्पना भी कर सकते हैं कि

अपना सीमांकन करती हुई, और फिर भी अविभाज्य रहती हुई, इस प्रकार-की एक, यद्यपि सक्रिय तो नहीं, किन्तु अंतरंग चेतना, 'सांत'की गतिधारा-की समग्र आत्म-चेतनामें भी रह सकती है। इतनी सीमातकका वैश्व अथवा वैयक्तिक सचेतन आत्म-परिसीमन 'अनंत'के लिए स्पष्टतया संभव होगा और उसे विशालतर वृद्धिके द्वारा उसकी आध्यात्मिक संभावनाओंमेंसे एकके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु, जैसा विभाजन या अज्ञानमय पार्थक्य या वंधनकारी और अंधकारी परिसीमन हमारी अपनी चेतनामें प्रत्यक्ष होता है, उसकी व्याख्या इस आधारपर हमें अभी यहाँतक नहीं मिली है।

परंतु, अनंत चेतनाकी एक तीसरी क्षमता या संभावना भी स्वीकार की जा सकती है। यह उसकी आत्म-लीन होकर, आत्म-निमज्जित होकर एक ऐसी स्थितिमें चले जानेकी सामर्थ्य होती है, जहाँ आत्म-संवित् तो रहती है, किन्तु ज्ञान-रूपमें नहीं, सर्वज्ञान-रूपमें नहीं; सव कुछ वहाँ शुद्ध आत्म-संवित्के अन्दर संवृत हुआ होगा और ज्ञान तथा स्वयं आंतरिक चेतना शुद्ध सत्तामें खोयी होंगी। यह, ज्योतिर्मय रूपमें, वह अवस्था है जिसे हम निर्विशेष अर्थमें अतिचेतना कहते हैं,—यद्यपि जिसे हम अतिचेतन कहते हैं उसका अधिकतर भाग सत्यतः यह नहीं है, अपितु केवल एक उच्चतर चेतन है, ऐसा कुछ है जो कि आत्म-सचेतन है और संवित्के हमारे अपने सीमित स्तरके लिये ही अतिचेतन है। दूसरी ओर, आनंत्यकी यह आत्म-लीनता, यह समाधि, ज्योतिर्मय रूपमें न होकर अंधकारमय रूपमें, एक ऐसी अवस्था है जिसे हम निश्चेतना कहते हैं; क्योंकि अनंतकी सत्ता तो वहाँ है, यद्यपि वहाँ उसके निश्चेतना-रूपके कारण हमें वह वल्कि अनंत असत् लगती है: उस प्रतीयमान असत्में आत्म-विस्मृत अंतर्भूत चेतना और शक्ति विद्यमान हैं, क्योंकि निश्चेतनकी ऊर्जाके द्वारा एक व्यवस्थित जगत्की सृष्टि की गयी है। यह सृष्टि आत्म-लीनताकी निद्रामें होती है, वहाँ शक्ति स्वचलित रूपसे और एक प्रतीयमान अंधतासे क्रिया करती है, मानों निद्रामें हो, परंतु तव भी उस क्रियामें 'अनंत'के सत्यकी अनिवार्यता और वल साथ रहते हैं। हम यदि एक डग और आगे वढ़ें और मान लें कि 'अनंत'के लिए आत्म-लीनताकी एक विशेष प्रकारकी अथवा सीमित और आंशिक क्रिया, ऐसी क्रिया संभव है जो सदा उसके अपने अन्दर असीम रूपसे संकेन्द्रित उसकी अनंतताकी क्रिया नहीं होती, अपितु किसी विशिष्ट स्थिति या किसी वैय-क्तिक अथवा वैश्व आत्म-निर्देशनामें सीमित रहती है, तो हमें उस केन्द्रीभूत अवस्था अथवा स्थितिकी व्याख्या मिल जाती है जिसमें वह अपनी सत्ताके

एक पहलूको पृथक्तः अनुभव करता है। ऐसी दशामें द्विविध मूलभूत अवस्था हो सकती है, उस अवस्था जैसी, जहाँ निर्गुण सगुणके पीछे अवस्थित होता और अपनी स्व-विशुद्धता एवं अचलतामें लीन रहता है, जब कि बाकी सब कुछ पर्देके पीछे रोक रखा जाता है और उसे उस विशिष्ट स्थितिके अन्दर आने नहीं दिया जाता। उसी भाँति हम चेतनाकी उस स्थितिकी व्याख्या कर सकते हैं जहाँ उसे सत्ताके केवल एक क्षेत्रकी अथवा अपनी किसी एक गतिधाराकी ही संवित् रहती है, जब कि बाकी सब कुछकी संवित् पीछेकी ओर रोकी गयी और आवृत रहेगी, अथवा, मानों, क्रियात्मक एकाग्रताकी जागृत समाधिके द्वारा केवल निजके क्षेत्र अथवा गतिमें व्यस्त रहनेवाली विशेषित अथवा सीमित संवित्से विच्छिन्न हो जायगी। अनंत चेतनाकी समग्रता विनष्ट नहीं हुई होगी, वह वहाँ होगी, पुनः प्राप्तव्य होगी, किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे सक्रिय नहीं होगी; वह अपनी अभिव्यक्त समर्थता और विद्यमानताके साथ नहीं, अपितु केवल परोक्ष रूपसे, अन्तर्हित रहती हुई अथवा सीमित संवित्को उपकरण बनाकर सक्रिय होगी। स्पष्ट है कि ये तीनों शक्तियाँ अनंत चेतनाकी क्रियात्मकताके लिये संभव स्वीकार की जा सकती हैं, और वे जिन अनेक रीतियोंसे क्रिया कर सकती हैं उनपर विचार करके ही हम मायाके क्रियाकलापके रहस्यका सूत्र पा सकते हैं।

इससे, आनुषंगिक रूपसे, उस विरोधपर भी प्रकाश पड़ता है जिसे हमारा मन, एक ओर शुद्ध चित्, शुद्ध सत् एवं शुद्ध आनंद और दूसरी ओर सत्ता-चेतना-आनंदकी, विश्वमें होनेवाली, प्रचुर क्रियाशीलता, बहुविध विनियोग और अंतहीन उलट-फेरके बीच खड़ा करता है। शुद्ध चेतना तथा शुद्ध सत्ताकी स्थितिमें हमें केवल उसीकी संवित् होती है जो कि सरल, अक्षर, स्वयम्भू, निराकार अथवा निर्विषय है, और हम केवल उसे ही सत्य और वास्तव अनुभव करते हैं। अन्य स्थितिमें, अर्थात् क्रियात्मक स्थितिमें, हम क्रियात्मकताको पूर्ण रूपसे सत्य और स्वाभाविक अनुभव करते हैं और यह भी सोच ले सकते हैं कि शुद्ध चेतनाकी अनुभूति-जैसी अनुभूति संभव नहीं। तथापि, अब यह स्पष्ट है कि निष्क्रिय और सक्रिय, दोनों ही स्थितियाँ अनन्त चेतनाके लिए संभव हैं; ये उसकी स्थितियोंमेंसे दो हैं और दोनों ही विश्वात्मिका संवित्में युगपत् विद्यमान रह सकती हैं; इनमेंसे एक दूसरीको साक्षी-रूपसे देखती और उसका अवलंब होती है अथवा उसे देखती नहीं और फिर भी अपने-आप उसका अवलंब हो जाती है। अथवा, नीरवता और स्थाणुता क्रियाशीलताके अन्दर अनुप्रविष्ट रह सकती

हैं या क्रियाशीलताको इस भाँति उत्क्षिप्त कर सकती हैं जैसे कि नीचेसे अचल समुद्र तरंगोंके चांचल्यको अपनी सतहपर ऊपर फेंका करता है। यही इस बातका भी कारण है कि अपनी सत्ताकी कुछ एक अवस्थाओंमें एक ही समय चेतनाकी विभिन्न स्थितियोंका अनुभव हमारे लिए संभव होता है। योगमें सत्ताकी एक ऐसी स्थितिका अनुभव होता है जिसमें हम द्विधा चेतना हो जाते हैं, एक तो सतहपर, जो लघु, सक्रिय और अज्ञ है, विचार, भावना, हर्ष, शोक और सब प्रकारकी प्रतिक्रियाओंसे चलायमान है, दूसरी अन्दर, जो शांत-स्थिर, वृहत् और सम है, बाह्य सत्ताका प्रेक्षण अचल अनासक्ति से या प्रश्रय देनेके भावसे करती है, या हो सकता है, उसे शांत, विस्तृत और रूपांतरित करनेके लिए उसके आन्दोलनपर क्रिया करती है। इसी भाँति हम एक ऊपरकी चेतनातक भी उठ जा सकते हैं और अपनी सत्ताके विभिन्न अंगोंका,—आंतरिक और बाह्य, मानसिक, प्राणिक, दैहिक और इन सबसे नीचे अवचेतनका—प्रेक्षण कर सकते हैं और उस उच्चतर स्थितिसे किसी एक या अन्य या संपूर्णपर क्रिया कर सकते हैं। यह भी संभव है कि हम उस ऊँचाईसे या किसी भी ऊँचाईसे चलकर इन निम्नतर स्थितियोंमेंसे किसीमें भी उतर आयें और उसके सीमित प्रकाश या उसके अंधकारको अपने क्रियास्थलके रूपमें लें और तब तक अपने शेष भागको कुछ समयके लिये अलग हटा दें या पीछेकी ओर रख छोड़ें, या अन्यथा, उसे ऐसे संदर्भ-क्षेत्रके रूपमें रख लें जहाँसे हमें अवलंब, अनुमति या प्रकाश और प्रभाव प्राप्त हो सकते हैं, या उसे ऐसी स्थितिके रूपमें रखें जिसमें हम ऊपर चढ़ जा सकते या पीछे हट जा सकते हैं और वहाँसे निम्नतर गतियों-का प्रेक्षण कर सकते हैं। या, हम समाधिमें डुबकी लगा ले सकते हैं, अपने-आपके अन्दर चले जा सकते हैं; समस्त बाह्य वस्तुओंका बहिष्कार करके वहाँ सचेतन रह सकते हैं, या हम इस आंतरिक संवित्से भी आगे जा सकते हैं और अपने-आपको किसी अन्य गभीरतर चेतनामें अथवा किसी उच्च अतिचेतनामें खो दे सकते हैं। एक व्यापक सम-चेतना भी है जिसके अन्दर हम प्रवेश कर सकते हैं और एक ही व्यापी दृष्टि या सर्वगत संवित्के द्वारा अपने सम्पूर्ण आपेको एक और अविभाज्यवत् देख सकते हैं। बाह्य तलकी बुद्धिको यह सब अनोखा और असाधारण अथवा कपोलकल्पित भी लग सकता है, कारण, वह बुद्धि हमारे आंतरिक, उच्चतर और समग्र प्रकृत स्वरूपसे विच्छिन्न हमारी सीमित अज्ञानकी सामान्यावस्था और उसकी गतियोंसे ही परिचित होती है। किन्तु यही सब अनंतकी बृहत्तर बुद्धि और युक्तिके प्रकाशमें, अथवा हमारे अन्दर अनंतके साथ सार रूपसे एक

रहनेवाले आत्माकी, अध्यात्म-सत्ताकी श्रेष्ठतर असीम्य शक्तियोंके 'स्वीकरण से सहज रूपसे बोधगम्य और स्वीकार्य हो जाता है।

'सद्वस्तु'-स्वरूप ब्रह्म है स्वयम्भू निर्विशेष और माया है इस स्वयम्भू-की 'चेतना' तथा 'शक्ति'। परंतु विश्वके प्रसंगमें ब्रह्म प्रकट होता है सर्व-भूतात्मा, आत्मा, विश्वात्मा-रूपमें; यह भी प्रकट होता है कि वह अपनी ही विश्वात्मकतासे अतीत परमात्मा, और साथ ही, प्रत्येक भूतमें व्यष्टिरूप-विश्वरूप भी है। और तब माया दिखाई देती है आत्मन्‌की आत्मशक्ति-रूपमें। यह सच है कि हमें जब ब्रह्मके इस रूपकी सर्व-प्रथम संवित् होती है, तो ऐसा सामान्यतः सकल सत्ताकी नीरवतामें, अथवा नहीं तो, कम-से-कम आंतरिक नीरवतामें होता है जो ऊपरी कर्मसे उपरत या दूर हटी होती है; तब ऐसा अनुभव होता है कि यह आत्मन् नीरवतामें एक नित्य स्थिति है, अचल अक्षर सत्ता, स्वयम्भू, विभु, सर्वगत है, किन्तु गतिशील या सक्रिय नहीं है और मायाकी नित्य सचल ऊर्जासे अलग है। उसी प्रकार, हमें उसकी यह संवित् हो सकती है कि वह पुरुष है, प्रकृतिसे पृथक् है, प्रकृतिके क्रियाकलापसे अलग खड़ा चित्पुरुष है। किन्तु यह एक एकान्त एकाग्रता होती है जो अपने-आपको केवल एक आध्यात्मिक स्थितिमें सीमित करती और वहाँसे समस्त क्रियाका निराकरण कर देती है, ताकि वह स्वयम्भू 'सद्वस्तु' ब्रह्मकी अपने कर्म तथा अभिव्यक्तिके समस्त सीमाबंधनोंसे स्वतंत्रता-का अनुभव कर सके। यह एक परमावश्यक अनुभूति है, परंतु सम्पूर्ण अनुभूति नहीं। वस्तुतः, हम देख सकते हैं कि चित्-शक्ति, वह शक्ति जो क्रिया और सृष्टि करती है, ब्रह्मकी माया अथवा ब्रह्मके सर्वज्ञानसे भिन्न और कुछ नहीं है; वह आत्माकी शक्ति है; प्रकृति पुरुषकी क्रिया है और पुरुष स्वकीया प्रकृतिके द्वारा सक्रिय होता है। अतएव, आत्मा और विश्व-ऊर्जाका, निश्चल-नीरव आत्मन् और अध्यात्म-सत्ताकी स्रष्टा शक्तिका द्वैत कोई यथार्थ द्वैत और पृथक्त्व नहीं, अपितु वे एक ही वस्तुके द्विदल हैं। कहा जाता है कि जैसे हम अग्नि और अग्निकी शक्तिको पृथक् नहीं कर सकते वैसे ही हम 'दिव्य सद्वस्तु' और उसकी चित्-शक्तिको भी पृथक् नहीं कर सकते। हमें आत्माकी जो यह प्रथम अनुभूति होती है कि वह प्रगाढ़तः नीरव और शुद्धतः स्थाणु है, यह उसका सम्पूर्ण सत्य नहीं है; आत्माकी अनुभूति उसके शक्ति-रूपमें, विश्व-क्रिया और विश्व-सत्ताके निमित्त-रूपमें भी हो सकती है। तथापि, आत्मा ब्रह्मका एक मौल पक्ष है, किन्तु इसमें उसकी निर्व्यक्तिकतापर विशेष बल दिया गया है; अतः आत्माकी शक्ति ऐसी दिखाई देती है मानों वह स्वतःस्फूर्त रूपसे क्रिया करती है और

आत्मा उसका भर्ता [है, उसकी क्रियाशीलताओंका उपद्रष्टा, अवलंब, प्रवर्तक और भोक्ता है परन्तु एक क्षणके लिये भी उनमें लिप्त नहीं होता। आत्मा-के प्रति अभिज्ञ होते ही, हम उसके विषयमें इस भाँति सचेतन होते हैं कि वह नित्य, अजन्मा, अशरीरी, अपनी क्रियाओंसे निर्लिप्त है: वह सत्ताके रूपके अन्दर अनुभूत किया जा सकता है और इस भाँति भी कि वह उसे आच्छादित किये है, उसके ऊपर है, उसके शरीरधारणका ऊपरसे ईक्षण करता है, उसका अध्यक्ष है; वह सर्वत्र विद्यमान है, प्रत्येक वस्तुमें अभिन्न है, अनंत और नित्य निरंजन एवं इन्द्रियागम्य है। उस 'आत्मा'को व्यक्ति-के 'आत्मा'-रूपमें, मनीषी, कर्त्ता, भोक्ताके 'आत्मा'-रूपमें अनुभव किया जा सकता है, किन्तु ऐसा होनेपर भी उसका यह महत्तर स्वभाव विद्यमान रहता है; उसकी वैयक्तिकता, साथ ही, एक विशाल विश्वात्मकता भी है अथवा उस अवस्थामें बहुत सरलतासे प्रविष्ट हो जाती है, और उसका अगला डग होता है शुद्ध तुरीयत्व या निर्विशेषमें सम्पूर्ण तथा अनिर्वचनीय प्रवेश। आत्मा ब्रह्मका वह स्वरूप है जिसमें वह एक साथ ही और अंतरंग रूपसे वैयक्तिक, वैश्व तथा विश्वातीत अनुभव होता है। आत्माकी उप-लब्धि वैयक्तिक मुक्तिके लिए, निष्क्रिय विश्वात्मकताके लिए, प्रकृत्यातीतता-के लिए सीधा और द्रुत मार्ग है। इसके अतिरिक्त, आत्माकी एक ऐसी उप-लब्धि भी होती है जिसमें वह केवल इस रूपमें ही अनुभूत नहीं होता कि वह सकल वस्तुओंको आश्रय दे रहा है, उनमें व्याप्त है और उनपर आच्छा-दित है, अपितु यह भी कि वह प्रत्येक वस्तुका उपादान है और प्रकृतिमें अपनी समस्त संभूतियोंके साथ एक स्वतंत्र तादात्म्यमें एकात्म है। ऐसा होनेपर भी स्वातंत्र्य और निर्व्यक्तित्व आत्माका नित्य स्वभाव हैं। जैसे पुरुष प्रकृतिके अधीन जान पड़ता है, वैसे आत्मा विश्वमें अपनी ही शक्तिकी क्रियाओंके अधीन नहीं जान पड़ता। आत्माकी उपलब्धिका अर्थ है ब्रह्मकी नित्य स्वतंत्रताकी उपलब्धि।

पुरुष आत्माका वह रूप है जिसमें वह प्रकृतिके रूपों और कर्मोका प्रव-र्तक, साक्षी, अवलंब, प्रभु और भोक्ता है। आत्मा-रूपमें जैसे वह अपनी विश्वात्मक और व्यष्टि-संभूतियोंमें संवृत और उनसे एकात्म होनेपर भी अपने मूल स्वभावमें विश्वातीत होता है, वैसे ही पुरुष-रूपमें भी, वह स्वभाव-से विश्वक-वैयक्तिक रहता है, और प्रकृतिसे पृथक् रहता हुआ भी, प्रकृतिसे घनिष्ठतया संबद्ध रहता है। वस्तुतः यह चिन्मय पुरुष अपनी निर्व्यक्तिकता और सनातनताको, अपनी विश्वात्मकताको रखते हुए भी एक अधिक सव्य-

क्तिक रूप धारण करता है।[2] वह प्रकृतिके अन्दरकी निर्व्यक्तिक-सव्यक्तिक सत्ता है, प्रकृतिसे सर्वथा वियुक्त नहीं है, कारण वह प्रकृतिके साथ सदा ही युग्मित है: प्रकृति पुरुषके लिए और उसकी अनुमतिसे, उसकी इच्छा और प्रसन्नताके लिए कार्य करती है; चिन्मय पुरुष उस शक्तिको, जिसे हम प्रकृति कहते हैं, अपनी चेतना प्रदान करता है, प्रकृतिकी क्रियाओं-को उस चेतनामें इस भाँति ग्रहण करता है जैसे कि दर्पणमें, कार्य-कारिणी विश्वशक्ति-रूपा प्रकृति जिन रूपोंकी सृष्टि करती और उसपर आरोपित करती है उन्हें स्वीकार करता है, और उसकी गतिविधिको अपनी अनुमति देता अथवा वापस ले लेता है। पुरुष-प्रकृतिके अनुभवका, प्रकृतिके साथ 'अध्यात्म' या चिन्मय पुरुषके संबंधोंके अनुभवका अत्यन्त व्यावहारिक महत्व है; क्योंकि शरीरधारी सत्तामें चेतनाकी सम्पूर्ण क्रीड़ा इन्हीं संबंधोंपर निर्भर करती है। यदि हमारा अंतःस्थ पुरुष निष्क्रिय है और प्रकृतिको क्रिया करने देता है, उसपर वह जो कुछ आरोपित करती है उस सबको स्वीकार करता है, निरंतर एक यांत्रिक अनुमति देता रहता है, तो मन, प्राण तथा शरीरमें स्थित अंतरात्मा, अर्थात् हमारे अंदरका मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय पुरुष हमारी प्रकृतिके अधीन हो जाता है, उसकी रचनासे शासित होता है, उसके क्रियाकलापोंसे चालित होता है; यही हमारे अज्ञान-की सामान्य अवस्था है। यदि हमारे अंतःस्थ पुरुषको अपने साक्षी रूपकी संवित् हो जाती है और वह प्रकृतिसे हटकर खड़ा हो जाता है तो यह जीवकी स्वतंत्रताकी ओर पहला डग होता है; क्योंकि वह अनासक्त हो जाता है और तब प्रकृतिको और उसकी प्रक्रियाओंको जानना संभव हो जाता है, और, चूंकि तब हम उसकी क्रियाओंमें लिप्त नहीं होते, अतः यह भी संभव होता है कि हम प्रकृतिकी क्रियाओंको स्वीकार करने या न करनेको पूरे स्वतंत्र हो जायँ, हमारा अनुमति-प्रदान यांत्रिक न होकर स्व-तंत्र और प्रभावकारी हो जाय। तब हम यह चुनाव कर सकते हैं कि प्रकृति हमारे अन्दर क्या करेगी और क्या नहीं करेगी, अथवा हम उसकी क्रियाओंसे सम्पूर्णतया पीछे हटकर खड़े हो जा सकते हैं और आत्माकी आध्यात्मिक नीरवतामें सरलतासे प्रविष्ट हो जा सकते हैं, अथवा हम उसकी वर्तमान रचनाओंका परित्याग कर सकते हैं, और, आरोहण करते हुए, वहाँसे जीवन-

2. सांख्य-दर्शन इस सव्यक्तिक पक्षपर बल देता है, पुरुषको 'बहु', बहुसंख्यक बताता है और प्रकृतिको विश्वात्मकता प्रदान करता है; इस दृष्टिमें प्रत्येक पुरुषकी स्वतंत्र सत्ता होती है, यद्यपि सकल पुरुष एक ही सर्वसामान्य विश्वव्यापी प्रकृतिका अनु-भव करते हैं।

की एक आध्यात्मिक भूमिपर चले जा सकते हैं और उसी भूमिसे अपने जीवनकी पुनर्सृष्टि कर सकते हैं। पुरुष अनीश रहना छोड़ दे सकता है, वह अपनी प्रकृतिका स्वामी, ईश्वर बन जा सकता है।

सांख्य-दर्शनमें पुरुष-प्रकृतिका तात्त्विक सिद्धान्त अधिकतम विस्तारसे प्रतिपादित मिलता है। ये दोनों शाश्वत रूपसे पृथक् सत्ताएँ हैं, किन्तु हैं एक-दूसरेसे संबंधित। प्रकृति है प्रकृति-शक्ति, एक कार्यकारिणी शक्ति, वह चेतनासे अलग एक ऊर्जा है; कारण, चेतना पुरुषका धर्म है, पुरुषके विना प्रकृति जड़, यंत्रधर्मी और निश्चेतन है। आदि जड़-तत्त्वको प्रकृति अपने रूपात्मा और कर्माधारके रूपमें विकसित करती है और उसमें प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अभिव्यक्त करती है, परन्तु, बुद्धि भी, चूंकि वह प्रकृतिका एक अंश है और आदि जड़-तत्त्वमें प्रकृतिकी ही उत्पत्ति है, अतः तामसिक, यंत्रधर्मी और निश्चेतन है। यह धारणा भौतिक विश्वमें निश्चेतनकी व्यवस्था और पूर्णतया संबद्ध क्रियाओंपर एक निश्चित प्रकाश डालती है: मनस् और बुद्धिकी यांत्रिक क्रियाओंको अंतरात्माका, अध्यात्म-सत्ताका ही प्रकाश प्रदत्त है, वे उसीकी चेतनासे सचेतन होते हैं, जैसे कि वे आत्माके अनुमोदनसे ही सक्रिय होते हैं। प्रकृतिसे पीछे हटकर पुरुष स्वतंत्र हो जाता है; जड़में लिप्त होना अस्वीकार कर वह प्रकृतिका स्वामी हो जाता है। प्रकृति अपने उपादान और कर्मके तीन तत्त्वों, गुणों या रीतियों द्वारा क्रिया करती है, जो कि हमारे अन्दर हमारे मन और शरीरके उपादान और उसकी क्रियाओंकी मूलभूत रीतियाँ वन जाते हैं, तामसिकताका तत्त्व, क्रियात्मकताका तत्त्व और संतुलन, प्रकाश तथा सामंजस्यका तत्त्व : इनकी गति जव विषम रहती हैं तव प्रकृतिकी क्रिया घटित होती है; जव वे साम्यावस्थामें रहते हैं तो प्रकृति उपशमित हो जाती है। पुरुष बहु है, एकमेव नहीं, अद्वय नहीं, जब कि प्रकृति एक है : इससे यह परिणाम निकलता लगता है कि सत्तामें एकत्वका जो कोई भी तत्त्व हमें मिलता है वह प्रकृतिका ही है, परंतु प्रत्येक पुरुष स्वतंत्र और अद्वितीय है, वह चाहे प्रकृतिका भोग करता हो या प्रकृतिसे मुक्त हो, आत्म-संपूर्ण और पृथक् है। जव हम व्यष्टि-पुरुष और विश्वात्मिका प्रकृतिकी वास्तवताओंके सीधे आंतरिक सम्पर्कमें आते हैं तव सांख्यके इन सारे सिद्धान्तोंको अनुभवमें पूर्णतया प्रामाणिक पाते हैं; किन्तु ये व्यावहारिक सत्य हैं और हम इन्हें पुरुष अथवा प्रकृतिके सम्पूर्ण या मूलभूत सत्यके रूपमें स्वीकार करनेको वाध्य नहीं। भौतिक जगत्में प्रकृति एक निश्चेतन ऊर्जाके रूपमें उपस्थित होती है, किन्तु जैसे-जैसे चेतनाका क्रम ऊपर उठता है वह अपने-आपको अधिकाधिक

एक सचेतन शक्तिके रूपमें प्रकट करती है और हमें यह प्रत्यक्ष होता है कि उसकी निश्चेतनाने भी एक निगूढ़ चेतना छिपा रखी थी; वैसे ही चिन्मय पुरुष अपने व्यष्टि-जीवोंमें वहु हैं, परंतु हम यह अनुभव कर सकते हैं कि अपने आत्मा-रूपमें वह सबके अन्दर एक है और अपनी सारभूत सत्तामें एक है। इसके अतिरिक्त, पुरुष और प्रकृतिका द्वैत रूपमें अनुभव सत्य है, परन्तु उनके एकत्वके अनुभवका भी अपना प्रामाण्य है। यदि प्रकृति या ऊर्जा पुरुषपर अपने रूपों और क्रियाओंको आरोपित कर सकती है, तो ऐसा केवल इसलिये हो सकता है कि वह उस पुरुषकी ही प्रकृति या ऊर्जा है और अतएव पुरुष उन्हें अपने ही रूप और क्रियाएँ मान ले सकता है। यदि पुरुष प्रकृतिका स्वामी हो जा सकता है तो इसका कारण अवश्य ही यह होना चाहिये कि वह प्रकृति स्वयं उसीकी प्रकृति है जिसे उसने अपना कार्य करते हुए निष्क्रिय साक्षी-रूपमें देखा था, किन्तु जिसपर वह नियंत्रण और प्रभुत्व स्थापित कर सकता है; वह जब निष्क्रिय होता है तब भी प्रकृतिकी क्रियाके लिये उसके अनुमोदनकी आवश्यकता होती है। यह संबंध पर्याप्त रूपमें यह प्रदर्शित करता है कि ये दोनों परस्पर विजातीय नहीं हैं। यह द्वैत एक स्थिति, एक द्विविध स्थिति ही है जो 'सत्'की आत्माभिव्यक्तिकी क्रियाओंके लिये अपनायी या स्वीकार की गयी है; परन्तु सत् और उसकी चित्-शक्तिमें, पुरुष और प्रकृतिमें कोई सनातन तथा मौल पार्थक्य और द्वैत नहीं है।

सद्वस्तु ही, आत्मा ही स्व-प्रकृतिकी क्रियाओंके साक्षी और अनुमन्ता या शासक-रूपी पुरुषकी भूमिका ग्रहण करता है। एक प्रतीयमान द्वैतकी रचना इसलिये की जाती है कि पुरुषका अवलंब प्राप्त कर अपने-आपको क्रियान्वित करती प्रकृतिकी स्वतंत्र क्रिया हो सके और पुनः प्रकृतिको वशीभूत और क्रियान्वित करते 'पुरुष'की स्वतंत्र और प्रभुत्वशाली क्रिया हो सके। यह द्वैत इसलिए भी आवश्यक है कि 'पुरुष' किसी भी समय अपनी प्रकृतिकी किसी भी रचनासे हट जाने और समस्त रचनाका विलय करने अथवा एक नयी या उच्चतर रचनाको स्वीकार या प्रवर्तित करनेके लिये स्वतंत्र रहे। आत्म-शक्तिके साथ ब्रह्मके व्यवहारोंमें ये सर्वथा स्पष्ट संभावनाएँ हैं और हमारे स्वानुभवमें ये देखी जा सकती हैं और प्रमाण्य हैं; ये अनंत चैतन्यकी शक्तियोंके, उन शक्तियोंके न्याय-संगत परिणाम हैं जिनके बारेमें हम देख चुके हैं कि वे उसकी अनंतताके लिये नैसर्गिक हैं। पुरुष-पक्ष और प्रकृति-पक्ष सदा साथ-साथ चलते हैं और प्रकृति या चित्-शक्ति क्रियामें जो कोई भी स्थिति धारण, अभिव्यक्त या विकसित

करती है, उसके अनुरूप 'पुरुष'की भी स्थिति होती है। अपनी उच्चतम अवस्थामें 'पुरुष' परम चिन्मय पुरुष है, पुरुषोत्तम है और चित्-शक्ति उसकी परा प्रकृति है। प्रकृतिकी श्रेणियोंकी प्रत्येक अवस्थामें 'पुरुष' उस श्रेणीके उपयुक्त भूमिका ग्रहण करता है; वह मनःप्रकृतिमें मनोमय पुरुष, प्राण-प्रकृतिमें प्राणमय पुरुष, जड़-प्रकृतिमें अन्नमय पुरुष, अतिमानसमें विज्ञानमय पुरुष बन जाता है; उच्चतम आध्यात्मिक अवस्थामें वह आनंदमय पुरुष एवं शुद्ध सत् बन जाता है। हममें, देहधारी व्यक्तिमें, वह सबके पीछे स्थित है चैत्य पुरुष-रूपमें, आंतर आत्मा-रूपमें जो हमारी चेतना एवं आध्यात्मिक जीवनके अन्य रूपायणोंका भरण-पोषण करता है। जो पुरुष हमारे अन्दर व्यष्टि-रूप है, वह विश्वमें वैश्व और विश्वातीतमें विश्वातीत है। आत्माके साथ उसका तादात्म्य सुस्पष्ट है, परंतु वह वस्तुओं एवं प्राणियोंके अंदर अध्यात्म-सत्ताकी अपनी शुद्ध निर्व्यक्तिक-सव्यक्तिक अवस्थामें स्थित आत्मा है,—निर्व्यक्तिक इसलिए कि वह व्यक्तिगत गुणसे विभेदित नहीं है, सव्यक्तिक इसलिए कि वह प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर आत्माके व्यष्टि-रूपणकी अध्यक्षता करता है,—और वह अपनी चित्-शक्तिकी क्रियाओंसे, अपनी आत्म-प्रकृतिकी कार्यकारिणी शक्तिसे व्यवहार करनेमें जो कोई भी स्थिति इसके लिये आवश्यक होती है, उसे धारण करता हुआ व्यवहार करता है।

परंतु यह स्पष्ट है कि पुरुष-प्रकृतिकी किसी भी ग्रन्थि-विशेषमें कोई भी स्थिति क्यों न ग्रहण की जाय अथवा कोई भी संबंध क्यों न रचा जाय, मूलभूत वैश्व संबंधमें पुरुष अपनी प्रकृतिका स्वामी या शासक ही है: जब वह प्रकृतिको अपने साथ स्वतंत्रता लेने देता है तब भी प्रकृतिकी क्रियाओंके अवलंबके लिए पुरुषकी सहमति आवश्यक होती है। यह तत्त्व अपने सम्पूर्णतम रूपमें प्रकट होता है 'सद्वस्तुके', 'दिव्य पुरुष'के तृतीय रूपमें जहां वह विश्वका स्वामी एवं स्रष्टा है। वहां सामने आता है परम पुरुष, विश्वातीत तथा विश्वात्मिका चेतना एवं शक्तिसे युक्त पुरुष,—सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्व ऊर्जाओंका नियंता; सचेतन या निश्चेतन जो भी है सबमें स्थित 'चेतन; सकल अंतरात्मा, मन, हृदय और शरीरका अधिवासी, सकल कर्मोंका शासक अथवा अधिशासक, समस्त आनन्दका भोक्ता, सकल वस्तुओंका स्व-सत्तामें निर्माता एवं स्रष्टा; वह सर्व-पुरुष सकल भूत जिसकी विभूतियां हैं, वह शक्ति जिससे समस्त शक्तियां हैं; सबके भीतर रहनेवाला आत्मा; सन्मात्र-रूपमें सकल जगत्का पिता, अपने चित्-शक्ति-रूपमें भगवती माता; सकल जीवोंका सुहृद; सर्वानंदमय एवं सर्वसुंदर, सौन्दर्य और

हर्ष जिसके प्रकाश हैं; सर्वप्रिय एवं सर्वप्रेमी। इस भाँति देखने और समझनेसे, एक विशेष अर्थमें, यह 'सद्वस्तु'का सर्वाधिक व्यापक रूप होता है, क्योंकि यहाँ एक ही रूपायणमें सब संयुक्त हो जाते हैं। वस्तुतः, ईश्वर विश्वातीत और विश्वान्तर्यामी दोनों है; वह वह है जो समस्त वैयक्तिकतासे अतीत है, साथ ही, उसमें निवास करता और उसका भर्ता भी है। वह है परम और विश्वव्यापी ब्रह्म, निर्विशेष, परमात्मा, पुरुषोत्तम[3]। परंतु यह बहुत स्पष्ट है कि वह प्रचलित धर्मोंका वह वैयक्तिक ईश्वर नहीं है जो अपने गुणोंके द्वारा सीमित पुरुष हो, अन्य सबोंसे पृथक् व्यक्ति-विशेष हो; क्योंकि ये सब वैयक्तिक देव उस एक ईश्वरके सीमित प्रतिरूप या नाम और दिव्य व्यक्तित्व मात्र हैं। न वह सगुण ब्रह्म ही है, क्रियाशील और गुणधारी; क्योंकि यह भी ईश्वरकी सत्ताका केवल एक पहलू है। निर्गुण, अचल और गुणरहित, वह भी ईश्वरकी सत्ताका एक दूसरा पहलू है। ईश्वर है 'सद्वस्तु'-स्वरूप ब्रह्म, आत्मा, अध्यात्म-सत्ता,—अपनी ही आत्म-सत्ताके धारक और भोक्ता-रूपमें प्रकटित। वह विश्वका स्रष्टा है और उसके साथ एक है; वह विश्वदेव है, परंतु उससे उच्चतर भी; वह है शाश्वत, अनंत, अनिर्वचनीय, दिव्य तुरीय।

हमारी मानसिक विचार-रीतिने सव्यक्तिकता और निर्व्यक्तिकताके बीच जो तीक्ष्ण विरोध खड़ा कर दिया है वह मनकी अपनी रचना है और भौतिक जगत्के प्रतिभासोंपर आधारित है। कारण, यहाँ पार्थिव सत्तामें सब कुछ निश्चेतनसे उद्भूत होता है और वह निश्चेतन सम्पूर्णतया निर्व्यक्तिक-जैसा प्रतीत होता है; प्रकृति, निश्चेतन ऊर्जा अपने अभिव्यक्त सार और व्यवहारोंमें सम्पूर्णतया निर्व्यक्तिक है; सकल शक्तियाँ निर्व्यक्तिकताका यह वेश धारण किये होती हैं, सकल गुण और बलका, प्रेम और आनन्दका, स्वयं चेतनाका भी यही रूप है। व्यक्तित्व निर्व्यक्तिक जगत्के अन्दर चेतनाकी एक सृष्टि-रूपमें प्रकट होता है; वह प्रकृति-क्रियाके बल, गुण और अभ्यस्त शक्तियोंकी निर्बद्ध रचनाके द्वारा किया गया परि-सीमन है, आत्मानुभवकी सीमित परिधिमें बंदीकरण है जिसका हमें अतिक्रमण करना है। यदि हमें विश्वात्मकताको प्राप्त करना हो तो व्यक्तित्वका विलोप करना आवश्यक है, यदि हमें विश्वातीततामें आरोहण करना हो तो यह और भी आवश्यक हो जाता है। किंतु, हम जिसे इस भाँति व्यक्तित्व कहते हैं, वह केवल बाह्य चेतनाकी एक रचना है; उसके पीछे वह पुरुष है जो

---

3. गीता।

विविध व्यक्तित्व धारण करता है, एक ही समय वहुत सारे व्यक्तित्व वनाए रख सकता है, किंतु स्वयं है एकमेव, सत्, शाश्वत। यदि हम वस्तुओंको विशालतर दृष्टिकोणसे देखें तो कह सकते हैं कि जो निर्व्यक्तिक है वह पुरुषकी एक शक्ति मात्र है: किसी सत्के विना स्वयं सत्ताका कोई अर्थ नहीं होगा, किसी सचेतनके विना चेतनाको खड़े होनेका आधार नहीं मिलेगा, भोक्ताके विना आनंद व्यर्थ और निष्प्रमाण होगा, प्रेमीके विना प्रेमका न तो कोई आधार होगा, न उसकी कोई परिपूर्ति ही, किसी सर्वशक्तिमान्‌के विना सर्वशक्ति निरर्थक ही होगी। कारण, पुरुषसे हमारा अभिप्राय चिन्मयी सत्तासे है; वह यदि यहाँ निश्चेतनकी अभिधा या उत्पत्तिके रूपमें उन्मज्जित होता हो, तो भी वस्तुतः वह वैसा नहीं है: कारण, स्वयं निश्चेतन निगूढ़ चेतनाकी अभिधा है। जो उन्मज्जित होता है वह उससे महत्तर होता है जिसमेंसे वह उन्मज्जित होता है, जैसे मन जड़तत्त्वसे महत्तर है, और अंतरात्मा मनसे महत्तर; अध्यात्म-सत्ता, जो सर्वापेक्षतया गूढ़तम है, सर्वोच्च उन्मज्जन, अंतिम प्रकटन है, सवकी अपेक्षा महान् है, और वही है पुरुष, सर्वपुरुष, सर्वव्यापी चिन्मय सत्। हमारे अन्दरके इस सच्चे पुरुषके विषयमें हमारे मनकी अज्ञता, उसकी हमारे अनुभूत अहं तथा परिसीमित व्यक्तित्वको पुरुष मान लेनेकी परिभ्रान्ति, एक निश्चेतन अस्तित्वमें सीमित चेतना और व्यक्तित्वके उन्मज्जनका भ्रामक व्यापार, ये ही वे वस्तुएँ हैं जिन्होंने 'सद्वस्तु'के इन दो रूपोंके वीच हमसे एक विरोधकी सृष्टि करायी है, परंतु सत्यतः इनमें विरोध नहीं है। एक शाश्वत अनंत स्वयम्भू सत्ता ही परम सद्वस्तु है, परंतु स्वयंभू सत्ताका यथार्थ स्वरूप और अर्थ परम तुरीय शाश्वत सत्, आत्मा तथा अध्यात्म-सत्ता ही होता है जिसे हम अनंत 'पुरुष' कह सकते हैं, क्योंकि उसीकी सत्ता सकल व्यक्तित्वोंका सार और उत्स है। वैसे ही, विश्व-जीवनकी सत्यता और अर्थ विश्वात्मा, विश्वव्यापी अध्यात्म-सत्ता, सत् या पुरुष ही है; और, वैयक्तिक जीवनकी सत्यता और अर्थ भी अपनी वहुकताको अभिव्यक्त करता वही आत्मा, अध्यात्म-सत्ता, सत् या पुरुष है।

यदि हम दिव्य पुरुष, परम पुरुष और सर्व-पुरुषको ईश्वर मानें तो उसके विश्व-सत्ताके शासन या संचालनको समझनेमें एक कठिनाई उठती है, क्योंकि हम तुरंत ही उसपर अपनी मानव-शासककी धारणाको प्रयुक्त करने लगते हैं। हम उसके संवंधमें यह कल्पना करते हैं कि वह जगत्पर मन और मानसिक इच्छाके द्वारा सर्वशक्तिसम्पन्न स्वेच्छाचारी रीतिसे क्रिया करता है, उस जगत् पर वह अपनी मानसिक धारणाओंको नियमोंके

रूपमें आरोपित करता है, और उसकी इच्छाके संबंधमें हमारी यह धारणा होती है कि वह उसके व्यक्तित्वकी स्वच्छन्द सनक है। परन्तु दिव्य पुरुषके लिये, सर्वशक्तिमान् किंतु फिर भी अज्ञ रहते मनुष्यके समान,—यदि ऐसी सर्वशक्तिमत्ता संभव हो भी तो,—किसी स्वेच्छाचारी विचार या भावसे कार्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। कारण, वह मनके द्वारा सीमित नहीं है; उसे अखंड-चेतना है जिससे उसे सकल वस्तुओंके सत्यकी संवित् होती है और निजकी सर्व-प्रज्ञाकी संवित् भी,—वह प्रज्ञा वस्तुओंको उनके अन्दरके सत्यके अनुसार, उनकी अर्थवत्ताके अनुसार, उनकी संभावना या आवश्यकताके अनुसार, उनकी प्रकृतिके अनुल्लंघ्य आत्म-स्वरूपके अनुसार कार्यान्वित करती है। भगवान् स्वतंत्र हैं, किसी भी प्रकारके नियमोंसे बद्ध नहीं हैं, परन्तु, तो भी, वह नियमों और विधियोंके द्वारा कार्य करते हैं क्योंकि वे वस्तुओंके सत्यकी अभिव्यक्ति हैं,—उनके केवल यांत्रिक, गणितीय या अन्य किसी बाहरी सत्यकी ही अभिव्यक्ति नहीं, वल्कि जो कुछ वे हैं, जो कुछ वे हो चुके हैं और जो कुछ उन्हें होना बाकी है, जो कुछ उनके अन्दर ऐसा है जिसे कि उन्हें संसिद्ध करना है, इन सबकी आध्यात्मिक वास्तवताके सत्यकी अभिव्यक्ति। भगवान् क्रियाके अन्दर स्वयं विद्यमान हैं, परन्तु वह उससे अतीत भी हैं और उसे रद्द भी कर सकते हैं; क्योंकि, एक ओर, प्रकृति अपने विधि-नियमोंके सीमित समूहके अनुसार क्रिया करती है और उन्हें कार्यान्वित करनेमें भागवत सत्ताके द्वारा अनुप्राणित और उसपर आश्रित होती है, किन्तु, दूसरी ओर, एक अधीक्षण है, एक उच्चतर क्रिया और निर्देशना है, यहाँतक कि एक हस्तक्षेप भी है, जो स्वतंत्र तो है परंतु स्वेच्छाचारी नहीं; प्रायः वह जादूई और चमत्कारी प्रतीत होता है क्योंकि वह दिव्य परा प्रकृतिसे निःसृत होता हुआ प्रकृतिपर क्रिया करता है: यहाँ प्रकृति उस परा प्रकृतिकी एक सीमित अभिव्यक्ति है और उसमें उसकी ज्योति, उसकी शक्ति, उसके प्रभावके द्वारा हस्तक्षेप या परिवर्तनकी संभावना रहती है। वस्तुओंका यांत्रिक, गणितीय, स्वचलित विधान एक तथ्य है, परन्तु उसके अंदर चेतनाका एक आध्यात्मिक विधान सक्रिय है जो प्रकृतिकी शक्तियोंके यंत्रवत् डगोंको एक आंतरिक मोड़ और मूल्य, एक अर्थपूर्ण सम्यक्ता और एक गुह्यतः सचेतन नियति प्रदान करता है, और उसके ऊपर एक आध्यात्मिक स्वातंत्र्य है जो कि आत्माके परम तथा वैश्व सत्यमें ज्ञानवान् होता और कार्य करता है। भगवान्‌के विश्व-शासनके संबंधमें अथवा उसकी क्रियाके रहस्यके संबंधमें हमारी दृष्टि अप्रतिकार्य रूपसे या तो मानवत्वारोपी या यांत्रिक

होती है: किंतु, यद्यपि मानवत्वारोपवाद और यांत्रिकता दोनोंमें अपने-अपने सत्यके तत्त्व हैं, तथापि वे एक ही पार्श्व, एक ही पहलू हैं; यथार्थ सत्य यह है कि जगत्का शासन उस 'एक' के द्वारा होता है जो सबके अन्दर है और सबके ऊपर भी और अपनी चेतनामें अनंत है। विश्वकी अर्थवत्ता, रचना और गतिधाराको हमें अनंत चेतनाके विधान तथा न्यायके ही सहारे समझना चाहिये।

यदि हम एकमेव 'सद्वस्तु'के इस पहलूका अवलोकन करें और उसे अन्य पहलुओंके निकट संबंधमें रखें, तो शाश्वत स्वयम्भू सत्ता, और जिस चित्-शक्तिके द्वारा वह विश्वको अभिव्यक्त करती है उसकी क्रियात्मकता, इनके बीचके संबंधका पूरा दृश्य हमारे सामने आ सकता है। हम यदि नीरव स्वयम्भू सत्तामें अवस्थित हो जायँ जो कि निश्चल, गतिहीन, निष्क्रिय है, तो हमें दिखाई देगा कि अपनी समस्त कल्पनाओंको कार्यान्वित करनेमें समर्थ, निश्चल-नीरव आत्माकी क्रियाशील संगिनी, एक कल्पनात्मिका चित्-शक्ति, माया ही सब कुछ कर रही हैं; वह स्थिर अचल सनातन स्थितिको अपना आधार बनाती और सत्ताके आध्यात्मिक उपादानको सब प्रकारके रूपों और गतियोंमें ढालती है जिन्हें आत्माकी निष्क्रियता अनुमोदन देती है अथवा जिनमें आत्मा अपना तटस्थ सुख लेता है, अपना सर्जनात्मक एवं सचल सत्ताका अचल आनंद लेता है। यह सर्जनात्मक और सचल सत्ता चाहे वास्तव हो चाहे भ्रम, इसका उपादान और सार्थक्य यही है। चेतना सत्-पुरुषके साथ क्रीड़ा करती है, प्रकृतिकी शक्ति 'अस्तित्व'के साथ जैसा चाहती है वर्तती है और उसे अपनी सृष्टियोंका उपादान बनाती है. किन्तु इसे संभव बनानेके लिये प्रत्येक पदपर सत्-पुरुषका गुह्य अनुमोदन होना ही चाहिये। वस्तुओंके इस अनुभवमें एक स्पष्ट सत्य है; हम अपने अन्दर और चारों ओर सर्वत्र इसे ही घटित होता देखते हैं; यह विश्वका एक सत्य है और उसे अवश्य ही निर्विशेषके किसी मौल सत्य-रूपके अनुरूप होना चाहिये। किंतु, जब हम वस्तुओंकी बाह्य क्रियाशील प्रतीतियोंके पीछे हटकर आत्माकी साक्षीभूत 'नीरवता'में नहीं, अपितु आत्माकी आंतरिक क्रियाशील, सहभागिनी अनुभूतिमें जाते हैं तो पाते हैं कि यह चित्-शक्ति, यह माया, यह शक्ति स्वयं भी सत्-पुरुषकी, स्वयम्भूकी, ईश्वरकी ही शक्ति है। सत्-पुरुष उसका और निखिल वस्तुओंका स्वामी है; हम देखते हैं कि वह अपनी ही अभिव्यक्तिके स्रष्टा और शासक-रूपमें अपनी ही प्रभुतामें सब कुछ कर रहा है; अथवा, यदि वह पीछे खड़ा रहकर प्रकृतिकी शक्तियों और उसके प्राणियोंको कर्मकी स्वतंत्रता देता है, तब भी

इस अनुमतिमें उसकी प्रभुता तो निहित रहती ही है, प्रत्येक पदपर उसका अव्यक्त अनुमोदन, "तथास्तु", निहित रहता ही है, क्योंकि, इसके बिना कुछ भी करना या होना संभव नहीं। सत् और उसकी चित्-शक्ति, पुरुष और प्रकृति मूलतः द्वैत नहीं हो सकते : जो कुछ प्रकृति करती है वास्तवमें पुरुषका ही किया होता है। यह भी एक सत्य है जो तब स्पष्ट हो जाता है जब हम पर्देके पीछे जाते और उस जीवंत 'सद्वस्तु'की अवस्थितिका अनुभव करते हैं जो सब कुछ है और सब कुछ निर्धारित करती है, सर्वशक्तिमयी एवं सर्वशासिका है। यह भी उस निर्विशेषका एक मूलभूत सत्य-रूप है।

और, यदि हम निश्चल-नीरवतामें ही लीन रह जायँ तो सर्जनशील चेतना और उसके क्रियाकलाप भी निश्चल-नीरवतामें विलीन हो जाते हैं; तब हमारे लिये प्रकृति और सृष्टिका अस्तित्व नहीं रह जाता या वे वास्तव नहीं रह जातीं। दूसरी ओर, हम यदि सत्के एकमात्र अस्तित्ववान् पुरुष और शासक-रूपपर ही दृष्टि केन्द्रित करें, तो जिस शक्तिके द्वारा वह सब कुछ करता है, वह शक्ति उसकी अद्वितीयतामें विलीन हो जाती है या उसके विश्व-व्यक्तित्वका एक गुण बन जाती है; विश्वके संबंधमें हमें यह प्रत्यक्ष होता है कि वहाँ अद्वय सत्-पुरुषका निरंकुश साम्राज्य है। मनके लिये ये दोनों अनुभव अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं, कारण, उसके सामने आत्माकी शक्तिकी निष्क्रिय या सक्रिय किसी भी अवस्थाका प्रकृत स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, या इस कारण कि आत्माका एक अति एकान्तिक नेतिभावात्मक अनुभव हुआ है, या इस कारण कि हमारी धारणाएँ परम पुरुषके शासक-रूपपर मानवी गुण और स्वभाव अत्यधिक आरोपित करती हैं। यह स्पष्ट है कि हम एक ऐसे अनंतका अवलोकन कर रहे हैं जिसकी आत्म-शक्ति बहुविध गतियोंमें समर्थ है और वे सारी गतियाँ सत्य हैं। हम यदि फिर अधिक व्यापक दृष्टिसे देखें और वस्तुओंके सव्यक्तिक तथा निर्व्यक्तिक दोनों सत्योंको एक ही सत्यके रूपमें मानें, यदि उस प्रकाशमें, निर्व्यक्तिकताके अन्दर विद्यमान सव्यक्तिकताके प्रकाशमें, आत्मा और आत्माकी शक्तिके द्विदल-रूपको देखें तो पुरुष-रूपमें पुरुष-युगलका, ईश्वर-शक्तिका प्राकट्य होता है,—विश्वका दिव्य आत्मा तथा स्रष्टा, और भगवती माता तथा स्रष्ट्री। यहाँ हमें पुरुष और नारी, इन दो वैश्व तत्त्वोंका रहस्य प्रकट होता है जिनकी क्रीड़ा और पारस्परिक क्रिया समस्त सर्जनके लिये आवश्यक है। स्वयम्भू सत्ताके अतिचेतन सत्यमें ये दोनों एक-दूसरेमें लीन और अन्योन्यव्यंजित हैं, एक और अविभेद्य हैं, किंतु विश्वकी

क्रियात्मकताके आध्यात्मिक-व्यावहारिक सत्यमें वे प्रकट होते और सक्रिय बन जाते हैं। विश्व-स्रष्ट्री-रूपा दिव्य मातृ-शक्ति, माया, परा प्रकृति, चित्-शक्ति ही विश्वात्मा तथा ईश्वरको और अपनी निजी आत्म-शक्तिको द्वैत तत्त्वके रूपमें अभिव्यक्त करती है। सत्-पुरुष, आत्मा, ईश्वर इसी शक्तिके द्वारा कार्य करता है और उसके अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा कुछ भी नहीं करता। यद्यपि उस सत्-पुरुषकी इच्छा उस शक्तिमें सन्निहित है, तथापि वह शक्ति ही सकल जीवों और भूतोंको अपने अंदर धारण करती हुई, परम चित्-शक्ति-रूपसे और कार्यकारिणी प्रकृति-रूपसे सब कुछ कार्यान्वित करती है। सव कुछ प्रकृतिके ही अनुसार अस्तित्व रखता और कार्य करता है; सब कुछ चित्-शक्ति ही हैं जो 'सत्-पुरुष' की सत्ताको कोटि-कोटि रूपों और गतिधाराओंमें ढालती है, उनमें 'सत्-पुरुष'को अभिव्यक्त करती और उसके साथ क्रीड़ा करती है। यदि हम उसकी क्रियाओंसे पीछे हट जाते हैं तो सब कुछ उपशमित हो जा सकता है और हम निश्चल नीरवतामें प्रवेश पा सकते हैं; यह इसलिये होता है कि वह अपनी सचल सक्रियताको बन्द करना स्वीकार कर लेती है; वस्तुतः हम उसकी निश्चलता और नीरवतामें ही निश्चल और निवृत्त होते हैं। यदि हम यह मानते हैं कि हम प्रकृतिसे स्वतंत्र हैं, तो वह हमारे सामने ईश्वरकी सर्वव्यापी परमा शक्तिको प्रकट करती है और यह प्रकट करती है कि स्वयं हम ईश्वरकी सत्ताकी सत्ताएँ हैं; परन्तु वह शक्ति स्वयं मातृशक्ति ही है और उसकी पराप्रकृतिमें हम भी वही हैं। यदि हम सत्ताकी एक उच्चतर रचना या स्थितिकी उपलब्धि करें, तो यह भी उसीके द्वारा, भगवती शक्तिके द्वारा, आत्माकी चित्-शक्तिके द्वारा ही करना होगा: हमारा समर्पण दिव्य सत्-पुरुषको और भगवती माताके द्वारा ही होना है; क्योंकि हमारा आरोहण परा प्रकृतिकी ओर या उसमें ही होना है, और यह केवल तभी हो सकता है जब कि अतिमानसिक शक्ति मनको अपने हाथोंमें ले और उसे अपनी अति-मानसिकतामें रूपांतरित कर दे। इस भाँति हम देखते हैं कि सन्मात्रके इन तीन पहलुओंके बीच, अथवा उनकी नित्य स्वरूप-स्थिति और उसकी विश्वके अन्दर क्रियाशील क्रियाशक्तिकी तीन रीतियोंके बीच कोई भी विरोध या असंगति नहीं है। एक ही सत्, एक ही परम सत्-तत्त्व अपनी चित्-शक्ति अथवा आत्म-शक्ति,—माया, प्रकृति, शक्तिके द्वारा अपनी अभिव्यक्तिके जगत्का सर्जन करता है, उसे गतिमान् तथा क्रियमाण रखता है; वही उसे आत्मा-रूपसे आधार देता, धारण और अनुर्गभित करता है;

वही ईश्वर-रूपसे उसकी इच्छा करता, उसपर शासन करता, उसे अधिकृत करता है; वही पुरुष-रूपसे उसका अनुभव करता है।

एकमेव आत्मा तथा अध्यात्म-सत्ताके इन विभिन्न रूपों या मुखड़ोंके बीच संगति करनेमें हमारे मनके लिए एक विशेष कठिनाई उपस्थित होती है, क्योंकि ऐसे 'कुछ'के लिये जो अमूर्त नहीं है, ऐसे 'कुछ'के लिये जो अध्यात्मतया जीवंत और प्रगाढ़तया वास्तव है, हमें अमूर्त धाराणाओं और संज्ञा-निर्देशक शब्दों तथा भावोंका व्यवहार करना पड़ता है। हमारे विमूर्तन विभेदकारी धारणाओंमें नियत हो जाते हैं जिनके बीच बहुत ही स्पष्ट रेखाएँ खिची रहती हैं: किन्तु 'सद्वस्तु'का स्वरूप ऐसा नहीं; उसके पहलू अनेक हैं, पर वे एक-दूसरेमें विलीन हो जाते हैं। उसका सत्य केवल ऐसे भावों और रूपकोंके द्वारा चित्रित किया जा सकता है जो अतीन्द्रिय होते हुए भी जीवंत और ठोस हों,—ऐसे रूपकोंको शुद्ध बुद्धि चाहे आकृतियाँ और प्रतीक मान ले, किन्तु, वे इनसे अधिक कुछ और होते हैं, संबोधिमूलक दृष्टि और अनुभवके लिए उनका इससे अधिक गभीर अर्थ होता है; कारण, वे क्रियात्मक आध्यात्मिक अनुभवकी वास्तवताएँ हैं। वस्तुओंका निर्व्यक्तिक सत्य शुद्ध बुद्धिके अमूर्त सूत्रोंमें अनूदित किया जा सकता है; परन्तु सत्यका एक और पक्ष भी है, वह आध्यात्मिक या रहस्यावगाही दृष्टिका क्षेत्र है और सत्यताओंकी उस आन्तरिक दृष्टिके बिना उनका अमूर्त निरूपण पर्याप्त रूपसे सजीव नहीं होता, असंपूर्ण रहता है। वस्तुओंका रहस्य ही वस्तुओंका सच्चा सत्य है; बौद्धिक प्रस्तुतीकरण केवल प्रतिरूपायणमें, अमूर्त प्रतीकोंमें, मानों विचार-भाषाकी क्यूबिस्ट (घन-सैद्धान्तिक) कला या ज्यामितिक आकृतिमें आनेवाला सत्य है। दार्शनिक अनुसंधानमें इस बौद्धिक प्रस्तुतीकरणतक ही अपने-आपको सीमित रखना आवश्यक है, परंतु यह स्मरण रखना भी उतना ही उचित है कि यह सत्यका विमूर्तन मात्र है और उसे पूरी तरह गृहीत या व्यक्त करनेके लिए एक मूर्त अनुभव और एक अधिक सजीव और पूरी सदेह भाषा आवश्यक है।

यहाँ यह देखना भी उपयुक्त होगा कि 'एक' और 'बहु'के बीच जिस संबंधको हमने खोज निकाला है उसे सद्वस्तुके इस पहलूमें किस भाँति देखना चाहिये। इसका अर्थ होगा व्यक्ति और दिव्य पुरुषके बीच, जीव और ईश्वरके बीच सच्चे संबंधका निर्धारण। सामान्य ईश्वरवादी सिद्धांतोंमें बहुकी सृष्टि ईश्वरके द्वारा की गयी है, ईश्वर बहुको वैसे ही बनाता है जैसे कुम्हार बर्तनको, ये बहु उसपर वैसे ही आश्रित हैं जैसे सृष्ट जीव अपने स्रष्टापर। किन्तु ईश्वर-विषयक इस वृहत्तर दृष्टिके अनुसार स्वयं वे बहु

अपनी अंतस्तम सत्यतामें वह दिव्य अद्वय ही हैं, परम एवं वैश्व स्वयम्भूके वैयक्तिक आत्मा हैं, उसकी भाँति शाश्वत भी हैं, परन्तु शाश्वत हैं उसकी सत्तामें ही : हमारा भौतिक जीवन निस्संदेह प्रकृतिकी सृष्टि है, परंतु अंतरात्मा भगवान्‌का अमर अंश है और उसके पीछे प्राकृत जीवमें परमात्मा है। तथापि, वह अद्वय ही सत्ताका मूलगत सत्य है, उस 'एक'के द्वारा ही बहुका अस्तित्व है, अतएव अभिव्यक्त सत्ता ईश्वरपर संपूर्णतः आश्रित है। यह आश्रितता अहंके पृथक्कारी अज्ञानके कारण ओझल हो जाती है क्योंकि अहं प्रयत्न करता है अपने स्वाधिकारसे जीनेका यद्यपि प्रत्येक डगपर वह उस विश्व-शक्तिपर स्पष्टतया आश्रित होता है जिसने उसका सर्जन किया है, उसी शक्तिसे चालित होता है, उसीकी विश्व-सत्ता एवं क्रियाका एक अंश है। अहंका यह प्रयत्न स्पष्ट ही हमारे अन्दर विद्यमान स्वयम्भू सत्ता-के सत्यका भ्रांत रूपसे ग्रहण किया जाना है; उसका भ्रांत प्रतिबिंब है। यह सत्य है कि हममें ऐसा कुछ है, अहंमें नहीं, अपितु आत्मामें और अंतर-तम सत्तामें, जो विश्व-प्रकृतिका अतिक्रमण करता है और तुरीयकी वस्तु है। किन्तु, वह भी, एक उच्चतर सद्वस्तुपर निर्भर रहनेके आधारपर ही अपने-आपको प्रकृतिसे स्वतंत्र पाता है; दिव्य पुरुषके प्रति अंतरात्मा और प्रकृतिके आत्म-दान या समर्पणके द्वारा ही हम अपने उच्चतम आत्मा एवं परम सद्वस्तुको प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि दिव्य पुरुष ही वह उच्च-तम आत्मा एवं परम सद्वस्तु है और उसीकी शाश्वततामें और उसीके स्वयम्भूत्वके द्वारा हम स्वयम्भू और शाश्वत हैं। यह आश्रितता तादात्म्यके प्रतिकूल नहीं, अपितु तादात्म्य-प्राप्तिका द्वार ही है,—इस प्रकार हमें यहाँ फिर वही व्यापार मिलता है जिसमें द्वैत अद्वैतको प्रकट करता, अद्वैतसे प्रवृत्त होता और अद्वैतकी ही ओर उन्मीलित हो उसमें वापस चला जाता है, और यही विश्वका शाश्वत रहस्य तथा उसकी मूलभूत प्रक्रिया है। 'अनंत'की चेतनाका यही सत्य बहु और एकके बीच समस्त संबंधोंकी संभावना की रचना करता है; मनके द्वारा एकत्वकी अनुभूति, हृदयके अन्दर एकत्वकी विद्यमानता, सकल अंगोंमें एकत्वका अस्तित्व उन संबंधोंकी एक उच्चतम चोटी है, और, तब भी, इससे अन्य समस्त व्यक्तिगत संबंधोंका विनाश नहीं होता, अपितु उनकी पुष्टि ही होती है और उन्हें अपनी परिपूर्णता, अपना सम्पूर्ण आनन्द, अपनी पूर्ण सार्थकता प्राप्त होती है। यह भी अनंतका जादू है, परंतु साथ ही उसका न्यायविधान भी।

एक और समस्याका समाधान अभी भी बाकी है, और वह भी उसी आधारपर हो सकता है। यह समस्या 'अव्यक्त' और अभिव्यक्तिके बीचके

विरोधकी है। कारण, यह कहा जा सकता है कि जो कुछ भी अभीतक प्रतिपादित किया गया है वह अभिव्यक्तिके, सृष्टिके विषयमें सत्य हो सकता है, परंतु अभिव्यक्ति एक निम्नतर श्रेणीकी सत्यता है, अव्यक्त 'सद्वस्तु'से व्युत्पन्न आंशिक गतिधारा है, और जब हम उसमें प्रवेश करते हैं जो कि परम रूपसे 'सत्' है तो विश्वके इन सत्योंका बिल्कुल ही प्रामाण्य नहीं रह जाता। अव्यक्त कालातीत है, पूर्णतया नित्य है, निर्विकल्प निर्विशेष स्वयम्भू सत्ता है जिसके संबंधमें अभिव्यक्ति और उसकी सीमाएँ कोई भी संकेत-सूत्र नहीं दे सकतीं या देती भी हैं तो वह अपनी अपर्याप्तताके कारण भ्रामक और प्रवंचक होता है। इससे कालातीत आत्माके साथ कालके संबंधकी समस्या उपस्थित हो जाती है; कारण, हमने इसके विपरीत यह माना है कि जो कालातीत नित्यमें अव्यक्त अवस्थामें विद्यमान है वही कालिक नित्यतामें व्यक्त होता है। यदि ऐसा है, कालिक यदि नित्यकी ही अभिव्यक्ति है, तो चाहे अवस्थाएँ कितनी भी भिन्न क्यों न हों, प्राकट्य कितना भी आंशिक क्यों न हो, फिर भी कालाभिव्यक्तिमें जो कुछ भी मूलगत है उसे किसी-न-किसी भाँति तुरीयमें पूर्वविद्यमान होना ही चाहिए और कालातीत 'सद्वस्तु'से निःसृत होना चाहिये। क्योंकि, यदि ऐसा न हो, तो ये मूलभूत तत्त्व उसके अन्दर सीधे एक ऐसे 'निर्विशेष'से आए होने चाहिए जो काल या कालातीतता, दोनोंसे भिन्न हो, और कालातीत आत्मा एक परम आध्यात्मिक नेति, एक अनिर्देश्य होना चाहिये जो कालके अन्दर रूपायित सब कुछके सीमायनकी ओरसे 'निर्विशेष'की स्वतंत्रताका आधार होता हो। वह अस्ति-कालका नास्ति होगा, इसके साथ उसका वैसा ही संबंध होगा जैसा कि सगुणके साथ निर्गुणका। परन्तु, वास्तवमें, 'कालतीत'से हमारा तात्पर्य सत्ताकी एक ऐसी आध्यात्मिक स्थितिसे होता है जो कालगतिके अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यके आनुक्रमिक या सापेक्ष काल-अनुभवके अधीन नहीं है। कालातीत आत्माका रिक्त होना आवश्यक नहीं; यह संभव है कि वह अपने अंदर सब कुछ धारण करे, परंतु साररूपमें, काल या रूप या संबंध या परिस्थितिके संदर्भसे अलग, शायद नित्य एकत्वमें ही। काल और कालातीत आत्मा दोनोंमें नित्यता ही सामान्य अभिधा है। जो 'कालातीत'में अनभिव्यक्त है, निहित है, सारगत है, कालमें वह गतिधारामें, या कम-से-कम, परिकल्पना और संबंधमें, परिणाम और परिस्थितिमें प्रकट होता है। तो ये दोनों एक द्विविध अवस्थाधारी एक ही नित्यता या एक ही नित्य हैं; वे सत्ता और चेतनाकी द्विविध अवस्थाएँ हैं, एक है अचल स्थितिकी नित्यता, दूसरी है स्थितिमें गतिकी नित्यता।

आद्या स्थिति है कालातीत एवं देशातीत 'सद्वस्तु'। उस सद्वस्तुके अन्दर जो था उसके प्रविस्तारको धारण करनेके लिये आत्म-विस्तृत हुई वही सद्वस्तु देश और काल होंगे। अन्य सारे द्वन्द्वोंकी भाँति यहाँ भी अंतर यह होगा कि एकमें 'आत्मा' अपने-आपको सत्ताके स्वरूप और तत्त्वमें देखता है और दूसरी अवस्थामें वही अपने-आपको अपने स्वरूप और तत्त्वकी क्रियात्मकतामें देखता है। उस एक 'सद्वस्तु'के इस आत्म-विस्तरणको ही हम देश और काल कहते हैं। हम देशको एक स्थाणु विस्तारके रूपमें देखनेको प्रवण रहते हैं जिसमें सारी वस्तुएँ एक निर्धारित व्यवस्थामें एक साथ स्थित या गतिमान् हैं; कालको हम एक चल विस्तारके रूपमें देखते हैं जो गति तथा घटनाके द्वारा मापा जाता है: अतः देश ब्रह्मका वह रूप होगा जब वह आत्म-विस्तृत स्थितिमें है, काल ब्रह्मका वह रूप होगा जब वह आत्म-विस्तृत गतिमें है। किन्तु हो सकता है कि यह केवल प्रथम दृष्टि हो और सही न भी हो: हो सकता है कि देश वास्तवमें एक नित्य सचल हो, उसके अन्दर वस्तुओंकी नित्यता और सतत काल-संबंधसे देशके स्थाणुत्वका भाव उत्पन्न होता हो, सचलतासे स्थाणु देशमें काल -गतिका भाव उत्पन्न होता हो। अथवा, देश हो सकता है रूपों और वस्तुओंको एक साथ धारण करनेके लिए आत्म-विस्तृत ब्रह्म, काल हो सकता है रूपों और वस्तुओंको वहन करनेवाली आत्मशक्तिकी गतिके प्रविस्तारके लिए आत्म-विस्तृत ब्रह्म; ऐसी दशामें देश और काल वैश्व 'शाश्वत'के उस एक ही अभिन्न आत्म-विस्तारके द्विविध रूप होंगे।

शुद्ध भौतिक देशको अपने-आपमें जड़तत्त्वका एक गुण-धर्म माना जा सकता है; परंतु जड़तत्त्व गतिरत ऊर्जाकी ही सृष्टि है। अतः भौतिक जगत्में देश या तो भौतिक ऊर्जाका एक मूलगत आत्म-विस्तार या उसका स्व-रचित सत्ता-क्षेत्र होगा, जिस निश्चेतन आनंत्यमें वह ऊर्जा क्रिया कर रही है उसीका उस ऊर्जाके द्वारा निर्मित प्रतिरूप होगा, एक ऐसी आकृति होगा जिसमें वह अपनी निजी क्रिया और आत्म-सृष्टिके विधानों और गतियों-को स्थान देती है। स्वयं काल उस गतिका प्रवाह होगा अथवा उस गतिके द्वारा उत्पन्न एक आभास होगा, कुछ ऐसी वस्तु होनेका आभास होगा जो कि हमारे सम्मुख नियमित अनुक्रमके रूपमें उपस्थित होती है,—एक ऐसा विभाजन या नैरंतर्य, जो गतिकी निरंतरताको बनाये रखता है और साथ ही उसके अनुक्रमोंका निर्देश भी करता है,—क्योंकि स्वयं वह गति नियमित रूपसे आनुक्रमिक है। या फिर, काल देशका ऐसा आयाम हो सकता है जो ऊर्जाकी पूरी क्रियाके लिये आवश्यक है, परन्तु जिसे हम ऐसा नहीं

समझते, क्योंकि हमारी सचेतन प्रत्यक्भावना उसे ऐसी वस्तुकी नाईं देखती है मानों वह स्वयं ही प्रत्यक्-वृत्त हो, उसे हमारा मन तो अनुभव करता है परन्तु वह इन्द्रियोंके लिये प्रत्यक्ष नहीं, और अतः उसे देशका आयाम नहीं माना जाता, क्योंकि देश हमें एक इन्द्रिय-रचित अथवा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तु-विषयात्मक विस्तारके रूपमें दिखाई देता है।

जो कुछ भी हो, यदि आत्मा ही मूल 'सद्वस्तु' है तो काल और देश या तो धारणात्मक अवस्थाएँ होंगे जिनमें 'आत्मा' अपनी ही ऊर्जाकी गति-लीलाको देखता है, या वे 'आत्मा'की ही मूल अवस्थाएँ होंगे जो चेतनाकी उस स्थितिके अनुरूप, जिसमें कि वे अभिव्यक्त होती हैं, भिन्न-भिन्न रूप या अवस्था ग्रहण करती हैं। अन्य शब्दोंमें, हमारी चेतनाकी प्रत्येक अवस्थाके लिये भिन्न-भिन्न काल और देश हैं और प्रत्येक अवस्थाके अंदर भी काल और देशकी भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं; परंतु सब-के-सब काल-देशकी एक मूलभूत आध्यात्मिक 'सद्वस्तु'के ही विविध रूप होंगे। वास्तवमें हम जब भौतिक देशके पीछे जाते हैं तब हमें एक ऐसे विस्तारकी संवित् होती है जिसपर यह सारी गतिधारा आधारित होती है, और यह विस्तार आध्यात्मिक है, न कि भौतिक; यह विस्तार आत्मा या अध्यात्म-सत्ता ही है जो अपनी ऊर्जाके समस्त कर्मको अपने अंदर धारण किये है। देशका यह मूल अथवा आधारगत यथार्थ स्वरूप तब प्रकट होना आरंभ होता है जब हम भौतिक देशसे पीछे हटते हैं: कारण, तब हमें एक ऐसे विषयिगत देश-विस्तारकी संवित् होती है जिसमें कि स्वयं मन रहता और विचरण करता है और जो भौतिक देश-कालसे भिन्न है, और तो भी इन दोनोंका परस्पर एक अंतर्वेधन होता है; कारण, हमारा मन अपने निजी देशमें इस भाँति विचरण कर सकता है कि जड़तत्त्वके देशमें भी कोई गति क्रियान्वित कर सके अथवा जड़तत्त्वके देशमें किसी दूरवर्ती वस्तुपर क्रिया कर सके। चेतनाकी एक और भी गभीरतर अवस्थामें हमें एक शुद्ध आध्यात्मिक देशकी संवित् होती है; इस संवित्में कालका अस्तित्व समाप्त हो गया प्रतीत हो सकता है, क्योंकि वहाँ सकल गतिका विराम हो जाता है, अथवा, यदि कोई गति या घटना होती भी है तो वह किसी भी दृष्टिगोचर हो सकनेवाले कालानुक्रमसे स्वतंत्र रहती हुई हो जा सकती है।

यदि हम एक वैसी ही अन्तर्मुखी गतिके द्वारा कालके पीछे जायँ, भौतिकसे पीछे हटकर और उसमें ग्रस्त न होकर उसे देखें, तो हमें यह पता लगता है कि काल-अवलोकन और काल-गति सापेक्ष हैं, परन्तु स्वयं काल सत्य और नित्य है। काल-अवलोकन केवल उन मापदंडों पर ही नहीं,

जिनका उपयोग किया गया हो, अपितु अवलोकन करनेवालेकी चेतना और अवस्थापर भी निर्भर करता है; इसके अतिरिक्त, चेतनाकी प्रत्येक अवस्था-का भिन्न-भिन्न काल-संबंध होता है; मनश्चेतना और मनोदेशमें कालकी गतियोंका वही अर्थ और मापदंड नहीं होता जो कि भौतिक देशमें होता है; वहाँ उसकी चाल चेतनाकी अवस्थाके अनुसार तेज या धीमी होती है। चेतनाकी प्रत्येक अवस्थाका एक अपना-अपना काल रहता है और, फिर भी, उन अवस्थाओंके बीच कालके संबंध रह सकते हैं; और जब हम भौतिक सतहके पीछे जाते हैं तो पाते हैं कि एक ही चेतनामें कई विभिन्न काल-अवस्थाओं और काल-गतियोंका सह-अस्तित्व रहता है। यह बात स्वप्नावस्थाके कालमें स्पष्ट होती है; वहाँ घटनाओंका एक लम्बा क्रम ऐसी अवधिमें घटित हो जा सकता है जो भौतिक कालके मात्र एक पल या कुछ ही पलोंके समान होती है। सुतरां, विभिन्न कालावस्थाओंके बीच एक संबंध तो अवश्य रहता है, परन्तु उनका पारस्परिक माप-निर्धारण निश्चित नहीं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कालकी कोई बाह्य वस्तुगत सत्यता नहीं है, अपितु वह उन किन्हीं भी अवस्थाओं पर निर्भर करता है जिन्हें सत्ताकी अचलावस्था और गतिशीलताके साथके अपने संबंधमें चेतना अपनी क्रियाके द्वारा स्थापित करती है, ऐसी अवस्थामें काल शुद्धतया विषयिगत प्रतीत हो सकता है। परन्तु, वास्तवमें, मनोदेश और भौतिक देशके पारस्परिक संबंधके द्वारा देश भी शुद्धतः विषयिगत प्रतीत होगा; अन्य शब्दोंमें, दोनों ही मूल आध्यात्मिक विस्तार हैं, किन्तु शुद्ध मनके द्वारा वह एक प्रत्यक्-वृत्त मानस-क्षेत्रमें अनूदित होता है और इन्द्रिय-मनके द्वारा इन्द्रिय-बोधके पराक्-वृत्त क्षेत्रमें। प्रत्यक्-वृत्ति और पराक्-वृत्ति बस एक ही चेतनाके दो पार्श्व हैं, और प्रमुख तथ्य यह है कि किसी भी काल या देशको या किसी भी काल-देशको समग्र रूपमें लें तो वह सत्ताकी ऐसी स्थिति होता है जिसमें सत्ताकी चेतना और शक्तिकी कोई गति होती है, ऐसी गति जो कि घटनाओंकी सृष्टि करती अथवा उन्हें अभिव्यक्त करती है; यह घटनाओंकी द्रष्ट्री चेतना और रचयित्री शक्तिके बीचका संबंध है; यह संबंध उस स्थितिमें अंतर्निहित होता है; वही कालका बोध निर्धारित करता और हमारी काल-गति, काल-संबंध तथा काल-मानकी संवित्की रचना करता है। कालकी समस्त विभिन्नताओंके पीछे कालकी आद्या स्थिति, अपने मूलभूत सत्यमें, नित्यकी नित्यताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जैसे कि देशका मूलगत सत्य, उसके यथार्थ स्वरूपका मूल तात्पर्य अनंतकी अनंतता है।

सत्-पुरुष निजकी नित्यताके संबंधमें चेतनाकी तीन विभिन्न अवस्थाएँ धारण कर सकता है। प्रथम वह है जिसमें आत्माकी अपने मूल स्वरूपमें अचल स्थिति है, आत्म-लीन अथवा आत्म-सचेतन, परन्तु इन दोनों ही अवस्थाओंमें गति या घटना-रूपमें चेतनाके विकाससे रहित: इसीको हम उसकी कालातीत नित्यताका नाम देते हैं। द्वितीय है भवितव्य या अभी वस्तुतः हो रही अभिव्यक्तिकी समस्त वस्तुओंके आनुक्रमिक संबंधोंके विषयमें उसकी समग्र चेतना जिसमें कि, हम जिसे भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं, वह सब एक साथ इस भाँति अवस्थित रहता है मानों किसी मानचित्र या सुनिश्चित अभिकल्पनामें हो, अथवा बहुत कुछ इस भाँति जैसे कि कोई कलाकार या चित्रकार या वास्तुशिल्पी अपनी कृतिको समग्रतः देखता हुआ, उसके सम्पूर्ण विवरणको धारण करता है, जो कि मनमें अभिप्रेत या पर्यवलोकित होता अथवा कार्यान्वयन-योजनामें व्यवस्थित किया जाता है; यही कालकी स्थाणु स्थिति अथवा उसकी युगपत् अखंडता है। कालका यह दर्शन, हमें घटनाओंके घटित होते जानेके साथ जो सामान्य अभिज्ञता होती है, उसका बिल्कुल ही अंग नहीं होता, यद्यपि भूतके सम्बन्धमें हमारी दृष्टि, इस कारण कि भूत पहले से ही ज्ञात है और समग्रतया दृष्टिगत किया जा सकता है, इस काल-दर्शनका धर्म कुछ अंशमें धारण कर सकती है; परन्तु इस चेतनाका अस्तित्व है, यह हम जानते हैं, कारण, एक असाधारण अवस्थामें उसमें प्रवेश करना और वस्तुओंको काल-दर्शनके इस यौगपद्यके दृष्टिकोणसे देखना संभव होता है। तृतीय अवस्था है चित्-शक्तिकी एक प्रक्रियात्मक गतिकी, और 'शाश्वत'के निश्चल दर्शनमें उसने जो कुछ देखा है उसके द्वारा उसके आनुक्रमिक कार्यान्वयनकी; यह काल-गति है। किन्तु उसी एक ही नित्यताके अन्दर यह त्रिविध अवस्था विद्यमान रहती है और गति भी घटित होती है; यथार्थमें कोई दो नित्यताएँ नहीं हैं, ऐसा नहीं है कि एक हो गतिहीनताकी नित्यता और दूसरी गतिकी नित्यता, वरन् उस एक ही नित्यताके संबंधमें चेतनाके द्वारा ग्रहण की गयी विभिन्न अवस्थाएँ या स्थितियाँ हैं। कारण, वह चेतना सम्पूर्ण काल-विकासको गतिके बाहरसे अथवा ऊपरसे देख सकती है; वह गतिके अन्दर एक स्थाणु स्थिति धारण कर सकती है और पूर्व तथा पश्चात्को एक स्थिर, निर्धारित अथवा पूर्वनिर्दिष्ट अनुक्रममें देख सकती है; अथवा इसके स्थानपर वह गतिके अन्दर एक चल स्थिति धारण कर सकती है, क्षण-प्रति-क्षण उसके साथ स्वयं विचरण कर सकती है और जो कुछ घटित हो चुका है उसे भूतमें हटता हुआ और जो कुछ घटित होनेको

है उसे भविष्यसे अपनी ओर आता हुआ देख सकती है ; अथवा, नहीं तो, वह ऐसा कर सकती है कि केवल उसी क्षणपर संकेन्द्रित हो जाय जिससे वह संलग्न हो, उस क्षणके अन्दर क्या है, उसके सन्निकट चारों ओर या पीछे क्या है उसके अतिरिक्त और कुछ भी न देखे। 'अनंत'की सत्ता इन सारी स्थितियोंको अपनी दृष्टि या अनुभवमें युगपत् धारण कर सकती है। वह कालका अतिक्रमण करती हुई और उसके अन्दर न रहती हुई कालको उसके ऊपरसे देख सकती है और अन्दरसे भी ; वह देख सकती है कि कालातीत कालातीत रहता हुआ भी काल-गतिका विकास करता है ; वह सम्पूर्ण गतिका निष्क्रिय और सक्रिय दृष्टिमें आलिंगन कर सकती है और साथ ही अपने कुछ अंशको क्षण-दृष्टिके अन्दर भी ले जा सकती है। यह यौगपद्य क्षण-दृष्टिसे आबद्ध सांत चेतनाको अनंतका जादू, मायाका जादू प्रतीत हो सकता है ; उसकी जो अपनी देखनेकी विधि है उसे सीमाकरणकी, किसी एक समयमें एक ही अवस्थाको देखनेकी आवश्यकता होती है जिससे कि वह सामंजस्य ला सके और उसके लिये यह यौगपद्य भ्रांत और असंगत अवास्तवताका बोध उत्पन्न करता है। परन्तु अनंत चेतनाके लिये दृष्टि और अनुभवका ऐसा सर्वसमाहारी यौगपद्य पूर्णतया न्याययुक्त और संगत होगा ; वहाँ ये सब एक समग्र-दर्शनके तत्त्व हो सकेंगे, एक सुसमंजस व्यवस्थामें निकटतासे परस्पर संबंधित हो सकेंगे, दृष्टिकी बहुविधता दृष्ट वस्तुकी एकताको प्रकट करेगी, उस 'एकमेव सदवस्तु'के सहवर्ती रूपोंका बहुविध प्रदर्शन होगा।

यदि एकमेव 'सद्वस्तु'के आत्म-उपस्थापनकी यह युगपत् बहुविधता हो सकती है तो हम देखते हैं कि कालातीत नित्य और काल-नित्यताके सह-अस्तित्वमें भी कोई असंभवता नहीं। यह द्विविध आत्म-संवित्के द्वारा देखी जाती हुई एक ही नित्यता होगी और उनके बीच कोई विरोध नहीं हो सकता : यह अनंत एवं नित्य सद्वस्तुकी आत्म-संवित्की दो शक्तियोंका सह-संबंध होगा,—एक शक्ति निश्चल स्थिति और अव्यक्तताकी, एक शक्ति स्वयं-साधिका क्रिया और गति और अभिव्यक्तिकी। उनका यौगपद्य हमारी सांत बाह्य दृष्टिको कितना ही परस्पर विरोधी और और दुःसमावेय क्यों न लगे, वह ब्रह्मकी मायाके लिये, ब्रह्मके सनातन आत्म-ज्ञान और सर्व-ज्ञानके लिये, ईश्वरके सनातन तथा अनंत ज्ञान एवं प्रज्ञा-शक्तिके लिये, स्वयम्भू सच्चिदानंदकी चित्-शक्तिके लिये अंतर्भुक्त और स्वाभाविक होगा।

अध्याय तीन

शाश्वत और व्यक्ति

सोऽहमस्मि।

मैं वही हूँ।

—ईशोपनिषद्
16

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
.. ..
उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा...
........पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

यह मेरा ही सनातन अंश है जो जीवोंके लोकमें जीव हो गया है।......ज्ञान-चक्षु यह देखता है कि ईश्वर ही देहके अन्दर निवास करता, भोग करता और उससे वाहर चला जाता है।

—गीता
15.7,10

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

सुन्दर पंखोंवाले दो पक्षी, जो मित्र और साथी हैं, एक ही वृक्षका परिग्रहण किये हुए हैं; उनमें से एक मधुर फल खाता है, दूसरा खाता नहीं, अपने साथीको देखता रहता है।....जहाँ सुन्दर पंखधारी आत्मा अपने अमृतके भागको पा कर ज्ञानके आविष्कारोंकी घोषणा करते हैं, वहाँ सबके प्रभु, जगत्के संरक्षक, उस ज्ञानी ईश्वरने मुझे, मुझ अज्ञानीको आविष्ट कर लिया।

—ऋग्वेद
1.164.20,21.

अतएव, सत्ताका एक मूलभूत सत्य है, एक सर्वव्यापी सद्वस्तु है, वह विश्वाभिव्यक्तिसे ऊपर और उसके अन्दर सर्वत्र विद्यमान है और प्रत्येक व्यक्तिमें अंतःस्थ है। इस सर्वव्याप्तिकी एक क्रियात्मिका शक्ति भी है, उसकी अनंत चित्-शक्तिकी एक सर्जनशीला अथवा स्वयं-प्रकाशिका क्रिया भी है। उस आत्माभिव्यक्तिकी एक विशेष अवस्था या गतिके रूपमें एक प्रतीयमान भौतिक निश्चेतनाके अन्दर एक अवतरण होता है, जीवका निश्चेतनामेंसे उद्बोधन होता है और उसकी सत्ताका 'सद्वस्तु' की आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतना तथा शक्तिमें, उसके अपने ही वैश्व एवं विश्वातीत आत्मामें, अस्तित्वके मूलमें जानेका क्रमविकास होता है। हमें इसी आधारपर अपनी यह धारणा खड़ी करनी होगी कि हमारी पार्थिव सत्तामें एक सत्य है और भौतिक प्रकृतिमें दिव्य जीवनकी संभावना है। इसके लिये हमारी प्रमुख आवश्यकता यह है कि हम जिस अज्ञानको जड़तत्त्वकी निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित होते अथवा अपने-आपको जड़तत्त्वसे बने शरीरमें प्रकट करते देखते हैं उसके मूल और स्वभावको खोज निकालें, उस ज्ञानका स्वरूप ज्ञात करें जिसे उसका स्थान लेना है और प्रकृतिके आत्मोन्मीलनकी और अन्तरात्माकी पुनःप्राप्तिकी प्रक्रियाको समझें। क्योंकि, वास्तवमें, ज्ञान स्वयं अज्ञानके अन्दर छिपा पड़ा है; ज्ञानका अर्जन नहीं, बल्कि अनावरण करना है: ज्ञान सीखा नहीं जाता, बल्कि वह एक अन्तर्मुख एवं ऊर्ध्वमुख आत्मोन्मीलनके द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है। किन्तु यहाँ एक कठिनाई अनिवार्य रूपसे उठती है; पहले उसका सामना करना और उसे मार्गसे हटा देना सुविधाजनक होगा। वह कठिनाई यह है कि यह मान लेनेपर भी कि भगवान् हमारे अन्दर स्थित हैं, यह भी मान लेनेपर कि हमारी वैयक्तिक चेतना प्रगतिशील क्रमवैकासिक अभिव्यक्तिका वाहन है, यह कैसे माना जाय कि व्यक्ति किसी भी अर्थमें नित्य है या कि एकत्व एवं आत्मज्ञानके द्वारा मुक्ति-लाभके बाद भी वैयक्तिकताका अस्तित्व बना रह सकता है?

यह कठिनाई तर्क-बुद्धिकी है और इसका सामना एक विशालतर तथा अधिक उदार प्रकाशदायिनी बुद्धिके द्वारा करना होगा। अथवा, यदि यह कठिनाई आध्यात्मिक अनुभवकी हो तो उसका सामना एक विशालतर समाधानप्रद अनुभवके द्वारा किया जा सकता है। निस्संदेह, उसका सामना तर्क-युद्धके द्वारा, तार्किक मनकी शब्द-वितण्डाके द्वारा भी किया जा सकता है, परंतु वह अपने तईं एक कृत्रिम उपाय ही है, प्रायः बादलोंमें एक निरर्थक युद्ध-जैसा है और कभी भी निर्णायक नहीं होता। तर्क-विचार अपने निजी

क्षेत्रमें उपयोगी और अपरिहार्य है, इससे मनको अपने निजके विचारों और शब्द-प्रतीकोंसे व्यवहार करनेमें एक विशेष स्पष्टता, यथातथ्यता और सूक्ष्मता प्राप्त होती है; फलतः यह संभव होता है कि हम प्रेक्षण और अनुभवके द्वारा जिन सत्योंतक पहुँचे हैं या जिन सत्योंको हमने स्थूल इंद्रिय, या मन, या अध्यात्म-दृष्टिसे देखा है, हमारा उनका प्रत्यक्षण हमारी सामान्य मानवीय बुद्धिके संभ्रमोंके द्वारा यथासंभव कमसे कम धूमावृत हो, कारण, हमारी सामान्य मानवीय बुद्धिकी प्रवृत्ति होती है प्रतीयमानको सत्य माननेकी, वह जल्दबाजीमें आंशिक सत्यके द्वारा विपथ होती है, उसके निष्कर्ष अति-रंजित रहते हैं, उसे बौद्धिक तथा भावुक पक्षपात होते हैं, सत्यको सत्यके साथ जोड़ते हुए संपूर्ण ज्ञानतक पहुँचनेकी हमारी जो एकमात्र राह है उसमें वह अयोग्यतासे घपले कर देती है। हम अपने जाति-सुलभ इस सामान्य मानसिक अभ्यासमें, जो स्वयं सत्यको ही भूलोंके भंडारीका रूप दे देता है, यथासंभव कमसे कम जा पड़ें, इसके लिये यह आवश्यक है कि हमारा मन स्पष्ट, शुद्ध, सूक्ष्म और नमनीय हो। इस निर्मलीकरणमें स्पष्ट यौक्तिक तर्कणाका अभ्यास, जिसकी परिणति दार्शनिक मीमांसाकी तर्क-रीतिमें होती है, अवश्य सहायक है और अतः ज्ञानकी तैयारीमें उसका बहुत बड़ा भाग है। किंतु यह तर्कणा अपने-आप न तो जगत्के और न ईश्वरके ज्ञानतक पहुँच सकती है; निम्नतर और उच्चतर उपलब्धिके बीच संगति-स्थापन तो उसके लिये और भी कम संभव है। वह सत्यकी आविष्कारकर्त्री होनेकी अपेक्षा भूल-भ्रान्तिकी ओरसे हमारी रक्षा करनेमें अधिक कुशल है,—यद्यपि यह ठीक है कि प्राप्त ज्ञानसे निगमन करती हुई, वह कभी-कभी अचानक नये सत्योंपर पहुँच जा सकती और अनुभूतिके लिये अथवा उच्चतर तथा बृहत्तर सत्य-द्रष्ट्री क्षमताओंके द्वारा परिपुष्टिके लिये उनका संकेत कर सकती है। मनका तर्काभ्यास, उसी गुणके कारण जो उसे उसकी विशिष्ट उपयोगिता प्रदान करता है, समन्वयकारी अथवा एकत्वकारी ज्ञानके सूक्ष्मतर क्षेत्रमें मार्गका रोड़ा भी बन सकता है; कारण, वह विभेद करने, भेदोंसे व्यस्त रहने और भेदोंके द्वारा क्रिया करनेका इतना अभ्यस्त होता है कि जब-जब भेदोंका उल्लंघन और अतिक्रमण करना होता है वह सदा ही कुछ हतबुद्धिसा हो जाता है। अतः, व्यक्तिकी विश्वात्मक और विश्वातीत एकत्वकी अनुभूतिका सामना पड़नेपर सामान्य मनकी जो कठिनाइयाँ उठती हैं उनपर विचार करनेका हमारा उद्देश्य केवल यह होना चाहिये कि हम यह अधिक स्पष्टतया जानें कि उन कठिनाइयोंका मूल क्या है, उनसे कैसे बचा जा सकता है, साथ ही, और यह और भी महत्वपूर्ण है, हम जिस एकत्वपर पहुँचते हैं उसके

स्वरूपको जानें, और जिस समय व्यक्ति सकल प्राणियोंके साथ एक हो जाता और 'शाश्वत' के एकत्वमें निवास करता है, उस समय उसे जो उत्कर्ष प्राप्त होता है उसके स्वरूपको जानें।

बुद्धिकी प्रथम कठिनाई यह है कि उसे सर्वदा अहंको वैयक्तिक आत्मा मानने और यह सोचनेका अभ्यास पड़ा हुआ है कि वैयक्तिक आत्माका अस्तित्व अहंके सीमाबंधों और बहिष्कारों द्वारा ही है। यदि ऐसा होता तो अहंसे अतीत होनेपर व्यक्ति निजके अस्तित्वका ही विनाश कर लेता; तब हमारा लक्ष्य होता जड़, प्राण, मन या आत्माके किसी विश्वत्वमें अथवा किसी ऐसे अनिर्दिष्टमें विलुप्त और विलीन हो जाना जहाँसे कि हमारी वैयक्तिकताकी अहमात्मक निर्देशनाओंका आरंभ हुआ है। किन्तु इतने सबल रूपसे होनेवाला यह पृथक्कारी आत्मानुभव जिसे हम अहं कहते हैं क्या है? उसके स्वरूपमें कोई मूलगत सत्यता नहीं है, अपितु वह हमारी चेतनाकी एक व्यवहारसाधक गठन मात्र है जिसकी योजना हमारे अन्दर प्रकृतिकी क्रियाशीलताओंके केन्द्रीकरणके लिये बनायी गयी है। हम मन, शरीर, प्राणके अनुभवकी एक रचनाको देखते हैं जो अपने-आपको शेष सत्तासे भिन्न देखती है, और इसे ही, संभूतिमें सत्‌के इस व्यष्टिरूपणको ही हम प्रकृतिमें अपना स्वरूप मानते हैं। तब हम अपने विषयमें इस धारणाकी ओर बढ़ते हैं कि हम कोई ऐसी वस्तु हैं जिसने अपने-आपको इस भाँति व्यष्टिभावापन्न कर लिया है और जिसका अस्तित्व केवल तबतक रहता है जब तक कि वह व्यष्टिभावापन्न रहती है—इस भाँति हम एक क्षणिक, या अंततः एक कालिक संभूति मात्र हैं। अथवा हम अपने विषयमें यह धारणा बनाते हैं कि हम ऐसा कोई हैं जो व्यष्टीकरणका अवलंब या कारण है, संभवतः कोई अमर सत्ता है परन्तु अपनी वैयक्तिकतासे सीमित। इस अनुभव और इस धारणासे ही हमारा अहंबोध बनता है। साधारणतः, हम अपनी वैयक्तिक सत्ताके विषयमें अपने ज्ञानमें इससे आगे नहीं जाते।

परन्तु, अन्तमें हमें यह देख लेना होगा कि हमारा यह व्यष्टिरूपण एक बहिस्तलीय रचना मात्र है, किसी विशेष शरीरमें जीवनके किसी स्वल्पकालीन उपयोगके लिये किया गया एक व्यावहारिक चुनाव और सीमित सचेतन समाहार ही है; अथवा वह एक सतत परिवर्तनशील और विकसनशील समाहार है जिसका अनुसरण जीवन-जीवनांतरमें अनुक्रमागत शरीरोंमें किया जाता है। इसके पीछे एक चेतना है, एक पुरुष है जो अपने व्यष्टीकरण अथवा इस समन्वयके द्वारा निर्धारित या सीमित नहीं होता, अपितु इसके विपरीत वही इसे निर्धारित करता, अवलंब देता, और फिर भी उसका

अतिक्रमण किये रहता है। इस समाहारके निर्माणके लिये वह विश्वसत्ता-विषयक अपने समग्र अनुभवमेंसे ही चुनाव करता है। अतः हमारे व्यष्टिभावका अस्तित्व विश्व-सत्ताके कारण है, और एक ऐसी चेतनाके कारण भी जो विश्व-सत्ताका उपयोग अपनी वैयक्तिकताकी संभावनाओंके अनुभवके लिये करती है। ये दो शक्तियाँ, पुरुष और उसका विश्व-रूपी उपादान, दोनों ही हमारे वैयक्तिकताके वर्तमान अनुभवके लिये आवश्यक हैं। यदि अपनी चेतनाके व्यष्टिकारी समाहारोंको साथ लिये पुरुष विलुप्त हो जाय, विलीन हो जाय, किसी प्रकार अपने-आपको निष्प्रभाव कर दे, तो हमारी निर्मित वैयक्तिकता समाप्त हो जायगी, क्योंकि जिस 'सद्वस्तु'ने उसे अवलंब दिया था, वह विद्यमान ही नहीं रह जायगी। दूसरी ओर, यदि विश्व-सत्ता विघटित, विलीन या विलुप्त हो जाय, तब भी हमारा व्यष्टीकरण समाप्त हो जायगा, क्योंकि, अनुभवके जिस उपादानके द्वारा वह अपने-आपको संपादित करता है उसका अभाव रहेगा। अतएव हमें अपनी सत्ताके इन दोनों तत्त्वोंको मानना होगा, विश्व-सत्ताको और व्यष्टि-कारिणी चेतनाको, जो हमारे समस्त आत्मानुभव एवं विश्वानुभवकी प्रवर्तिका है।

परंतु, आगे चलकर हम यह देखते हैं कि यह पुरुष, हमारी वैयक्तिकताका यह कारण एवं आत्मा एक प्रकारके अपने-आपके सचेतन विस्तारमें समस्त जगत् और अन्य सकल भूतोंका आलिंगन कर लेता और अपने-आपको विश्व-सत्ताके साथ एकात्म देखता है। अपने सचेतन आत्म-विस्तारमें वह प्राथमिक अनुभवका अतिक्रमण कर जाता और अपने सक्रिय आत्म-परिसीमन तथा व्यष्टि-रूपणके अवरोधोंको नष्ट कर देता है; अपने-आपकी अनंत विश्वात्मकताके प्रत्यक्ष बोधके द्वारा वह पृथक्कारी वैयक्तिकता अथवा सीमित आन्तरात्मिक सत्ताकी समस्त चेतनासे परे चला जाता है। इसी बातके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति आत्म-सीमाकारी अहं नहीं रह जाता; अन्य शब्दोंमें, हमारी जो मिथ्या चेतना है कि हमारा अस्तित्व केवल आत्म-सीमायनके द्वारा ही है, शेष सत्ता और संभूतिसे हमारे दृढ़ भेदके कारण ही है, उसका अतिक्रमण हो जाता है; किसी विशेष मन और शरीरमें अपने वैयक्तिक और कालिक व्यष्टीकरणको ही अपना स्वरूप-सर्वस्व माननेका हमारा भाव नष्ट हो जाता है। परन्तु क्या वैयक्तिकता और वैयक्तिकीकरणका समस्त सत्य विनष्ट हो जाता है? क्या पुरुषका अस्तित्व समाप्त हो जाता है? अथवा, क्या वह विश्व-पुरुष बन जाता है और असंख्य मनों और शरीरोंमें अंतरंग भावसे रहने लगता है? किंतु, हम

ऐसा नहीं पाते। वह तो तब भी वैयक्तिक भाव रखता है, उसका जीवन तब भी बना रहता है और वैयक्तिकताको रखते हुए भी वह इस विशालतर चेतनाका आलिंगन करता है: परंतु, तब, मन किसी सीमित स्वल्पकालीन व्यष्टीकरणको ही हमारा अपना समूचा आपा नहीं समझता, वरन् वह उसे ऐसे देखता है मानों वह उसकी सत्ताके सागरसे उत्क्षिप्त संभूतिकी एक लहर हो, अथवा विश्वभावका कोई एक रूप या केन्द्र हो। जीव तब भी विश्व-संभूतिको वैयक्तिक अनुभवके लिये उपादान बनाता है, परन्तु तब उसे अपनेसे बाहरकी और अपनेसे बड़ी कोई ऐसी वस्तु माननेके स्थानपर, जिसके भंडारका उसे सहारा लेना होता है, जिससे वह प्रभावित होता है, जिसके प्रति उसे अनुकूल होना होता है, वह उसे प्रत्यक्-चेतनामें अपने-आपके अन्दर विद्यमान जानता है; एक उन्मुक्त एवं प्रशस्ततर चेतनामें वह अपने विश्व-उपादानका और अपनी देशगत एवं कालगत क्रियाओंके अपने वैयक्तिक अनुभवका, दोनोंका आलिंगन करता है। इस नव चेतनामें आध्यात्मिक व्यक्ति यह देखता है कि उसका सच्चा आत्मा सत्तामें विश्वातीतसे अभिन्न है और साथ ही उसके अंदर स्थित है और निवास करता है, और तब उसके लिये उसकी निर्मित वैयक्तिकता विश्वानुभवके लिये एक रूपायण मात्रसे अधिक कुछ नहीं होती।

विश्व-सत्ताके साथ हमारा एकत्व एक ऐसे आत्माकी चेतना है जो एक ही समय और एक ही साथ विश्वमें विश्वभाव और वैयक्तिक पुरुषके द्वारा व्यष्टिभाव धारण करता है, और दोनों ही में, उस विश्व-सत्ता और इस वैयक्तिक सत्तामें और समस्त वैयक्तिक सत्ताओंमें उसे वही आत्मा अपनी विविध अभिव्यक्तियोंको प्रकट करता और अनुभव करता ज्ञात होता है। अतः वह ऐसा आत्मा है जो अपनी सत्तामें अवश्य ही अद्वय है,—अन्यथा हमें इस एकत्वका अनुभव नहीं हो सकता था,—और साथ ही, अपने उसी एकत्वके अन्दर विश्वक भेद-वैचित्र्य और बहुविध वैयक्तिकताके लिये भी समर्थ है। यह ठीक है कि एकत्व ही उसका स्वरूप है, परन्तु विश्वक भेद-वैचित्र्य और बहुविध वैयक्तिकता उसकी सत्ताकी एक शक्ति है जिसे वह निरंतर प्रदर्शित करता है, और यह प्रदर्शन उसके लिये आनंद है, उसकी चेतनाका स्वभाव है। अतः हम यदि उसके साथ एकत्व प्राप्त कर लेते हैं, हम यदि सम्पूर्ण रूपसे और हर प्रकारसे वही सत्ता हो भी जाते हैं, तो भी उस सत्ताकी शक्तिका अपच्छेद क्यों किया जाय और हम उसका अपच्छेद करना चाहें ही क्यों, या क्यों उसके लिये प्रयास करें? यदि हम ऐसा करें तो उसके साथ अपने एकत्वके सीमा-विस्तारको कम

करेंगे; कारण, तब हम एक ऐकांतिक संकेन्द्रणके द्वारा भागवत सत्ताको तो स्वीकार करेंगे, परन्तु भगवान्‌की शक्ति, चेतना और अनंत आनंदमें अपना भाग स्वीकार नहीं करेंगे। यह वास्तवमें व्यक्तिका वह रूप होगा जहाँ वह एक निश्चल तादात्म्यमें ऐक्यकी शांति और विश्रांति तो प्राप्त करना चाहता है परंतु दिव्य सत्‌की प्रकृति, क्रिया तथा शक्तिमें भी ऐक्यके आनंद और बहुविध हर्षको पाना अस्वीकार कर देता है। ऐसा करना संभव तो है परंतु यह आवश्यक नहीं कि हम उसे अपनी सत्ताका अंतिम लक्ष्य अथवा अपनी अंतिम पूर्णता मान लें।

या, एक संभव कारण यह हो सकता है कि चेतनाकी शक्तिमें, उसकी क्रियामें यथार्थ ऐक्य नहीं होता, केवल चेतनाकी स्थितिमें ही पूर्ण भेदरहित एकत्व होता है। अब, हम जिसे भगवान्‌के साथ जीवका जागृत ऐक्य कह सकते हैं, उसकी तुलना यदि हम एक तल्लीन तादात्म्यावस्थामें वैयक्तिक चेतनाकी सुषुप्त या समाहित स्थितिसे करें, तो जागृत ऐक्यमें अनुभव भेदात्मक होता है और होगा। कारण, इस सक्रिय एकत्वमें वैयक्तिक पुरुष अपनी निष्क्रिय चेतनाको और साथ ही अपने सक्रिय अनुभवको अपनी सत्ताके और विश्व-सत्ताके इस आत्माके साथ ऐक्यकी प्रक्रियामें अभिवर्द्धित करता है, किंतु व्यष्टिभाव तब भी रह जाता है, अतः भेद भी बना रहता है। 'पुरुष'को अन्य समस्त व्यक्तियोंकी संवित् इस भाँति होती है कि वे उसके निजके आत्मा हैं; एक क्रियात्मक ऐक्यके द्वारा उसे उनके मानसिक और व्यावहारिक क्रियाकलापका बोध इस भांति हो सकता है मानों वे उसकी विश्वचेतनामें घटित हो रहे हों, उसी तरह जैसे उसे अपने निजके मानसिक और व्यावहारिक क्रियाकलापका होता है; वह उनके साथ आंतरिक ऐक्य प्राप्त कर उनके कर्मका निर्धारण करनेमें सहायता दे सकता है: परंतु, फिर भी, एक व्यावहारिक भेद रहता है। उसके अपने अन्दर भगवान्‌की जो क्रिया होती है उसके साथ उसका विशेष और सीधा संबंध होता है; उसके अन्य आत्माओंमें भगवान्‌की जो क्रिया होती है उसके साथ उसका संबंध विश्वात्मक भावसे होता है, सीधे नहीं, अपितु उनके साथ और भगवान्‌के साथ अपने ऐक्यके द्वारा और उस ऐक्यके नाते होता है। अतः पृथगात्मक अहंका अतिक्रमण हो चुकनेपर भी व्यक्तिका अस्तित्व बना रहता है; विश्व अस्तित्ववान् रहता है और व्यक्ति उसका आलिंगन भी किये रहता है, परन्तु इससे समस्त वैयक्तिक वैशिष्ट्यका लय या विनाश नहीं होता, यद्यपि उसके अपने-आपको विश्वभावापन्न करनेके कारण वह सारा सीमाबंधन, जिसे हम अहं कहते हैं, पराभूत रहता है।

अब, ऐकांतिक एकत्वकी लीनावस्थामें डूबकर हम इस भेदसे छुटकारा तो पा सकते हैं, लेकिन प्रश्न है, किस लिये ? पूर्ण ऐक्यके लिये ? परन्तु, जैसे भगवान् भेदको स्वीकार कर अपनी अद्वैततासे वंचित नहीं होते वैसे ही हम भी भेदको स्वीकार कर पूर्ण ऐक्यसे वंचित नहीं होते। उनकी सत्तामें हमारा पूर्ण ऐक्य रहता है और हम किसी भी क्षण अपने-आपको उसमें लीन कर दे सकते हैं, परंतु हमें यह अन्य भेदयुक्त तादात्म्य भी प्राप्त रहता है और हम किसी भी समय एकत्वको खोये बिना उस अवस्थामें उन्मज्जित हो जा सकते हैं और उसमें स्वतंत्रतापूर्वक क्रिया कर सकते हैं: कारण, हमने अहंकारका लय कर दिया है और हम अपनी मानसताके एकांगी चापोंसे विमुक्त हो गये हैं। तो, क्या शांति और विश्रामके लिये उस ऐकांतिक एकत्वकी लीनावस्थामें डूब जाना है? परंतु शांति और विश्राम तो हमें भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त करनेसे मिल ही जाते हैं, उसी तरह जैसे कि भगवान् अपनी सनातन शांति अपने सनातन कर्मके बीच धारण किये रहते हैं। तो, क्या समस्त विभेदसे छुटकारा पानेके आनंद मात्रके लिये? परंतु उस विभेदका एक दिव्य प्रयोजन है; वह एक महत्तर एकत्वका साधन है, न कि विभाजनोंका, जैसा कि वह अहमात्मक जीवनमें होता है; कारण, उसके द्वारा हम सबके अंदर अपने अन्य आत्माओं तथा ईश्वरके साथ अपने एकत्वका भोग करते हैं, जब कि ईश्वरकी बहुविध सत्ताको अस्वीकार करनेसे हम इसका बहिष्कार कर देंगे। दोनों प्रकारके अनुभवोंमें व्यक्तिमें अंतःस्थ भगवान् ही, एकमें अपने शुद्ध एकत्वके स्वरूपके और दूसरेमें अपने उस एकत्वके और विश्व-एकत्वके स्वरूपके स्वामी और भोक्ता होते हैं; ऐसा नहीं है कि निर्विशेष भगवान् अपने एकत्वको खोकर पुनः प्राप्त करते हों। निस्संदेह हम किसी शुद्ध एकांतिक एकत्वमें निमग्न हो जाना अथवा किसी विश्वातीत तुरीयमें प्रस्थान कर जाना पसंद कर सकते हैं, परन्तु भागवत सत्ताके आध्यात्मिक सत्यमें ऐसा कोई बाध्यकारी कारण नहीं कि हम भगवान्की विश्व-सत्ताकी इस विशाल प्राप्ति तथा आनंदमें भाग न लें जो कि हमारी वैयक्तिकताकी परिपूर्ति है।

परंतु, और आगे चलकर हम पाते हैं कि हमारी विश्व-सत्ता वह एकमात्र तथा अंतिम वस्तु नहीं है जिसमें हमारी वैयक्तिक सत्ता प्रवेश करती है, बल्कि वह किसी ऐसी वस्तुमें प्रवेश करती है जिसमें दोनों एकीभूत होती हैं। जैसे विश्वमें हमारा वैयक्तिकीकरण उस परम आत्माकी एक संभूति है, वैसे ही विश्व भी उसी परम आत्माकी एक संभूति है। विश्वसत्ता वैयक्तिक सत्ताको सदा अपने अंदर समाविष्ट रखती है; अतः विश्व-

संभूति और वैयक्तिक संभूति, दोनों सर्वदा एक-दूसरेसे संबंधित और अपने व्यावहारिक संबंधमें अन्योन्याश्रित हैं। परंतु, हम देखते हैं कि अंतमें वैयक्तिक सत्ता भी विश्वको अपनी चेतनामें समाविष्ट कर लेती है, और चूँकि यह आध्यात्मिक व्यक्तिको विनष्ट करके नहीं, वरन् उसकी अपनी सम्पूर्ण, विशाल और पूर्ण चेतनाकी प्राप्तिके द्वारा होता है, हमें यह मानना होगा कि विश्व सदा ही व्यक्तिमें समाविष्ट था और यह केवल बाह्य तलकी चेतना ही है जो इस समावेशको अज्ञानके वश अहंके अन्दर अपने आत्म-सीमायनके कारण नहीं रख पायी थी। किंतु, जब हम विश्व और व्यक्तिके अन्योन्य समावेशकी बात कहते हैं, यह कहते हैं कि विश्व मुझमें है, मैं विश्वमें हूँ, सब मुझमें है, मैं सबमें हूँ,—और यही प्रमुक्त आत्मानुभूति है,—तो हम स्पष्टतः सामान्य बुद्धिकी भाषासे परे चले जाते हैं। इसका कारण यह है कि हमें जिन शब्दोंका व्यवहार करना होता है वे मनके द्वारा गढ़े गये हैं और उन्हें उनका अर्थ ऐसी बुद्धिने प्रदान किया है जो भौतिक देश और परिस्थितियोंकी धारणाओंमें बद्ध है और स्थूल जीवन तथा इन्द्रियानुभवसे ली गई आकृतियोंका प्रयोग एक उच्चतर आंतरिक अनुभूतिकी भाषाके लिये करती है। परंतु, मुक्ति-प्राप्त मनुष्य चेतनाके जिस स्तरपर आरोहण कर जाता है वह स्थूल जगत्पर निर्भर नहीं करता, और हम इस भाँति जिस विश्वको समाविष्ट करते हैं और जिसमें हम समाविष्ट होते हैं, वह स्थूल विश्व नहीं, अपितु ईश्वरकी अपनी चित्-शक्ति और आत्मानंदके कुछ महान् छन्दोंमें सामंजस्यपूर्ण रूपसे व्यक्त सत्ता है। अतः यह अन्योन्य समावेश आध्यात्मिक और अंतश्चेतनात्मक है; यह 'बहु'के दोनों रूपों समष्टि और व्यष्टिका एक एकत्वकारी आध्यात्मिक अनुभवमें अनुवाद है,—'एक' और 'बहु'के नित्य एकत्वका अनुवाद है; वस्तुतः, वह 'एक' बहुका नित्य एकत्व है जो अपने-आपको विश्वमें विभेदित और अविभेदित कर रहा है। इसका अर्थ यह होता है कि विश्व तथा व्यक्ति एक तुरीय आत्माकी अभिव्यक्तियाँ हैं और यद्यपि वह आत्मा विभक्त या वितरित प्रतीत होता है, तथापि, वह आत्मा अविभाज्य सत् है; यथार्थमें, वह विभक्त या वितरित नहीं, वरन् सर्वत्र अविभक्त रूपसे विद्यमान है। अतः सर्व प्रत्येकमें है और प्रत्येक सर्वमें, और सर्व ईश्वरमें है और ईश्वर सर्वमें; और जब प्रमुक्त जीव इस तुरीयके साथ ऐक्य प्राप्त कर लेता है तब उसे अपने-आपका और विश्वका यह आत्मानुभव होता है जो मानसिक रूपमें इस भाँति अनूदित होता है कि दोनों एक-दूसरेमें समाविष्ट हैं और दोनोंका एक दिव्य ऐक्यके अन्दर

स्थायी अस्तित्व है और वह ऐक्य एक साथ ही एकत्व, संलयन और समालिंगन है।

अतः बुद्धिका सामान्य अनुभव इन उच्चतर सत्योंपर लागू नहीं होता। प्रथमतः, अहं अज्ञानगत व्यक्ति ही है। एक सच्चा व्यक्ति है जो अहं नहीं है और, फिर भी, अन्य सारे व्यक्तियोंके साथ उसका एक शाश्वत संबंध होता है; वह संबंध अहमात्मक या आत्म-पृथक्कारी नहीं होता, अपितु उसका स्वरूप-धर्म है मूलभूत एकत्वमें प्रतिष्ठित एक व्यावहारिक पारस्परिकता। एकत्वमें प्रतिष्ठित यह पारस्परिकता ही दिव्य सत्‌की पूर्ण अभिव्यक्तिका सारा रहस्य है; वही ऐसी किसी भी वस्तुका आधार होगी जिसे हम दिव्य जीवनका नाम दे सकते हों। परंतु, द्वितीयतः, हम देखते हैं कि सामान्य बुद्धि जिस कठिनाई और संभ्रममें जा पड़ती है वह यह है कि हम चर्चा करते हैं एक उच्चतर और असीम आत्मानुभवकी जो अधिष्ठित है दिव्य अनंतताओंपर, किंतु उसके लिये प्रयोग उस भाषाका करते हैं जो इस निम्नतर और सीमित अनुभव द्वारा रचित है और यह अनुभव अधिष्ठित है सांत प्रतिभासोंपर और उन पृथक्कारी परिभाषाओंपर जिनके द्वारा हम भौतिक विश्वके व्यापारोंके विभेद और वर्गीकरणका प्रयत्न करते हैं। इसी भाँति, हमें व्यक्ति शब्दका व्यवहार करना होता है और अहं तथा सच्चे व्यक्तिकी चर्चा करनी होती है, ठीक जैसे कि हम कभी-कभी प्रतीयमान और यथार्थ मनुष्यकी बात कहते हैं। स्पष्ट है कि ये जितने शब्द हैं, मनुष्य, प्रतीयमान, यथार्थ, व्यक्ति, सत्य, इन सबको एक बहुत ही सापेक्षिक अर्थमें और हमारी अभिप्रेत वस्तुओंको व्यक्त करनेमें उनकी अपूर्णता और अक्षमताको ध्यानमें रखते हुए लेना होगा। व्यक्तिसे साधारणतः हमारा अभिप्राय ऐसे कुछसे होता है जो कि अपने-आपको अन्य प्रत्येक वस्तुसे पृथक् कर लेता और पृथक् खड़ा होता है, यद्यपि यथार्थमें विश्वमें कहीं भी ऐसे 'कुछ'का अस्तित्व नहीं है; यह पृथक् अस्तित्व हमारे मनकी धारणाओंका आविष्कार मात्र होता है जो कि एक आंशिक और व्यावहारिक सत्यको प्रकट करनेके लिये उपयोगी और आवश्यक होता है। परंतु कठिनाई यह है कि मन अपने शब्दोंके अधिगत हो जाता और यह भूल जाता है कि आंशिक और व्यावहारिक सत्य उन अन्य सत्योंके साथ अपने संबंधके द्वारा ही सच्चा सत्य बनता है जो बुद्धिको उसके प्रतिकूल लगते हैं, और वह सत्य यदि अपने तईं लिया जाय तो उसमें मिथ्यात्वका सतत तत्त्व रहता है। इस प्रकार, जब हम व्यक्तिकी बात कहते हैं तो हमारा अर्थ साधारणतः मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताके एक ऐसे

व्यष्टिरूपणसे होता है जो अन्य समस्त सत्ताओंसे पृथक् है, अपनी स्वयं वैयक्तिकताके कारण ही उनके साथ एकत्वके लिये असमर्थ है। यदि हम मन, प्राण और शरीरके इन तीन प्रान्तोंसे आगे जाते और अंतरात्मा या वैयक्तिक आत्माकी वात कहते हैं, तव भी हम एक ऐसी सत्ताकी वात सोचते हैं जो वैयक्तिक हो गयी है, अन्य सवसे पृथक् है, उनके साथ एकत्व और अन्योन्य समावेशके लिये असमर्थ है, अधिकसे अधिक उनके साथ एक आध्यात्मिक सम्पर्क और आंतरात्मिक सहानुभूति ही रखनेमें समर्थ है। अतः, इस वातपर वल देना आवश्यक है कि सच्चे व्यष्टि-पुरुषसे हमारा अभिप्राय उपरोक्त प्रकारकी किसी भी वस्तुसे नहीं, अपितु 'शाश्वत'की सत्ताकी एक चेतन शक्तिसे होता है जो सर्वदा एकत्वके द्वारा अस्तित्व रखती, सर्वदा पारस्परिकताके लिये समर्थ रहती है। यही वह पुरुष है जो आत्मज्ञानके द्वारा मुक्ति एवं अमरत्वका भोग करता है।

परंतु, सामान्य और उच्चतर वुद्धिके वीच जो विरोध है उसे हमें और भी आगे ले जाना है। सच्चे व्यक्तिके संवंधमें जव हम कहते हैं कि वह 'शाश्वत'की सत्ताकी एक सचेतन शक्ति है तव भी हम बौद्धिक भाषाका ही प्रयोग कर रहे हैं,—और जवतक हम शुद्ध प्रतीकों और रहस्यमय मूल्योंकी भाषामें अवगाहन करने नहीं लग जायँ, तवतक हमारे पास इसके अतिरिक्त कोई उपाय भी नहीं,—परंतु और भी परेशानी यह है कि अहंके भावसे वचनेके प्रयत्नमें हम एक अत्यधिक अमूर्त भाषाका प्रयोग कर रहे हैं। अस्तु, हम ऐसा कहें कि सच्चा व्यक्ति एक चिन्मय पुरुष है जो, हमारे अस्तित्व-मूल्यांकनकी दृष्टिसे, 'शाश्वत'की व्यष्टिभावात्मक आत्मानुभूतिकी शक्तिमें उन्हींकी एक सत्ता है; कारण, किसी अमूर्त शक्तिको नहीं, अपितु किसी मूर्त्त पुरुषको ही अमरत्वका भोक्ता होना चाहिये। और अव हम इसपर आते हैं कि मैं विश्वमें हूँ और विश्व मुझमें है, केवल इतना ही नहीं, अपितु ईश्वर मुझमें है और मैं ईश्वरमें हूँ; किंतु इसका अर्थ यह नहीं होता कि ईश्वर अपने अस्तित्वके लिये मनुष्यपर निर्भर है, वल्कि यह होता है कि जिसे वह अपने-आपके अन्दर अभिव्यक्त करता है उसीमें अपने-आपको अभिव्यक्त करता है; व्यक्तिका अस्तित्व तुरीयमें है परन्तु सारा तुरीय भी व्यक्तिके अन्दर प्रच्छन्न है। इसके अतिरिक्त, मैं अपनी सत्तामें ईश्वर-के साथ एक हूँ और फिर भी अपने अनुभवमें ईश्वरके साथ संवंध रख सकता हूँ। मैं, मुक्ति-प्राप्त व्यक्ति, भगवान्‌के साथ एकीभूत हो, भागवत भुक्तिको भगवान्‌की तुरीयतामें पा सकता हूँ और साथ ही अन्य व्यक्तियों में तथा भगवान्‌की विश्व-सत्तामें भी। स्पष्ट है कि हम निर्विशेषके कतिपय

प्राथमिक संबंधोंपर आ गये हैं और वे मनको केवल तभी समझमें आ सकते हैं जब कि हम यह देख पायँ कि विश्वातीत, व्यक्ति और विश्वसत्ता एक निर्विशेष सत्‌की चेतनाकी सनातन शक्तियाँ हैं,—हम फिर एक सम्पूर्णतया अमूर्त भाषामें जा पड़ते हैं और इस बार उसका कोई उपाय भी नहीं। वह निर्विशेष सत् एक एकत्व है, फिर भी एकत्वसे अधिक है, वह अपने-आपको हमारे अन्दर अपनी ही चेतनाके सामने इस रूपमें व्यक्त करता है, परन्तु मानव-भाषामें हम इसका समुचित रूपसे कथन नहीं कर सकते और हमें यह आशा करनी भी नहीं चाहिये कि हम नेतिवाचक अथवा इतिवाचक शब्दोंके द्वारा अपनी बुद्धिके लिये इसका वर्णन ही कर सकेंगे, अपितु केवल यह आशा कर सकते हैं कि अपनी भाषाकी अधिकतम शक्तिका उपयोग कर इसका संकेत मात्र दे दें।

परन्तु जब कि मुक्त चेतनाको ये वस्तुएँ इतने सबल रूपसे वास्तव रहती हैं, सामान्य मनको उनका अनुभव नहीं होता और यह संभव रहता है कि उसे ये वस्तुएँ बौद्धिक विरोधोंका पुंज होनेके अतिरिक्त और कुछ न प्रतीत हों, और इसलिये वह उसके विरुद्ध विद्रोह कर दे। वह कह सकता है, "मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि निर्विशेष क्या है; निर्विशेष वह है जिसमें कोई भी संबंध नहीं रहते। निरपेक्ष और सापेक्ष ऐसे विरोधी हैं जिनमें संगति बैठायी नहीं जा सकती; सापेक्षमें कहीं भी ऐसा कुछ नहीं जो निरपेक्ष हो, न निरपेक्षमें ऐसा कुछ हो सकता है जो सापेक्ष हो। कोई भी चीज जो मेरे विचारके इन सर्वप्रथम तथ्योंका प्रतिवाद करती है बौद्धिक दृष्टिसे मिथ्या और व्यावहारिक रूपसे असंभव है। ये अन्य कथन भी मेरे विरोध-नियमका प्रतिवाद करते हैं; मेरा विरोध-नियम यह है कि यदि दो परस्पर-विरोधी और प्रतिकूल प्रतिपादन हों तो दोनोंके दोनों सत्य नहीं हो सकते। यह असंभव है कि ईश्वरके साथ एकत्व हो और, साथ ही, उसके साथ संबंध भी, जैसे कि ऐसा होते हुए भी भगवान्‌के उपभोगकी बात कही गयी है। एकत्वमें उस 'एक'के अतिरिक्त कोई भी भोक्ता नहीं, और न उस 'एक'के अतिरिक्त कोई भोग्य वस्तु ही है। ईश्वर, व्यक्ति और विश्व तीन भिन्न-भिन्न वास्तविकताएँ ही होनें चाहियें, अन्यथा उनके बीच कोई संबंध नहीं हो सकते। या तो वे सनातन रूपसे भिन्न हैं, या वे वर्तमान कालमें भिन्न हैं, भले ही वे आद्य रूपसे एक अभेद सत्ता रहे हों और अंत-में फिर एक अभेद सत्ता हो जायँ। एकत्व शायद पहले था और बादमें होगा भी, परन्तु अभी तो नहीं है, और जबतक विश्व तथा व्यक्ति रहेंगे, हो भी नहीं सकता। विश्व-सत्ता विश्वक रहना छोड़कर ही विश्वातीत

एकत्वको ज्ञात और प्राप्त कर सकती है; व्यक्ति केवल समस्त वैयक्तिकता और व्यष्टिरूपणका अन्त करके ही विश्वक अथवा विश्वातीत एकत्वको ज्ञात और प्राप्त कर सकता है। अथवा, यदि एकत्व ही एकमात्र शाश्वत तथ्य हो तो विश्व और व्यक्ति असत् हैं; वे 'शाश्वत'के द्वारा अपने-आपपर अध्यारोपित भ्रम हैं। हो सकता है कि इस कथनमें कोई अंतर्विरोध या ऐसा विरोधाभास हो जिसका समाधान न हुआ हो; परन्तु, जब कि यहाँ मेरी प्राथमिक धारणाओंमें यदि कोई अंतर्विरोध हो तो मैं उसे माननेको तैयार नहीं, क्योंकि मुझे उन धारणाओंपर तर्क-रीतिसे और व्यावहारिक प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये विचार करना होता है, दूसरी ओर यदि 'शाश्वत-में कोई ऐसा अंतर्विरोध हो जिसपर विचार करनेको मैं बाध्य न होऊँ तो मैं उसे माननेके लिये तैयार हूँ। इस अनुमानके आधारपर मैं या तो जगत्-को व्यावहारिक रूपसे वास्तव मान सकता हूँ और उसमें विचार एवं कर्म कर सकता हूँ अथवा उसे मिथ्या मानकर अस्वीकार कर सकता हूँ और विचार तथा कर्म बन्द कर सकता हूँ; मैं विरोधोंका समाधान करनेको बाध्य नहीं, न ही मुझे यह अभिप्रेत है कि मैं अपने और जगत्से परेकी किसी वस्तुके प्रति और उस वस्तुमें सचेतन होऊं और फिर भी जैसा कि ईश्वर करते हैं, विरोध-संकुल जगत्के साथ उस आधारसे व्यवहार करूँ। व्यक्ति रहता हुआ भी मैं ईश्वरकी भाँति होनेका प्रयत्न करूं अथवा एक ही साथ तीन वस्तुएँ होनेका प्रयत्न करूँ, इसमें मुझे तार्किक संभ्रान्ति और व्यावहारिक असंभवता निहित जान पड़ती हैं।" सामान्य बुद्धिका ऐसा भाव भली-भाँति हो सकता है और अपने भेदीकरणमें वह स्पष्ट, विशद्, निश्चयात्मक होती है; इसमें बुद्धिकी कोई ऐसी असाधारण कसरत नहीं जिसमें वह अपना अतिक्रमण करनेका प्रयास करती हो और अपने-आपको छायाओं या अर्ध-प्रकाशों या किसी भी प्रकारके रहस्यवादमें खो डालती हो, या यदि कोई रहस्यवाद है भी तो केवल एक ही आदि तथा अपेक्षाकृत सरल रहस्यवाद है जो कि अन्य समस्त जटिलताओंसे मुक्त है। अतः जो मन विशुद्धतया युक्तिशील है उसके लिये यह तर्कणा ही सबसे अधिक संतोषदायक होती है। फिर भी यहाँ एक त्रिविध भूल है; निरपेक्ष और सापेक्षके बीच अपाटच खाई बनानेकी भूल, विरोध-नियमको अति सरल और अनम्य बनाने और उसे अत्यधिक दूरीतक खींच ले जानेकी भूल और जिन वस्तुओंका उद्गम तथा आदि आवास शाश्वतमें है उनकी उत्पत्तिकी धारणा कालकी अभि-धाओंमें करनेकी भूल।

निर्विशेषसे हमारा अभिप्राय किसी ऐसी वस्तुसे होता है जो हमसे

महत्तर है, हम जिस विश्वमें रहते हैं उससे महत्तर है, जिस विश्वातीत सत्-पुरुषको हम ईश्वर कहते हैं उसका उच्चतम स्वरूप है, कोई ऐसी वस्तु है जिसके विना, हम जो कुछ भी देखते हैं या जिस किसीके भी अतिस्त्व-के प्रति सचेतन होते हैं, उसका न तो अस्तित्व हो सकता था और न वह एक क्षण भी अस्तित्ववान् ही रह सकता था। भारतीय चिंतन इसे ब्रह्म कहता है, यूरोपीय चिंतन Absolute (निर्विशेष); कारण, वह स्वयंभू है, सापेक्षताओंके समस्त बंधनोंसे मुक्त है। वस्तुतः समस्त सापेक्ष वस्तुएँ केवल उस वस्तुके द्वारा अस्तित्व रख सकती हैं जो उन सबका सत्य है, उनके बल और गुण-धर्मोंका मूल और आधार है और, तो भी, उन सबसे अतीत है; यह कोई ऐसी वस्तु है जिसका कि स्वयं प्रत्येक सापेक्षता ही नहीं, अपितु हम जितनी सापेक्षताओंको जानते हैं—हम उन सबको जितना जानते हैं उस समूचे ज्ञात रूपमें—उन सबका कुलयोग भी एक आंशिक, निम्नतर अथवा व्यावहारिक अभिव्यक्ति ही हो सकता है। युक्तिके द्वारा हम देखते हैं कि ऐसे निर्विशेषका अस्तित्व अवश्य होना चाहिये; आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा हमें उसके अस्तित्वकी संवित् होती है : परन्तु हमें जब उसकी सर्वाधिक संवित् होती है, तब भी हम उसका वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि हमारी भाषा और विचार-शक्ति केवल विशेष या सापेक्षसे ही व्यवहार कर सकती हैं। निर्विशेष या परात्पर हमारे लिये अनिर्वाच्य है।

यहाँतक किसी यथार्थ कठिनाई या संभ्रान्तिका सामना नहीं होना चाहिये। परन्तु हमारा मन विरोधोंका अभ्यस्त है, भेदों और विपरीतोंके युग्मोंके द्वारा सोचनेका अभ्यस्त है, उसके इस अभ्यासके नीचे तत्परतासे बढ़ते हुए हम निर्विशेषके संबंधमें केवल यही नहीं कहने लगते हैं कि वह सापेक्षकी सीमाओंसे बंधा हुआ नहीं है, वरन् ऐसा भी कहते हैं मानों वह अपनी सीमाहीनताकी स्वतंत्रतासे आवद्ध है, संबंधोंकी समस्त शक्तिसे असाध्य रूपसे रिक्त है और उनके लिये स्वरूपतः असमर्थ है, उसकी समूची सत्तामें कोई ऐसी वस्तु है जो कि सापेक्षताकी प्रतिरोधिनी है, उससे चिर-विपरीत है। अपने तर्कके इस गलत ढंगसे हम एक विकट स्थितिमें आ जाते हैं। हमारा अपना जीवन और विश्वका जीवन केवल एक रहस्य ही नहीं अपितु तर्क-दृष्टिसे अकल्पनीय हो जाता है। कारण, इसके परिणाम-स्वरूप हम एक ऐसे निर्विशेषपर पहुँचते हैं जो सापेक्षताके लिये असमर्थ और समस्त सापेक्षोंका वर्जक है, और, फिर भी, सापेक्षताका कारण, अथवा कमसे कम, उसका अवलंब है और समस्त सापेक्षोंका आधार, सत्य और उपादान-

धातु है। तब हमें इस विकट स्थितिमेंसे बच निकलनेका एक ही तार्किक-अतार्किक मार्ग रह जाता है; हमें यह मानना पड़ता है कि जगत् या तो एक स्वयं-साधक भ्रम या मिथ्या कालगत वास्तवता है जो निराकार निःसंबंध निर्विशेषकी शाश्वततापर अध्यारोपित है। यह अध्यारोप हमारी भ्रान्तिकारिणी व्यष्टि-चेतना करती है, वह ब्रह्मको विश्वके आकारमें देखने-की भूल करती है—जैसे कि मनुष्य भूलसे रज्जुको सर्प समझ लेता है; परंतु, चूँकि या तो हमारी वैयक्तिक चेतना स्वयं भी कोई सच्ची वास्तवता नहीं, अपितु एक सापेक्ष है जो ब्रह्मके द्वारा आश्रित और ब्रह्मके ही कारण अस्तित्ववान् है, या, अपने यथार्थ स्वरूपमें वह स्वयं ही ब्रह्म है, अतः, अन्तमें, यह स्वयं ब्रह्म ही है जो हमारे अन्दर अपने-आपपर यह विभ्रान्ति अध्यारोपित कर लेता है और अपनी ही चेतनाके किसी आकारमें सत् रज्जु-को भ्रमसे असत् सर्प समझता है, अपने अनिर्देश्य शुद्ध स्वरूपपर विश्वके प्रतिभासको आरोपित करता है, अथवा, यदि वह इसे अपनी निजकी चेतना-पर आरोपित नहीं करता, तो एक ऐसी चेतनापर करता है जो उससे व्युत्पन्न और उसपर आश्रित है, उसका अपने-आपका ही मायामें प्रक्षेप है। किन्तु, इस व्याख्यासे व्याख्या तो किसी भी चीजकी नहीं हुई; मूल विरोध पहले जहाँ था वहीं है, उसमें मेल नहीं बैठा है, हमने बस भिन्न शब्दोंमें उसका पुनर्कथन ही किया है। ऐसा लगता है कि बौद्धिक तर्कके द्वारा व्याख्या पानेके प्रयासमें हम अपने-आपकी हठधर्मी तार्किकताकी भ्रान्तिसे कुहरावृत ही हो गये हैं: हमारी अति धृष्ट तर्कशीलता हमारी अपनी बुद्धिपर जो अध्यारोप प्रयुक्त करती आयी है उसे हमने निर्विशेषपर आरोपित कर डाला है; विश्वाभिव्यक्तिको समझनेमें हमारे मनको जो कठिनाई होती है उसे हमने ऐसे रूपमें परिवर्तित कर दिया है कि निर्विशेषका अपने-आपको विश्व-में अभिव्यक्त करना ही मूलतः असंभव हो जाता है। परंतु, स्पष्ट है कि निर्विशेषको न तो विश्वाभिव्यक्तिमें कोई कठिनाई होती है, न साथ ही साथ विश्वाभिव्यक्तिसे अतीत रहनेमें। कठिनाई तो केवल हमारी मान-सिक सीमाओंके लिये होती है; कारण, मनकी ये सीमाएँ हमें अनंत और सांतके सह-अस्तित्वकी अतिमानसिक यौक्तिकताको समझ पाने अथवा सोपाधिकके साथ निरुपाधिककी ग्रन्थिको पकड़ पानेसे रोकती है। हमारी मानस-बुद्धिकी यौक्तिकताके लिये ये परस्पर-विरोधी हैं; किन्तु अव्यभिचारी बुद्धिके लिये ये एक तथा अभिन्न सद्वस्तुके मूलतः परस्पर-विरोधी नहीं, अपितु परस्पर-संबद्ध व्यंजक हैं। अनंत सत्की चेतना हमारी मानस-चेतना और इन्द्रिय-चेतनासे भिन्न है, महत्तर और विशालतर है, क्योंकि वह चेतना

इन चेतनाओंका समावेश अपनी क्रियाओंकी गौण अभिधाओंकी नाईं करती है और *अनन्त सत्का तर्क भी हमारे बौद्धिक तर्कसे भिन्न है।* हमारी मानसिक दृष्टि गौण तथ्योंसे उद्भूत शब्दों तथा भावोंसे संलग्न रहती है, फलस्वरूप, उसे ऐसी विपरीतताएँ दिखाई देती हैं जिनमें मेल नहीं बैठाया जा सकता; किन्तु अनंत सत्की चेतना सत्ताके विशाल आद्य तथ्योंके अन्दर उन समस्त विपरीतताओंमें मेल बैठा देती है।

हमारी भूल यह होती है कि अनिर्वाच्यका निर्वचन करनेके प्रयत्नमें हम जब इस निर्विशेषका वर्णन सर्व-व्यावर्तक 'नेति'भावसे कर चुकते हैं तो सोच लेते हैं कि हम सफल हो गये हैं, परन्तु हम, फिर भी, निर्विशेषको परम इति-स्वरूप और समस्त इतियोंका कारण माननेको बाध्य होते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि इतने सारे तीक्ष्ण बुद्धिशाली दार्शनिक भी, जिनकी दृष्टि शाब्दिक भेदोंपर न रहकर सत्ताके तथ्योंपर रही है, 'निर्विशेष'के बारेमें यह अनुमान करनेको विवश हुए कि वह बुद्धिकी एक कपोल-कल्पना है, शब्दों और शाब्दिक तार्किकतासे उत्पन्न एक भाव है, शून्य है, असत् है, और उन्हें इस निष्कर्षपर पहुँचना पड़ा कि एक सनातन संभूति ही हमारी सत्ताका एकमात्र सत्य है। निस्संदेह पुरातन ऋषियोंने ब्रह्मकी चर्चा नकारात्मक रूपमें की है; उन्होंने कहा, "नेति, नेति," वह यह नहीं है, वह वह नहीं है; परन्तु उन्होंने ब्रह्मका कथन इति-रूपमें भी करनेकी सावधानी बरती है; उन्होंने उसके बारेमें यह भी कहा है कि वह यह है, वह वह है, वह सब कुछ है: कारण, उन्होंने यह देख लिया था कि उसे इतिवाचक या नेतिवाचक निर्वचनोंसे सीमित करना उसके सत्यसे च्युत होना होगा। उन्होंने कहा कि ब्रह्म जड़तत्त्व है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, विश्वानन्द है, सच्चिदानन्द है,—अन्नं ब्रह्म, प्राणं ब्रह्म, मनो ब्रह्म, विज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म; तथापि, यथार्थमें उसकी परिभाषा इनमेंसे किसीसे *भी, हमारी सच्चिदानन्द की विशालतम धारणासे भी नहीं की जा सकती।* विश्व हमें जैसा दिखाई देता हैं, हम अपनी मनश्चेतनाको चाहे कितनी भी ऊँची क्यों न ले जायँ, उसमें हम पाते हैं कि प्रत्येक इतिके साथ नेति भी है। परन्तु नेति शून्य तो नहीं है,—वास्तवमें हमें जो कुछ शून्य प्रतीत होता है वह शक्तिसे भरा है, सत्ताके बलसे सराबोर है, भूतार्थ और भव्यार्थसे भरा है। और न ऐसा ही है कि नेतिके अस्तित्वसे उसके अनुरूपी इतिकी अस्तित्वहीनता या अवास्तवता प्रकट होती हो; इससे तो केवल यह प्रदर्शित होता है कि इतिवाचक कथन वस्तुओंके सत्यका, या यहाँतक भी कह सकते हैं कि स्वयं इति-रूप सत्यका अपूर्ण कथन होता है। वस्तुतः, इति और

नेतिका अस्तित्व केवल अगल-बगल ही नहीं, अपितु एक-दूसरीसे संबंधित और एक-दूसरीके द्वारा है; वे एक-दूसरीकी पूर्ति करती हैं, और समग्र-दृष्टिमें जिसे सीमित मन प्राप्त नहीं कर सकता, एक-दूसरीकी व्याख्या करती हैं। प्रत्येकको अपने तईं लें तो उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता; हम उसे उसके गभीरतर सत्यमें जानना केवल तब आरंभ करते हैं जब हम उसके अन्दर उसके प्रतीयमान विरोधीके संकेतोंको देख पाते हैं। हमारी बुद्धिको निर्विशेषकी ओर इस प्रकारकी एक गभीरतर उदार संबोधिके द्वारा जाना चाहिये, न कि अपवर्जक तार्किक विरोधोंके द्वारा।

निर्विशेषके इति-भाव हमारी चेतनाको उसके द्वारा दिये गये अपने-आपके विभिन्न परिचय हैं; उसके नेति-भाव उसके निर्विशेष इति-धर्मके परिशेषका परिचय देते हैं और इस प्रकार इन प्रथम इतिवाची परिचयोंके द्वारा उसके सीमायनका खंडन करते हैं। प्रारंभमें हम उसके विशाल आद्य संबंधोंको लेते हैं, जैसे कि अनंत और सांत, सोपाधिक और निरुपाधिक, सगुण और निर्गुण; प्रत्येक युग्ममें नेति-कथन अपने अनुरूपी इति-कथनके समस्त बलको छिपाये रखता है जो उसके अन्दर समाया रहता और उसमें-से उन्मज्जित होता है; इनमें कोई यथार्थ विरोध नहीं है। सत्योंके एक कम सूक्ष्म क्रममें हमें अन्य युग्म मिलते हैं, जैसे विश्वातीत और विश्वक, विश्व और व्यक्ति; यहाँ हम यह देख चुके हैं कि इन युग्मोंका प्रत्येक सदस्य अपने प्रतीयमान विरोधीके अन्दर समाया हुआ है। विश्व अपने-आपको व्यक्तिके अन्दर विशिष्ट करता है; व्यक्ति विश्वकी समस्त सर्व-सामान्यताओंको अपने-आपके अन्दर समाये रखता है। विश्व-चेतना अपना संपूर्ण स्वरूप प्राप्त करती है असंख्य व्यक्तियोंके वैचित्र्यके द्वारा, न कि वैचित्र्योंका दमन करके। वैयक्तिक चेतना अपने-आपकी पूरी संपूर्ति पाती है विश्वभावापन्न होकर विश्वचेतनाके साथ सहानुभूति और तादात्म्यमें प्रवेशके द्वारा, न कि अपने-आपको अहंमें परिसीमित करके। इसी भाँति, विश्व भी अपनी संपूर्ण सत्तामें और अपने अन्दर स्थित प्रत्येक वस्तुमें विश्वातीतकी सम्पूर्ण अंतर्व्याप्तिको समाये रखता है; वह अपनी निजी तुरीय सत्यताकी चेतनाके द्वारा अपने-आपको विश्व-सत्ताके रूपमें बनाये रखता है, और प्रत्येक व्यष्टि-सत्ताके अन्दर और समस्त भूतोंके अन्दर भगवान् और तुरीयकी उपलब्धिके द्वारा प्रत्येक व्यष्टि-सत्तामें अपने-आपको प्राप्त करता है। विश्वातीत विश्वको समाये रखता है, उसे अभिव्यक्त करता है, उसका उपादान होता है और उसे अभिव्यक्त करनेमें, (यदि विश्वके पर्यायवाची ग्रीक शब्द Cosmos के भावमें कहें), अपनी ही अनंत छन्दोबद्ध विविधताओं-

को अभिव्यक्त या अनावृत करता है। परन्तु, सापेक्षके निम्नतर स्तरोंमें भी हमें इति और नेतिकी यह क्रीड़ा दिखाई देती है, और हमें उसकी अभिधाओंके बीच दिव्य सामंजस्य ला कर, न कि उनका उच्छेद कर या उनके विरोधको कटु अंततक ले जाकर, निर्विशेष तक पहुँचना होगा। क्योंकि वहाँपर, निर्विशेषमें, यह सारा सापेक्षत्व, निर्विशेषका यह सारा विभिन्नतामय छन्दोबद्ध आत्म-निरूपण अपने-आपको सम्पूर्णतः अस्वीकृत नहीं पाता, बल्कि अपने अस्तित्वका कारण और न्याय-समर्थन पाता है, अपने-आपको मिथ्या होनेका अपराधी नहीं पाता, बल्कि अपने सत्यका उत्स और तत्त्व पाता है। विश्व तथा व्यक्ति निर्विशेषके अन्दर किसी ऐसी वस्तुमें वापस चले जाते हैं जो वैयक्तिकताका सच्चा सत्य है, विश्व-सत्ताका सच्चा सत्य है, उनके निषेध या उनके मिथ्यात्वका उद्घोषक नहीं। निर्विशेष कोई ऐसा संशयवादी तार्किक नहीं जो अपनी सारी उक्तियों और आत्माभिव्यंजनाओंके सत्यको अस्वीकार करता हो, वरन् उसके अस्तित्वका अस्तिभाव इतना चरम और अनंत है कि ऐसा कोई भी सांत इतिभाव निरूपित नहीं किया जा सकता जो उसे निःशेष कर दे अथवा अपनी परिभाषाओंमें बाँध सके।

यह स्पष्ट है कि यदि निर्विशेषका सत्य ऐसा ही हो तो हम उसे अपने विरोध-नियमसे भी आबद्ध नहीं कर सकते। वह नियम तो हमारे लिये इसलिये आवश्यक है कि हम आंशिक और व्यावहारिक सत्योंको अधिष्ठित कर सकें, वस्तुओंपर स्पष्ट, सुनिश्चित और उपयोगी रूपसे विचार कर सकें, अपने देश-विभाजनोंमें, रूप, गुण और धर्मके भेदोंमें, कालके क्षणोंमें, विशिष्ट प्रयोजनोंके लिये उनका वर्गीकरण कर सकें, उनपर क्रिया कर सकें, प्रभावी रूपसे उनका व्यवहार कर सकें। यह नियम जीवनकी व्यावहारिक क्रियाओंके एक रूपात्मक और प्रबल-क्रियात्मक सत्यको प्रदर्शित करता है जो वस्तुओंकी बाह्यतम अभिधामें, भौतिकमें प्रबलतम होता है, परन्तु हम ज्यों-ज्यों क्रममें ऊपर चढ़ते हैं, सत्ताकी सीढ़ीकी अधिक सूक्ष्म पैंड़ियोंपर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों उसके बंधनकी कठोरता अधिकाधिक कम होती जाती है। भौतिक व्यापारों और शक्तियोंके साथ व्यवहार करनेके लिये यह हमारे लिये विशेष रूपसे आवश्यक होता है; हमें मानना होता है कि किसी भी एक समय वे एक ही वस्तु हैं, किसी भी एक समय उन्हें एक ही बल रहता है और वे अपने बाह्य और व्यवहारतः फलप्रद सामर्थ्यों और गुणोंसे सीमित हैं; अन्यथा, हम उनके साथ व्यवहार नहीं कर सकते। किन्तु वहाँ भी, जैसा कि मनुष्यकी विचारधारा अब अनुभव करने लगी है,

बुद्धिके बनाये भेद और भौतिक विज्ञानके वर्गीकरण और व्यावहारिक परीक्षण, यद्यपि वे अपने क्षेत्रमें और अपने प्रयोजनके लिये पूर्णतः प्रमाण्य हैं, वस्तुओंका समग्र अथवा यथार्थ सत्य प्रदर्शित नहीं करते, चाहे वस्तुओंको उनके समग्र रूपमें लें चाहे किसी वस्तुको उसके अपने तईं उस रूपमें लें जैसा कि हमने उसे वर्गीकृत किया है, कृत्रिम भावसे अलग रखा है, पृथक् विश्लेषणके लिये विलग किया है। उस विलगावके द्वारा हम निस्संदेह उसके साथ बहुत व्यावहारिक रूपमें, बहुत प्रभावी रूपमें व्यवहार करनेमें समर्थ होते हैं, और आरंभमें हम यह सोच भी लेते हैं कि हमारी क्रियाकी प्रभावकारिता हमारे विलगावकारी और विश्लेषक ज्ञानकी संपूर्ण और पर्याप्त सत्यता प्रमाणित करती है। परन्तु, बादमें हम पाते हैं कि उससे आगे जाकर हम एक महत्तर सत्य एवं महत्तर प्रभावकारितापर पहुँच सकते हैं।

प्रथम ज्ञानके लिये विलगाव निश्चय ही आवश्यक है। हीरा हीरा है और मोती मोती, प्रत्येक अपनी-अपनी श्रेणीका पदार्थ है, प्रत्येकका अस्तित्व अन्य सबसे भेद रखते हुए है, प्रत्येक अपने-अपने रूप और गुणधर्मके नाते भिन्न है। तथापि, प्रत्येकके ऐसे भी तत्त्व और गुण हैं जो दोनोंमें सामान्य हैं और ऐसे अन्य तत्त्व और गुण भी हैं जो सामान्य रूपसे समस्त भौतिक वस्तुओंमें हैं। यथार्थमें, प्रत्येकका अस्तित्व केवल उसके विभेदोंके कारण ही नहीं होता, अपितु कहीं अधिक मूल रूपसे उस तत्त्वके द्वारा होता है जो दोनोंमें सामान्य है; और जब हम यह पा लेते हैं कि सब कुछ एक ही वस्तु है, एक ही ऊर्जा है, एक ही रूपधातु है, अथवा, चाहें तो ऐसा कहें कि एक ही वैश्व गतिधारा है जो अपनी ही सत्ताके इन विभिन्न रूपों, इन विविध गुणों, इन सुनिश्चित और समंजस शक्यताओंको ऊपर फेंकती, बाहर लाती, संयोजित करती, संसिद्ध करती है, तब हम समस्त भौतिक वस्तुओंके स्वयं आधार और स्थायी सत्यपर वापस पहुँच जाते हैं। यदि हम भेदोंके ज्ञानपर ही रुक जायँ, तो हम हीरे और मोतीके साथ उसी भाँति व्यवहार कर सकते हैं जैसे कि वे हैं, उनके मूल्य, उपयोग और प्रकारोंका निर्धारण कर सकते हैं, उनका उत्तम सामान्य उपयोग और लाभ प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु यदि उनके तत्त्व और वे जिस श्रेणीकी वस्तुएँ हैं उसके सामान्य गुण-धर्म हमें ज्ञात हो जाय और हमारे नियंत्रणमें आ जायँ, तो हमें अपनी इच्छानुसार हीरा या मोती बनानेका सामर्थ्य भी प्राप्त हो सकता है: हम और भी आगे जा सकते हैं, स्वयं उसपर अधिकार पा सकते हैं जो कि समस्त भौतिक वस्तुएँ सार-रूपमें हैं और हमें एक वस्तुको दूसरीमें बदल देनेका सामर्थ्य भी प्राप्त हो जा सकता है, जिससे भौतिक प्रकृतिपर अधिक-

तम संभव नियंत्रण प्राप्त होगा। इस भाँति, विभेदोंका ज्ञान अपने महत्तम सत्य और अधिकतम प्रभावी उपयोगतक तब पहुँचता है जब कि हम गभीरतर ज्ञानके द्वारा समस्त विविधताओंके पीछे स्थित एकत्वके अन्दर भेदोंमें संगति लानेवाले तत्त्वको जान लेते हैं। यह गभीरतर ज्ञान अन्य अधिक बहिस्तलीय ज्ञानको प्रभावकारितासे वंचित नहीं करता और न वह उसे निस्सार होनेका ही दोषी ठहराता है। हम अपने अंतिम भौतिक आविष्कारसे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि कोई आदि रूपधातु या जड़तत्त्व नहीं, केवल एक ऊर्जा है जो रूपधातुको अभिव्यक्त करती या रूपधातुवत् अभिव्यक्त होती है,—हीरा और मोती अस्तित्वहीन हैं, अवास्तव हैं, केवल हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंकी भ्रान्तिके लिये ही सत्य हैं, वह एकतम रूपधातु, ऊर्जा अथवा गतिधारा ही एकमात्र शाश्वत सत्य है, अतएव हमारे भौतिक विज्ञानका उत्तम अथवा एकमात्र युक्तियुक्त उपयोग यह होगा कि हीरे और मोतीको और अन्य हर वस्तुको जिसे हम विघटित कर सकते हैं इस एक शाश्वत और आदि सद्वस्तुके अन्दर विघटित कर दें और उनके रूपों और गुणोंका सदाके लिये अंत कर दें। परंतु वस्तुओंका एक सारत्व होता है, वस्तुओंका एक सामान्यत्व होता है, वस्तुओंका एक व्यष्टित्व होता है; सामान्यत्व और व्यष्टित्व सारत्वकी सच्ची और सनातन शक्तियाँ हैं : सारत्व दोनोंका अतिक्रमण करता है, परंतु इनमेंसे कोई भी एक अकेला नहीं, अपितु तीनों मिलकर ही अस्तित्वके नित्य तत्त्व हैं।

यह सत्य हम भौतिक जगत्में भी देख पाते हैं जहाँ कि सत्ताकी सूक्ष्मतर और उच्चतर शक्तियोंको हमारी बौद्धिक क्रियाओंसे अलग रखना पड़ता है। परंतु वहाँ हम इसे कठिनाईसे और बहुतसे प्रतिबंधोंके अधीन देखते हैं और हम जब क्रम-सोपानपर ऊपर चढ़ते हैं तो यह सत्य स्पष्टतर और सबलतर हो जाता है। हमें अपने वर्गीकरण और विभेदोंका सत्य तो दिखाई देता ही है, उनकी सीमाएँ भी दिखाई देती हैं। सब वस्तुएँ भिन्न होती हुई भी एक ही हैं। व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये वनस्पति, पशु और मनुष्य भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं; तथापि, हम जब अधिक गहराईमें देखते हैं तो पाते हैं कि वनस्पति एक ऐसा पशु ही है जिसमें आत्म-चेतना और क्रियात्मक शक्तिका विकास अपर्याप्त हुआ है; पशु निर्मित होता मनुष्य है; स्वयं मनुष्य वही पशु है परंतु साथ ही आत्मचेतनाका और चेतनाके क्रियात्मक बलका वह कुछ अधिक अंश भी है जो उसे मनुष्य बनाता है; और साथ ही, वह इससे अधिक कुछ और भी है जो उसकी सत्ताके अन्दर दिव्यत्वके बीज-रूपमें अंतर्विष्ट और निरुद्ध रहता है,—वह निर्मित होता देव है।

वनस्पति, पशु, मनुष्य, देव, इनमेंसे प्रत्येकमें, 'शाश्वत' अपने-आपको अंतर्विष्ट और निरुद्ध रखता है मानों इसके द्वारा वह अपनी सत्ताका कोई विशिष्ट निरूपण करना चाहता है। प्रत्येक है सम्पूर्ण 'शाश्वत', प्रच्छन्न। स्वयं मनुष्य, जो कि अपने पूर्वगामी सब कुछको लेता और मनुष्यत्वमें परिणत कर देता है, वैयक्तिक मानव जीव है, और साथ ही, समस्त मानवजाति भी; वह विश्व-मानव है जो व्यष्टिमें मानव-व्यक्तित्वके रूपमें क्रिया करता है। वह सर्व है, फिर भी, उसका एक स्व-रूप है, उसकी एक अद्वितीयता है। वह जो कुछ है वह तो वह है ही, परंतु वह जो कुछ था उस सबका अतीत भी है, और वह जो कुछ नहीं है, उसकी संभाव्यता भी। हम यदि केवल उसकी वर्तमान वैयक्तिकताको देखें तो उसे नहीं समझ सकते, और न हम उसे तब समझ सकते हैं जब हम केवल उसकी सर्वसामान्यताको, उसके सामान्य मानव-स्वरूपको ही देखते हों, अथवा दोनोंका वर्जन करते हुए वापस उसकी सत्ताके सारत्वमें जा पहुँचते हों जहाँ उसका भेदसूचक मानवत्व और उसकी वैयक्तिकताका वैशिष्ट्य, दोनों ही विलुप्त होते प्रतीत होते हैं। प्रत्येक वस्तु वह 'निर्विशेष' है, सब कुछ वह 'एक' है, परंतु 'निर्विशेष' अपनी विकसित आत्म-सत्ताका निरूपण सदा इन तीन अभिधाओंमें करता है। सारगत एकत्वके कारण हम यह कहनेको बाध्य नहीं कि ईश्वरके समस्त विविध कर्म और क्रियाकलाप व्यर्थ, मूल्यरहित, अवास्तव, प्रातिभासिक और भ्रामक हैं और अपने ज्ञानका जो उत्तम और एकमात्र यौक्तिक अथवा अति-यौक्तिक उपयोग हम कर सकते हैं वह यह है कि हम उनसे दूर हट जायँ, अपने विश्वक तथा वैयक्तिक जीवनका विलय सार-सत्ताके अंदर कर दें और समस्त संभूतिको व्यर्थता मानकर उससे सदाके लिये छुटकारा पा जायँ।

जीवनके व्यावहारिक व्यापारोंमें भी हमें उसी सत्यपर पहुँचना होता है। विशेष व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये हमें कहना होता है कि अमुक वस्तु अच्छी या बुरी है, सुंदर या कुरूप, उचित या अनुचित है और उस कथनके अनुसार आचरण करना होता है; परंतु यदि हम अपने-आपको इसके द्वारा सीमित कर दें तो यथार्थ ज्ञानतक नहीं पहुँचते। विरोध-नियम यहाँ वहींतक प्रामाणिक है जहाँतक कि यह कहा जाय कि दो विभिन्न और विरोधी उक्तियाँ किसी एक ही वस्तुके संबंधमें एक ही समयमें, एक ही क्षेत्रमें, एक ही प्रसंगमें, एक ही दृष्टिकोणसे और एक ही व्यावहारिक प्रयोजनके लिये सत्य नहीं हो सकतीं। उदाहरणके लिये, महायुद्ध, विनाश या हिंसात्मक सर्वविप्लवकारी क्रान्ति हमें एक बुराई, एक विषाक्त और

विपज्जनक अव्यवस्था जान पड़ सकती है, और कुछ प्रसंगोंमें, कुछ परिणामोंमें और कुछ दृष्टिकोणोंसे ऐसा है भी, परंतु, अन्य दृष्टियोंसे यह बहुत बड़ी अच्छाई भी हो सकती है, कारण, यह घटना एक नयी अच्छाई अथवा अधिक संतोषप्रद व्यवस्थाके लिये क्षेत्रको तेजीसे साफ कर देती है। कोई भी मनुष्य केवल अच्छा या केवल बुरा नहीं है; प्रत्येक मनुष्य विपरीतताओंका मिश्रण होता है : यहाँतक कि हम इन विपरीतताओंको प्रायः किसी एक ही भावनामें, एक ही क्रियामें भी इस तरह मिश्रित देखते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। हमारे कर्म, जीवन और स्वभावके निर्माणमें सब प्रकारके विरोधी गुण, शक्तियाँ, मूल्य जुट जाते और एक-दूसरेमें घुलमिल जाते हैं। हम सम्पूर्णतः केवल तब समझ सकते हैं जब कि हमें निर्विशेषका कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय और, साथ ही, हम समस्त सापेक्षोंमें अभिव्यक्त की जाती हुई उसकी क्रियाओंपर भी दृष्टिपात करें,—प्रत्येकको केवल उसके अपने तईं ही न देखें, अपितु प्रत्येकको सर्वके संबंधमें और जो उन सबसे अतीत है और उन सबमें संगति करता है उसके संबंधमें देखें। वास्तवमें यद्यपि सर्वमयकी व्यवस्थामें हमारी अपनी सीमित मानवीय दृष्टि और हमारे क्षणिक प्रयोजनकी अपनी सत्यता है, हम जान केवल तभी सकते हैं यदि हम, एकमात्र अपनी ही दृष्टि और प्रयोजनसे न देखें, वरं वस्तुओंमें जो दिव्य दृष्टि और प्रयोजन है, वहाँ तक जा पहुँचें। कारण, समस्त सापेक्षोंके पीछे निर्विशेष है जो उन्हें उनकी सत्ता और उनकी न्याय-संगति प्रदान करता है। विश्वमें कोई भी विशेष कार्य या आयोजन अपने-आपमें परम न्याय नहीं कहा जा सकता; परंतु समस्त कर्मों और आयोजनोंके पीछे कोई निरपेक्ष वस्तु रहती है जिसे हम न्याय कहते हैं, जो उनकी सापेक्षताओंके द्वारा अपने-आपको प्रकट करती है और जिसे हम तब अनुभव कर सकते हैं जब हमारी दृष्टि और ज्ञान व्यापक हो जायँ, न कि अभीकी नाईं आंशिक, बहिस्तलीय और कुछ प्रकट तथ्यों और रूपोंतक ही सीमित रहें। इसी भाँति एक परम शुभ और एक परम सौन्दर्य भी है : परंतु उसकी झाँकी हमें केवल तब मिल सकती है यदि हम समस्त वस्तुओंका निष्पक्षतासे आलिंगन कर सकें और उनके प्रतिभासोंसे आगे जाकर उस तत्त्वतक जा पहुँचें जिसे वे सबकी सब और उनमेंसे प्रत्येक अपनी जटिल विधियोंके द्वारा व्यक्त और कार्यान्वित करनेका प्रयत्न कर रही हैं। वह तत्त्व कोई अनिर्दिष्ट नहीं है,—अपितु 'निर्विशेष' ही है,—कारण, अनिर्दिष्ट, चूंकि वह मूल उपादान या शायद निर्देशनाओंकी घनीभूत अवस्था मात्र है, स्वयं कुछ भी व्याख्या नहीं कर सकता, निस्संदेह,

हम विपरीत पद्धतिका भी अनुसरण कर सकते हैं जो समस्त वस्तुओंको खंड-खंड करती और उन्हें समग्र रूपमें देखना और उन्हें जिससे न्याय-संगति प्रदान होती है उसके संबंधमें रखकर देखना अस्वीकार करती है, और इस भाँति यह बौद्धिक धारणा बना ली जा सकती है कि एक परम अशुभ है, परम अन्याय है, सकल वस्तुओंमें एक परम और चरम वीभत्सता, दुःखदता, तुच्छता, हीनता या असारता है; परंतु ऐसा करना अज्ञानकी पद्धतिको उसकी पराकाष्ठातक ले जाना होगा जिसकी दृष्टि विभाजन पर आधारित है। किंतु ऐसा करते हुए हम दिव्य क्रियाओंके साथ न्याय नहीं कर सकते। चूंकि निर्विशेष अपने-आपको सापेक्षोंके माध्यमसे व्यक्त करता है और इसके रहस्यकी थाह लगानी हमारे लिये कठिन है, और चूंकि हमारी सीमित दृष्टिको प्रत्येक वस्तु विरोधों और नकारोंकी निरुद्देश्य क्रीड़ा अथवा विरोधोंका पुंज प्रतीत होती है, इसीसे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि हमारी प्रथम सीमित दृष्टि सही है या कि सब कुछ मनका एक व्यर्थ विभ्रम है और उसमें कोई सत्यता नहीं। हम सबका समाधान एक ऐसे समाधानहीन आदि विरोधके प्रतिपादनके द्वारा भी नहीं कर सकते जिससे बाकी सबकी व्याख्या करनी हो। जब मानव-बुद्धि प्रत्येक विरोधको अकेले लेकर उसे पृथक् और निश्चयात्मक मूल्य प्रदान करती है या एकको अस्वीकार कर दूसरेसे छुटकारा पाती है तो यह उसकी भूल होती है; परंतु जिन विरोधी भावोंमें किसी भी प्रकार समन्वय नहीं बैठ पाया है अथवा जिनका मूल और सार्थक्य उनके विरोधसे परेकी किसी वस्तुमें प्राप्त नहीं हुआ है, उस दशामें उन विरोधोंके युग्मोंको अंतिम और निर्णायक सत्य मानना जब मानव-बुद्धि अस्वीकार करती है तो उसका ऐसा करना सही होता है।

अस्तित्वके आदि विरोधोंका समन्वय या उनकी व्याख्या हम अपनी काल-संबंधी धारणाका आश्रय लेकर भी नहीं कर सकते। कालके संबंधमें हमारा जो ज्ञान या हमारी जो धारणा है, उसके अनुसार वह हमारे लिये वस्तुओंको अनुक्रममें अनुभव करनेका साधन है, काल एक निमित्त-अवस्था है और निमित्त-अवस्थाओंका कारण है, वह अस्तित्वके विभिन्न लोकोंमें भिन्न-भिन्न होता है, यहाँतक कि एक ही लोकमें विभिन्न सत्ताओंके लिये भिन्न-भिन्न होता है, अर्थात् काल न तो 'निरपेक्ष' है और न वह 'निरपेक्ष'के प्रारंभिक संबंधोंकी व्याख्या ही कर सकता है। वे संबंध अपने-आपको कालके द्वारा ब्योरेवार कार्यान्वित करते हैं और हमारी मनोमय और प्राणिक सत्ताको कालके द्वारा निर्धारित होते प्रतीत होते हैं; परंतु यह प्रतीति

हमें उनके उद्‌गम और तत्त्वोंतक वापस नहीं ले जाती। हम सोपाधिक और निरुपाधिकका भेद करते हैं और कल्पना करते हैं कि कालकी किसी तिथिमें निरुपाधिक सोपाधिक हो गया, अनंत सांत हो गया और कालकी किसी अन्य तिथिमें वह सांत रहना छोड़ देगा, क्योंकि व्योरोंमें, विशेषोंमें अथवा वस्तुओंकी इस या उस प्रणालीके प्रसंगमें हमें ऐसा ही दिखाई देता है। परंतु हम यदि अस्तित्वको उसके समग्र रूपमें देखते हैं तो पाते हैं कि अनंत और सांत सह-अस्तित्ववान् हैं और एक-दूसरेमें और एक-दूसरेके द्वारा अस्तित्ववान् हैं। यदि हमारा विश्व कालके अंदर छंदोबद्ध रूपसे विलीन और पुनः प्रकट होता रहता हो, जैसा कि प्राचीन विश्वास था, तो भी यह एक बड़ा व्योरा मात्र होगा; इससे यह नहीं प्रदर्शित होगा कि किसी क्षण विशेषमें समस्त उपाधिका अनंत अस्तित्वकी समस्त विस्तृतिमें अवसान हो जाता है और अखंड सन्मात्र तब निरुपाधिक हो जाता है, और किसी अन्य क्षणमें वह उपाधियोंको फिरसे यथार्थतः या प्रतीयमानतः धारण करता है। प्रथम उद्‌गम और प्राथमिक संबंध हमारे मनके बनाये काल-विभागोंसे परे, दिव्य कालातीत स्थितिमें अथवा अविभक्त या सनातन कालमें हैं, हमारे विभाग और अनुक्रम तो हमारे मानस-अनुभवमें आये उस कालके आकार मात्र हैं।

वहाँ हम सब कुछको मिलते देखते हैं और यह देखते हैं कि वहाँ अस्तित्वके समस्त तत्त्व, अस्तित्वकी समस्त स्थायी सत्यताएँ (वस्तुतः सत्ताके तत्त्व-रूपमें सांत भी उतना ही स्थायी है जितना कि अनंत) निर्विशेषके किसी अपवर्जक एकत्वमें नहीं, वरन् मुक्त एकत्वमें, एक-दूसरेके साथ प्राथमिक संबंध रखते हुए स्थित हैं, और भौतिक अथवा मानसिक जगत्‌में वे जिस भाँति हमारे सामने उपस्थित होते हैं वह उनका दूसरी, तीसरी या और भी नीचेकी कोटिकी सापेक्षताओंमें चरितार्थ होना ही है। ऐसा नहीं है कि निर्विशेष अपने-आपके विपरीत हो गया हो और किसी विशेष तिथिमें उसने वास्तव या अवास्तव सापेक्षताओंको धारण कर लिया हो, जब कि आद्या स्थितिमें वह इनके लिए असमर्थ था; न ऐसा ही है कि वह 'एक' किसी चमत्कारसे बहु बन गया हो, न ऐसा ही है कि निरपेक्ष सापेक्षमें च्युत हो गया हो, न यही है कि निर्गुण सगुणमें अंकुरित हो गया हो। ये विरोध-भाव केवल हमारी मानस-चेतनाकी सुविधाएँ हैं, हमारे द्वारा अविभाज्यके विभाजन हैं। वे जिन वस्तुओंका प्रतिनिधित्व करते हैं वे कल्पित रचनाएँ नहीं, अपितु वास्तवताएँ हैं, परंतु उन्हें परस्पर असमाधेय विरोधमें या एक-दूसरेसे पृथक् रखनेसे उनका सही ज्ञान नहीं होता;

क्योंकि, निर्विशेषकी सर्व-दृष्टिमें उनमें ऐसा कोई असमाधेय विरोध अथवा पार्थक्य है ही नहीं। यह केवल हमारे भौतिक विज्ञानकृत विभाजनों और तत्त्व-मीमांसाकृत विभेदोंकी ही नहीं, अपितु हमारी अपवर्जक आध्यात्मिक उपलब्धियोंकी भी दुर्बलता है, जो केवल इस कारण अपवर्जक हैं कि उनतक पहुँचनेके लिए हमें अपनी सीमाकारी और विभाजनकारी मानस-चेतनासे आरंभ करना होता है। तत्त्व-मीमांसीय प्रभेद हमें इसलिये करने पड़ते हैं ताकि हम अपनी बुद्धिको ऐसे सत्यकी ओर जानेमें सहायता दे सकें जो उससे अतीत है; कारण, ऐसा करके ही हमारी बुद्धि हमारी प्रथम अविवेकी मानस-दृष्टिके संभ्रमोंसे वच सकती है। परंतु, यदि हम अंततक उसमें बँधे रहें तो जिन चीजोंको हमारे लिये प्राथमिक सहायताएँ होना चाहिए था, उन्हींको हम अपने लिये वेड़ियाँ वना लेंगे। हमें भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक उपलब्धियोंका भी उपयोग करना है जो कि प्रारंभमें एक-दूसरेके विपरीत प्रतीत हो सकती हैं, कारण, मनोमय प्राणी होने के नाते हमारे लिये यह कठिन अथवा असंभव होता है कि जो हमारे मनसे अतीत है उसे हम तुरंत ही विशाल और सम्पूर्ण रूपसे गृहीत कर सकें; परन्तु यदि हम उन्हें एकमात्र सत्य होनेका वौद्धिक रूप दे देते हैं तो हम भूल करेंगे,—जैसे कि हम तव भूल करते हैं जव हम यह प्रतिपादित करते हैं कि निर्व्यक्तिक ही एकमात्र चरम उपलब्धि होना चाहिये और वाकी जो है मायाकी रचना है अथवा जव हम यह घोषणा करते हैं कि सगुण ब्रह्म ही वह चरम उपलब्धि है और निर्व्यक्तिकताको अपने आध्यात्मिक अनुभवसे निकाल वाहर करते हैं। हमें यह देख लेना है कि महान् आध्यात्मिक साधकोंकी ये दोनों उपलब्धियाँ अपने-अपने तईं समान रूपसे प्रामाणिक हैं, साथ ही, एक-दूसरीके विरोधमें समान रूपसे अप्रामाणिक भी; वे एक ही और अभिन्न सद्वस्तु हैं जिसके दो पार्श्वोंका अनुभव किया गया है और ये दोनों ही पार्श्व एक-दूसरेके सम्पूर्ण ज्ञान और अनुभवके लिये और उसके भी सम्पूर्ण ज्ञान और अनुभवके लिये आवश्यक हैं जिसके कि वे दोनों ही पार्श्व हैं। यही वात 'एक' और 'वहु', सांत और अनंत, विश्वातीत और विश्वात्मक, व्यक्ति और विश्वके साथ भी है; प्रत्येक अपना निजत्व भी है और अन्य भी, और कोई भी एक, अन्यको जाने विना और उनके विपरीत विरोधोंके प्रतिभासका अतिक्रमण किये विना, संपूर्णतः ज्ञात नहीं हो सकता।

अतः हम देखते हैं कि अद्वय सत्ताके तीन पाद हैं, विश्वातीत, विश्वीय और वैयक्तिक, और इनमेंसे प्रत्येक गुप्त या स्पष्ट रूपसे अन्य दोनोंको सर्वदा समाविष्ट रखता है। विश्वातीत सदा स्वप्रतिष्ठ रहता और अन्य दोनोंको

भी अपने-आपकी कालिक संभावनाओंके आधार-रूपमें नियंत्रित करता है; वही है भगवान्, शाश्वत सर्वप्रभु ईश्वर-चैतन्य, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, जो सकल भूतोंको अनुगर्भित, परिगृहीत और शासित करता है। पृथ्वीपर तीसरे पादकी, अर्थात् व्यक्ति-रूपकी, उच्चतम विभूति मानव-जीव है, क्योंकि आत्माभिव्यक्तिकी जो गतिधारा हमारे सामने अज्ञान और ज्ञानके दो प्रान्तोंके बीच होनेवाले दिव्य चेतनाके निवर्तन और विवर्तनके रूपमें प्रकट होती है, उसे उसके महत्त्वपूर्ण निर्णायक मोड़पर कार्यान्वित कर सकनेवाला एकमात्र मनुष्य ही है। व्यक्तिमें जो यह शक्ति है कि वह आत्म-ज्ञानके द्वारा अपनी चेतनामें विश्वातीत और विश्वव्यापीके साथ, अद्वय सत्-पुरुष और समस्त सत्ताओंके साथ अपना एकत्व प्राप्त कर सकता है, उस ज्ञानमें निवास कर सकता है और उसके द्वारा अपना जीवन रूपांतरित कर सकता है, यही शक्ति व्यक्तिके द्वारा दिव्य आत्माभिव्यक्तिकी क्रियान्विति संभव करती है; और व्यक्तिका,—किसी एकका नहीं, अपितु सबका—दिव्य जीवनतक पहुँच जाना उस गति-धाराका एकमात्र बुद्धिगम्य उद्देश्य है। व्यक्तिका अस्तित्व निर्विशेषके किसी विशेष आत्मभावमें हुई कोई भूल नहीं है जो उस आत्मभावको बादमें ज्ञात होती हो; कारण, यह असंभव है कि परमा आत्म-संवित् या जो उसके साथ एकात्म है वह अपने ही सत्य और अपने ही सामर्थ्योंके प्रति अज्ञ हो और उस अज्ञानसे धोखा खाकर निजके बारेमें कोई मिथ्या भाव बना ले जिसका उसे संशोधन करना पड़े अथवा कोई असंभव बीड़ा उठा ले जिसका उसे परित्याग करना पड़े। यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यक्तिका जीवन भगवान्‌की लीलामें कोई गौण परिस्थिति है, या कि यह ऐसी लीला है जो सुख और दुःखके कभी अंत न होनेवाले चक्रोंमें निरंतर आवर्तित होती रहती है और स्वयं उस लीलामें न तो कोई उच्चतर आशा है, न कभी-कभी थोड़ेसे व्यक्तियोंके अपने इस अज्ञान-बंधनसे बाहर निकल जानेको छोड़कर और कोई परिणाम ही। ईश्वरकी क्रियाओंके विषयमें इसी निर्मम और विनाशकारी दृष्टिको माननेको हम तब बाध्य हो सकते थे यदि मनुष्यमें अपने-आपके अतिक्रमणकी शक्ति न होती या यह शक्ति न होती कि वह उस लीलाकी अवस्थाओंको, आत्मज्ञानके द्वारा रूपांतरित करता हुआ, दिव्य आनन्दके अधिकाधिक समीप ला सके। वरन्, उसी शक्तिमें व्यष्टि-जीवनकी सार्थकता है। व्यक्ति और विश्व अपने-आपके अंदर विश्वातीत सच्चिदानंदकी दिव्य ज्योति, शक्ति, आनन्दको उन्मीलित करें जो कि सर्वदा उनसे ऊपर अभिव्यक्त हैं, उनके बाह्य रूपोंके पीछे गुप्त रूपसे सदा विद्यमान हैं, यही भागवत लीलाका

गूढ़ अभिप्राय, उसकी चरम सार्थकता है। परन्तु वह उन्मीलन व्यक्ति और विश्वमें, उनके अपने अन्दर, उनके रूपांतरमें, और उनके स्थायित्व तथा पूर्ण संबंधोंमें भी होना चाहिये, न कि उनके आत्म-विनाशमें। ऐसा न हो तो कभी भी उनके अस्तित्वका कोई सार्थक्य नहीं रह जाता। व्यक्तिमें भगवान्‌के उन्मीलनकी संभावना ही पहेलीका रहस्य है; भगवान्‌का वहाँ विद्यमान रहना और आत्मोन्मीलनका यह अभिप्राय, यही ज्ञान-अज्ञानके जगत्‌की कुंजी है।

अध्याय चार

दिव्य और अदिव्य

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।

उन कवि, मनीषी, स्वयंभू, परिभूने ही सब कुछ शाश्वत कालसे पूर्ण रूपमें व्यवस्थित कर रखा है।

—ईशोपनिषद् 8

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।
... ... मम साधर्म्यमागताः ।।

ज्ञान-तपके द्वारा पवित्र होकर अनेक मेरे भावको प्राप्त हो गये हैं।....वे मेरे साधर्म्यको प्राप्त हो गये हैं।

—गीता 4.10. 14.2

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

'तत्'को ही ब्रह्म जानो, न कि इसे जिसकी उपासना लोग यहाँ करते हैं।

—केनोपनिषद् 1.4

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा ।
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुर्षैर्वाह्यदोषैः ।।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः ।।

वह एक, नियंता, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा....। जिस प्रकार समस्त जगत्का चक्षु होते हुए भी सूर्य दृष्टिके वाह्य दोषों से स्पृष्ट नहीं होता, वैसे ही समस्त भूतोंका यह अन्तरात्मा जगत्के दुःखसे स्पृष्ट नहीं होता।

—कठोपनिषद् 5.12,11

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे...तिष्ठति ।।

ईश्वर सर्व भूतोंके हृदयमें निवास करते हैं।

—गीता
18.61

विश्व एक अनंत एवं शाश्वत सर्वसत्‌की अभिव्यक्ति है। जो कुछ भी है उस सबमें दिव्य पुरुष निवास करता है; स्वयं हम अपने आत्मामें, अपनी गभीरतम सत्तामें वही हैं; हमारा अंतरात्मा, हमारे अन्दर निगूढ़ भावसे निवास करनेवाला चैत्य पुरुष भागवत चैतन्य एवं सारका एक अंश है। अपने अस्तित्वके विषयमें हमने यही दृष्टि अपनायी है; परन्तु साथ ही हम यह कहते हैं कि दिव्य जीवन विकासक्रमकी प्रक्रियाका चरम शिखर है। इस कथनमें यह इंगित होता है कि हमारा वर्तमान जीवन अदिव्य है और जो जीवन हमसे नीचे है वह भी, सारा-का-सारा, अदिव्य है। प्रथम दृष्टिमें यह कथन आत्म-विरोधी प्रतीत होता है। वरन्, अपने अभीप्सित दिव्य जीवन और एक वर्तमान अदिव्य जीवनके बीच विभेद न कर, एक दिव्य अभिव्यक्तिकी एक भूमिसे उच्चतर भूमिपर आरोहण करनेकी बात अधिक युक्तियुक्त होगी। यह स्वीकार किया जा सकता है कि यदि हम केवल आंतरिक सत्यतापर दृष्टिपात करें और बाह्य आकृतिसे आनेवाले सुझावोंकी उपेक्षा करें, तो क्रमविकासका स्वरूप, प्रकृतिमें हमें जिस परिवर्तनसे गुजरना है उसका स्वरूप तत्त्वतः ऐसा ही लगे। और, जिस चक्षुका विश्व-दर्शन निष्पक्ष है, ज्ञान और अज्ञान, अच्छे और बुरे, सुख और दुःखके हमारे द्वन्द्वोंसे अबाधित है और सच्चिदानंदके अप्रतिहत चैतन्य तथा आनन्दमें भाग लेता है, उसे भी शायद ऐसा ही प्रतीत होगा। किन्तु फिर भी, तात्त्विक दृष्टिकोणसे भिन्नतया यदि व्यावहारिक और सापेक्ष दृष्टिंकोणसे देखा जाय, तो दिव्य और अदिव्यके बीचके भेदका एक अनुपेक्ष्य मूल्य, एक बहुत ही सबल सार्थक्य रहता है। अतः यह हमारी समस्याका एक ऐसा पहलू है जिसे प्रकाशमें लाना और जिसका सच्चा महत्व आँकना आवश्यक है।

दिव्य और अदिव्य जीवनके बीच जो भेद है वह वास्तवमें वह मूलगत भेद है जो आत्म-संवित्‌में और ज्योतिकी शक्तिमें व्यतीत होनेवाले ज्ञानमय जीवन और अज्ञानमय जीवनके मध्य होता है,—कमसे-कम, मूल निश्चेतनामेंसे धीमे-धीमे और कठिनाईसे विवर्तित हो रहे इस जगत्‌में तो यह

भेद इसी रूपमें उपस्थित होता है। जिस जीवनका आधार अभी भी यह निश्चेतना है उस सारे जीवनपर एक मूलभूत अपूर्णताकी छाप लगी रहती है; कारण, यदि वह अपने निजके प्ररूपसे संतुष्ट भी हो तो भी यह किसी असम्पूर्ण और असामंजस्यपूर्ण वस्तुसे, असंगतियोंके कामचलाऊ जोड़जाड़से संतोष करना ही है। इसके विपरीत, शुद्धतया मनोमय या प्राणिक जीवन भी, यदि वह किसी सीमित ही सही परन्तु सामंजस्यपूर्ण आत्म-शक्ति और आत्मज्ञानपर आधारित हो तो अपनी सीमाओंके अन्दर पूर्ण हो सकता है। यह अपूर्णता और असामंजस्यकी स्थायी छापका बंधन ही अदिव्य-का चिह्न है; इसके विपरीत, दिव्य जीवन, न्यूनसे अधिककी ओर प्रगति करता हुआ भी, प्रत्येक भूमिकामें तत्त्वतः और विस्तारमें सामंजस्यपूर्ण होगा; वह एक ऐसा सुदृढ़ आधार होगा जिसपर स्वतंत्रता और पूर्णता स्वाभाविक रूपसे पुष्पित हो सकतीं अथवा अपने उच्चतम पदकी ओर वर्द्धित हो सकती हैं, शुद्ध और विस्तृत होती हुई अपनी अधिकतम सूक्ष्म समृद्धिमें पहुँच सकती हैं। दिव्य और अदिव्य जीवनके अन्तरपर विचार करनेमें हमें समस्त अपूर्णताओं और समस्त पूर्णताओंको दृष्टिमें लेना होगा। यह सच है कि सामान्यतः लोग इनके बीच ऐसे मनुष्योंकी भाँति भेद करते हैं जो जीवनके चापके नीचे, तात्कालिक समस्याओं और जटिलताओंके बीच अपने आचरणकी कठिनाइयोंके नीचे दबे हुए संघर्ष कर रहे हैं; सबसे अधिक हम उस भेदकी बात सोचते हैं जो हम अच्छे और बुरेके बीच करनेको विवश होते हैं, या उसकी बात उसके सजातीय द्वन्द्वकी, हमारे अन्दर सुख और दुःखके संमिश्रणकी समस्याके साथ सोचते हैं। जब हम वस्तुओंके अन्दर दिव्य पुरुषकी विद्यमानताको, जगत्के दिव्य मूलको, उसकी क्रियाओंपर भगवान्के शासनको बुद्धिके द्वारा देखना चाहते हैं, तो बुराईकी उपस्थिति, कष्टपर जोर, प्रकृतिकी व्यवस्थामें पीड़ा, शोक और संतापको दिया गया विस्तृत और विशाल भाग हमारे सामने ऐसे क्रूर व्यापारोंके रूप-में आते हैं जो हमारी बुद्धिको व्याकुल कर देते हैं और मनुष्यकी जो सहज श्रद्धा होती है कि जगत्का ऐसा कोई दिव्य मूल और शासन है अथवा उसमें एक सर्वद्रष्टा, सर्वनिर्धारक, सर्वव्यापी भागवत सत्ता अनुस्यूत है, उस श्रद्धाको पराभूत कर देते हैं। अन्य कठिनाइयोंका समाधान हम अधिक आराम और आसानीसे कर सकते हैं और अपने समाधानोंकी प्रस्तुत सुनिश्चिततासे अधिक संतुष्टि भी अनुभव कर ले सकते हैं। परन्तु निर्णय का यह मानक पर्याप्त रूपसे व्यापक नहीं और यह एक अत्यधिक मानवीय दृष्टिकोणपर आश्रित है; कारण, अधिक व्यापक दृष्टिकोणके लिये बुराई

और कष्ट एक प्रभावशाली पहलूके रूपमें ही उपस्थित होते हैं, उसके लिये वे सम्पूर्ण दोष नहीं हैं, इस समस्याकी जड़ भी नहीं। जगत्‌की अपूर्णताओं-की कुल राशि केवल इन्हीं दो त्रुटियोंसे नहीं बनी है; यदि यह मान भी लिया जाय कि हमारी आध्यात्मिक या भौतिक सत्ताका शुभ तथा सुखसे पतन हुआ है, तो भी उस पतनके अतिरिक्त, या अशुभ और दुःखको जीतने-में हमारी प्रकृतिकी विफलताके अतिरिक्त और भी कुछ है। हमारे जाग-तिक अनुभवमें शुभ और आनन्दकी न्यूनता है, हमारी सत्ताके द्वारा मांगी गयी नैतिक और सुखभोग-संबंधी तृप्तियोंकी कमी है, इसके अतिरिक्त अन्य दिव्य संपदाओंकी भी कमी है : कारण, ज्ञान, सत्य, सौन्दर्य, शक्ति, एकत्व,—ये भी दिव्य जीवनके उपादान और तत्त्व हैं, और ये हमें अल्प मात्रामें और अनिच्छापूर्वक दिये गये हैं; फिर भी, वे सब, "परमे पदे", दिव्य प्रकृतिकी शक्तियाँ हैं।

अतः हमारी अपनी और जगत्‌की अदिव्य अपूर्णताके वर्णनको केवल नैतिक बुराई अथवा संवेदनात्मक दुःखतक ही सीमित रखना संभव नहीं है; जगत्‌की पहेलीमें इनकी दुहरी समस्याके अतिरिक्त और भी कुछ है,— कारण, वे एक सामान्य तत्त्वके ही दो सबल परिणाम हैं। हमें अपूर्णता-के सर्वसामान्य तत्त्वको मानना और उसपर विचार करना होगा। यदि हम इस सर्वसामान्य अपूर्णतापर ध्यानसे विचार करें तो देखेंगे कि यह अपूर्णता पहले तो बनती है हमारे अन्दर दिव्य तत्त्वोंके परिसीमनसे जो उन्हें उनकी दिव्यतासे वंचित कर देता है, फिर बनती है एक विविध बहु-शाखित विरू-पण, एक विकृति, एक विपरीत मोड़, सत्ताके किसी आदर्श 'सत्य'से, एक मिथ्याकारी विचलनसे। हमारे मनको वह 'सत्य' प्राप्त नहीं, परन्तु वह उसकी धारणा कर सकता है, उसके सम्मुख वह विचलन यह चित्र उपस्थित करता है कि या तो वह एक ऐसी अवस्था है जिससे हम आध्यात्मिक रूपसे च्युत हो गये हैं या वह एक संभावना या प्रतिश्रुति है जिसे हम पूरी नहीं कर सकते, उपलब्ध नहीं कर सकते, क्योंकि उसका अस्तित्व केवल आदर्श-के रूपमें है। या तो आंतर आत्माका एक महत्तर चेतना और ज्ञान, आनंद, प्रेम और सौन्दर्य, बल और सामर्थ्य, सामंजस्य और शुभसे पतन हुआ है अथवा हम सहज-प्रवृत्तिसे जिसे दिव्य और वांछनीय मानते हैं उसे प्राप्त करनेमें हमारी संघर्षशील प्रकृति विफल रही है, अशक्त रही है। यदि हम उस पतन अथवा विफलताके कारणकी गहराईमें जायँ तो पायँगे कि इस सबके मूलमें एक आदि तथ्य है, और वह यह है कि हमारी सत्ता, चेतना, शक्ति और हमारा वस्तुओंका अनुभव,—अपने प्रकृत आत्म-स्वरूपमें

नहीं, अपितु बाह्य व्यावहारिक प्रकृतिमें--दिव्य सत्के एकत्वमें हुए विभाजन या विदारणके किसी तत्त्व या प्रभावी व्यापारके प्रतिरूप हैं। यह विभाजन अपने अनिवार्य व्यावहारिक परिणाममें दिव्य चेतना और ज्ञान, दिव्य आनन्द और सौन्दर्य, दिव्य बल और सामर्थ्य, दिव्य सामंजस्य और शुभका परि-सीमन हो जाता है: पूर्णता और समग्रतामें परिसीमन हो जाता है, हमारे इन वस्तुओंको देखनेमें एक अंधता आ जाती है, हमारे उनके अनुसरणमें एक पंगुता आ जाती है, हमारे उनके अनुभवमें एक खंडभाव आ जाता है, शक्ति और तीव्रता का ह्रास हो जाता है, गुण निम्नतर स्तरपर आ जाता है,--यह या तो आध्यात्मिक शिखरोंसे नीचे उतर आनेका या ऐसी चेतनाका चिह्न होता है जो निश्चेतनाकी असंवेदनशील तटस्थ एकस्वरतामेंसे उन्मज्जित हो रही है; उच्चतर भूमिकाओंपर जो तीव्रताएँ प्राकृत और स्वाभाविक हैं वे हमारे अन्दर लुप्त हो जातीं या हल्की पड़ जाती हैं, ताकि वे हमारे भौतिक जीवनकी कालिमाओं और धूमिलताओंके साथ समन्वित हो सकें। और तब, एक परवर्ती गूढ़ परिणामके द्वारा इन उच्चतम वस्तुओंमें विकृति भी आती है; हमारी सीमित मानसतामें अचेतना और गलत चेतना प्रविष्ट होती हैं, अज्ञान हमारी समस्त प्रकृतिको आच्छादित करता है और--अपूर्ण इच्छा तथा ज्ञानके दुष्प्रयोग अथवा अपनिदेशनके द्वारा, हमारी क्षीण चेतना-शक्तिकी स्वयंवह प्रतिक्रियाओंके द्वारा और हमारी उपादान-धातुकी हीन दरिद्रताके द्वारा दिव्य तत्त्वोंके प्रतिषेधों,--असामर्थ्य, तामसिकता, मिथ्यात्व, भूल, पीड़ा और शोक, अनुचित कर्म, विसंगति, अशुभ--की रचना होती है। और, इसके अलावा, विभाजनके इस अनुभवके प्रति, जीवनकी खंडकारिणी प्रवृत्तिके प्रति एक आसक्ति, एक संलग्नता सर्वदा हमारे अपने अन्दर कहीं न कहीं छिपी रहती है, हमारे छिपे स्थलोंमें पोषित होती रहती है। ऐसा तब भी होता है जब कि वह आसक्ति और संलग्नता सचेतन प्रकृतिमें प्रकट रूपसे अनुभूत नहीं होती, जब कि हमारे इन वस्तुओंसे उत्पी-ड़ित अंग उसका परित्याग कर देते हैं। और, यह आसक्ति, यह संलग्नता ही इन असुखोंका अपच्छेद या परित्याग और अपसारण नहीं होने देती। वस्तुतः, चूंकि चित्-शक्ति और आनन्दका तत्त्व ही समस्त अभिव्यक्तिके मूलमें है, अतः कुछ भी तवतक नहीं टिक सकता जवतक कि उसके लिये हमारी प्रकृतिमें इच्छा न हो, पुरुषकी अनुमति न हो, उसे बनाये रखनेमें सत्ताके किसी अंगमें निरंतर सुख अनुभव न होता हो, भले ही वह सुख गुप्त या विकृत क्यों न हो।

हम जब कहते हैं कि सब कुछ, हम जिसे अदिव्य कहते हैं वह भी,

एक दिव्य अभिव्यक्ति ही है, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि मूल तत्त्वमें सब कुछ दिव्य है, भले ही उसका रूप हमारे लिये पहेली हो या जुगुप्सा उत्पन्न करता हो। अथवा, यदि इसे ही ऐसी भाषामें प्रकट करें जिसे मान लेना हमारे वस्तुओंके मानसिक बोधके लिये अधिक आसान है, तो कहेंगे कि समस्त वस्तुओंमें एक सत् है, एक आदि सद्वस्तु—आत्मा, भगवान्, ब्रह्म—है जो नित्य शुद्ध, पूर्ण, आनंदमय, अनंत है: उसकी अनंतता सापेक्ष वस्तुओंकी सीमाओंसे क्षुण्ण नहीं होती; उसकी शुचिता हमारे पाप और बुराईसे दूषित नहीं होती; उसका आनंद हमारे कष्ट और पीड़ासे स्पृष्ट नहीं होता; उसकी पूर्णता हमारी चेतना, ज्ञान, इच्छा, एकत्वकी त्रुटियोंसे अक्षत रहती है। उपनिषदोंके कतिपय रूपकोंमें दिव्य पुरुषका वर्णन इस भाँति किया गया है कि वह एकतम अग्नि है जो समस्त रूपोंके अन्दर प्रविष्ट हो गया है और प्रत्येक रूपके अनुरूप बन जाता है; वह अद्वय सूर्य है जो सबको निष्पक्ष भावसे आलोकित करता और हमारे दृष्टिदोषोंसे अव्याहत रहता है। परन्तु यह प्रतिपादन पर्याप्त नहीं, इससे यह समस्या अनसुलझी रह जाती है कि जो स्वयं नित्य शुद्ध, पूर्ण, आनंदमय एवं अनंत है, वह क्यों अपनी अभिव्यक्तिमें अपूर्णता और परिसीमनको, अशुद्धता और दुःखको, मिथ्यात्व और अशुभको केवल सहता ही नहीं, अपितु उन्हें बनाए रखता और प्रोत्साहन देता प्रतीत होता है: इसमें समस्याके मर्म द्वैतका कथन तो है, परन्तु उसका समाधान नहीं।

यदि हम जीवनके इन दो विसंगत तथ्योंको एक-दूसरेके सामने खड़ा छोड़ दें तो हमें इस परिणामपर पहुँचना होगा कि इनमें मेल बैठाना संभव नहीं; हम बस इतना ही कर सकते हैं कि शुद्ध और सारभूत भागवत 'विद्यमानता'के गभीरतर होते आनंदबोधसे यथासंभव सलंग्न रहें और जबतक हम विसंगत बाह्यत्वके स्थानपर उसके दिव्य प्रतिपक्षका विधान प्रस्थापित नहीं कर पाते तबतक उस बाह्यत्वके साथ जो अच्छासे अच्छा हो सके करें। अन्यथा, हमें समाधान न खोजकर बल्कि पलायनकी खोज करनी पड़ेगी। कारण, हम कह सकते हैं कि एकमात्र आन्तरिक भागवत 'विद्यमानता' ही सत्य है और विसंगत बाह्यत्व अज्ञानके किसी रहस्यमय तत्त्वके द्वारा रचा गया मिथ्यात्व या भ्रम है; हमारी समस्या अभिव्यक्त जगत्के मिथ्यात्वसे निष्क्रांत होकर गुहाहित 'सद्वस्तु'के सत्यमें पहुंच जानेका मार्ग ढूंढ़ने की है। अथवा, बौद्ध-मतावलंबीकी भांति हम यह कह सकते हैं कि व्याख्याकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि यह अद्वितीय व्यावहारिक तथ्य विद्यमान है कि समस्त वस्तुएँ अपूर्ण और अस्थायी हैं, और कोई आत्मा

नहीं, भगवान् नहीं, ब्रह्म नहीं, क्योंकि वह भी हमारी चेतनाका भ्रम मात्र है : मुक्तिके लिये जो एकमात्र वस्तु आवश्यक है वह यह है कि अस्थायित्व-के प्रवाहमें नैरंतर्यको बनाये रखनेवाली विचारोंकी स्थायी रचना और कर्मकी स्थायी ऊर्जासे छुटकारा पाया जाय। निस्तार-प्राप्तिके इस मार्गसे हम निर्वाणमें आत्म-निर्वापण प्राप्त करते हैं; विश्वकी समस्या हमारे निजके आत्म-निर्वापणसे अपने-आप ही समाप्त हो जाती है। यह समस्यासे निकलनेका मार्ग तो है, परन्तु यह सच्चा और एकमात्र मार्ग प्रतीत नहीं होता, और अन्य समाधान भी सर्वथा संतोषजनक नहीं। यह एक तथ्य है कि विसंगत अभिव्यक्त जगत्को उपरितल बाह्यत्व कहकर उसे अपनी आन्तरिक चेतनामेंसे बहिष्कृत करते हुए, केवल शुद्ध और पूर्ण 'भागवत विद्यमानता' पर आग्रह करते हुए, हम व्यक्तिगत रूपसे इस नीरव दिव्यत्व-का एक गभीर और आनन्दमय अनुभव प्राप्त कर सकते, पुनीत गर्भगृहमें प्रवेश कर सकते, ज्योति और आनन्दमें निवास कर सकते हैं। सत्‌पर, 'शाश्वत' पर एकान्तिक रूपसे आन्तरिक एकाग्रता संभव है, ऐसी आत्म-निमग्नता भी संभव है जिसके द्वारा विश्वकी विसंगतियाँ दूर या विलुप्त हों जायँ। परन्तु हमारे अन्दर, नीचे गहराईमें कहींपर, एक अखंड चेतनाको प्राप्त करनेकी आवश्यकता भी रहती है, समग्र भगवान्‌को पानेके लिये एक निगूढ़ विश्वव्यापी एषणा प्रकृतिमें रहती है, सत्ताकी किसी समग्र संवित्, आनन्द एवं शक्तिकी ओर प्रेरण रहता है। ये समाधान हमारे अन्दरकी एक समग्र सत्ता, एक समग्र ज्ञानकी इस आवश्यकताको, इस सर्वांगीण एषणाको पूरी संतुष्टि नहीं देते। जबतक हमारे सामने जगत्‌की व्याख्या दिव्यतः नहीं हो जाती, हमारा भगवान्‌का ज्ञान अपूर्ण रहता है; क्योंकि, जगत् भी 'तत्' है और जबतक जगत् हमारी चेतनाके सम्मुख दिव्य सत्ताके रूपमें उपस्थित नहीं होता और हमारी चेतनाकी शक्तियाँ उसे दिव्य सत्ताके रूपमें गृहीत नहीं करतीं, समग्र दिव्यत्वपर हमें अधिकार नहीं होता।

समस्यासे निस्तार पानेका एक और भी मार्ग है। सारभूत भागवत 'विद्यमानता'को सर्वदा स्वीकार करते हुए हम पूर्णताविषयक मानवीय दृष्टि-को सुधारते हुए, अथवा उसे अति सीमित मानसिक मानदंड कहकर अलग हटाते हुए, अभिव्यक्तिका दिव्यत्व प्रमाणित करनेका प्रयास कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि वस्तुओंके अन्तरमें विद्यमान अध्यात्म-सत्ता निरपेक्षतया पूर्ण और दिव्य है, केवल यही नहीं, अपितु प्रत्येक वस्तु भी अपने-आपमें, जीवनकी संभावनाओंका जो कुछ उसे व्यक्त करना है उसे व्यक्त करनेमें, सम्पूर्ण अभिव्यक्तिके बीच अपना यथोचित स्थान ग्रहण करनेमें सापेक्ष रूपसे

पूर्ण और दिव्य है। प्रत्येक वस्तु अपने-आपमें दिव्य है, कारण, प्रत्येक वस्तु दिव्य सत्ता, ज्ञान एवं इच्छाका एक तथ्य और भाव है जो उस विशेष अभिव्यक्तिके नियमानुसार, अचूक रूपसे, अपने-आपकी परिपूर्ति कर रहा है। प्रत्येक सत्ताको उसके अपने स्वभावके ठीक अनुरूप ज्ञान और शक्ति प्राप्त होती है, अनुरूप परिमाणमें और अनुरूप प्रकारका अस्तित्वका आनंद प्राप्त होता है; प्रत्येक सत्ता एक गुप्त अन्तर्निहित इच्छा, एक सहज धर्म, आत्माकी एक अंत:स्थ शक्ति, एक गुह्य तात्पर्यके द्वारा आदिष्ट अनुभव-श्रेणीक्रमोंमें क्रिया करती है। इस भाँति वह अपने जगत्-व्यापारों और अपने स्वधर्मके वीचके संबंधमें पूर्ण रहती है, कारण सबके सब उस स्वधर्मसे सामंजस्य रखते हैं, उससे उदभूत होते हैं, जीवमें क्रियाशील दिव्य इच्छा और ज्ञानकी अचूकताके अनुसार अपने-आपको उसके प्रयोजनके अनुकूल वना लेते हैं। वह समग्रके प्रति अपने संबंधमें, समग्रके अन्दर अपने उचित स्थान में भी पूर्ण और दिव्य होती है; उस समग्रताके लिये वह आवश्यक होती है और उसके अन्दर वह ऐसा भाग पूरा करती है जिसके द्वारा विश्व-सामंजस्यकी वास्तविक और प्रगतिशील पूर्णता, उसके अन्दर उसके समग्र प्रयोजन और उसके समग्र अर्थके प्रति सवका अनुकूलीकरण सहायता पाते और परि-पूरित होते हैं। यदि हमें वस्तुएँ अदिव्य जान पड़ती हैं, यदि हम अमुक-अमुक व्यापारको दिव्य सत्ताके स्वभावसे असंगत होनेका दोषी ठहरानेमें उतावली करते हैं, तो इसका कारण यह है कि हमें यह ज्ञात नहीं कि जगत्में भगवान्का सम्पूर्ण अभिप्राय और तात्पर्य क्या है। चूँकि हम केवल अंगों और खंडोंको देखते हैं, हम प्रत्येकका निर्णय उसके अपने-आपेको इस आधारपर लेकर करते हैं मानों वह समग्र ही हो, वाह्य व्यापारोंका निर्णय भी हम उनका गूढ़ अर्थ जाने विना करते हैं; परन्तु जव हम ऐसा करते हैं तो हमारे वस्तुओंके मूल्यांकनमें दोष आ जाता है, उसपर एक आरं-भिक और मूलगत भ्रान्तिकी छाप लग जाती है। पूर्णता किसी वस्तुमें उसके पार्थक्यमें नहीं रह सकती, कारण वह पार्थक्य भ्रम है; पूर्णता होती है समग्र दिव्य सामंजस्यकी पूर्णता।

यह सब एक विशेप विंदुतक और अपनी सीमामें ही सत्य हो सकता है; परंतु यह समाधान भी अपने-आपमें अपूर्ण है और हमें पूरी संतुष्टि नहीं दे सकता। हमें जिस मानवीय चेतना और मानवीय दृष्टिसे आरंभ करना है उसे वह पर्याप्त रूपमें विचारमें नहीं लेता; वह जिस सामंजस्यका कथन करता है उसका हमें दर्शन नहीं कराता, और इस कारण वह हमारी माँग पूरी नहीं कर सकता, न वह हमें विश्वास ही दिला सकता है, अपितु,

बुराई और अपूर्णताकी वास्तवताका हमें जो तीक्ष्ण मानव-बोध है उसका प्रतिवाद एक शुष्क बौद्धिक धारणाके द्वारा करता है। वह हमारी प्रकृतिके अन्दर चैत्य तत्त्वका, ज्योति और सत्यकी ओर, आध्यात्मिक विजयकी ओर, अपूर्णता और अशुभपर विजय-प्राप्तिकी ओर अंतरात्माकी अभीप्साका पथ-प्रदर्शक नहीं होता। वस्तुओंके प्रति यह दृष्टि अपने-आपमें इस सरल मतसे अधिक और कुछ नहीं होती कि जो कुछ भी है ठीक है, क्योंकि सब कुछ दिव्य प्रज्ञाके द्वारा पूर्णतः समादिष्ट है। यह हमें एक आत्मतुष्ट बौद्धिक और दार्शनिक आशावादसे बेहतर कुछ भी नहीं देता; हमारी मानवीय चेतना शोक, कष्ट और असंगतिके जिन व्यग्रकारी तथ्योंकी सतत और व्याकुल साक्षिणी होती है उनपर यह मत कोई प्रकाश नहीं डालता; अधिक-से-अधिक यह सुझाव ही मिलता है कि वस्तुओंकी दिव्य युक्तिमें शोक, कष्ट और विसंगतिकी भी कुंजी है, परंतु वहाँ तक हमारी पहुँच नहीं। हमारे असंतोष और हमारी अभीप्साके लिये यह उत्तर पर्याप्त नहीं, क्योंकि, उस असंतोष और अभीप्साकी प्रतिक्रियाएँ चाहे कितनी ही अज्ञानमय क्यों न हों, उनके मानसिक हेतु कितने ही मिश्रित क्यों न हों, वे हमारी सत्ताके अन्दर नीचे गहराईमें रहनेवाली किसी दिव्य सत्यत्ताके अनुरूप होने ही चाहियें। जो दिव्य समग्र अपने अंगोंकी अपूर्णताके कारण ही पूर्ण है, उसके लिये यह खतरा रहता है कि स्वयं वह अपूर्णताके अन्दर ही पूर्ण हो, क्योंकि वह एक अभी तक असंसिद्ध रहते प्रयोजनके मार्गमें आनेवाली किसी भूमिकाको ही पूरी तरह चरितार्थ करता है; अतः वह एक वर्तमान समग्रता तो है किंतु अंतिम समग्रता नहीं। इसके लिये हम यह यूनानी युक्ति प्रयुक्त कर सकते हैं: Theos ouk estin alla gignetai, भगवान् अभी तक सद्भूत नहीं, सम्भवत् हैं, सत्तामें नहीं, संभूतिमें हैं। ऐसा हो तो सच्चे भगवान् हमारे अंदर गूढ़ रूपसे और शायद हमारे ऊपर परम भावमें स्थित होंगे; यथार्थ समाधान होगा भगवान्‌को अपने अन्दर और अपनेसे ऊपर पाना, 'तत्' जैसे पूर्ण है वैसे ही पूर्ण होना, 'तत्' से सादृश्य और साधर्म्य प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करना।

यदि मानवीय चेतना अपूर्णताके बोधसे और इस स्वीकृतिसे बद्ध हो कि अपूर्णता हमारे जीवनका धर्म और हमारी सत्ताका स्वभाव ही है——मानव-प्रकृतिकी ऐसी युक्तिसिद्ध स्वीकृति पशुके द्वारा पशु-प्रकृतिको दी गयी अंधी स्वीकृतिके समान होगी,——वैसी दशामें हम यह कह सकते थे कि हम जो कुछ अभी हैं वह हमारे अन्दर दिव्य आत्माभिव्यक्तिका सीमांत है। तब हम यह भी विश्वास कर सकते थे कि हमारी अपूर्णता और हमारे कष्ट

वस्तुओंके सर्वसामान्य सामंजस्य और पूर्णताके लिये कार्य कर रहे हैं, और हम अपने घावोंके लिये दिये गये इस दार्शनिक मरहमसे अपने-आपको सांत्वना दे सकते थे, हमारी अपूर्ण मानसिक बुद्धिमत्ता और हमारे अधीर प्राणिक अंग हमें जितनी भी यौक्तिक सावधानी अथवा दार्शनिक ज्ञानवत्ता और तितिक्षाका अवकाश दें उसे साथ लेकर जीवनके गर्त्तोंमें चलते रहनेसे संतुष्ट रह सकते थे। अथवा, धर्मके अधिक सांत्वनादायक जोशकी शरण लेकर हम सब कुछको ईश्वरकी इच्छा मान इस आशा या विश्वाससे उसके सामने सर नवा सकते थे कि पृथ्वीसे परेके किसी स्वर्गमें हमें इसका प्रतिफल मिलेगा, वहाँ हम अधिक सुखद जीवनमें प्रवेश करेंगे और एक अधिक शुद्ध और पूर्ण प्रकृति धारण करेंगे। परंतु, हमारी मानवीय चेतना और उसकी क्रियाओंमें एक सारभूत तत्त्व है जो मनुष्यको पशुसे संपूर्णतया भिन्न करनेमें मनुष्यके बुद्धि-तत्त्वकी अपेक्षा कम नहीं; हमारे अन्दर केवल मानसिक अंग ही नहीं है जो अपूर्णताको मानता हो, एक चैत्य अंग भी है जो कि उसे अस्वीकार करता है। पृथ्वीपर जीवनके धर्म-रूपमें अपूर्णताके प्रति हमारे अंतरात्माका असंतोष, हमारी प्रकृतिमेंसे समस्त अपूर्णताओंके निराकरणके लिये उसकी अभीप्सा,—और यह केवल किसी परलोकके स्वर्गमें नहीं, जहाँ कि अपूर्ण होना स्वयमेव असंभव होगा, अपितु, यहाँ और अभी, ऐसे जीवनमें, जहाँ पूर्णताको विकास और संघर्षके द्वारा जीत लाना है,—यह असंतोष और यह अभीप्सा भी हमारी सत्ताके वैसे ही स्वधर्म हैं जैसे कि वे जिनके विरुद्ध ये विद्रोह करते हैं; ये भी दिव्य हैं,—एक दिव्य असंतोष, एक दिव्य अभीप्सा। उनमें एक आंतरिक शक्तिकी सहज ज्योति है जो उन्हें हमारे अन्दर बनाये रखती है ताकि भगवान् केवल हमारी आध्यात्मिक गूढ़ताओंमें प्रच्छन्न सद्वस्तुकी तरह ही न रहें, वरन् प्रकृतिके विकासक्रममें स्वयं उन्मीलित हों।

इस दृष्टिसे हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि सब कुछ एक दिव्य बुद्धिमत्ताके द्वारा एक दिव्य लक्ष्यकी ओर क्रियान्वित है और अतएव उस अर्थमें प्रत्येक वस्तु अपने स्थानमें ठीक-ठीक जँची हुई है; परंतु हम यह कह रहे हैं कि यही साराका सारा दिव्य उद्देश्य नहीं। क्योंकि, जो कुछ है उसे अपने औचित्य, पूर्ण अर्थ और संतुष्टिकी प्राप्ति केवल उसके द्वारा होती है जो कि हो सकता है और होगा। निस्संदेह, दिव्य युक्तिमें एक ऐसी कुंजी है जो वस्तुओंके उस रूपका भी औचित्य सिद्ध करेगी जिसमें व अभी हैं। यह वह उनका सही सार्थक्य और सच्चा रहस्य बाह्य अर्थ और गोचरीय प्रतीतियोंसे भिन्न, सूक्ष्मतर, गभीरतर रूपमें प्रकट करती

हुई करेगी जब कि हमारी वर्तमान बुद्धि, सामान्यतः उन बाह्य अर्थों और गोचरीय रूपों तकको ही पकड़नेमें समर्थ रहती है। परन्तु हम केवल इसी विश्वाससे संतुष्ट नहीं रह सकते, क्योंकि, वस्तुओंकी आध्यात्मिक कुंजीकी खोज और प्राप्ति ही हमारी सत्ताका धर्म है। इस प्राप्तिका चिह्न यह नहीं है कि वस्तुओंको उनके वर्तमान रूपमें हम इस कारण दार्शनिक बुद्धिसे मानते और उदासीनता या बुद्धिमत्तासे स्वीकार करते हों कि उनके अन्दर कोई दिव्य अर्थ और प्रयोजन है जो हमसे परे है ; वरन् यथार्थ चिह्न हैं आध्यात्मिक ज्ञान और बलकी ओर उन्नयन जो हमारे जीवनके धर्म, व्यापार और बाह्य रूपोंको रूपांतरित कर उस दिव्य अर्थ और प्रयोजनके सच्चे प्रतिरूपके समीपतर ले जायगा। दुःखको और त्रुटियोंकी दासताको ईश्वरकी तत्कालीन इच्छा मानते हुए, हमारे अंगोंपर नियुक्त अपूर्णताका एक वर्तमान विधान मानते हुए, समताके साथ सहन करना ठीक और युक्तिसंगत है, परन्तु साथमें शर्त यह है कि हम यह भी मानें कि बुराई और दुःखका अतिक्रमण करना, अपूर्णताको पूर्णतामें रूपांतरित करना, दिव्य प्रकृतिके उच्चतर धर्ममें उन्नीत होना भी हममें ईश्वरकी ही इच्छा है। हमारी मानवीय चेतनामें सत्ताके आदर्श सत्यका, एक दिव्य प्रकृतिका, एक उन्मिषंत देवका चित्र रहता है ; उस उच्चतर सत्यकी तुलनामें हमारी अपूर्णताकी वर्तमान स्थितिको सापेक्ष रूपसे अदिव्य जीवन, और जगत्की जिन अवस्थाओंसे हम आरंभ करते हैं, उन्हें अदिव्य अवस्थाएँ कहकर वर्णित किया जा सकता है। अपूर्णताएँ हमारे लिये यह संकेत हैं कि वे दिव्य पुरुष एवं दिव्य प्रकृतिकी अभीष्ट अभिव्यक्ति नहीं, वरन् उनके प्रथम छद्मवेश हैं। हमारे अन्दर एक शक्ति है, छिपा हुआ दिव्य पुरुष है, जिसने अभीप्साकी लौ प्रज्वलित की है, जो आदर्शकी मूर्ति चित्रित करता, हमारे असंतोषको जीवित रखता और हमें प्रेरित करता है कि हम उन छद्मवेशोंको उतार फेंकें और इस पार्थिव जीवके अभिव्यक्त आत्मा, मन, प्राण और शरीरमें परम देवको प्रकाशित करें, अथवा यदि वैदिक शैलीमें कहें, उसे रूपायित और प्रकट करें। हमारी वर्त्तमान प्रकृति केवल संक्रमणकालीन हो सकती है, हमारी अपूर्ण स्थिति उस अन्य उच्चतर, वृहत्तर और महत्तर स्थितिकी प्राप्तिके लिये आरंभ-विन्दु और सुयोग ही हो सकती है जो केवल अपने अंतरस्थ गुप्त आत्माके नाते ही नहीं, अपितु, अपने जीवनके व्यक्त और अत्यंत बाह्य रूपमें भी दिव्य और पूर्ण होगी।

परंतु ये निष्कर्ष हमारे आंतरिक आत्मानुभव और विश्व-जीवनके भासमान तथ्योंपर आश्रित प्राथमिक तर्कणाएँ या आरंभिक संबोधियाँ मात्र

हैं। जबतक हम अज्ञान, अपूर्णता और दुःखका यथार्थ कारण और विश्व-प्रयोजन अथवा विश्व-व्यवस्थामें उनका स्थान नहीं जान लेते, तबतक ये निष्कर्ष पूर्णतः मान्य नहीं होते। यदि हम दिव्य सत्को मानते हैं तो ईश्वर और जगत्के संबंधमें तीन मत मिलते हैं जिनकी साक्षी मानवजातिकी सामान्य बुद्धि और चेतना देती है। परंतु इनमेंसे एक मत ऐसा है जिसकी अन्य दोनोंसे मेल नहीं बैठता, लेकिन हम जिस जगत्में रह रहे हैं उसके प्रकृतिके कारण वह अनिवार्य भी है। इस असामंजस्यके कारण मानव-मन प्रतिवादोंकी बड़ी उलझनोंमें पड़ जाता और संशय तथा अस्वीकार करनेको प्रवृत्त होता है। कारण, प्रथम हम यह सिद्धांत प्रतिपादित देखते हैं कि एक सर्वत्र-विद्यमान ईश्वर और सद्वस्तु है,—शुद्ध, पूर्ण और आनंदमय,—जिसके बिना, जिससे पृथक् किसी भी वस्तुका अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि सबका अस्तित्व केवल उसीके द्वारा और उसीकी सत्तामें है। इस विषयपर जो भी विचारधारा नास्तिकवादी या जड़वादी, या फिर, आदिम और मानवत्वारोपी नहीं, उसे इसी मान्यतासे आरंभ करना अथवा इसी मूलगत धारणापर पहुँचना होगा। यह सच है कि कुछ धर्म एक ऐसे विश्व-बहिर्भूत ईश्वरको मानते हैं जिसने अपनी स्व-सत्तासे बाहर और अलग जगत्की सृष्टि की है; परंतु वे भी, जब वे धर्मदर्शन या अध्यात्मदर्शनका सिद्धान्त गढ़ते हैं, तब यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है अथवा सबके अन्दर स्थित है,—कारण, यह सर्वत्र-विद्यमानता अपने-आपको मान्य कराके ही रहती है, आध्यात्मिक चिंतनके लिये आवश्यक रहती है। यदि ऐसा कोई ईश्वर, आत्मा या 'सत्-तत्त्व' है, तो वह सर्वत्र होगा, अद्वय और अविभाज्य होगा, उसकी सत्तासे पृथक् संभवतः किसीका भी अस्तित्व नहीं हो सकता; 'तत्'के अतिरिक्त अन्य किसीसे कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता; ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जो 'तत्' पर अवलंबित न हो, उससे स्वतंत्र हो, उसकी सत्ताके श्वास और बलसे भरा न हो। निस्संदेह, यह भी माना गया है कि इस जगत्के अज्ञान, अपूर्णता और दुःखको दिव्य सत्का अवलंब नहीं; परंतु तब हमें दो ईश्वर मानने होंगे, एक तो अहुर्मज़्द, मंगलमय ईश्वर और एक अहरिमन, अमंगलमय ईश्वर, अथवा, शायद, एक तो पूर्ण, विश्वातीत और सर्वान्तर्व्यापी सत्-पुरुष, और दूसरी ओर, एक अपूर्ण विश्वस्रष्टा, अथवा पृथक् अदिव्य प्रकृति। ऐसी कल्पना संभव तो है, परंतु हमारी उच्चतम बुद्धिके लिये असंभाव्य है; यह भाव, अधिकसे अधिक वस्तुओंका एक गौण पहलू ही हो सकता है, उनका मूल सत्य अथवा समग्र सत्य नहीं। हम यह भी नहीं मान सकते कि सबके अन्दर

जो एक आत्मा है, अध्यात्म-सत्ता है, वह और सबकी सृष्टि करनेवाली शक्ति भिन्न-भिन्न हैं, अपनी सत्ताके स्वरूपमें परस्पर विपरीत हैं, अपनी इच्छा और उद्देश्यमें पृथक्-पृथक् हैं। हमारी बुद्धि हमें यह कहती है, हमारी संबोधि-मूलक चेतना यह अनुभव करती है, और उनकी साक्षीकी पुष्टि आध्यात्मिक अनुभवसे होती है कि एक ही शुद्ध और निर्विशेष सत् समस्त वस्तुओं और भूतोंमें निवास करता है, जिस भाँति कि समस्त वस्तुओं और भूतोंका अस्तित्व उस सत्के अन्दर और उसके द्वारा है, और इस अन्तर्वासी तथा सर्वाधार सत्के विना कुछ भी नहीं हो सकता, न ही कुछ भी घटित हो सकता है।

दूसरा सिद्धांत, जिसे हमारा मन इस प्रथम मान्यताके स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप स्वीकार करता है, यह है कि पूर्ण सार्वभौमिक ज्ञान और दिव्य बुद्धिमत्तासे युक्त इस सर्वत्रव्यापी ईश्वरकी परमा चेतना तथा परमा शक्तिके द्वारा ही समस्त वस्तुएँ अपने मूलभूत संबंधोंमें और अपनी प्रक्रियामें व्यवस्थित और शासित होती हैं। परन्तु, दूसरी ओर, वास्तविक क्षेत्रमें हमें वस्तुओंकी जो क्रियाविधि, उनके जो संबंध दिखाई देते हैं, वे हमारी मानवीय चेतनाके सम्मुख अपूर्णताके, सीमितताके संबंधोंके रूपमें उपस्थित होते हैं; एक असामंजस्य दिखाई देता है, विकृतितक भी दिखाई देती है, ऐसा कुछ दीखता है जो हमारी दिव्य सत्की धारणाके विपरीत है, भागवत् विद्यमानताका एक वहुत ही प्रत्यक्ष खंडन है अथवा, कम-से-कम, उसका विकृत रूप या छद्मवेश तो है ही। यहाँ एक तीसरा सिद्धांत निकलता है कि भागवत सत्ता और जगत्-सत्ता सार रूपमें अथवा विन्यासमें भिन्न-भिन्न हैं, इतनी भिन्न कि हमें एकतक पहुँचनेके लिये दूसरीसे अलग हो जाना पड़ता है; यदि हमें दिव्य अंतर्वासीको पाना है तो उस जगत्का परित्याग करना ही होगा जिसमें वह निवास करता है, जिसपर वह शासन करता है, जिसकी सृष्टि या अभिव्यक्ति उसने स्वकीय सत्तामें की है। इन तीन सिद्धान्तोंमें प्रथमकी मान्यता अनिवार्य है। और सर्वत्र-विद्यमान भगवान् जिस जगत्में निवास करते हैं, उस जगत्से और उसकी अभिव्यक्ति, उसके निर्माण, संरक्षण और शासनसे उनका यदि कुछ भी संपर्क हो तो दूसरा सिद्धांत भी अवश्य मान्य रहेगा। परंतु तीसरा सिद्धांत भी स्वतःसिद्ध लगता है और फिर भी वह अपने पूर्वगामियोंसे असंगत है, और यह विसंगति हमारे सामने ऐसी समस्या खड़ी करती है जिसका संतोषजनक समाधान होना संभव नहीं लगता।

दार्शनिक वुद्धि अथवा धर्मशास्त्रीय तर्ककी किसी रचनाके सहारे कठिनाई-की प्रवंचना करना कठिन नहीं। ऐपिक्यूरसके देवताओंके समान किसी

निश्चेष्ट ईश्वरको खड़ा करना संभव है, जो स्वतः आनंदमय रहता हुआ, प्रकृतिके किसी यांत्रिक नियमके द्वारा सुसंचालित अथवा कुसंचालित जगत्‌को देखता तो हो, परंतु उसके प्रति उदासीन हो। हमारे लिये यह विकल्प खुला रहता है कि हम एक साक्षी आत्माको, सर्व भूतोंके अन्दर एक शान्त निश्चल आत्माको, एक पुरुषको मानलें जो प्रकृतिको, वह जो चाहती हो, करने देता है, उसकी सारी व्यवस्था और सारी अव्यवस्थाओंको अपनी निष्क्रिय तथा निष्कलंक चेतनामें प्रतिबिम्बित करनेमें संतुष्ट रहता है; अथवा यह मान लें कि एक परमात्मा है,—निर्विशेष, निष्क्रिय, समस्त संबंधोंसे मुक्त, विश्वमाया अथवा सृष्टिके कार्योंकी ओरसे उदासीन,—और उस माया अथवा सृष्टिकी उत्पत्ति कालगत जीवोंको प्रलोभित करने और सतानेके लिए उस परमात्मामेंसे अथवा उसके विरुद्ध किसी रहस्यमय अथवा विरोधाभासी तरीकेसे हो गयी है। परन्तु ये सारे समाधान हमारे द्विविध अनुभवकी प्रत्यक्ष विसंगतिको प्रतिविंवत करनेकी अपेक्षा अधिक कुछ भी नहीं करते; वे उनके बीच मेल बैठानेका प्रयत्न नहीं करते, उसका समाधान अथवा उसकी व्याख्या भी नहीं करते; वरन् प्रकट या अप्रकट द्वैतके द्वारा और अविभाज्यकें मूलभूत विभाजनके द्वारा उनकी पुनः दृढ़ोक्ति ही करते हैं। व्यवहारतः एक द्वैत ईश्वरत्वको—आत्मा या पुरुषको और प्रकृतिको—मान लिया जाता है। परन्तु प्रकृति, वस्तुओंके अन्दरकी शक्ति, वह तो वस्तुओंकी सारसत्ता, आत्मा अथवा पुरुषकी शक्तिसे अन्य कुछ हो नहीं सकती; प्रकृतिके कार्य आत्मा या पुरुषसे सर्वथा स्वतंत्र नहीं हो सकते, पुरुषकी अनुमति अथवा अस्वीकृतिसे अप्रभावित, प्रकृतिके अपने ही विपरीत *परिणाम और क्रिया नहीं हो सकते, पुरुषकी यांत्रिक निष्क्रियताकी तामसिकता*पर यांत्रिक शक्तिका बलात् आरोपण भी नहीं हो सकते। फिर, यह भी संभव है कि एक निष्क्रिय साक्षी आत्मा और एक सक्रिय स्रष्टा ईश्वर मान लिये जायँ; परन्तु इस उपायसे भी हमारा काम नहीं चल सकता, क्योंकि अन्तमें ये दोनों वस्तुतः एक ही होंगे जिसके कि ये युगल पक्ष हैं,—ईश्वर है साक्षी आत्माका सक्रिय रूप, और आत्मा अपने ही क्रियारत ईश्वरत्वका साक्षी। ज्ञानमें स्थित आत्मा और अपने कर्ममें रत उसी आत्माके बीच एक विसंगति, एक खाई है जिसकी व्याख्याकी आवश्यकता होती है, परन्तु वह अव्याख्यात और अव्याख्येय रूपमें उपस्थित होती है। या फिर, हम यह मान ले सकते हैं कि 'सद्‌वस्तु'-स्वरूप ब्रह्मकी द्विविध चेतना है, एक निष्क्रिय, दूसरी सक्रिय, एक है सार-स्वरूप और आध्यात्मिक, जिसमें वह पूर्ण तथा निर्विशेष 'आत्मा' है, दूसरी है रचयित्री, व्यावहारिक, जिसमें वह अनात्मा

हो जाता है और जिसमें भाग लेनेका उसकी निर्विशेषता और पूर्णताको कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह तो कालातीत 'सद्वस्तु'में एक कालिक रूपायण मात्र है। परन्तु, हम चाहे अर्ध-सत्, अर्ध-चेतन ही हों, तथापि हम निर्विशेषके अर्ध-स्वप्न-रूप जीवनमें वास करते हैं और उस जीवनके साथ भीषण और दुस्त्याज्य संबंध रखनेको और उसे यथार्थ मानकर उसके साथ व्यवहार करनेको प्रकृतिके द्वारा वाध्य किये जाते हैं। हमारे लिये यह वात एक स्पष्ट रहस्यमयताका रूप धारण कर लेती है; कारण, यह कालिक चेतना और उसकी रचनाएँ भी अन्तमें उस अद्वय आत्माकी ही शक्ति हैं, उसीपर निर्भर करती हैं, केवल उसीके द्वारा अस्तित्व रख सकती हैं; और जिसका अस्तित्व 'सद्वस्तु'की शक्तिके द्वारा है वह 'सद्वस्तु'से असंवंधित नहीं रह सकता, न 'तत्' ही स्वकीय शक्तिके बनाये जगत्से असंबंधित रह सकता है। यदि जगत्का अस्तित्व परमात्माके द्वारा है तो उसकी व्यवस्था और उसके संवंधोंका अस्तित्व भी आत्माकी ही शक्तिके द्वारा होना चाहिये; उसका धर्म भी आध्यात्मिक चेतना और सत्ताके किसी धर्मके अनुसार ही होना चाहिये। जो जगत्-चेतना आत्माकी, 'सद्वस्तु'की सत्तामें अस्तित्व रखती है, आत्माको, 'सद्वस्तु'को उसकी और उसमें संवित् रहनी ही चाहिये; आत्माकी ही, 'सद्वस्तु'की ही कोई शक्ति जगत्के प्रपंचों और क्रियाओंकी सतत निर्देशिका या कमसे कम, उनकी अनुमंत्री तो होनी ही चाहिये : कारण, ऐसी कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं हो सकती, कोई प्रकृति नहीं हो सकती जो आद्य और सनातन स्वयंभूसे उद्गत न हुई हो। सद्वस्तु, आत्मा यदि और अधिक कुछ न भी करे तो भी अपनी सचेतन सर्वत्र-विद्यमानता मात्रके द्वारा विश्वको उत्पन्न अथवा उसकी निर्देशना तो करता ही होगा। निस्संदेह, यह आध्यात्मिक अनुभवका एक सत्य है कि विश्व-क्रियाशीलताके पीछे 'अनंत'में शांति और नीरवताकी एक स्थिति है, सृष्टिका एक निश्चल 'साक्षी' चैतन्य है; किन्तु यह सम्पूर्ण आध्यात्मिक अनुभव नहीं, 'और हम ज्ञानके किसी भी एकांगमें विश्वकी मूलगत और सम्पूर्ण व्याख्या पानेकी आशा नहीं कर सकते।

एक वार जव हम यह मान लेते हैं कि विश्वका शासन ईश्वरके द्वारा होता है, तो हमें इस निष्कर्षपर पहुंचना ही होगा कि शासनकी यह शक्ति सम्पूर्ण और अव्याहत है; क्योंकि अन्यथा हम यह अनुमान करनेको वाध्य हो जाते हैं कि अनंत तथा परम सत्ता और चेतनाके ज्ञान और इच्छाका वस्तुओंपर सीमित नियंत्रण ही है अथवा उनकी क्रिया-शक्ति अववाधित है। यह स्वीकार कर लेना असंभव नहीं कि परम एवं अंतर्व्यापी दिव्य

पुरुषने किसी ऐसी वस्तुको क्रियाकी एक स्वतंत्रता दे दी हो, जो अस्तित्वमें तो उस दिव्य पुरुषकी पूर्णताके मध्य ही आयी है, परंतु स्वयं अपूर्ण है और अपूर्णताका कारण है; उस दिव्य पुरुषने वैसी स्वतंत्रता अज्ञ या निश्चेतन प्रकृतिको, मानव मन तथा संकल्पकी क्रियाको, यहाँतक कि अंधकार और बुराईकी सचेतन शक्ति या शक्तियोंको भी दे दी हो जो आधाररूप निश्चेतनाके राज्यपर अधिष्ठित होती हैं। परन्तु इनमेंसे कोई भी वस्तु दिव्य पुरुषकी स्वकीय सत्ता, प्रकृति और चेतनासे स्वतंत्र नहीं, और न कोई ऐसी ही हैं जो कि उसकी विद्यमानताके वाहर और उसकी अनुमति या छूटके बिना क्रिया कर सकें। मनुष्यकी स्वतंत्रता सापेक्ष है और वह अपनी प्रकृतिकी अपूर्णताके लिये एकमात्र उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। प्रकृतिके अज्ञान और निश्चेतनाका उद्गम स्वतंत्र रूपमें नहीं, अपितु उस एक ही सत्से हुआ है; उसकी क्रियाओंकी अपूर्णता अंतर्व्यापी दिव्य पुरुषकी किसी इच्छासे सर्वथा वाहरकी नहीं हो सकती। यह स्वीकार किया जा सकता है कि जिन शक्तियोंको गतिशील किया गया है उन्हें अपनी गतिधाराके नियमानुसार अपने-आपको कार्यान्वित करने दिया जाता है; परन्तु हमें यह भी मानना होगा कि दिव्य सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताने अपनी सर्वव्याप्तिमें, अपनी सर्वसत्तामें जिसे भी उद्भूत होने और क्रिया करने दिया है, वह उस सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताके ही द्वारा उत्पन्न और समादिष्ट है, कारण, उस सत्-पुरुषकी आज्ञाके विना न तो उसका अस्तित्वमें आना हो सकता था, न वने रहना ही। जिस जगत्को भगवान्ने अभिव्यक्त किया है उससे यदि भगवान् कुछ भी संवंध रखते हैं, तो उनके अतिरिक्त और कोई भी प्रभु नहीं, और हम न तो इस अनिवार्य परिणामसे वच सकते हैं, न उसे छोड़ ही सकते हैं कि भगवान् ही आद्य और विश्वक सत्ता हैं। हमें अपनी प्रथम मान्यताके इस स्वतःसिद्ध परिणामकी भित्तिपर ही, उसके फलितार्थोंकी कोई भी उपेक्षा किये विना, अपूर्णता, दुःख और वुराईकी समस्यापर विचार करना होगा।

यहाँ प्रथम हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यद्यपि अति उतावली करते हुए हम सोच लेते हैं कि जगत्में अज्ञान, भ्रान्ति, परिसीमन, दुःख, विभाजन और असंगतिके अस्तित्वका होना ही विश्वमें दिव्य सत्ता, चेतना, शक्ति, ज्ञान, इच्छा तथा आनन्दके अस्तित्वका न होना प्रकट करता या उनके अस्तित्वको अप्रमाणित करता है, तथापि ऐसा है नहीं। यदि हमें उन्हें अपने-आपमें पृथक्-पृथक् लेना पड़े तो उनका रूप ऐसा हो सकता है, परन्तु यदि हमें उनके स्थान और अर्थ विश्व-क्रियाओंके सम्पूर्ण दृश्यमें

स्पष्टतया दृष्टिगोचर हों, तो उन्हें पृथक्-पृथक् लेनेकी आवश्यकता नहीं। किसी सम्पूर्णमेंसे टूटा हुआ खंड अपूर्ण, कुरूप, अबोध्य हो सकता है; परन्तु जब हम उसे सम्पूर्णके अन्दर देखते हैं तो वह सामंजस्यमें अपना स्थान पुनः प्राप्त कर लेता है, उसका एक अर्थ और एक उपयोग होता है। दिव्य सद्वस्तु अपनी सत्तामें अनंत है; इस अनंत सत्तामें हमें सर्वत्र सीमित सत्ता दिखाई देती है,—हमारा यहाँका जीवन इसी प्रत्यक्ष तथ्यसे आरम्भ होता लगता है और हमारा निजका संकीर्ण अहं और उसके अहं-केन्द्रित कार्यकलाप इसी तथ्यके सतत साक्षी हैं। परन्तु, यथार्थमें, हम जब एक सर्वांगीण आत्म-ज्ञानतक पहुँच जाते हैं तो पाते हैं कि हम सीमित नहीं, क्योंकि हम भी अनन्त हैं। हमारा अहं विश्वसत्ताकी केवल एक आकृति है और उसका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं; हमारी दृश्यमान पृथक्कारी वैयक्तिकता केवल सतहका व्यापार है, उसके पीछे हमारी यथार्थ वैयक्तिकता विस्तृत होती हुई, समस्त वस्तुओंके साथ एकत्व लाभ करती है और, ऊर्ध्वमुखी होती हुई, विश्वातीत भागवत अनन्तताके साथ एक होती है। इस प्रकार, हमारा अहं, जो अस्तित्वका परिसीमन लगता है, यथार्थमें अनंतताकी ही एक शक्ति है; जगत्में सत्ताओंकी जो असीम बहुलता है वह परिसीमन अथवा सांतताका नहीं, अपितु उस असीम्य अनंतताका ही परिणाम और विलक्षण प्रमाण है। प्रतीयमान विभाजन कभी भी यथार्थ पार्थक्यमें परिणत नहीं हो सकता; उसके अवलंब-रूपमें और उसका अतिक्रमण करता एक अविभाज्य एकत्व है जिसे स्वयं विभाजन भी विभाजित नहीं कर सकता। अहं और प्रत्यक्ष दृश्यमान विभाजनकी यह जगद्व्यापी मूलभूत वास्तविकता और जगत्-जीवनमें उनकी पृथगात्मक क्रियाएँ एकत्व और अविभाज्य सत्ताशाली दिव्य प्रकृतिका निषेध नहीं करतीं; वे तो एक अनंत बहुत्वके बाह्य परिणाम हैं और वह अनंत बहुत्व उस अनंत एकत्वकी ही एक शक्ति है।

अतएव, सत्ताका कोई यथार्थ विभाजन या परिसीमन नहीं है, सर्वत्र-विद्यमान सद्वस्तुका कोई मूलगत प्रत्याख्यान नहीं है। परन्तु चेतनाका एक यथार्थ परिसीमन तो हुआ प्रतीत होता है: आत्माके प्रति अज्ञान होता है, आंतरिक दिव्य सत्ता आवृत हो जाती है, और सारी अपूर्णता उसीका परिणाम है। कारण, हमारी यह उपरितलीय अहं-चेतना ही हमारा प्रथम आग्रहपूर्ण आत्मानुभव होती है, और हम उसके साथ मनतः, प्राणतः, शरीरतः एकात्म हो जाते हैं; यह एकात्मता हमारे ऊपर एक मूलतः यथार्थ तो नहीं, परन्तु व्यावहारिक विभाजन आरोपित करती है, और इसके संग, उस परम

सद्वस्तुसे पृथक् होनेके सारे अनिष्ट परिणाम आते हैं। परन्तु यहाँ भी हमें यह ज्ञात करना होता है कि सतहपर हमारी जो भी प्रतिक्रियाएँ या अनुभव हों, ईश्वरकी क्रियाओंके दृष्टिकोणसे, अज्ञानका स्वयं यह तथ्य ज्ञानकी ही एक क्रिया है, कोई सच्चा अज्ञान नहीं। उसका अज्ञानका दृश्य एक वाहरी व्यापार है; कारण, उसके पीछे एक अविभाज्य सर्व-चेतना है : अज्ञान उस सर्वचेतनाकी एक सम्मुखीन शक्ति होता है जब कि वह चेतना अपने-आपको किसी विशेष क्षेत्रमें, ज्ञानकी किसी विशेष क्रियाके लिये, सचेतन क्रियाकी किसी विशेष रीतिके लिये, कुछ विशेष सीमाओंके अन्दर सीमित कर लेती और अपने ज्ञानके वाकी सारे भागको अपने नेपथ्यमें प्रतीक्षा करती शक्तिके रूपमें रख छोड़ती है। इस प्रकार जो कुछ भी छिपा है वह ज्योति और शक्तिका एक गुह्य भाँडार है जिसे प्रकृतिके अन्दर हमारी सत्ताके विकासक्रमके लिये वह सर्वचेतना काममें लेती है। एक गुप्त क्रिया है जो सम्मुखीन अज्ञानकी समस्त त्रुटियोंकी पूर्ति कर देती है, उसके प्रतीयमान स्खलनोंके बीच क्रिया करती है, उन्हें सर्व-ज्ञानद्वारा समादिष्ट अंतिम परिणामसे भिन्न परिणाम उत्पन्न करनेसे रोकती है, अज्ञानाच्छन्न जीवको उसके अनुभवमेंसे, प्राकृत व्यक्तित्वके दुःखों और भूलोंमेंसे भी, उसके विकासक्रमके लिये जो आवश्यक है उसे ग्रहण करने और जो कुछ अब उपादेय नहीं रहा उसे पीछे छोड़ देनेमें सहायता देती है। अज्ञानकी यह सम्मुखीन शक्ति एक सीमित क्रियाके अन्दर संकेंद्रित होनेकी शक्ति है, यह वहुत कुछ हमारी मानवीय मानसताकी उस शक्तिके सदृश है जिसके द्वारा हम किसी विशेष विषयमें और किसी विशेष कार्यमें तल्लीन हो जाते हैं और केवल उतने ही ज्ञान, उतने ही भावोंका उपयोग करते प्रतीत होते हैं जो उसके लिये आवश्यक हों,—वाकी जो उस कार्य या विषयसे विजातीय हैं या उसमें वाधा दे सकते हैं, उस क्षणके लिये पीछे रख दिये जाते हैं; फिर भी, यथार्थमें सर्वदा होता यह है कि हम जो अविभाज्य चेतना हैं उसीने करणीय कार्य किया है, द्रष्टव्य वस्तुको देखा है,—वही चैतन्य मौन ज्ञाता और कर्त्ता है, न कि हमारे अन्दर स्थित चेतनाका कोई खंड या एकांतिक अज्ञान। हमारे अन्दर उस सर्व चेतनाके संकेंद्रणकी इस सम्मुखीन शक्तिकी भी यही वात है।

जव हम अपनी चेतनाकी गतिविधियोंका मूल्यांकन करते हैं तो संकेंद्रणके इस सामर्थ्यको मानव-मानसताकी महत्तम शक्तियोंमें मानना उचित ही है। परन्तु, जो हमें सीमित ज्ञानकी एकान्तिक क्रिया मालूम होती है, जो हमारे सामने अविद्या-रूपमें उपस्थित होती है, उसे प्रकट करना भी

समान रूपसे दिव्य चेतनाकी महत्तम शक्तियोंमें एक शक्ति मानना ही चाहिये। परम आत्मधृत ज्ञानमें ही यह शक्ति हो सकती है कि वह निजको कार्यके अन्दर सीमित कर ले और फिर भी उस प्रतीयमान अज्ञानके बीचसे अपने सारे अभिप्रायोंको पूर्णतया कार्यान्वित कर ले। हम देखते हैं कि विश्वमें यह परम आत्मधृत ज्ञान बहु-संख्यक अज्ञानोंके माध्यमसे कार्य करता है; प्रत्येक अज्ञान अपनी अंधताके अनुसार ही कार्य करनेका प्रयत्न करता है, और फिर भी वह ज्ञान उन सबके बीचसे अपने विश्व-सामंजस्यों को निर्मित और कार्यान्वित करता है। इसके अतिरिक्त, उसकी सर्वज्ञताका चमत्कार सबसे अधिक आश्चर्यकारी रूपमें उसमें दिखाई देता है जिसकी प्रतीति हमें किसी निश्चेतनकी क्रिया लगती है, जब कि वह इलेक्ट्रोन परमाणु, कोषाणु, वनस्पति, कीट, पशु-जीवनकी निम्नतम कोटियोंके—हमारे अज्ञानकी अपेक्षा अधिक स्थूलकाय—सम्पूर्ण अथवा आंशिक निर्ज्ञानके मध्य अपनी वस्तु-व्यवस्थाको त्रुटिहीन रूपसे आयोजित करती है और सहज-प्रवृत्तिगत अन्तर्वेगको अथवा निश्चेतन संवेगको एक ऐसे लक्ष्यकी ओर ले जाती है जो सर्वज्ञानको तो हस्तगत है, परन्तु पर्देके पीछे रोक रखा गया है, सत्ताके करण-रूपको ज्ञात नहीं होता, किन्तु फिर भी सहजप्रवृत्ति अथवा संवेगके अन्दर पूर्णतः सक्रिय रहता है। अतएव, हम कह सकते हैं कि अज्ञान या निर्ज्ञानकी यह क्रिया यथार्थ अज्ञान नहीं, अपितु एक सर्वज्ञ आत्मज्ञान और सर्वज्ञानका ही एक बल, एक चिह्न, एक प्रमाण है। हम यदि अज्ञानके पीछे रहनेवाली इस अविभाज्य सर्वचेतनाका व्यक्तिगत और आंतरिक प्रमाण चाहते हों,—समस्त प्रकृति ही इसका बाह्य प्रमाण है,—तो हम उसे सम्पूर्ण रूपमें केवल अपनी गभीरतर आंतरिक सत्तामें अथवा बृहत्तर और उच्चतर आध्यात्मिक स्थितिमें ही पा सकते हैं जब कि हम अपने निजके बहिस्तलीय अज्ञानके पर्देके पीछे चले जाते और उसके पीछे जो दिव्य-भाव और इच्छा हैं उनके सम्पर्कमें आते हैं। तब हम पर्याप्त स्पष्टतासे देखते हैं कि हमने अपने अज्ञानमें अपने-आप जो कुछ किया है उसपर फिर भी उस अदृश्य सर्वज्ञताकी निगरानी थी और उस सर्वज्ञताने ही उसके परि-णामकी ओर उसका निर्देशन किया था; तब हमें अपनी अज्ञानमयी क्रियाके पीछे एक महत्तर क्रियाका पता चलता है और हमारे अन्दर उसका क्या उद्देश्य है इसकी झाँकी मिलती है: केवल तब हम उसे देख और जान सकते हैं जिसकी हम अभी श्रद्धावश आराधना करते हैं, उस शुद्ध एवं विराट् सत्ताको सम्पूर्णतः पहचान सकते हैं, सकल भूतों और सकल प्रकृतिके प्रभुसे मिल सकते हैं।

जो बात कारण, अर्थात् अज्ञानके साथ लागू है, वही अज्ञानके परिणामोंके साथ भी। यह सब जो हमें असामर्थ्य, दुर्बलता, क्लीवता, शक्तिकी सीमितता, हमारी इच्छाशक्तिका अवबाधित संघर्ष और बेंड़ीबद्ध श्रम प्रतीत होता है, वह, आत्म-क्रियारत भगवान्के दृष्टिकोणसे, एक सर्वज्ञ शक्तिके स्वयं उसकी स्वतंत्र इच्छासे कृत समुचित परिसीमनका रूप ले लेता है जिससे कि बहिस्तलीय ऊर्जा ठीक-ठीक उस कार्यके अनुरूप हो जिसे उसे करना है, उसके प्रयासके अनुरूप हो, उसकी निर्धारित सफलता या, आवश्यक रहनेके कारण, पूर्वनिर्दिष्ट विफलताके अनुरूप हो, शक्तियोंके समूहके जिस संतुलनका वह एक अंग है और जिसके विशालतर परिणामोंका एक अविभाज्य अंश ही उसके अपने परिणाम हैं उसके अनुरूप हो। शक्तिके इस परिसीमनके पीछे वह सर्वशक्ति है और परिसीमनके अन्दर भी वह शक्ति सक्रिय है; परन्तु बहुत सारी सीमित क्रियाओंके समूहके द्वारा ही वह अविभाज्य सर्वशक्तिमत्ता अपने उद्देश्योंको अचूक और प्रभुत्वशाली रूपसे सिद्ध करती है। अतएव, अपनी शक्तिको परिसीमित करने और उस आत्म-परिसीमनके बीच क्रिया करनेका यह सामर्थ्य, जिसे हम श्रम, संघर्ष, कठिनाई कहते हैं उसके द्वारा, जो हमें विफलताओं या अर्ध-निष्फल सफलताओंकी धारा प्रतीत होती है उसके द्वारा क्रिया करने और इन सबके बीच अपने गुप्त अभिप्रायको प्राप्त करनेका यह सामर्थ्य, कोई दुर्बलताका चिह्न, प्रमाण अथवा यथार्थ रूप नहीं, अपितु एक परम सर्वशक्तिमत्ताका ही एक—और वह भी यथासंभव महान्तम—चिह्न, प्रमाण, यथार्थ रूप है।

अब दुःखका प्रश्न, जो कि विश्वको समझनेमें एक बहुत बड़ी बाधा है। दुःख स्पष्टतः चेतनाके ऐसे परिसीमनका, शक्तिपर ऐसे प्रतिबंधका परिणाम है जो, हमें जो अन्य-शक्ति प्रतीत होती है, उसके स्पर्शपर प्रभुता पाने अथवा उसे आत्मसात् करनेसे रोकता है। इस असामर्थ्य और असामंजस्यका परिणाम यह होता है कि हम उस स्पर्शके आनंदको ग्रहण नहीं कर सकते और इसका प्रभाव हमारे इंद्रियबोधमें कष्ट या पीड़ाकी प्रतिक्रिया-रूपमें, अभाव या अतिरेक-रूपमें, आंतरिक या बाह्य क्षतिमें फलित होनेवाली विसंगतिके रूपमें पड़ता है; इसकी उत्पत्तिका कारण हमारी अपनी सत्ताकी शक्ति और हमारी सत्ताकी जिस शक्तिसे सामना होता है इनके बीच विभाजन है। पृष्ठभागमें, हमारे आत्मा और अध्यात्म-सत्तामें, विश्व-पुरुषका सर्वानंद है जो उस स्पर्शको अपने ढंगसे ग्रहण करता है। वह आनन्द पहले तो दुःखको सहन करनेमें है, फिर उसपर विजय प्राप्त करनेमें और अन्तमें उसके रूपान्तरमें, जो इसके बाद आयगा; क्योंकि, दुःख और

कष्ट अस्तित्वके आनन्दकी विकृत और विपरीत अभिधा ही हैं और वे अपने विपरीत रूपमें, आदि सर्वानन्दमें भी परिणत हो जा सकते हैं। यह सर्वानंद केवल विश्व-पुरुषमें विद्यमान नहीं, अपितु यहाँ, स्वयं हमारे अन्दर भी गुप्त रूपसे है, जैसा कि हमें तब ज्ञात होता है जब कि हम अपनी बाह्य चेतनामेंसे वापस अपने अन्दर आत्मामें प्रवेश करते हैं; हमारे अन्दरका चैत्य पुरुष अपने अधिक सौम्य अनुभवोंको, और साथ ही अपने अधिकतम विकृत अथवा विपरीत अनुभवोंको भी अपने ढंगसे ग्रहण करता है और उनको स्वीकार या उनका परित्याग करता हुआ, वर्द्धित होता है; हमारे अत्यंत उग्र दुःखों, कठिनाइयों, विपत्तियोंमेंसे भी वह एक दिव्य अर्थ और उपयोग निकाल लेता है। इस सर्वानंदके अलावा अन्य कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे अपने-आपपर या हमपर ऐसे अनुभवोंको आरोपित करनेकी साहसिकता या सहनशक्ति हो; उसके अलावा अन्य कुछ भी ऐसा नहीं है जो इन अनुभवों-को इस प्रकार अपने उपयोग और हमारे आध्यात्मिक लाभके लिये परिणत कर सके। इसी प्रकार, सत्ताके अविच्छेद्य एकत्वमें अन्तर्निहित सत्ताके अविच्छेद्य सामंजस्यके अलावा अन्य किसीके लिये भी यह संभव नहीं कि वह इतने सारे कठोरतम प्रतीयमान वैषम्योंको बाहर व्यक्त करे और फिर भी उन्हें अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बाध्य करे, जिससे कि अन्तमें वे एक वर्द्धमान विश्व-छंद और अंतिम सामंजस्यके अनुसेवी और सुरक्षक होनेको, यहाँतक कि उसके घटक तत्त्वोंमें ही स्वयं परिणत हो जानेको विवश हो जायँ। हम जिस बाह्य चेतनामें निवास करते हैं उसके स्वभावके कारण हम जिसे अब भी अदिव्य कहनेको बाध्य होते हैं और एक अर्थमें हमारी इस संज्ञाका व्यवहार ठीक भी होता है, उसके पीछे, हर मोड़पर, हम दिव्य सद्वस्तुको देख सकते हैं; क्योंकि, ये प्रत्यक्ष रूप दिव्य पूर्णतापर पड़ा आव-रण ही हैं, यह आवरण वर्तमानके लिये आवश्यक तो है, परन्तु सच्ची और सम्पूर्ण आकृति कदापि नहीं।

परन्तु हम जब विश्वको इस रूपमें देखते हैं, तब भी, विश्वका जो मूल्यांकन हमारी अपनी सीमित मानव-चेतना करती है उसे हम सम्पूर्णतया और मूलतया मिथ्या तथा अवास्तव कहकर नहीं हटा दे सकते और हटाना चाहिये भी नहीं। कारण, शोक, पीड़ा, दुःख, भ्रान्ति, मिथ्यात्व, अज्ञान, दुर्बलता, दुष्टता और असामर्थ्य, कर्त्तव्य-उपेक्षा और अनुचित कर्म, इच्छा-शक्तिकी पथविच्युति और इच्छा-शक्तिका निषेध, अहंकार, परिसीमन, जिन सत्ताओंके साथ हमें एक रहना चाहिये उनसे विभाजन, हम जिसे अशुभ कहते हैं उसे प्रभावी रूप देनेवाली सारी वस्तुएँ, ये सब कपोल-कल्पनाएँ

और अवास्तवताएँ नहीं, जगत्-चेतनाके तथ्य हैं, यद्यपि ये ऐसे तथ्य हैं जिनका सम्पूर्ण अर्थ अथवा सच्चा मूल्य वह नहीं है जो हम अपने अज्ञानमें इनके लिये लगाते हैं। फिर भी, हमारा उनका बोध एक सच्चे बोधका अंग है; हमारे उनके मूल्यांकन उनके सम्पूर्ण मूल्यांकनके लिये आवश्यक हैं। इन वस्तुओंके सत्यका एक पहलू हमें तब ज्ञात होता है जब हम एक गभीरतर तथा विशालतर चेतनामें प्रवेश करते हैं; कारण, तब हम यह पाते हैं कि हमारे सामने जो प्रतिकूल और बुरा बनकर उपस्थित होता है उसके अन्दर एक विश्वक और वैयक्तिक उपयोगिता है। वस्तुतः, पीड़ा जिस दिव्य आनन्दके प्रजननमें लगी है उसकी सम्पूर्ण अनंत गरिमा हमें पीड़ाके अनुभवके बिना नहीं मिल सकती; समस्त अज्ञान एक ऐसी उपच्छाया है जो ज्ञानके ही किसी ज्योतिमंडलको परिवेष्टित किये है; प्रत्येक भ्रांति सत्यके आविष्कारकी संभावना और प्रयाससे सार्थक है; प्रत्येक दुर्बलता और विफलता शक्ति और संभाव्यताकी खाड़ियोंके अन्दर पता लगानेका प्रथम प्रयत्न है; समस्त विभाजन एकीकरणके विविध प्रकारके माधुर्यके अनुभवके द्वारा संसिद्ध एकत्वके हर्षको समृद्ध करनेके लिये अभिप्रेत है। यह सारी अपूर्णता हमारे लिये अशुभवत् है, परन्तु समस्त अशुभ सनातन शुभके प्रजननमें लगा है; वस्तुतः, यह सब वह अपूर्णता है जो निश्चेतनामें से विकसित होते जीवनके नियमानुसार प्रच्छन्न दिव्यत्वकी अभिव्यक्तिमें एक महत्तर पूर्णताकी पहली परिस्थिति है। परन्तु, साथ ही, अशुभ और अपूर्णताके प्रति हमारी वर्तमान भावना, उनके विरुद्ध हमारी चेतनाका विद्रोह, यह भी एक आवश्यक मूल्यांकन है; कारण, प्रथमावस्थामें यदि हमें उनका सामना करना और उन्हें सहन करना है, तो अन्तिम आदेश हमारे लिये यह है कि हम उनका परित्याग करें, उनपर विजयी हों, जीवन और प्रकृतिका रूपांतर करें। यही कारण है कि उनका हठीलापन शिथिल नहीं होने दिया जाता; जीवको अज्ञानके परिणाम सीखने होंगे, उसे उनसे उत्पन्न प्रतिक्रियाओंको प्रभुता और विजयके लिये और अन्तमें रूपांतर तथा अतिक्रांतिके महत्तर प्रयासके उद्दीपक-रूपमें अनुभव करना आरम्भ करना होगा। हम जब अन्तर्मुख होकर गहराइयोंमें निवास करते हैं तब हमारे लिये संभव होता है कि हम एक विशाल आंतरिक समता और शांतिकी स्थितिमें चले जायँ जो बाह्य प्रकृतिकी प्रतिक्रियाओंसे अछूती रहती है। यह मुक्ति महान् किन्तु असम्पूर्ण होती है,—कारण, बाह्य प्रकृतिको भी मुक्तिका अधिकार है। परन्तु यदि हमारी व्यक्तिगत मुक्ति सम्पूर्ण हो जाय तो भी दूसरोंका दुःख, जगत्-श्रम तो बना रहता ही है, और महान्

आत्माएँ इसे केवल उदासीन भावसे देखती नहीं रह सकतीं। ' सर्व भूतोंके साथ एक एकत्व है जिसका अनुभव हमारे अन्तरकी कोई वस्तु करती है और उसे दूसरोंकी मुक्ति अपनी मुक्तिके साथ घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध अनुभूत होनी ही चाहिये।

अतएव, यही है अभिव्यक्तिका विधान, यहाँकी अपूर्णताका कारण। यह ठीक है कि यह केवल अभिव्यक्तिका विधान है, और यह भी है कि वह इस गतिधारा के लिये विशेषकर है जिसमें हम निवास कर रहे हैं; और हम कह सकते हैं कि यदि अभिव्यक्तिकी गतिधारा न हुई होती अथवा यह गतिधारा न हुई होती तो इस विधानका होना आवश्यक नहीं था; परन्तु जब यह अभिव्यक्ति और गतिधारा हैं ही तो यह विधान भी आवश्यक है। केवल यह कहना पर्याप्त नहीं कि यह विधान और उसकी सारी परिस्थितियाँ अवास्तव हैं, उनकी रचना मानसी चेतनाने ही की है, ईश्वरके अन्दर उनका अस्तित्व नहीं, और अतः इन द्वैतोंके प्रति उदासीन हो जाना अथवा अभिव्यक्तिमेंसे निकलकर ईश्वरकी शुद्ध सत्तामें चले जाना ही एकमात्र बुद्धिमत्ता है। यह सच है कि वे मानस-चेतनाकी रचनाएँ हैं, परन्तु मन तो केवल *गौण कारण* है; *गभीरतर वास्तवतामें* वे, जैसा कि हम देख चुके हैं, दिव्य चेतनाकी रचनाएँ हैं जो अपनी सर्व-शक्ति, सर्वज्ञान, सर्वानन्द, सर्वसत्ता और एकत्वके इन विरोधी या विपरीत मूल्योंकी संसिद्धिके लिये मनको अपने सर्वज्ञानसे दूर प्रक्षिप्त करती हैं। स्पष्ट है कि दिव्य चेतनाकी इस क्रिया और इन परिणामोंको हम इस अर्थमें अवास्तव कह सकते हैं कि वे सत्ताका शाश्वत और मूलभूत सत्य नहीं या हम उन्हें मिथ्या ठहरा सकते हैं, क्योंकि, जो आदि और अन्तिम रूपमें सत्ताका सत्य है उसका वे प्रत्याख्यान करते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी, अभिव्यक्तिकी हमारी वर्तमान अवस्थामें उनकी वास्तवता और महत्व दृढ़ बने रहते हैं; ऐसा नहीं हो सकता कि वे दिव्य चेतनाकी कोई भूल मात्र हों जिसका न तो दिव्य प्रज्ञामें कोई अर्थ हो और न जिसमें दिव्य हर्ष, शक्ति तथा ज्ञानका कोई प्रयोजन ही हो जिससे कि उनके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध हो। इनके अस्तित्वका कोई औचित्य तो होना ही चाहिये, भले ही वह किसी रहस्यमयतापर आधारित हो, और वह रहस्यमयता, जब तक हम बाहरी सतहके अनुभवमें निवास करते हैं, हमारे सामने एक असमाधेय पहेली के रूपमें खड़ी मिले।

परन्तु, यदि प्रकृतिके इस पहलूको स्वीकार करते हुए हम यह कहें कि समस्त वस्तुएँ सत्ताके अपने सांविधिक और अचल नियममें बद्ध हैं, और

मनुष्यको भी अपनी अपूर्णताओं, अपने अज्ञान, पाप, दुर्बलता, नीचता और दुःखमें बद्ध रहना ही होगा, तो हमारे जीवनका सच्चा अर्थ खो जाता है। उस दशामें मनुष्यके अपनी प्रकृतिके अंधकार और अपर्याप्ततामेंसे ऊपर उठनेके चिर प्रयासका स्वयं जगत्में, स्वयं जीवनमें कोई परिणाम नहीं हो सकता; उसका यदि कोई परिणाम है भी, तो एक ही, और वह होता है जीवनसे, जगत्से, अपने मानवीय अस्तित्वसे, अतः उसकी अपूर्ण सत्ताके चिर असंतोषदायी नियमसे पलायन कर देवताओंके स्वर्ग, ईश्वरके वैकुण्ठ, या 'निर्विशेष'की शुद्ध अनिर्वचनीयताके अन्दर मनुष्यके प्रविष्ट हो जानेसे। यदि ऐसा है तो मनुष्य कभी भी वस्तुतः अज्ञान और मिथ्यात्वमेंसे ज्ञान और सत्यको, अशुभ और कुरूपतामेंसे शिव और सुन्दरको, दुर्बलता और नीचता-मेंसे शक्ति और ऐश्वर्यको, शोक और दुःखमेंसे हर्ष और आनन्दको प्रकट नहीं कर सकता, यद्यपि ज्ञान, सत्य, शिव, सुन्दर, शक्ति, ऐश्वर्य, हर्ष और आनन्द अपने विपरीत भावोंके पीछे रहनेवाली अध्यात्म-सत्तामें अंतर्विष्ट हैं और इनके उन्मज्जनकी प्रथम प्रतिकूल और विपरीत अवस्थाएँ ही ये विपरीतत्व हैं। मनुष्य तो बस इतना ही कर सकता है कि अपूर्णताओंको काटकर हटा दे, और साथ ही उनके दूसरे पलड़ेके विरोधी भावोंको भी, कारण, वे भी अपूर्ण हैं,—वह अज्ञानके साथ मानव-ज्ञानका भी, बुराईके साथ मानव-अच्छाईका भी, दुर्बलताके साथ मानव-शक्ति और बलका भी संघर्ष और दुःखके साथ मानव-प्रेम और हर्षका भी परित्याग कर दे, क्योंकि ये सब हमारी वर्त्तमान प्रकृतिमें अवियोज्य रूपसे एक साथ ग्रथित हैं; ये संयुक्त द्वन्द्व प्रतीत होते हैं, एक ही अवास्तवताके भावात्मक और निषेधात्मक दो सिरे प्रतीत होते हैं, और चूंकि उनका उन्नयन और रूपान्तर नहीं किया जा सकता, उन दोनोंका ही परित्याग कर देना होगा : मानवताको दिव्यता-में परिपूर्ण नहीं किया जा सकता, अतः उसका अन्त करना ही होगा, उसे पीछे छोड़ ही देना होगा, उसका परित्याग करना ही होगा। इसके परि-णामस्वरूप व्यक्ति परमा दिव्य प्रकृतिका अथवा भगवान्के सान्निध्यका रसा-स्वादन करेगा, या कि उसका लक्षणरहित निर्विशेषमें निर्वाण होगा, यह ऐसा विषय है जिसपर धर्मों और दर्शनशास्त्रोंमें मतभेद रहता है, परन्तु दोनों ही दशाओंमें यह तो मानना ही होगा कि पृथ्वीपर मानव-जीवनका स्वधर्म ही ऐसा है कि वह सदाके लिये अपूर्णतासे अभिशप्त रहेगा; वह दिव्य सत्तामें चिरकालके लिये और अपरिवर्तनीय रूपसे एक अदिव्य अभि-व्यक्ति है। आत्माने जब मानव-रूप ग्रहण किया तो संभवतः इस जन्म मात्रसे ही वह भगवान्से च्युत हो गया, उसने कोई ऐसा आदि पाप या

भूल कर डाली जिसका सम्पूर्ण निराकरण करना, अडिग रहकर मूलोच्छेद करना, ज्ञानोन्मेष होते ही, मनुष्यका आध्यात्मिक लक्ष्य निश्चित रूपसे हो जाता है।

उस अवस्थामें ऐसी विरोधाभासी अभिव्यक्ति अथवा सृष्टिकी एकमात्र युक्ति-युक्त व्याख्या यह होती है कि यह दिव्य पुरुषकी विश्व-लीला, उनका एक खेल, एक मनोरंजन है। हो सकता है कि वह अदिव्य होनेका दिखावा ही करते हों; जैसे अभिनेता छद्मवेश या बनावटी रूप धारण करता है, वैसे ही वह भी एकमात्र अभिनय या नाटकके सुखके लिये अदिव्यका रूप धारण करते हों। या, हो सकता है, उन्होंने अदिव्यकी, अज्ञान, पाप और दुःखकी रचना केवल एक बहुविध सृष्टिके रसके लिये की हो। या शायद, जैसा कि कुछ धर्मों की विलक्षण कल्पना है, उन्होंने ऐसा इसलिये किया हो कि निम्नतर कोटिके ऐसे जीव आयँ जो उनके शाश्वत शिवत्व, प्रज्ञा, आनन्द और सर्वशक्तिमत्ताके लिये उनकी प्रशंसा और महिमाका गान करें और उस आनंदमें भाग लेनेके लिये उस शिवत्वकी ओर तनिक समीप जानेका दुर्बल प्रयास इस भयसे करें कि यदि वे अपने प्रयासमें विफल हो गये, और वह विफलता अधिकांशके लिये उनकी अपूर्णताके कारण अवश्यंभावी है, तो उन्हें—किसी कल्पित शाश्वतके हाथोंसे—दंड मिलेगा। किन्तु इतने अशोभन रूपसे व्यक्त इस लीलाके सिद्धान्तका यह प्रत्युत्तर देना सदा ही सम्भव है कि जो ईश्वर स्वयं तो सर्वानंदमय है, किन्तु जीवोंके दुःखमें आनन्द लेता है अथवा अपनी ही अपूर्ण सृष्टिके दोषोंके कारण उनपर दुःख आरोपित करता है, वह दिव्य ईश्वर हो नहीं सकता और मानवजातिकी नैतिक सत्ता और बुद्धि अवश्य ही उसके विरुद्ध विद्रोह करेगी अथवा उसका अस्तित्व अस्वीकार करेगी। परन्तु मानव जीव यदि ईश्वरका अंश है, दिव्य पुरुषने ही यदि मनुष्यके अन्दर इस अपूर्णताको धारण किया है और वही इस दुःखको मनुष्यके रूपमें सहना स्वीकार करता है, अथवा मनुष्यमें रहनेवाला अन्तरात्मा यदि उस दिव्य आत्माकी ओर प्रवृत्त होनेको अभिप्रेत है और यहाँकी अपूर्णताके खेलमें और अन्यत्र पूर्ण स्वरूपके आनन्दमें उस दिव्य आत्माका साथी है, तो लीला फिर भी भली भाँति एक विरोधाभास तो बनी रह सकती है, परन्तु क्रूर या जुगुप्साजनक विरोधाभास नहीं रह जाती; अधिकसे अधिक यह कहा जा सकता है कि वह एक विचित्र रहस्य है और बुद्धिके लिये अव्याख्येय है। इसकी व्याख्याके लिये अवश्य ही दो तत्त्वोंकी कमी पड़ रही है, एक तो इस अभिव्यक्तिके लिये जीवकी सचेतन स्वीकृति, और दूसरे, उस सर्व-प्रज्ञामें कोई ऐसा हेतु जो लीलाको सार्थक और बोधगम्य बनाता हो।

लीलाका अनोखापन तब कम हो जाता है, विरोधाभासकी तीक्ष्णता तब दूर हो जाती है जब हमें यह ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि ऐसी सुनि-निश्चत श्रेणियाँ हैं जिनमें प्रत्येककी प्रकृतिकी अपनी समुचित व्यवस्था है, तो भी वे जड़के रूपोंमें शरीर धारण किये अन्तरात्माओंके प्रगतिशील आरोहणके लिये, निश्चेतनसे अतिचेतन अथवा सर्वचेतन स्थितिकी ओर प्रगतिशील दिव्य अभिव्यक्तिके लिये दृढ़ सोपान हैं, और इसमें मानव-चेतना संक्रमणका निर्णायक बिन्दु है। ऐसी दशामें अपूर्णता अभिव्यक्तिकी एक आवश्यक अभिधा हो जाती है : कारण, चूँकि सारी दिव्य प्रकृति निश्चेतनाके अन्दर निगूढ़, किन्तु विद्यमान रहती है, अतः उसे अवश्य ही उसके अन्दरसे क्रमशः निर्मुक्त करना होगा; इस क्रमिकताके लिये आंशिक उन्मीलन आवश्यक होता है और उन्मीलनके असम्पूर्ण या आंशिक होनेकी इस विशिष्टताके कारण अपूर्णता अवश्यम्भावी होती है। क्रमविकासशील अभिव्यक्तिके लिये एक मध्यवर्ती भूमिका आवश्यक रहती है जिसके नीचे और ऊपर अन्य श्रेणियाँ हों—ठीक मनुष्यकी मानसी चेतना-जैसी भूमिका, अर्धज्ञान, अर्ध-अज्ञान, सत्ताकी मध्यवर्ती शक्ति, जो अभी भी निश्चेतनका सहारा लिये है परन्तु शनैः-शनैः सर्व-चेतन भागवत प्रकृतिकी ओर उठ रही है। जिस आंशिक उन्मीलनमें अपूर्णता और अज्ञान साथ-साथ हैं, वह सत्ताके मूल सत्यकी प्रतीयमान विकृतिको अपने अनिवार्य साथीके रूपमें, कुछ विशेष क्रियाओंके लिये शायद अपने आधार-रूपमें भी, ले सकता है। अज्ञान या अपूर्णताके टिके रहनेके लिये यह आवश्यक है कि दिव्य प्रकृतिके जो भी स्व-भाव हैं,—उसका एकत्व, उसकी सर्वचेतना, उसकी सर्वशक्ति, उसका सर्वसामंजस्य, उसका सर्वशिवत्व, उसका सर्वानन्द,—उन सबके प्रतीयमान विपरीतत्व भी हों; परिसीमन, विसंगति, अचेतना, असामंजस्य, असामर्थ्य, असंवेदनशीलता और दुःख, अशुभ, ये भी प्रकट हों। कारण, उस विकृतिके बिना अपूर्णताको खड़े होनेको कोई दृढ़ आधार-भूमि नहीं मिल सकती थी, तब वह अपने आधारगत दिव्यत्वकी विद्यमानताके सामने अपने स्वभावको इतनी स्वतंत्रतासे न तो अभिव्यक्त कर सकती थी, न बनाये ही रख सकती थी। आंशिक ज्ञान अपूर्ण ज्ञान होता है और अपूर्ण ज्ञान उस दूरीतक अज्ञान होता है, दिव्य भावके विपरीत होता है : किन्तु, उसके ज्ञानसे जो परे है उसके अवलोकनमें यह विपरीत निषेधात्मक विपरीत भावात्मक हो जाता है; वह भ्रान्तिकी, गलत ज्ञानकी, वस्तुओंके प्रति, जीवनके प्रति, कर्मके प्रति गलत व्यवहारकी उत्पत्ति करता है; गलत ज्ञान प्रकृतिमें गलत इच्छा हो जाता है, हो सकता है कि आरम्भमें भूलसे गलत

होता हो, परन्तु बादमें तो उसका वरण करते हुए, आसक्तिसे, मिथ्यात्वमें रस पानेके कारण गलत होता है,—सीधासादा विपरीत जटिल विकृतिमें परिणत हो जाता है। एक बार निश्चेतना और अज्ञानको स्वीकार कर लिया तो ये चीजें तर्कसंगत अनुक्रममें स्वाभाविक परिणाम-रूपमें प्रकट होती हैं और उन्हें भी आवश्यक तत्त्वोंके रूपमें स्वीकार करना होगा। प्रश्न केवल यह रह जाता है : क्या कारण है कि इस प्रकारकी प्रगतिशील अभिव्यक्ति ही अनिवार्य हुई? यही एक बात हमारी बुद्धिके लिये अस्पष्ट रह जाती है।

इस प्रकारकी अभिव्यक्ति, आत्म-सृष्टि अथवा लीला यदि अनिच्छुक जीवपर लादी गयी हो तो वह न्याय्य नहीं प्रतीत होती; परन्तु यह स्पष्ट है कि शरीरधारी आत्माकी सहमति पहलेसे रही होगी, कारण, पुरुषकी सहमतिके बिना प्रकृति क्रिया कर नहीं सकती। विश्व-सृष्टिको सम्भव बनानेके लिये केवल दिव्य पुरुषकी ही इच्छा नहीं रही होगी, अपितु वैयक्तिक अभिव्यक्तिको सम्भव बनानेके लिये वैयक्तिक पुरुषकी सहमति भी अवश्य रही होगी। तथापि, कहा जा सकता है कि ऐसी कठिन तथा यंत्रणामयी प्रगतिशील अभिव्यक्तिमें भगवान्‌की इच्छा और आनन्दपानका हेतु और उससे जीवके सहमत होनेका हेतु अभीतक रहस्य ही हैं। परन्तु यदि हम अपनी निजकी प्रकृतिको देखें और यह अनुमान कर सकें कि सत्ताकी कोई वैसी ही सजातीय गतिधारा आरम्भमें उसके वैश्व मूलके रूपमें थी, तो यह हेतु सर्वथा रहस्यमय नहीं रह जाता। इसके विपरीत, आत्म-गोपन और आत्म-प्राप्तिका खेल अत्यंत आकर्षक खेल है; पुरुष अपने-आपको जितने अधिक-से-अधिक तेजोमय हर्ष दे सकता है यह उनमेंसे एक है। स्वयं मनुष्यके लिये ऐसी विजय-प्राप्तिसे बढ़कर सुखदायी वस्तु और कोई नहीं होती जो अपने तत्त्व-रूपमें कठिनाइयोंपर विजय हो, ज्ञानमें विजय हो, शक्तिमें विजय हो, सृष्टिकी असंभवताओंपर सृष्टिमें विजय हो; यह एक वेदनामय श्रम और दुःखकी कठिन अग्नि-परीक्षापर विजय-प्राप्तिका आनन्द होता है। वियोगके अन्तमें आता है मिलनका गाढ़ आनन्द, जिस आत्मासे हम विभक्त हो गये थे उससे मिलनका आनन्द। स्वयं अज्ञानमें भी एक आकर्षण है, कारण, वह हमें आविष्कारका हर्ष, नूतन और पूर्व-अदृष्ट सृष्टिका आश्चर्य, जीवका एक महान् अभियान प्रदान करता है; यात्रा और खोज और प्राप्तिका एक हर्ष है, संग्राम और जयमुकुटका, परिश्रम और परिश्रमके पुरस्कारका एक हर्ष है। यदि अस्तित्वका आनन्द सृष्टिका रहस्य हो तो यह भी अस्तित्वका एक आनन्द ही है, यह इस प्रतीयमान

रूपसे विरोधाभासी और विपरीत लीलाका कारण, या अंततः, एक कारण माना जा सकता है। परन्तु वैयक्तिक पुरुषके इस चुनावके अतिरिक्त मूल सत्‌में एक गभीरतर सत्य निहित है जो निश्चेतनामें निमज्जित होनेकी क्रियामें प्रकट होता है; इसका परिणाम सच्चिदानन्दका अपने प्रतीयमान विरोधके अन्दर नवीन रूपसे प्रतिष्ठापन होता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि 'अनंत'को वैचित्र्यमय आत्माभिव्यक्तिका अधिकार है, तो यह परिणाम भी अभिव्यक्तिकी एक संभावनाके रूपमें बोधगम्य हो जाता है और उसकी एक अपनी गभीर सार्थकता है।

अध्याय पाँच

विश्वमाया ;
मन, स्वप्न और विभ्रम

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।

तू जो इस अनित्य और असुखी लोकमें आया है, मुझे भज ।
—गीता 9.33.

आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः...हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ।
स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति...स हि स्वप्नो
भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ।।

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः, इदं च परलोकस्थानं च,...
तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च,...
स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं
निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा, प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ।।

न तत्र रथाः न...पन्थानो भवन्ति,...
न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति,...
न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति,
अथ...सृजते स हि कर्ता ।।

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ।।

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ।।

...अथो खल्वाहुः "जागरितदेश एवास्यैष इति, यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति
तानि सुप्त इति", अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ।।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
4. 3, 7, 9-12,14.

यह आत्मा विज्ञानमय है, हृदयस्थ अंतर्ज्योति है; वह सत्ताकी समस्त
अवस्थाओंमें समान रूपसे चिन्मय पुरुष है और दोनों लोकोंमें

संचरण करता है। वह स्वप्न-पुरुष हो जाता और इस लोक तथा उसके मृत्युरूपोंसे परे चला जाता है....इस पुरुषके दो स्थान हैं, इह लोक और परलोक; तृतीय स्थान उन दोनोंका संधि-स्थल है, यह स्वप्नावस्था है, और जब वह उनके इस संधि-स्थलमें अवस्थित होता है तब अपने अस्तित्वके दोनों लोकों, इहलोक और परलोकको देखता है। जब वह सोता है तब सबको अपने अन्दर रखनेवाले इस जगत्‌के सारको लेता और आत्म-दीप्तिसे, आत्म-ज्योतिसे स्वयं ही भग्न और स्वयं ही निर्माण करता है; यह पुरुष जब सोता है तब आत्म-ज्योतिसे ज्योतिर्मय हो जाता है.....वहाँ न पंथ हैं, न रथ, न हर्ष हैं, न सुख, न ताल हैं, न तड़ाग, न नदियाँ हीं, अपितु वह अपनी स्व-ज्योतिसे उनका सृजन करता है, क्योंकि वह सरजनहार है। सुषुप्तिके द्वारा वह अपने शरीरका परित्याग करता और असुप्त रहता हुआ उन्हें देखता है जो सुप्त हैं; अपने प्राणवायुसे वह इस निम्नतर घोंसलेकी रक्षा करता और, अमृत-स्वरूप, अपने घोंसलेसे बाहर चला जाता है; वह, अमृतस्वरूप, हिरण्मय पुरुष, निःसंगी हंस, जहाँ चाहता है चला जाता है। कहते हैं, "केवल जागृत देश ही उसका है, कारण, जिन वस्तुओंको वह जागृत अवस्थामें देखता है उन्हें ही निद्रावस्थामें देखता है"; परन्तु वहाँ वह स्वयं-ज्योति होता है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
4.3-7, 9-12, 14

...दृष्टं चादृष्टं च...अनुभूतं चाननुभूतं च,
सच्चासच्च, सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति ॥

जो देखा गया है और जो देखा नहीं गया है, जो अनुभूत हुआ है और जो अनुभूत नहीं हुआ है, जो है और जो नहीं है—उस सबको वह देखता है, वह सर्व है और देखता है।

—प्रश्नोपनिषद् 4.5

समस्त मानव-विचार, मनोमय मनुष्यका समस्त अनुभव निरन्तर अस्ति और नास्तिके बीच घूमता रहता है; भावका ऐसा कोई सत्य नहीं, अनुभवका ऐसा कोई परिणाम नहीं जिसके लिये उसका मन हाँ या ना न कह सके। उसने व्यष्टि-सत्ताका अस्तित्व अस्वीकार किया है, विश्वका

अस्तित्व अस्वीकार किया है, अंतर्व्यापी अथवा मूलगत सद्वस्तुका अस्तित्व अस्वीकार किया है, व्यक्ति और विश्वसे परे कोई सद्वस्तु है इसे भी अस्वीकार किया है; परंतु वह इन्हें निरंतर स्वीकार भी करता रहा है, कभी इनमेंसे मात्र किसी एकको, कभी किन्हीं दोको, कभी इन सबको एकसाथ। उसे ऐसा करना पड़ता है, क्योंकि हमारा विचारशील मन प्रकृत्या ही संभावनाओंका अज्ञ व्यापारी है, उनमें किसीके भी पीछे जो सत्य है उसपर उसका आधिपत्य नहीं होता, अपितु वह इनमेंसे प्रत्येकको वारी-बारीसे अथवा अनेकोंको एक साथ लेकर उनकी थाह लेता अथवा जाँच करता है ताकि वह कदाचित् इसी तरह उनके संबंधमें किसी स्थिर विश्वास या ज्ञानतक, किसी निश्चयतक पहुँच जाय; तदपि, सापेक्षताओं और संभावनाओंके जगत्में निवास करते हुए, वह किसी अंतिम निश्चय तक, किसी चरम और ध्रुव विश्वस्ततातक नहीं पहुँच सकता। यही नहीं, जो वास्तविक है, संसिद्ध है, वह भी हमारे मनके सम्मुख "कदाचित् हो, कदाचित् न हो", "स्याद् वा न स्याद् वा" के रूपमें अथवा ऐसे "है" के रूपमें उपस्थित हो सकता है जो कि "न हुआ हो" की छायासे ग्रस्त और अव भविष्यमें न होनेवालेका रूप धारण किये हो। हमारी प्राण-सत्ता भी उसी अनिश्चयसे पीड़ित है; वह जीवनके किसी ऐसे लक्ष्यमें चैनसे नहीं रह सकती जिससे वह कोई निश्चित अथवा अंतिम संतुष्टि प्राप्त कर सके अथवा जिसे वह कोई स्थायी मूल्य प्रदान कर सके। हमारी प्रकृति तथ्यों और वास्तविकताओं को यथार्थ मानकर आरंभ करती है; वह उनसे परेकी अनिश्चित संभावनाओं के अनुसंधानके लिये विवश होती और उसने जिन्हें सत्य माना था उन सबपर अंतमें संदेह करने लगती है। कारण यह है कि वह प्रारंभ करती है एक मूलभूत अज्ञानसे, और सुनिश्चित सत्यपर उसका कोई आधिपत्य नहीं होता; जिन सत्योंपर वह कुछ समयके लिये भरोसा करती है वे सबके सब आंशिक, अपूर्ण और संदिग्ध निकलते हैं।

प्रारम्भमें मनुष्य निवास करता है अपने स्थूल मनमें। जो कुछ 'व्यावहारिक' है, स्थूल है, बहिर्व्यक्त है, उसे यह मन देखता और तथ्य-रूपमें स्वीकार करता है और इस तथ्यको वह निःसंदिग्ध स्वयं-सिद्ध सत्य मानता है। जो भी 'व्यावहारिक' नहीं, स्थूल नहीं, बहिर्व्यक्त नहीं, उसे वह अवास्तव या असंसिद्ध मानता है, उसे संपूर्णतः सत्य तव मानता है जब कि वह 'व्यावहारिक' बन जानेमें, स्थूल तथ्य बन जानेमें, बहिर्व्यक्त हो जानेमें सफल होता हो। वह स्वयं अपनी सत्ताको भी पराक्-तथ्यकी भाँति मानता है, उसे इसलिये वास्तव ठहराता है कि एक दृश्य और इन्द्रियग्राह्य

शरीरमें उसका अस्तित्व है; अन्य समस्त प्रत्यक्-सत्ताओं और वस्तुओंको वह उसी प्रमाणके आधारपर वहीं तक मानता है जहाँतक कि वे हमारी बाह्य चेतनाके विषय बन सकती हैं अथवा हमारी बुद्धिके उस भागके लिये स्वीकार्य बन सकती हैं जो उस चेतना द्वारा प्रदत्त तथ्योंके आधारपर निर्माण करता और उन्हें ज्ञानका एकमात्र ठोस आधार मानकर उनपर निर्भर करता है। भौतिक विज्ञान इसी मानसताका एक विशाल विस्तरण है: जो तथ्य और वस्तुएँ हमारे शारीरिक अंगोंसे ग्राह्य नहीं, उन्हें वस्तुनिष्ठताके क्षेत्रके अंदर ले आनेके साधनोंका आविष्कार करते हुए वह इन्द्रियोंकी भूलोंको सुधारता और ऐन्द्रिय मनकी प्राथमिक सीमाओंसे परे निकल जाता है; परंतु वास्तवता के लिये उसके पास वही मानदंड है, वहिर्व्यक्त, भौतिक वास्तविकता ही; वास्तवके लिये उसकी कसौटी यह है कि उसे वस्तुनिष्ठ बुद्धि और बाह्य साक्ष्य द्वारा प्रमाणित किया जा सके।

परन्तु मनुष्यको एक प्राण-मन भी है, एक प्राणिक मानसता भी, जो कामना का उपकरण है। यह मन 'व्यावहारिक' से सन्तुष्ट नहीं होता, वह तो संभावनाओंका व्यापारी है; उसे नवीनताका दुर्निवार आकर्षण रहता है और वह कामनाकी संतुष्टिके लिये, भोगके लिये, परिवर्द्धित आत्म-प्रतिष्ठापनके लिये, अपने बल और लाभके क्षेत्रके विस्तारके लिये सदा ही अनुभवकी सीमाओंको बढ़ाना चाहता रहता है। जो भूतार्थ है उसकी वह कामना करता है, उसका भोग करता है, उसे अधिकृत करता है, परंतु जो संभावनाएँ चरितार्थ नहीं हुई हैं उनका पीछा भी करता है, उन्हें मूर्त करने, अधिकृत करने और उनका भोग करनेके लिये भी उत्कंठित रहता है। वह भौतिक और बहिर्व्यक्तसे ही सन्तुष्ट नहीं रहता, अपितु एक आंतरिक, एक कल्पनात्मक, एक विशुद्धतया भावात्मक संतुष्टि और सुखकी भी चाह करता है। यदि यह तत्त्व न होता तो मनुष्यका स्थूल मन अकेला छोड़ दिये जानेपर पशुकी तरह रहता, मनुष्यके प्राथमिक भौतिक जीवन और उस जीवनकी सीमाओंको ही मनुष्यकी संपूर्ण संभावना स्वीकार कर लेता, भौतिक प्रकृतिकी स्थापित व्यवस्थाके अंदर ही उसकी गति होती, वह उससे आगे और कुछ भी न माँगता। परंतु यह प्राणिक मन, यह अशांत प्राणिक इच्छा अपनी माँगोंको साथ लिये प्रवेश करती है और वास्तविकताकी सीमाओंमें आवद्ध इस तामसिक अथवा बँधी-बँधायी तृप्तिमें व्याघात डालती है। वह सदा कामना और लालसाकी वृद्धि करती है, एक असंतोषकी, बेचैनीकी, किसी ऐसी वस्तुकी चाहकी सृष्टि करती है जो कि, जीवन उसे जो कुछ देनेमें समर्थ लगता है, उससे अधिक कुछ होती है। हमारी अचरितार्थ संभावनाओंको वास्तविक बनाती हुई वह

भौतिक वास्तविकताके क्षेत्रकी विशाल विस्तृति घटित करती है, परन्तु साथ ही वह लाती है नित्य अधिकाधिककी माँग, विजयके लिये नवीन जगतोंकी खोज, परिस्थितिकी सीमाओंके अतिक्रमण और निजके अतिक्रमणकी ओर एक अनवरत प्रवृत्ति। फिर, अशांति और अनिश्चयके इस कारणमें योगदान करने विचारशील मनका प्रवेश होता है। वह मन प्रत्येक वस्तुकी जाँच-पड़ताल करता है, प्रत्येक वस्तुपर शंका करता है, सिद्धांतोंका निर्माण करता और उन्हें भग्न करता है, सुनिश्चित मतोंकी रचना करता है परंतु अंतमें उनमेंसे किसीको भी निश्चित नहीं मानता, इन्द्रियोंके प्रमाणकी प्रतिष्ठा करता है और फिर उनपर संशय भी, बुद्धिके निष्कर्षोंका अनुसरण करता जाता है परन्तु उन्हें फिर छिन्न-भिन्न करके वह उनसे भिन्न या सर्वथा विपरीत निष्कर्षोंपर जा पहुँचता है, और इस प्रक्रियाको यदि अनंत कालके लिये नहीं तो अनिश्चित कालके लिये तो अवश्य ही चलाता रहता है। यही मानव-विचार और मानव-प्रयासका इतिहास है; वह सदैव सीमाओंको तोड़ता है किंतु सदैव उन्हीं कुंडलियोंमें घूमता रहता है, वे कुंडलियाँ शायद अधिक बड़ी तो होती जाती हैं, परंतु घुमावोंकी दिशा वही-की-वही अथवा सदा एक-जैसी होती है। मानवजातिका मन सदा खोज करता है, सदा सक्रिय रहता है, अथच वह कभी भी जीवनके लक्ष्यों और उद्देश्योंकी दृढ़-सुस्थिर सत्यता अथवा अपनी ही निश्चितताओं और दृढ़ धारणाओंकी सुस्थिर सत्यतापर, जीवन-संबंधी अपने भावके किसी सुप्रतिष्ठित आधार अथवा दृढ़ रूपायणपर नहीं पहुँचता।

इस सतत अशांति और कठोर परिश्रमके दौरान एक ऐसा समय आता है जब कि स्थूल मन भी वस्तुनिष्ठ निश्चिततामें अपनी दृढ़ आस्था खो बैठता है और एक ऐसे अज्ञेयवादमें प्रवेश करता है जो जीवन और ज्ञानके विषयमें उसके अपने ही बनाये सारे मापदंडोंपर संशय करने लगता है, यह सन्देह करने लगता है कि यह सब वास्तव है या नहीं, अथवा यदि वास्तव हो भी तो कहीं सब कुछ निरर्थक तो नहीं। प्राणिक मन जीवनसे हारकर, उसकी दी गई समस्त संतुष्टियोंसे हताश अथवा असंतुष्ट होकर, गहरी जुगुप्सा और निराशासे अभिभूत होकर देखता है कि सब कुछ व्यर्थ है, आत्माके लिये परेशानी है, और जीवन तथा अस्तित्वको अयथार्थ मानकर, वह जिनके पीछे भाग रहा था उन सबको भ्रम या माया मानकर, इनका परित्याग करनेको प्रस्तुत हो जाता है; विचारशील मन अपनी समस्त स्थापनाओंको भग्न करके यह ज्ञात करता है कि वे सब मानसिक रचनाएँ मात्र हैं और उनमें कोई वास्तवता नहीं, अथवा यह कि एकमात्र वास्तवता इस

जीवनसे परेकी कोई वस्तु है, कोई ऐसी वस्तु जो न तो वनायी गयी है, न निर्मित ही है, वरं निर्विशेष और सनातन वस्तु है,—जो कुछ भी सापेक्ष है, जो कुछ भी कालिक है, वह सव स्वप्न है, मनका विभ्रम है, अथवा एक विशाल उन्माद, एक अमित विश्वमाया, प्रतीयमान सत्ताकी कोई भ्रांतिकारी आकृति है। नास्तिका सिद्धान्त अस्तिके सिद्धान्तको पराभूत कर देता और सार्वभौम तथा परम वन जाता है। उसीसे जगत्नास्तिवादी महान् धर्मों और दर्शनों का उद्भव होता है; वहींसे जीवन-प्रेरणाको अपने प्रति विराग होता है और अन्यत्र किसी निर्दोष तथा शाश्वत जीवनकी खोज होती है अथवा स्वयं जीवनका ही एक निश्चल सद्‌वस्तु या आदि असत्‌में निर्वाण कर देनेकी एषणा होती है। भारतमें उसके महत्तम मनीषियोंमेंसे वुद्ध और शंकर, इन दोने जगत्नास्तिवादके दर्शनका परम सशक्त और मूल्यवान् निरूपण किया है। वीचमें और वादमें वहुत महत्वके अन्य दार्शनिक सिद्धांत हुए हैं, जिन्होंने इन दो महान् दार्शनिक सिद्धांतोंके निष्कर्षोंका प्रतिवाद कम या अधिक शक्ति और सफलताके साथ किया है; उनमेंसे कुछ व्यापक रूपसे स्वीकृत हुए हैं, प्रतिभाशाली और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टिवाले लोगोंके द्वारा विचारकी वहुत विदग्धताके साथ प्रतिपादित हुए हैं; परंतु उनमेंसे कोई भी वुद्ध या शंकरके समान निरूपणकी शक्तिके साथ नहीं उपस्थित किया गया, न तो किसीके पीछे उतने वड़े व्यक्तित्वकी ऊर्जस्विता थी, न किसीका वैसा वृहत् प्रभाव ही पड़ा। भारतीय दार्शनिक मानसकी ऐतिहासिक परम्परामें शंकर वुद्धको लेते हैं, उन्हें सम्पूर्ण करते और उनका स्थान ले लेते हैं, और इन दो विलक्षण आध्यात्मिक दर्शनोंकी अंतर्भावना भारतीय विचारधारा, धर्म और सामान्य मानसपर अति प्रवलतासे प्रभाव डालती रही है: उसकी प्रवल छाया सर्वत्र छायी मिलती है, सर्वत्र ही कर्मका वंधन, पुनर्जन्मके चक्रसे निस्तार और माया, इन तीन महान् सूत्रोंकी छाप मिलती है। अतः विश्व-जीवनके निषेधके पीछे जो 'भाव' या 'सत्य' है उसपर पुनः दृष्टिपात करना आवश्यक है और, चाहे कितने ही संक्षेपमें क्यों न हो, इसपर विचार करना आवश्यक है कि उसके प्रधान सिद्धांतों या संकेतोंका मूल्य क्या है, वे किस वास्तवतापर खड़े हैं, वुद्धि या अनुभवके लिये वे कहाँ तक अनुल्लंघ्य हैं। वर्तमानके लिये यह पर्याप्त होगा कि महान् विश्व-भ्रमकी, मायाकी धारणाके चारों ओर जो मुख्य भाव एकत्रित हो गये हैं उनपर एक दृष्टि डाली जाय और उनके विपक्षमें हमारे विचार और दर्शनकी धाराके अनुकूल रहनेवाले मुख्य भावोंको रखा जाय; कारण दोनों का उद्‌गम तो एक अद्वय सद्‌वस्तुकी धारणासे ही होता है, परंतु जव कि एक धारा विश्व-मायावादपर पहुँचती है, दूसरी

विश्व-सद्वस्तुवादपर,—एकमें अवास्तव या वास्तव-अवास्तव विश्व एक विश्वातीत सद्वस्तुपर आश्रित है, दूसरीमें वास्तव विश्व एक ऐसी सद्वस्तुपर जो एक ही साथ विश्वात्मक है और विश्वातीत अथवा निर्विशेष भी।

प्राणिक सत्ताकी जीवन-वितृष्णाको, प्राणिक मनकी जीवन-विरक्तिको अपने-आपमें अकेले ही प्रामाणिक या निर्णायक नहीं माना जा सकता। उसके पीछे प्रवलतम प्रेरक तत्त्व है एक निराशाका वोध, निष्फलताकी भावना का स्वीकरण, और इसके विपरीत, आदर्शवादीका प्रेरक तत्त्व है अडिग आशा और लक्ष्य-प्राप्तिके लिये विश्वास तथा संकल्प; इनमें पहला दूसरेकी अपेक्षा अधिक निर्णायक होनेका दावा नहीं कर सकता। तथापि, हताशाकी इस भावनाको जो मानसिक समर्थन मिलता है, विचारशील मनको जो यह प्रत्यक्ष होता है कि समस्त मानव-प्रयत्न और पार्थिव प्रयासके पीछे एक भ्रम है, मनुष्यके राजनैतिक और सामाजिक सिद्धांतोंका भ्रम, पूर्णताके लिये उसके नैतिक प्रयत्नोंका भ्रम, लोकोपकार और सेवाका भ्रम, उसके कर्मका भ्रम, यश, शक्ति और सफलताका भ्रम, उसकी समस्त प्राप्तियोंका भ्रम, इसमें कुछ वैधता है। मनुष्यका सामाजिक और राजनैतिक प्रयास सदैव एक वृत्तके अन्दर घूमता रहता है और कहीं भी पहुँचाता नहीं; मनुष्यका जीवन और स्वभाव सदैव वही-के-वही, सदैव अपूर्ण रहते हैं, और नियम, संस्थाएँ, शिक्षा, दर्शनशास्त्र, नैतिकता, धर्मोपदेश, इनमेंसे कोई भी चीज पूर्ण मनुष्यके ही निर्माणमें सफल नहीं हुई, पूर्ण मानवजातिके उद्भवकी वात तो और भी दूर रही। कहा जाता है कि कुत्तेकी पूँछ चाहे जितनी भी सीधी क्यों न की जाय, वह सदैव वापस अपने प्राकृत टेढ़ेपनपर आ जायगी। परोपकार, लोकोपकार और सेवाने, ईसाई प्रेम अथवा बौद्ध दयाने जगत्को तिल भर भी अधिक सुखी नहीं बनाया; वे यत्र-तत्र क्षणिक राहतके कण ही बिखेरते हैं, जगत्की दुःखाग्निपर कुछ बूँदें भर ही डालते हैं। अंतमें सारे लक्ष्य अस्थायी और व्यर्थ होते हैं, समस्त प्राप्तियाँ असंतोषप्रद अथवा क्षणिक होती हैं; समस्त कार्य प्रयत्न और सफलता तथा विफलताका इतना सारा श्रम ही होते हैं, जिससे कोई भी निश्चित संसिद्धि नहीं मिलती। मानव-जीवनमें इस तरह होनेवाले सारे परिवर्तन रूपके ही परिवर्तन होते हैं और ये रूप एक-दूसरेका पीछा एक अकारथ वृत्तके अंदर करते रहते हैं; कारण जीवनका सार, उसका सामान्य स्वभाव सदाके लिये वही-का-वही वना रहता है। इस दृष्टिमें अतिरंजना हो सकती है, परंतु उसमें एक ऐसा वल है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; उसे मनुष्यके शताब्दियोंके अनुभवका समर्थन है, और उसमें अपने-आपमें एक ऐसी सार्थकता है जो किसी-न-किसी

समय मनके सामने स्वयं-प्रमाण होनेका अभिभूतकारी रूप लेकर उपस्थित होती है। और, इतना ही नहीं, अपितु यदि यह सत्य हो कि पार्थिव जीवन के मूलभूत नियम और मूल्य बँधे-बँधाये हैं अथवा उसे सदैव पुनरावर्तित चक्रोंमें घूमते रहना है,—और यह विचार लंबे अरसेसे बहुत प्रचलित भी रहा है,—तो अंतमें इस दृष्टिकोणको अपनानेके सिवाय कदाचित् ही रास्ता मिलता है। कारण, अपूर्णता, अज्ञान, विफलता और दुःख वर्तमान जगत्-व्यवस्थाका एक प्रधान तत्त्व हैं; उनके विपरीत तत्त्वों, ज्ञान, सुख, सफलता और पूर्णताको हम सदैव भ्रांतिजनक या अनिश्चायक पाते हैं: ये दोनों विरोधी इतने अविच्छेद्य रूपसे सम्मिश्रित हो गये हैं कि यदि यह वस्तुस्थिति किसी श्रेष्ठतर परिपूर्तिकी ओर अभिमुख गतिद्वारा न हो, यदि यही जगत्-व्यवस्थाका चिरस्थायी स्वभाव हो तो इस निष्कर्षसे बचना कठिन है कि यहाँ सब कुछ या तो एक निश्चेतन ऊर्जाकी सृष्टि है, जिससे इसकी व्याख्या हो जाती है कि प्रतीयमान चेतना कहीं भी पहुँचनेमें क्यों असमर्थ है, या इसे जानकर ही अग्निपरीक्षा और विफलताका जगत् बनाया गया है, उसका कोई परिणाम यहाँ, इहलोकमें नहीं, अन्यत्र ही है, अथवा यहाँ सब कुछ एक विशाल और लक्ष्यहीन विश्वमाया ही है।

इन वैकल्पिक निष्कर्षोंमें दूसरा, जैसा कि वह हमारे सामने सामान्यतया उपस्थित किया जाता है, दार्शनिक युक्तिके लिये कोई आधार नहीं देता, क्योंकि हमें इहलोक और परलोकके बीच संबंधका कोई संतोषप्रद संकेत नहीं मिलता; वे दोनों एक-दूसरेके विरोधमें खड़े तो कर दिये जाते हैं, परन्तु उनके संबंधोंकी अनिवार्यताके प्रसंगमें उनकी व्याख्या नहीं होती और अग्निपरीक्षा तथा विफलताकी आवश्यकता या मूलगत अर्थवत्तापर भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उसे किसी स्वेच्छाचारी स्रष्टाकी कोई रहस्यमयी इच्छा न मानें तो यह बात केवल तब समझमें आ सकती है जब कि हम यह कहें कि अमर जीवोंने अज्ञानके अभियानका परीक्षण स्वेच्छासे चुना है और उनके लिये यह आवश्यक था कि वे अज्ञान-जगत्की प्रकृतिको मालूम करें ताकि वे उसका परित्याग कर सकें। किन्तु ऐसा सर्जनात्मक हेतु, जो अवश्य ही अवस्थाप्रसूत और अपने प्रभावमें सर्वथा स्वल्पकालीन होगा और पृथ्वी जिसके अनुभवका एक आकस्मिक क्षेत्र ही होगी, अकेला तो इस जटिल विश्वके विशाल और स्थायी प्रपंचकी व्याख्या कदाचित् ही कर सके। यह एक संतोषजनक व्याख्याका क्रियात्मक भाग तब हो सकता है जब कि जगत् किसी महत्तर सर्जनात्मक हेतुके क्रियान्वयनका क्षेत्र हो, वह किसी दिव्य सत्य अथवा दिव्य संभावनाकी अभिव्यक्ति हो जिसमें कुछ

विशेष अवस्थाओंमें एक आरंभक अज्ञानका एक आवश्यक तत्त्व-रूपमें प्रवेश होता ही हो, और जब कि इस विश्व व्यवस्थामें यह बाध्यता हो कि अज्ञान ज्ञानकी ओर बढ़े, अपूर्ण अभिव्यक्ति पूर्णतामें परिणत हो, विफलता अंतिम विजयके लिये सोपान बन जाय, दुःख सत्के दिव्य आनन्दके उन्मज्जनकी तैयारी करे। उस दशामें निराशा, विफलता और भ्रमात्मकताके बोध और सकल वस्तुओंकी व्यर्थताके बोधमें वैधता नहीं रहती ; कारण, जो दृश्य इस बोधका औचित्य दिखाते प्रतीत होते हैं वे एक कठिन क्रमविकासकी स्वाभाविक परिस्थितियाँ मात्र होंगे : पूर्णसिद्ध आध्यात्मिक सत्ताकी परिपूर्ण ज्योतिकी ओर अंतरात्मा, मन, प्राण और शरीरके परिणति-विकासमें प्रयत्न और संघर्ष, सफलता और विफलता, हर्ष और कष्टका सारा दबाव, अज्ञान और ज्ञानका सम्मिश्रण आवश्यक अनुभव होगा। यह एक क्रमविकसनशील अभिव्यक्तिकी प्रक्रियाके रूपमें प्रकट होगा ; किसी स्वेच्छाचारी सर्वशक्तिमत्ताके आदेशको अथवा विश्वमायाको, अर्थहीन मायाकी हवाई कल्पनाको बीचमें लानेकी आवश्यकता न होगी।

परन्तु जगत्-निषेधके दार्शनिक सिद्धांतका एक उच्चतर मानसिक तथा आध्यात्मिक आधार भी है और यहाँ हम अधिक ठोस आधारपर खड़े होते हैं। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि जगत् स्वरूपतः ही भ्रम है और किसी भ्रमके लक्षणों और परिस्थितियोंके सहारे किया गया कोई भी तर्क न तो उसके अस्तित्वको मान्य सिद्ध कर सकता है, न उसे सद्वस्तुका ऊँचा पद ही दे सकता है; केवल एक सद्वस्तु है, वह है तुरीय, विश्वातीत : इस जगत्का मूल स्वरूप जो आद्या अवास्तवता है उसे कोई दिव्य परिपूर्ति भी, हमारे जीवनके विकासकी देवताओंके जीवनमें परिणति भी मिटा या हटा नहीं सकती ; कारण वह परिपूर्ति भी उस भ्रमका एक उज्ज्वल पक्ष ही होगी। अथवा, यदि वह संपूर्ण भ्रम न भी हो, तो भी एक निम्नतर श्रेणीकी ही वास्तवता होगी और उसका अंत जीवको यह ज्ञान होनेसे हो जायगा कि एकमात्र ब्रह्म सत्य है और विश्वातीत एवं अक्षर निर्विशेष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यदि यही एकमात्र सत्य हो तो हमारे पैरोंके नीचेसे सारी भूमि खिसक जाती है ; तब दिव्य अभिव्यक्ति, जड़में आत्माकी विजय, जीवनपर उसका प्रभुत्व, प्रकृतिमें दिव्य जीवन, स्वयं यह सब ही मिथ्यात्व या, कम-से-कम, ऐसा कुछ हो जायगा जो सर्वथा यथार्थ नहीं, अपितु एकमात्र सच्ची सद्वस्तुपर कुछ कालके लिये अध्यारोपित ही है। परंतु यहाँ सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि उस सद्वस्तुके विषयमें मनकी धारणा या मनोमय पुरुषका अनुभव क्या है और वह धारणा कहाँतक

प्रामाणिक है अथवा वह अनुभव कहाँ तक अवश्यमान्य है,—वह अनुभव यदि आध्यात्मिक भी हो तो भी वह कहाँतक संपूर्ण रूपसे अंतिम है, एकमात्रतया अवश्यमान्य है।

यद्यपि यह मत सर्वसम्मत तो नहीं, तथापि विश्व-मायाको कभी-कभी ऐसी वस्तु माना जाता है, जिसका स्वरूप मिथ्या विषयिगत अनुभवका हो। उस दशामें वह रूपों और गतियोंकी ऐसी आकृति है या हो सकती है जिसका उद्‌भव वस्तुओंकी किसी शाश्वत निद्रामें अथवा स्वप्न-चेतनामें होता है और जो एक शुद्ध तथा लक्षणरहित आत्म-संविन्मय सत्‌पर कुछ कालके लिये आरोपित है; यह 'अनंत'में घटित होता स्वप्न है। मायावादियोंके दार्शनिक सिद्धान्तोंमें (उनके कई मत हैं, जिनमें आधार एक होते हुए भी परस्पर प्रत्येक स्थलपर और सर्वथा ऐकमत्य नहीं है) स्वप्नकी उपमा दी जाती है, परन्तु उपमा-रूपमें ही, न कि विश्व-मायाके आंतरिक स्वरूपके वर्णनके लिये। हमारे वस्तुनिष्ठ स्थूल मनके लिये यह विचार स्वीकार करना कठिन होता है कि स्वयं हम, जगत् और जीवन असत् हैं, उस चेतनाके द्वारा हमपर आरोपित धोखा हैं, जब कि एकमात्र वे ही हमारी चेतनाके लिये निश्चित रूपसे प्रमाण्य हैं। यह दिखलानेके लिये कुछ उपमाएँ, विशेषत: स्वप्न और विभ्रमकी उपमा, प्रस्तुत की जाती हैं कि यह संभव है कि चेतनाके अनुभवोंके लिये अमुक वस्तु वास्तव प्रतीत हो और फिर भी वह वास्तवताके किसी भी आधार अथवा पर्याप्त आधारसे रहित प्रमाणित हो; जैसे स्वप्न देखनेवाला जबतक सोता है उसके लिये स्वप्न वास्तव होता है, परंतु जागृत अवस्था आने पर वह अवास्तव ज्ञात होता है, उसी प्रकार हमें जगत्‌का अनुभव भी निश्चित और वास्तव प्रतीत होता है परंतु जब हम भ्रमसे पीछे हटकर खड़े होते हैं तो पाते हैं कि उसमें कोई वास्तवता नहीं थी। परंतु यह अच्छा होगा कि हम स्वप्नकी उपमाका पूरा मूल्य लगावें और देखें कि हमारे जगत्‌के अनुभवके बोधका आधार किसी भी भाँति सदृश है या नहीं। कारण, जगत्‌के स्वप्न होनेका भाव, वह चाहे प्रत्यगवृत्त मनका स्वप्न हो, अथवा अंतरात्माका स्वप्न या 'शाश्वत'में हो रहा स्वप्न, मनुष्यकी विचारधारा और भावनामें प्राय: स्थान पाता और मायावादी प्रवृत्तिको प्रबल रूपसे सशक्त करता है। यदि यह विचार वैधतासे रहित हो तो यह बात निश्चित रूपसे देख लेनी चाहिये, उसकी अनुपयुक्तताके कारणोंको भी देख लेना चाहिये और इस विचारको मार्गसे भली भाँति हटा देना चाहिये; या यदि उसमें कोई वैधता हो तो हमें यह देखना चाहिये कि वह क्या है और कहाँ तक उसकी पहुँच है।

जगत् यदि भ्रम है परंतु स्वप्न-जैसा भ्रम नहीं, तो इस भेदको भी सुनिश्चित आधारपर प्रस्तुत करना चाहिये।

स्वप्न पहले तो इसलिये अवास्तव माना जाता है कि जब हम चेतनाकी एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें, अपनी सामान्य स्थितिमें चले जाते हैं, तो स्वप्नका अंत हो जाता है और तब उसमें वैधता नहीं रह जाती। परंतु अकेला यह कारण पर्याप्त नहीं; क्योंकि, चेतनाकी ऐसी विभिन्न अवस्थाएँ भली भाँति हो सकती हैं जिनमें प्रत्येककी अपनी-अपनी वास्तवताएँ हों; चेतनाकी किसी स्थितिसे अन्य स्थितिमें चले जाने पर पहली स्थितिमें वस्तुओंके प्रति जो चेतना थी वह यदि क्षीण पड़ जाती हो और उसकी अंतर्वस्तुएँ लुप्त हो जाती हों अथवा स्मृतिमें गृहीत हो जाने पर भी भ्रममूलक प्रतीत होती हों, तो ऐसा होना पूर्णतया स्वाभाविक होगा, परंतु इससे यह प्रमाणित नहीं होगा कि हम अभी जिस स्थितिमें हैं वह तो वास्तव है और जिस स्थितिको हम पीछे छोड़ आये हैं वह अवास्तव। यदि पृथ्वीकी परिस्थितियाँ भिन्न लोकमें अथवा चेतनाके अन्य स्तरमें गुजरते जीवको अवास्तव प्रतीत होने लगती हैं, तो इससे उनकी अवास्तवता सिद्ध नहीं होती; उसी भाँति हम जब आध्यात्मिक नीरवता अथवा किसी निर्वाणमें चले जाते हैं तो जगत्का अस्तित्व हमें मिथ्या प्रतीत होता है, केवल इसी तथ्यसे यह प्रमाणित नहीं होता कि विश्व सदा ही एक भ्रम था। इससे बस यही सिद्ध होता है कि जगत्में निवास करनेवाली चेतनाके लिये तो जगत् वास्तव है और निर्वाणमें निमग्न चेतनाके लिये निरुपाधिक सन्मात्र वास्तव है। परन्तु हमारी निद्राके अनुभवको न माननेके लिये दूसरा कारण यह है कि स्वप्न एक क्षणिक वस्तु है, उसके न तो कोई पूर्ववर्ती है, न उत्तरवर्ती; सामान्यतः यह भी होता है कि उसमें न तो पर्याप्त संबद्धता होती है, न ऐसी अर्थवत्ता ही जो हमारी जागृत सत्ताको बोधगम्य हो सके। यदि हमारे स्वप्न हमारे जागृत जीवनकी भाँति संबद्धताका रूप ग्रहण कर लें, जैसे प्रत्येक दिवस हमारे जागृत जगत्-अनुभवको फिरसे हाथमें लेता है वैसे ही यदि प्रत्येक रात्रि एक विगत अविच्छिन्न और संबद्ध निद्रानुभवको हाथमें ले और आगे ले जाय, तो स्वप्न हमारे मनके लिये सर्वथा भिन्न स्वरूप धारण कर लेंगे। अतः स्वप्न और जागृत जीवनके बीच कोई सादृश्य नहीं; ये अनुभव अपने-अपने गुणधर्म, प्रामाणिकता और व्यवस्थामें सर्वथा भिन्न हैं। हमारे जीवनपर क्षणिक होनेका दोष लगाया जाता है और बहुधा यह भी कि कुल मिलाकर वह आन्तरिक संबद्धता और सार्थकतासे रहित है, परंतु जब हम उसे संपूर्ण अर्थवत्तासे रहित कहते हैं तो हो सकता है कि

यह हमारी समझकी कमी या सीमाके कारण हो : वस्तुतः हम जब अंदर जाते और उसे अंदरसे देखने लगते हैं तो वह एक संपूर्ण संबद्ध अर्थवत्ता धारण कर लेता है ; साथ ही, आंतरिक संबद्धताकी जो कोई कमी पहले अनुभूत होती थी वह विलुप्त हो जाती है और हम देखते हैं कि इसका कारण हमारी अपनी अन्तर्दृष्टि और ज्ञानकी असंबद्धता ही थी और यह जीवनका गुणधर्म बिल्कुल ही नहीं। जीवनमें बाहरी तलपर कोई असंबद्धता नहीं, हमारे मनको वह बल्कि सुस्थिर अनुक्रमोंकी शृंखला प्रतीत होता है, और जैसा कभी-कभी कहा जाता है, यह यदि एक मानसिक भ्रांति ही है, वह अनुक्रम यदि हमारे मनके द्वारा ही सृष्ट होता है और जीवनमें उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं, तो भी चेतनाकी इन दो स्थितियोंके बीचका अंतर इससे मिट नहीं जाता। क्योंकि, स्वप्नमें एक साक्षी आन्तरिक चेतनाकी दी गई संबद्धता अनुपस्थित होती है, और अनुक्रमका जो भी बोध वहाँ होता है वह जागृत जीवनके संबंधोंके मिथ्या और अस्पष्ट अनुकरणके कारण होता लगता है, जो कि एक अवचेतन अनुकरण है, परंतु यह अनुकरणात्मक अनुक्रम छायारूप और अपूर्ण होता है, सदैव भग्न और खंडित होता है, और बहुधा सम्पूर्णतया अनुपस्थित भी। हम यह भी देखते हैं कि जागृत चेतना जीवन-परिस्थितियोंपर कुछ दूरीतक जो नियंत्रण रखती है स्वप्न-चेतना उससे सर्वथा रहित लगती है ; उसमें एक अवचेतन निर्माणकी प्राकृतिक स्वतःक्रिया रहती है, उसमें मानव जीवनके विकसित मनकी सचेतन इच्छा और संगठनकारी शक्तिका कुछ भी अंश नहीं होता। फिर, स्वप्नकी क्षणिकता मूलगत होती है और किसी स्वप्नका दूसरेके साथ संबंध नहीं होता ; परन्तु जागृत जीवनकी क्षणिकता ब्योरोंकी होती है,—जगत्के अनुभवकी संबद्ध समग्रताके क्षणिक होनेका हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। हमारे शरीर नष्ट हो जाते हैं, परन्तु अंतरात्मा जन्मजन्मांतरसे युग-युग चलता जाता है ; कल्पों या कई प्रकाश-युगचक्रोंके बीतनेपर नक्षत्र और ग्रह विलुप्त हो सकते हैं, परन्तु विश्व और विश्वजीवन अविच्छिन्न क्रियाधारा तो अवश्य ही है, अतः वह चिरस्थायी क्रियाधारा भी भलीभाँति हो सकता है ; ऐसा कुछ भी नहीं जो यह प्रमाणित करे कि उसकी सृष्टि करनेवाले 'अनंत'का, स्वयं उसका या उसकी क्रियाशीलताका कोई अंत या आदि है। यहाँतक स्वप्न-जीवन और जागृत जीवनके बीच इतनी अत्यधिक विषमता है कि स्वप्नकी उपमा लागू नहीं होती।

परन्तु यह प्रश्न किया जा सकता है, क्या सचमुच हमारे स्वप्न संपूर्णतः अवास्तव और अर्थहीन हैं? क्या वे सच्ची वस्तुओंकी ही कोई आकृति,

उनका कोई चित्राभिलेख अथवा प्रतीकात्मक प्रतिलेख अथवा प्रतिरूप नहीं? इसके लिये हमें निद्रा और स्वप्न-व्यापारोंके स्वरूप, उनकी उत्पत्ति-विधि और जन्मस्थानकी जाँच, चाहे कितने ही संक्षिप्त रूपसे क्यों न हो, करनी होगी। निद्रामें होता यह है कि हमारी चेतना अपने जागृत अनुभवके क्षेत्रसे हट जाती है; ऐसा माना जाता है कि वह विश्राममें है, निलंबित अथवा प्रसुप्त अवस्थामें है, परन्तु यह इस विषयमें हमारी बाहरी तलकी ही दृष्टि है। प्रसुप्तावस्थामें जानेवाली वस्तु जागृत क्रियाकलाप ही हैं; विश्रामावस्थामें जानेवाली वस्तु सतही मन और हमारे शारीरिक भागके सामान्य सचेतन क्रियाकलाप ही हैं; परंतु आंतरिक चेतना निलंबित नहीं होती, बल्कि वह नवीन आंतरिक क्रियाओंमें प्रविष्ट होती है, किंतु उन क्रियाओंका कोई भाग ही, हमारी सतहके समीपकी किसी चीजमें घटित या अंकित होनेवाला भाग ही हमें स्मरण रहता है। इस प्रकार निद्रामें सतहके समीप एक अस्पष्ट अवचेतन तत्त्व कायम रहता है जो हमारे स्वप्नानुभवोंका आधान या मार्ग होता और स्वयं भी स्वप्न-निर्माता होता है; परन्तु उसके पीछे गहरा और विशाल अवगूढ़ तत्त्व रहता है, हमारी समग्र प्रच्छन्न आंतरिक सत्ता तथा चेतना रहती है जो बिलकुल भिन्न श्रेणीकी होती है। सामान्यतः यह हमारे अन्दर कोई अवचेतन भाग ही है, चेतना और शुद्ध निश्चेतनाका मध्यवर्ती, जो अपनी रचनाओंको इस सतही परतके द्वारा स्वप्नरूपमें भेजता है; उसकी ये रचनाएँ प्रतीयमानतः क्रमहीन और असंबद्ध रहा करती हैं। इनमेंसे बहुत सी तो चंचल रचनाएँ होती हैं, हमारे वर्तमान जीवनकी परिस्थितियोंपर निर्मित, जिनका चुनाव प्रतीयमानतः विशृंखल रूपसे किया जाता है और वे वैचित्र्यकी हवाई कल्पनाओंसे घिरी होती हैं; अन्य रचनाएँ अतीतको, या बल्कि अतीतमेंसे चुने हुए व्यक्तियों और परिस्थितियोंको वैसे ही चंचल भवनोंके लिये प्रारम्भ-विन्दुके रूपमें वापस बुलाती हैं। अव-चेतनके अन्य स्वप्न भी होते हैं जो शुद्ध हवाई कल्पना लगते हैं, उनका कोई ऐसा आरम्भ या आधार नहीं होता; परन्तु मनोविश्लेषणकी नयी पद्धतिने हमारे स्वप्नोंके अन्दर एक प्रकारकी वैज्ञानिक समझके साथ देखनेका प्रथम बार प्रयत्न करते हुए उनमें एक अर्थ-संगति बैठायी है, हमारे अन्दरकी ऐसी वस्तुओंको देखनेकी कुंजी पायी है जिन्हें जानना और जिनका उपयोग करना हमारी जागृत चेतनाके लिये आवश्यक है; केवल इससे हमारे स्वप्नानुभवका सारा स्वरूप और मूल्य बदल जाता है। ऐसा दीखने लगता है कि उसके पीछे कोई सच्ची वस्तु है और यह भी कि वह वस्तु कोई कम व्यावहारिक महत्वकी नहीं।

परंतु, अवचेतन ही हमारे स्वप्नोंका एकमात्र निर्माता नहीं। हममें अवचेतन हमारी निगूढ़ आन्तरिक सत्ताका वह चरम सीमांत है जहाँ वह निश्चेतनसे मिलती है; वह हमारी सत्ताकी वह कोटि है जहाँ निश्चेतन उद्यम करता हुआ अर्द्ध-चेतनामें आता है'; सतहकी शारीरिक चेतना भी जब जागृत स्तरसे वापस गिरती और निश्चेतनकी ओर पीछे हटती है तब इस मध्यवर्ती अवचेतनामें ही आश्रय लेती हैं। अथवा, अन्य दृष्टिकोणसे, हमारे इस निचले भागका वर्णन निश्चेतनके एक ऐसे उपकक्ष-रूपमें किया जा सकता है जिससे होकर उसकी रचनाएँ हमारी जागृत अथवा अवगूढ़ सत्तामें उठ आती हैं। जब हम सोते हैं और हमारा सतही स्थूल भाग, जो यहाँ अपने प्रथम मूलमें निश्चेतनकी उपज है, अपनी उस उद्भाविका निश्चेतनाकी ओर पुनः पतित होता है, तब वह इस अवचेतन तत्त्व, उपकक्ष अथवा अधःस्तरमें प्रवेश करता है, और वहाँ उसे अपने अतीतके अथवा मन और अनुभवोंके स्थायी अभ्यासोंके संस्कार मिलते हैं,—क्योंकि, सबके सब हमारे अवचेतन भागपर अपना चिह्न छोड़ गये हैं और उनमें आवर्तनका बल रहता है। हमारी जागृत सत्तापर इस आवर्तनके प्रभावका बहुधा यह रूप होता है कि पुराने अभ्यास, प्रसुप्त अथवा दमित अन्तर्वेग, प्रकृतिके परित्यक्त तत्त्व पुनः अपने अधिकारका आग्रह करने लगते हैं अथवा वह आवर्तन किसी ऐसे आसानीसे पहचानमें आनेवाले रूपमें न आकर इन दमित या परित्यक्त, परन्तु अब तक मिटा न दिये गये अन्तर्वेगों या तत्त्वोंके किसी विचित्र छद्मवेशी या सूक्ष्म परिणामका रूप लेता है। स्वप्न-चेतनामें यह व्यापार एक प्रतीयमानतः कपोलकल्पनापूर्ण रचना होता है, गड़े हुए संस्कारोंके ऊपर या चारों ओर निर्मित आकृतियों और गतियोंका एक सम्मिश्रण होता है जिनका अर्थ जागरित बुद्धिकी पकड़में नहीं आता, कारण उसे अवचेतनकी अर्थवत्ताओंकी प्रणालीका कोई सूत्र प्राप्त नहीं है। कुछ समयके बाद यह अवचेतन क्रियाशीलता सम्पूर्ण निश्चेतनामें वापस गिरती प्रतीत होती है और इस अवस्थाको हम गहरी स्वप्नहीन निद्राका नाम देते हैं; वहाँसे हम फिर स्वप्नके अगभीर उपांतोंमें उन्मज्जित होते अथवा जाग्रत् सतहपर वापस चले आते हैं।

परंतु, हम जिसे स्वप्नहीन निद्रा कहते हैं उस अवस्थामें वस्तुतः हम अवचेतनकी अधिक गहरी और घनी परतमें चले गये होते हैं; वह अवस्था इतनी अधिक उलझी हुई, इतनी अधिक निमज्जित या अंधकारावृत, निष्प्रभ और बोझिल होती है कि अपनी रचनाओंको सतहपर नहीं ला सकती; हम वहाँ स्वप्न देखते तो हैं परंतु इन अधिक अंधकारावृत स्वप्नाकृतियोंको

अवचेतनाकी अंकनकारी परतमें ग्रहण करने या रख पानेमें समर्थ नहीं होते। या नहीं तो, ऐसा भी हो सकता है कि हमारे मनका जो अंग शरीरकी निद्रामें तब भी सक्रिय रहता है, वह हमारी सत्ताके आंतरिक प्रदेशोंमें, अवगूढ़ मानसिक, अवगूढ़ प्राणिक, सूक्ष्म-शारीरिक प्रदेशोंमें प्रविष्ट हो गया हो और वहाँ जाकर हमारे बाहरी अंगोंके साथ समस्त सक्रिय संबंध खो बैठा हो। यदि हम उस समय भी इन प्रदेशोंकी निकटतर गहराइयोंमें हों तो बहिस्तलीय अवचेतन, जो हमारी निद्रा-जागृति है, हमें उन गहराइयोंमें प्राप्त होनेवाले अनुभवोंके कुछ भागका अंकन करता है; परन्तु यह अंकन वह अपने ही लिप्यंतरमें करता है, वहुधा उसमें उसकी स्वाभाविक असंबद्धताओंका दोष रहता है और वह हमेशा ही, जब वह अधिक-से-अधिक संबद्ध हो तब भी, जागृत अवस्थाके अनुभवके जगत्से ली गई आकृतियोंमें ढल जाता या विकृत हो जाता है। परंतु, यदि हम अंदर और भी गहरे गये तो वहाँ या तो यह अंकन हो ही नहीं पाता या होता है तो हमें प्राप्त नहीं हो पाता और हमें यह भ्रम होता है कि स्वप्न हुआ ही नहीं; परन्तु तो भी अब मूक और निष्क्रिय बने अवचेतनके पर्देके पीछे आंतरिक स्वप्न-चेतनाकी क्रिया चालू रहती है। यह चालू रहनेवाली स्वप्न-क्रिया हमारे सामने तब प्रकट होती है जब कि हम आंतरिकतः अधिक सचेतन होते हैं, क्योंकि तब हम अधिक बोझिल और अधिक गहरे अवचेतन स्तरके संसर्गमें आते हैं, और जब हम उन निस्पंद गहराइयोंमें डूबे हुए थे उस समय जो घटित हुआ था, उससे हम उसी समय, या बादमें स्मृतिके द्वारा प्रत्यनुसरण या उसका पुनरुद्धार कर अवगत हो सकते हैं। अपनी अवगूढ़ सत्ताके प्रदेशों की अधिक गहराइयोंमें सचेतन होना भी संभव है, और तब हम अपनी सत्ताके अन्य स्तरोंपर अथवा अतिभौतिक लोकोंमें हुए अनुभवोंसे भी अवगत होते हैं जिनमें गुप्त प्रवेशका अधिकार हमें निद्रा देती है। ऐसे अनुभवोंका प्रतिलेख हमारे पास पहुँचता तो है, परंतु यहाँका प्रतिलिपिक अवचेतन नहीं, अपितु अवगूढ़ भाग है जो एक महत्तर स्वप्ननिर्माता है।

यदि अवगूढ़ भाग हमारी स्वप्न-चेतनामें इस भाँति आगे आ जाता है तो कभी-कभी हमारी अवगूढ़ बुद्धिकी क्रिया भी होती है,—स्वप्न विचारोंकी माला बन जाता है, वे विचार प्रायः विचित्र अथवा स्पष्ट आकारोंमें आते हैं, ऐसी समस्याओंका समाधान हो जाता है जिन्हें हमारी जागृत चेतना नहीं सुलझा सकी थी, चेतावनियाँ मिलती हैं, भविष्यके पूर्वाभास और संकेत मिलते हैं, सामान्य अवचेतन असंबद्धताका स्थान सच्चे स्वप्न ले लेते हैं। प्रतीकात्मक चित्रोंकी इमारत भी खड़ी हो सकती है, जिनमें कुछका स्वरूप

मानसिक, कुछका प्राणिक होता है : जो मानसिक होते हैं उनके आकार सुनिश्चित होते हैं और अर्थ स्पष्ट ; जो प्राणिक होते हैं वे बहुधा हमारी जागृत चेतनाके लिये जटिल और दुर्बोध होते हैं, परंतु हम यदि उनका सूत्र पकड़ सकें तो उनका अपना ही अर्थ, उनकी संबद्धताकी अपनी अनोखी प्रणाली प्रकट होती है। अंतमें, हम अपनी सत्ता अथवा विश्वसत्ताके जिन अन्य लोकोमें प्रवेश करते हैं, वहाँ हम जिन घटनाओंको देखते या अनुभव करते हैं, उनके अभिलेख हमारे पास आ सकते हैं : प्रतीकात्मक स्वप्नोंकी भाँति कभी-कभी उनका हमारे अपने आन्तरिक और बाह्य जीवन या दूसरोंके जीवनसे सबल संबंध होता है, वे हमारी या उनकी मनोमय सत्ता अथवा प्राणसत्ताके तत्त्वोंको प्रकट करते अथवा उनपर ऐसे प्रभाव दर्शाते हैं जिनके प्रति हमारी जागृत सत्ता सर्वथा अज्ञ होती है ; परंतु कभी-कभी उनका ऐसा कोई संबंध नहीं होता और वे हमारी शारीरिक सत्तासे स्वतंत्र रहती चेतनाकी अन्य संगठित प्रणालियोंके अभिलेख मात्र होते हैं। हमारे सामान्यतम निद्रानुभवका अधिकांश अवचेतन स्वप्नोंसे ही बना है और वे ही हमें सामान्यतः स्मरण रहते हैं ; परन्तु, कभी-कभी अवगूढ़ निर्माता भी हमारी निद्रा-चेतनापर इतने पर्याप्त रूपसे प्रभाव डालता है कि हमारी जागृत स्मृतिपर उसकी अपनी क्रियाओंकी छाप पड़ जाती है। यदि हम अपनी आंतरिक सत्ताका विकास करें, अधिकांश व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक अंतर्मुख होकर रहें, तो संतुलन बदल जाता है और हमारे सामने एक विशालतर स्वप्न-चेतना खुल जाती है ; हमारे स्वप्नोंका स्वरूप अवचेतन न रहकर अवगूढ़ हो जा सकता है और वे एक वास्तवता तथा सार्थकता धारण कर ले सकते हैं।

यह भी संभव है कि हम निद्राकी अवस्थामें सम्पूर्ण रूपसे सचेतन रहें और अपने स्वप्नानुभवोंकी भूमिकाओंका पूरा आदिसे अंत तक या उनके विस्तीर्ण प्रदेश-खण्डोंमें अनुसरण करें। देखा गया है कि तब हमें यह अनुभव होता है कि हम चेतनाकी अवस्थाओंमेंसे एक-एक कर निकलते हुए उस ज्योतिर्मय और शांतिमय स्वप्नहीन विश्रामकी अल्प अवधिमें चले जाते हैं जो जागृत प्रकृतिकी ऊर्जाओंका पुनःस्थापक होता है, और हम उसी राहसे वापस जागृत चेतनामें आते हैं। ऐसा होना सामान्य स्थिति है कि जब हम इस भाँति एक-एक अवस्थासे निकलते जाते हैं तो पहलेके अनुभव हमसे फिसल छूटते हैं ; वापसीमें केवल वे अनुभव स्मरण रहते हैं जो अधिक स्पष्ट थे या जागृत सतहके समीपतम थे : परंतु इसका उपाय किया जा सकता है, इससे अधिककी स्मृति रखना संभव है अथवा यह क्षमता

विकसित की जा सकती है कि हम स्मृतिमें स्वप्नपर स्वप्न, अवस्थापर अवस्था पार करते हुए वापस जायँ और अंतमें सम्पूर्ण दृश्य एक बार फिर हमारे सामने आ जाय। निद्रा-जीवनका सुसंबद्ध ज्ञान प्राप्त करना अथवा उसे स्थायी रखना कठिन तो है, परंतु संभव है।

हमारी अवगूढ़ सत्ता हमारी सतहकी शारीरिक सत्ताकी भाँति निश्चेतनकी ऊर्जाका परिणाम नहीं; वह है क्रमविकासके द्वारा नीचेसे उन्मज्जित होती चेतना और निर्वातित होनेके लिये ऊपरसे उतरी चेतनाका संधि-स्थल। उसमें एक आंतरिक मन है, हमारी अपनी एक आन्तरिक प्राणिक सत्ता है, हमारी बाह्य सत्ता और प्रकृतिसे विशालतर एक आन्तरिक अथवा सूक्ष्म-शारीरिक सत्ता है। हमारी बहिस्तलीय सत्तामें जो कुछ भी प्रथमा निश्चेतन विश्व-ऊर्जाकी रचना नहीं, अथवा हमारी बहिस्तलीय चेतनाकी स्वाभाविक विकसित क्रिया नहीं, अथवा बाह्य विश्वप्रकृतिसे आते आघातोंके प्रति बहिस्तलीय चेतनाकी प्रतिक्रिया नहीं, लगभग उस सारेका छिपा हुआ मूल यह आन्तरिक सत्ता है,—यहाँतक कि इस रचना, इन क्रियाओं, इन प्रतिक्रियाओंमें भी अवगूढ़ सत्ता भाग लेती और उनपर काफी प्रभाव डालती है। यहाँ ऐसी चेतना है जिसमें विश्वसत्ताके साथ सीधे संबंध रखनेका सामर्थ्य है, जब कि इससे भिन्नतया, हमारी बहिस्तलीय सत्ता ऐन्द्रिय मन और इन्द्रियोंके द्वारा विश्वके साथ जो सम्पर्क रखती है उनमें अधिकांश परोक्ष ही होते हैं। यहाँ आंतरिक इन्द्रियाँ हैं, एक अवगूढ़ दृष्टि, स्पर्श, श्रवण हैं; परंतु ये सूक्ष्म इन्द्रियाँ आंतरिक सत्ताके लिये वस्तुओंकी ज्ञापिका न होकर बल्कि उनकी अपरोक्ष चेतनाकी वाहिकाएँ होती हैं: अवगूढ़ सत्ता अपने ज्ञानके लिये अपनी इन्द्रियोंपर निर्भर नहीं करती, उसे वस्तुओंकी जो सीधी अनुभूति होती है उसे वे इन्द्रियाँ आकारमात्र प्रदान करती हैं; इन्द्रियाँ जागृत मनमें विषयोंके रूपोंको मनके प्रमाण-संचयके लिये अथवा अपरोक्ष रचनात्मक अनुभवके लिये प्रारम्भ-बिन्दु या आधार-रूपमें जितना संचरित करती हैं, उतना वे यहाँ नहीं करतीं। अवगूढ़को विश्व चेतनाके मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म-भौतिक लोकोंमें प्रवेशाधिकार रहता है, वह भौतिक लोक और स्थूल जगत्‌तक ही सीमित नहीं; निवर्तनकी ओर होते हुए अवरोहणने अपने मार्गमें सत्ताके जिन लोकोंकी रचना की है, और निश्चेतनासे अति-चेतनाकी ओर पुनरारोहणके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये जितने तदनुरूपी लोक या स्तर उद्‌भूत या निर्मित हुए होंगे, उन सबके साथ संसर्ग रखनेके साधन अवगूढ़ सत्ताको प्राप्त हैं। जब हमारा मन और हमारा प्राणपुरुष निद्रा अथवा अंतरावृत्त एकाग्रताके द्वारा अथवा समाधिकी आंतरिक

निमग्नताके द्वारा वाह्य क्रियाओंसे प्रत्याहृत होते हैं, तव वे आंतरिक सत्ताके इसी बृहत्तर प्रदेशमें विश्रांत हो जाते हैं।

हमारी जागृत अवस्था अवगूढ़ सत्तासे प्रेरणाएँ, संवोधि-स्फुरण, भाव, इच्छाके सुझाव, इन्द्रियोंके सुझाव, कर्मोद्दीपन प्राप्त किया करती हैं। जिनका उद्भव हमारी सीमित वहिस्तलीय सत्ताके नीचे या पीछेसे होता है; परंतु वह उनके उद्गम-स्थलको नहीं जानती, उसे अवगूढ़ सत्ताके साथ अपने संवंधका भान नहीं रहता। समाधिकी भाँति निद्रा भी हमारे लिये अवगूढ़के द्वार खोल देती है; क्योंकि समाधिकी भाँति निद्रामें हम सीमित जागृत व्यक्तित्वके पर्देके पीछे चले जाते हैं, और अवगूढ़का अस्तित्व इसी पर्देके पीछे है। परंतु अपने निद्रानुभवके अभिलेख हमें स्वप्नके द्वारा और स्वप्नकी आकृतियोंमें प्राप्त होते हैं, न कि उस अवस्थामें जिसे आंतरिक जागृति कहा जा सकता है और जो समाधि-अवस्थाका सवसे सुप्राप्य रूप है, और न वे दृष्टिकी अधिसामान्य स्पष्टता और संसर्गकी अन्य ज्योतिर्मय तथा ठोस रीतियों द्वारा ही प्राप्त होते हैं जिनका विकास आंतरिक अवगूढ़ ज्ञान तव करता है जव हमारी जागृत सत्ताके साथ उसका सचेतन संवंध अभ्यास-गत अथवा समय-समयपर होनेवाला हो जाता है। अवगूढ़ पुरुप अवचेतनको अपने उपप्रदेश-रूपमें साथ लिये,—कारण, अवचेतन भी पर्देके पीछेकी सत्ताका भाग है,—आंतरिक वस्तुओं और अतिभौतिक अनुभवोंका द्रष्टा है; सतहका अवचेतन तो लिपिकार मात्र है। यही कारण है कि उपनिषद् अवगूढ़ सत्ताको स्वप्न-पुरुप कहती है क्योंकि सामान्यतः स्वप्नमें, अंतर्दर्शनमें, आंतरिक अनुभवकी समाहित अवस्थाओंमें ही हम उसके अनुभवोंमें प्रवेश करते और उनका अंग हो जाते हैं, ठीक जैसे कि उपनिपद् अतिचेतनको सुपुप्ति-पुरुष कहती है क्योंकि जव हम इस अतिचेतनामें प्रवेश करते हैं तो सामान्यतया समस्त मानसिक या ऐन्द्रिय अनुभवोंका अंत हो जाता है। कारण, अतिचेतनका स्पर्श हमारी मानसताको जिस गभीरतर समाधिमें निमग्न कर देता है, उसमेंसे सामान्यतः कोई अभिलेख या उसकी अंतर्वस्तुओंका कोई प्रतिलेख हमारे पास नहीं पहुँच सकता; यह तो केवल एक विशेष अथवा असामान्य विकासके द्वारा, किसी अधिसामान्य अवस्थामें, अथवा अपनी सीमित सामान्यावस्थामें दरार वना करके या उसे तोड़कर ही, हम अतिचेतनाके संपर्कों अथवा संदेशोंके प्रति वहिस्तलपर सचेतन हो सकते हैं। परंतु स्वप्न-स्थान और सुपुप्ति-स्थानके ये आलंकारिक नाम देनेपर भी चेतनाकी इन दोनों अवस्थाओंके क्षेत्रको स्पष्टतया उस जागृत अवस्थाके क्षेत्रसे कम वास्तव नहीं माना गया जिसमें हमारी प्रत्यक्षणात्मक चेतनाकी

वृत्तियाँ भौतिक वस्तुओंका और भौतिक विश्वके साथ हमारे संपर्कोंका अभिलेख या प्रतिलेख होती हैं। निस्संदेह, यह कहा जा सकता है कि ये तीनों अवस्थाएँ एक भ्रमके ही अंग हैं, साथ ही हमारे उनके अनुभव भी भ्रमात्मिका चेतनाकी रचनाओंकी श्रेणीमें हैं, और हमारी जागृत अवस्था भी हमारी स्वप्नावस्था अथवा सुषुप्ति-अवस्थासे कोई कम भ्रमात्मक नहीं, क्योंकि एकमात्र सच्चा सत्य या वास्तव वास्तवता अव्यवहार्य आत्मा अथवा अद्वैत है जो वेदांतमें वर्णित आत्माका चतुर्थ या तुरीय पाद है। परंतु, समान रूपसे इन्हें इस भाँति साथ-साथ देखना और श्रेणीबद्ध करना संभव है कि ये एक ही सद्‌वस्तुके तीन भिन्न-भिन्न क्रम या चेतनाकी तीन स्थितियाँ हैं जिनमें आत्मानुभव और विश्वानुभवकी तीन भिन्न-भिन्न श्रेणियोंके साथ हमारा संपर्क मूर्त होता है।

यदि यह स्वप्नानुभवका सच्चा विवरण है तो स्वप्नोंको हमारी अर्ध-अचेतनतापर कुछ कालके लिये वास्तवताकी नाईं आरोपित अवास्तव वस्तुओंकी एक अवास्तव आकृति मात्रकी श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता; अतः मायावादके सिद्धांतके समर्थनके लिये उदाहरण-रूपमें भी स्वप्नकी उपमा दी जाय तो वह ठीक नहीं उतरती। तथापि यह कहा जा सकता है कि हमारे स्वप्न स्वयं तो वास्तव नहीं, अपितु वास्तवताके प्रतिलेख मात्र, प्रतीक-प्रतिमूर्तियोंकी एक योजना मात्र हैं, और उसी प्रकार हमारा विश्वका जागृत अनुभव भी स्वयं तो वास्तव नहीं, अपितु वास्तवताका एक प्रतिलेख मात्र, प्रतीक-प्रतिमूर्तियोंके संग्रहकी एक शृंखला मात्र है। यह बिलकुल सच है कि हम भौतिक विश्वको मुख्यतः अपनी इन्द्रियोंपर अंकित या आरोपित प्रतिमूर्तियोंकी पद्धतिके द्वारा ही देखते हैं और यहाँ तक यह कथन न्यायसंगत है। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि एक विशेष अर्थमें और एक विशेष दृष्टिकोणसे हमारी अनुभूतियों और क्रियाओंको ऐसे सत्यका प्रतीक माना जा सकता है जिसे व्यक्त करनेका प्रयत्न हमारे जीवन, भले ही वर्तमानमें केवल आंशिक सफलता और अपूर्ण संबद्धताके साथ ही, कर रहे हैं। यदि यही सब कुछ होता तो कहा जा सकता था कि जीवन 'अनंत'की चेतनामें होनेवाला आत्मा और वस्तुओंका स्वप्नानुभव ही है। परंतु, यद्यपि विश्वके पदार्थोंके विषयमें हमारा प्रथम साक्ष्य ऐन्द्रिय प्रतिमूर्तियोंकी निर्मिति होता है, तथापि एक स्वतःक्रिय संबोधि उन्हें चेतनामें संपूर्ण, न्यायसंगत और व्यवस्थाबद्ध करती है, वह प्रतिमूर्तिको सीधे उसके साथ जोड़ती है जिसका वह प्रतिरूप है और उस विषयका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेती है। फलस्वरूप, हम बस वास्तवताका अनुवाद या ऐन्द्रिय प्रतिलेख ही

नहीं देख या पढ़ रहे होते, अपितु ऐन्द्रिय प्रतिमूर्तिके द्वारा वास्तवताको देख रहे होते हैं। यह पर्याप्तता बुद्धिकी क्रियासे और भी परिवर्द्धित हो जाती है, क्योंकि इन्द्रियोंको वस्तुओंके जिस धर्मका बोध हुआ है, वह उसकी गहराईमें जाती है, उसे समझती है और ऐन्द्रिय प्रतिलेखकी परीक्षा सूक्ष्मतासे कर सकती एवं उसकी भूलोंको सुधार सकती है। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हम संबोधि और बुद्धिकी सहायतासे अपने प्रतिमूर्तिमय ऐन्द्रिय अभिलेखके द्वारा यथार्थ विश्वका अनुभव करते हैं,—संबोधि हमें वस्तुओंका स्पर्श देती है और बुद्धि उनके सत्यकी जाँच अपने धारणात्मक ज्ञानके द्वारा करती है। परंतु हमें यह भी ध्यानमें रखना है कि हमारा विश्वको प्रतिमूर्तियोंमें देखना, हमारा विश्वका ऐन्द्रिय प्रतिलेख यदि प्रतीक-प्रतिमूर्तियोंकी पद्धति ही हो और सही-सही प्रतिलिपि या प्रतिलेख न हो, अक्षरशः अनुवाद न हो, तो भी वह किसी ऐसी वस्तुका अंकन होता है जो है; वह वास्तवताओंका ही प्रतिलेख होता है। हमारी प्रतिमूर्तियाँ सही न हों तो भी वे जिनका प्रतिरूप प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करती हैं वे तो वास्तव हैं, भ्रम नहीं। हम जब कोई वृक्ष या पत्थर या पशु देखते हैं तो हम कोई अस्तित्वविहीन आकृति, कोई विभ्रम नहीं देखते। संभव है कि हमें यह निश्चितता नहीं हो कि यह प्रतिमूर्ति यथातथ्य है, हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि अन्य-इन्द्रिय उसे दूसरे रूपमें भली-भाँति देख सकती है, परंतु फिर भी वहाँ ऐसा कुछ है जो उस प्रतिमूर्तिको उचित ठहराता है, ऐसा कुछ है जिसके साथ उसका स्वल्पाधिक सादृश्य है। लेकिन, मायावादमें एकमात्र सद्वस्तु है एक अनिर्देश्य, अलक्षण एवं शुद्ध सत्, ब्रह्म, और वहाँ उसकी प्रतीकात्मक आकृतियोंकी किसी योजनामें अनूदित या गलत अनूदित होनेकी कोई संभावना नहीं होती, कारण, ऐसा केवल तब हो सकता था यदि इस सत्के अंदर कुछ निर्दिष्ट तत्त्व होते या उसकी सत्ताके कुछ अनभिव्यक्त सत्य रहते जिनका उन्हें हमारी चेतनाके द्वारा दिये गये रूपों या नामोंमें प्रतिलेखन हो सकता था: परंतु विशुद्ध अनिर्देश्यको कोई भी प्रतिलेख, प्रतिनिधि-प्रभेदोंका कोई भी पुंज, प्रतीकों या प्रति-प्रतिमूर्तियोंका कोई भी समूह अनूदित नहीं कर सकता; कारण, वहाँ उसमें केवल एक शुद्ध तादात्म्य है, वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं जिसका प्रतिलेखन हो सके, ऐसा कुछ भी नहीं जिसका प्रतीक बनाया जा सके, ऐसा कुछ भी नहीं जिसका प्रतिरूप बनाया जा सके। अतः स्वप्नकी उपमा हमारे लिये बिल्कुल ही व्यर्थ हो जाती है और उसे मार्गसे हटा देना ही बेहतर है। अपने अनुभवोंके विषयमें मनकी अपनायी एक विशेष अभिवृत्तिके वर्णनके

स्पष्ट रूपक-अलंकारकी नाईं इस उपमाका सदा ही प्रयोग किया जा सकता है, परंतु जीवनके प्रकृत स्वरूप और मूलगत तात्पर्यो अथवा उद्‌गमके तात्त्विक अनुसंधानके लिये इसका कोई मूल्य नहीं।

यदि हम विभ्रमकी उपमाकी परीक्षा करें तो उसे भी मायावादको सत्यत: समझनेके लिये स्वप्नकी उपमाकी अपेक्षा कदाचित् ही अधिक सहायक पाते हैं। विभ्रम दो प्रकारके होते हैं; मानसिक अथवा भावमूलक और चाक्षुप अथवा किसी रूपमें इन्द्रियजन्य। हम जब वस्तुओंकी प्रतिमूर्ति वहाँ देखते हैं जहाँ वे वस्तुएँ हैं नहीं, तो यह इन्द्रियोंकी भ्रांत रचना है, यह चाक्षुप विभ्रम है; जब हम मनकी किसी विपयिगत रचनाको, मनकी किसी रचनात्मक भूल अथवा उसकी वस्तुपरक कल्पनाको अथवा अयुक्त स्थानपर आनेवाली मानसी प्रतिमूर्तिको वस्तुगत तथ्य मान लेते हैं तो यह मानसिक विभ्रम होता है। पहली श्रेणीका उदाहरण मृग-मरीचिका है, दूसरीका प्रतिष्ठित उदाहरण है रज्जुमें सर्पकी प्रतीति। इस प्रसंगमें यह बात भी विचारमें ली जा सकती है कि बहुतसी ऐसी वस्तुओंको विभ्रम कहा जाता है जो यथार्थत: विभ्रम नहीं, अपितु अवगूढ़ सत्तामेंसे ऊपर भेजी हुई प्रतीक–प्रतिमूर्तियाँ हैं, या ऐसे अनुभव हैं जिनमें अवगूढ़ चेतना अथवा इन्द्रिय-वृत्ति सतहपर आती और हमें अतिभौतिक वास्तवताओंके संपर्कमें लाती है। इस प्रकार, विश्वचेतनाको, जो हमारा अपनी मानसिक सीमाओंको भग्न कर एक विशाल वास्तवतामें प्रवेश है, स्वीकार करते हुए भी विभ्रमकी श्रेणीमें रखा जाता है। परंतु यदि सामान्य विभ्रमको ही लें, वह मानसिक हो या चाक्षुप, तो हम देखते हैं कि प्रथम दृष्टिमें वे विभ्रम दार्शनिक सिद्धांतमें कहे गये अध्यारोपके सही उदाहरण लगते हैं; यह सत्य वस्तुपर वस्तुओंके अवास्तव रूपका, निरी मरुभूमि-वायुपर मरीचिकाका, विद्यमान और वास्तव रज्जुपर अविद्यमान सर्पके रूपका आरोपण है। हम तर्क कर सकते हैं कि जगत् एक ऐसा ही विभ्रम है, ब्रह्मकी शुद्ध नित्य-विद्यमान एकमात्र वास्तवतापर वस्तुओंके असत् अवास्तव रूपका अध्यारोप है। परंतु तब हम इन सबमें यह देखते हैं कि विभ्रम अथवा मिथ्या प्रतिरूप किसी ऐसी वस्तुका नहीं होता जो सर्वथा अस्तित्वहीन हो; वह किसी ऐसी वस्तुका प्रतिरूप होता है जो अस्तित्ववान् और वास्तव तो है, परंतु उस स्थानमें वर्तमान नहीं जहाँ मनकी भूल या किसी इन्द्रियकी भूलने उसे आरोपित किया है। मरीचिका है नगरी, मरूद्यान, बहते जल या अन्य अनुपस्थित वस्तुओंका प्रतिरूप देखना, और यदि उन वस्तुओंका अस्तित्व न हो तो उनका मिथ्या प्रतिरूप भी, वह चाहे

मनसे उद्भूत हो अथवा मरुभूमिके वायुमें प्रतिबिंबित, मनको वास्तवताके एक मिथ्या बोध द्वारा भ्रमित करने न आयेगा। सर्पका अस्तित्व है और उसका अस्तित्व और रूप क्षणिक विभ्रमके शिकारको ज्ञात होते हैं; यदि ऐसा न होता तो उस भ्रांतिकी सृष्टि ही न होती, क्योंकि, दृष्ट वास्तव वस्तुका अन्यत्र पूर्वज्ञात किसी अन्य वास्तवताके साथ रूप-सादृश्य ही भूल-भ्रांतिका मूल है। अतः इस उपमासे सहायता नहीं मिलती; यह केवल तब वैध हो सकती है यदि विश्वके संबंधमें हमारा निर्मित प्रतिरूप, यहाँ नहीं अपितु अन्यत्र स्थित किसी सच्चे विश्वको प्रतिबिंबित करनेवाला मिथ्यात्व हो, या फिर, यदि वह 'सद्वस्तु'की मिथ्या-चित्रित अभिव्यक्ति हो जो मनमें एक सच्ची अभिव्यक्तिका स्थान ले रही हो अथवा अपने विकृत सादृश्यसे उसे आवृत कर रही हो। परंतु मायावादमें तो जगत् वस्तुओंका असत् रूप है, एक भ्रमात्मक रचना है जिसे शुद्ध सद्वस्तुपर, एकमात्र सत्पर आरोपित किया गया है, जब कि वह सद्वस्तु, वह सत् सदा ही वस्तुओंसे रिक्त और निरूप है: सच्चा सादृश्य तो केवल तब हो सकता था यदि हमारी दृष्टि या तो मरुभूमिकी शून्य वायुमें ऐसी वस्तुओंकी आकृतिका निर्माण करती जिनका कहीं भी अस्तित्व नहीं, या किसी शून्य भूमिपर रज्जु और सर्पको और साथ ही अन्य ऐसे आकृतियोंको आरोपित करती जिनका उसी भाँति कहीं भी अस्तित्व न हो।

स्पष्ट हैं कि इस उपमामें दो सर्वथा भिन्न प्रकारके भ्रम, जो परस्पर एक-दूसरेके दृष्टांत नहीं होते, भूलसे एक साथ रख दिये गये हैं मानों उनका स्वरूप एक समान हो। मन या इन्द्रियके सारे विभ्रम वस्तुतः ऐसी वस्तुओंके वितथ निरूपण या वितथ स्थापन या असंभव संयोजन या मिथ्या विकास होते हैं जो निजमें ही अस्तित्व रखते या संभव हैं या किसी रूपमें वास्तवके प्रदेशके अंतर्गत या उससे संबंधित हैं। मनकी सारी भूलें और भ्रम एक अज्ञानके परिणाम हैं जो अपने तथ्योंका वितथ संयोजन करता अथवा ज्ञानकी किसी पूर्वतन या वर्तमान या संभाव्य अंतर्वस्तुके आधारपर मिथ्या ढंगसे अग्रसर होता है। परंतु विश्वमायाका ऐसा कोई भी वास्तविकताका आधार नहीं, वह एक आद्य और सर्व-प्रवर्तक भ्रम है, वह निरे काल्पनिक नाम, रूप और घटनाओंको ऐसी सद्वस्तुपर आरोपित करती है जिसमें कोई नाम, रूप या घटनाएँ न कभी हुई थीं, न होंगी। मानसिक विभ्रमकी उपमा केवल तब प्रयुक्त हो सकती है जब हम यह स्वीकार करें कि नाम, रूप तथा संबंधसे रहित ब्रह्म और नाम, रूप तथा संबंध रखनेवाला जगत् दोनों ही समान वास्तवताएँ हैं और एक-दूसरे-पर आरोपित हैं, जैसे

सर्पके स्थानमें रज्जु या रज्जुके स्थानमें सर्प,—यह निर्गुणकी निश्चलतापर सगुणकी क्रियाओंका आरोपण हो सकता है। परंतु, यदि दोनों सत्य हैं तो दोनों ही उस सद्वस्तुके या तो पृथक् पहलू होने चाहिये या समन्वित पहलू, उस एक ही सत्के भावात्मक और अभावात्मक दो मेरु होने चाहिये। इनके बीच 'मन' यदि कोई भूल अथवा संभ्रम कर बैठता है तो यह कोई सर्जनात्मिका विश्वमाया नहीं, अपितु वास्तवताओंका गलत प्रत्यक्षण, अज्ञानके द्वारा सृष्ट एक गलत संबंध ही होगा।

मायाके क्रिया-व्यापारको अधिक अच्छी तरह समझनेके लिये हमें जो अन्य उदाहरण या उपमाएँ मिलती हैं उनकी जाँच करनेपर हम देखते हैं कि वे भी लागू नहीं हो सकतीं और इससे उनका बल और मूल्य चले जाते हैं। सर्प और रज्जुकी उपमाकी तरह शुक्ति और रजतका परिचित उदाहरण भी एक उपस्थित वास्तव और एक अन्य तथा अनुपस्थित अवास्तवके बीच सादृश्यके कारण उत्पन्न भूलपर आश्रित है; एकमात्र अद्वितीय अक्षर सत्पर बहुधाजात और क्षर अवास्तवताके आरोपणके लिये इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अब यदि चाक्षुष भ्रमके उस उदाहरणको लें जहाँ एक ही वस्तु दो या दो से अधिक दीखती है, जैसे हमें एक चन्द्रमाके स्थानपर दो दीखते हैं, एक ही पदार्थके दो या दो से अधिक एक-समान रूप दीखते हैं, जिनमें एक तो वास्तव और दूसरा या अन्य सब भ्रम हों तो यह भी जगत् और ब्रह्मकी सन्निधिका उदाहरण नहीं; कारण, मायाकी प्रक्रियामें व्यापार बहुत अधिक जटिल होता है,—वस्तुतः, 'अभिन्न'का भ्रमात्मक गुणन होता है जो उसकी अद्वय और नित्य अपरिवर्तनीय 'अभिन्नता' पर आरोपित होता है; वह 'एक' बहुके रूपमें प्रतीत होता है, परंतु उसपर प्रकृतिका एक अपरिमेय संगठित वैविध्य आरोपित हो जाता है, रूपों और गतिधाराओंका वैविध्य आरोपित हो जाता है जिनका उस आद्य सत्से कोई भी संबंध नहीं। स्वप्न, सूक्ष्मदर्शन, कलाकार या कविकी कल्पना ऐसा संगठित वैविध्य प्रस्तुत कर सकती हैं जो वास्तव न हो; परंतु यह एक अनुकरण ही है, किसी वास्तव और पहलेसे विद्यमान संगठित वैविध्यका अनुकरण ही है, अथवा यह किसी ऐसे अनुकरणसे आरंभ होता है और समृद्धसे समृद्ध वैचित्र्यमें भी, उद्दाम-से उद्दाम आविष्कारमें भी, कोई अनुकरणात्मक तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। परंतु जब कि मायाके क्रिया-व्यापारके लिये कहा जाता है कि उसमें कोई भी अनुकरण नहीं, अपितु ऐसे मिथ्या रूपों और गतिधाराओंकी शुद्ध और सर्वथा मौलिक सृष्टि है जिनका कहीं भी अस्तित्व नहीं और जो उस सद्वस्तुमें प्राप्य किसी वस्तुका

न तो अनुकरण या प्रतिबिंबन, न परिवर्तन और परिवर्द्धन ही करते हैं, इस प्रकारकी कोई भी चीज ऊपर कहे गये व्यापारोंमें नहीं है। मानस-भ्रमकी क्रियाओंमें ऐसा कुछ भी नहीं जो इस रहस्यपर प्रकाश डाले; इस प्रकारकी विस्मयकारी विश्वमायाको जैसा होना चाहिये, वह अपने ढंगकी निराली है, उसकी समानता कहीं नहीं। विश्वमें हम यही देखते हैं कि सर्वत्र अभिन्नकी विविधता ही विश्वप्रकृतिकी मूलगत क्रिया है; परंतु यहाँ वह किसी भ्रम-रूपमें नहीं, अपितु किसी एक ही मूल धातुमेंसे नानाविध वास्तव रचनाके रूपमें उपस्थित होती है। एकत्वकी सत्यता निजको अपनी सत्ताके असंख्य रूपों और शक्तियोंकी सत्यतामें अभिव्यक्त कर रही है, यही बात सर्वत्र हमारे सामने आती है। इसमें संदेह नहीं कि उसकी प्रक्रियामें एक रहस्य है, यहाँतक कि एक इन्द्रजाल भी; परंतु यह दरसानेवाला कुछ भी नहीं कि वह किसी अवास्तवका इन्द्रजाल ही है, सर्वशक्तिमयी सद्वस्तुकी सत्ताकी चेतना एवं शक्तिकी क्रिया नहीं है, शाश्वत आत्म-ज्ञान द्वारा परिचालित आत्म-सृजन नहीं है।

इससे तुरत यह प्रश्न उठता है कि इन भ्रमोंके जनक मनका स्वभाव क्या है और मूल सत्के साथ उसका क्या संबंध है। क्या मन किसी मूल भ्रमकी संतान और साधन है, या, क्या वह स्वयं ही भ्रांत सृष्टिकारिणी आद्या शक्ति या चेतना है? या क्या मनका अज्ञान 'अस्तित्व'के सत्योंका भ्रांत ग्रहण है, जगत्के यथार्थ निर्माता आद्य ऋत-चित्से विच्युति है? जो कुछ भी हो, हमारा अपना मन तो चेतनाकी आद्या और प्रधान स्रष्ट्री शक्ति नहीं है; वह व्युत्पत्तिक है, उपकरणात्मक विश्वशिल्पी है, मध्यवर्ती सर्जक है,—और यही बात सारे सदृश मनोंके विषयमें लागू होगी। सुतरां यह संभव है कि मनकी भूलोंसे ली गई उपमाएँ, जो एक मध्यवर्ती अज्ञानके परिणाम हैं, आद्या सर्जनात्मिका मायाकी, सर्वाविष्कारकर्त्री और सर्वनिर्मात्री मायाकी प्रकृति या क्रियाके सच्चे उदाहरण न हों। हमारा मन अतिचेतना और निश्चेतनाके बीच स्थित है और इन दोनों विरोधी शक्तियोंसे आहरण करता है: वह एक गुह्य अवगूढ़ सत्ता और बाह्य विश्वप्रपंचके बीच स्थित है; वह अज्ञात आंतरिक स्रोतसे प्रेरणा, संबोधि और कल्पनाएँ, ज्ञान और कर्मके लिये अंतर्वेग, आंतरिक वास्तवताओं या संभावनाओंकी आकृतियाँ पाता है; दृष्ट विश्वव्यापारसे वह संसिद्ध वास्तविकताओंकी आकृतियाँ और आगेकी संभावनाके लिये उनके संकेत पाता है। उसके प्राप्त सत्य होते हैं सारभूत, संभव अथवा वास्तविक; वह भौतिक विश्वकी संसिद्ध वास्तविकताओंसे आरंभ करता और अपनी आंतरिक क्रियामें उनमेंसे असंसिद्ध संभावनाओंको

निकाल लेता है जिन्हें वे वास्तविकाएँ अपने अंदर समाये रखती हैं अथवा जिनका वे संकेत करती हैं अथवा जिनतक वह उन वास्तविकताओंको आरंभ-विंदु बनाकर आगे बढ़ता हुआ पहुँच सकता है : वह इन संभावनाओंमेंसे कुछको एक अंतर-वृत्त क्रियाके लिए चुनता है और उनके कल्पित अथवा अंतर्निर्मित रूपोंसे खेलता है : अन्य संभावनाओंको वह बहिर्व्यक्त करनेके लिये चुनता और उन्हें संसिद्ध करनेका प्रयत्न करता है। परंतु उसे प्रेरणाएँ केवल दृश्य विश्वव्यापारके आघातोंसे नहीं, अपितु अदृश्य स्रोतोंसे भी, ऊपर और अंदरसे भी मिलती हैं ; उसके चारों ओर स्थित वास्तविक भौतिकता जिन सत्योंका संकेत करती है, वह उनसे भिन्न सत्योंको देखता है, और यहाँ भी वह इन सत्योंके संप्रेषित या निर्मित रूपोंके साथ आंतर चेतनामें खेलता है या उनमें कुछको बहिर्व्यक्त करनेके लिये चुनता है, उन्हें संसिद्ध करनेका प्रयत्न करता है।

हमारा मन भूतार्थका प्रेक्षक और प्रयोक्ता है ; जो सत्य अभीतक ज्ञात नहीं हैं या वास्तविक नहीं हुए हैं उनका वह अनुमान करता अथवा उन्हें ग्रहण करता है, सत्य और भूतार्थके बीच मध्यस्थता करनेवाली संभावनाओंसे उसका कारबार है। परंतु उसमें अनंत चेतनाकी सर्वज्ञता नहीं ; उसका ज्ञान परिसीमित है, उसे अपने परिसीमित ज्ञानकी अनुपूर्ति कल्पना और आविष्कारसे करनी पड़ती है। अनंत चेतनाकी तरह वह ज्ञातको अभिव्यक्त नहीं करता बल्कि उसे अज्ञातका आविष्कार करना पड़ता है, वह अनंतकी संभावनाओंको किसी प्रसुप्त परम सत्यके रूपोंके परिणामों या विविधताओंके रूपमें नहीं, बल्कि उसकी अपनी ही निःसीम कल्पनाकी रचनाओं या सृष्टियोंके रूपमें, उसकी मिथ्या निर्मितिके रूपमें लेता है। उसमें अनंत चित्-शक्तिकी सर्वशक्तिमत्ता नहीं ; बल्कि वह केवल उसे उपलब्ध या वास्तविक कर सकता है जिसे विश्वऊर्जा उससे स्वीकार करेगी अथवा जिसे वस्तुओंकी समष्टिमें आरोपित अथवा प्रविष्ट करनेकी शक्ति उसमें इसलिये होगी कि प्रकृतिमें उसका व्यक्त किया जाना उसे व्यवहृत करनेवाले निगूढ़ भगवान्‌को अभिप्रेत है—वह भगवान् चाहे अतिचेतन हों या अवगूढ़। असंपूर्ण होनेके कारण, और भूलकी ओर खुले रहनेके कारण भी, उसके ज्ञानका परिसीमन अज्ञान वन जाता है। वास्तविकताओंके साथ व्यवहार करनेमें वह प्रेक्षण में भूल कर सकता है, दुरुपयोग और अपसृजन कर सकता है ; संभावनाओंके साथ व्यवहार करनेमें वह सभूल रचना, सभूल संयोजन, सभूल प्रयोग, सभूल स्थापन कर सकता है ; जो सत्य उसके सामने प्रकट किये गये हैं उनके साथ व्यवहारमें वह विकृति, मिथ्या निरूपण और असामंजस्य ला

सकता है। वह अपने ऐसे निजी निर्माण भी कर सकता है जिनका वास्तविक अस्तित्वकी वस्तुओंके साथ कोई सादृश्य न हो, जिनकी संसिद्धिकी कोई संभाव्यता न हो, जिन्हें अपने पीछे रहनेवाले सत्यका कोई अवलंब न हो; परंतु, फिर भी, ये निर्माण वास्तविकताओंके अवैध विस्तारसे ही आरंभ करते हैं, अननुमत संभावनाओंकी ओर उचकते हैं, अथवा सत्योंको ऐसे प्रयोगमें लगाते हैं जो लागू नहीं होता। मन सृष्टि करता है, परंतु वह मौलिक स्रष्टा नहीं, सर्वज्ञ या सर्वशक्तिमान् नहीं, वह सदैव कुशल विश्वकर्मा भी नहीं। इसके विपरीत, भ्रमशक्तिरूपिणी मायाको आदि स्रष्ट्री होना चाहिये, कारण वह सब वस्तुओंकी सृष्टि शून्यमेंसे करती है,—बशर्ते कि हम यह न मानते हों कि वह 'सद्वस्तु'के उपादानसे ही सृष्टि करती है, परंतु, उस दशामें, वह जिन वस्तुओंकी सृष्टि करती है वे किसी न किसी रूपमें अवश्य सत्य होंगी; वह जो सृष्ट करना चाहती है उसका उसे पूर्ण ज्ञान है, वह जो कुछ भी चुनती है उसे सृष्ट करनेका उसमें पूर्ण सामर्थ्य है; वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है किंतु अपने निजके भ्रमोंके क्षेत्रमें ही; वह एक ऐंद्रजालिक निश्चितता और प्रभुत्वमयी शक्तिसे उनमें सामंजस्य लाती और उन्हें संबद्ध करती है, जैव बुद्धिपर अपनी निजकी रचनाओं या आविष्कारोंको इस प्रकार आरोपित करनेमें पूर्णतया कारगर होती है कि वे रचनाएँ या आविष्कार सत्यों, संभावनाओं और वास्तविकताओंके रूपमें स्वीकार कर लिये जाते हैं।

हमारा मन श्रेष्ठ रूपमें और दृढ़ विश्वासके साथ तब कार्य करता है जब उसे कोई ऐसा उपादान प्रदान किया जाता है जिसपर वह क्रिया कर सके या जिसका कम-से-कम, अपनी क्रियाओंके लिये आधार-रूपमें उपयोग कर सके, या तब करता है जब वह उस विश्वशक्तिको व्यवहृत कर सके जिसका उसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है,—जब उसे भूतार्थसे व्यवहार करना पड़ता है तब वह अपने डगोंके प्रति सुनिश्चित रहता है; बहिर्व्यक्त अथवा अन्वेषित वास्तविकताओंसे व्यवहार करने और उन वास्तविकताओंको आरंभ-स्थल बनाकर वहाँसे सर्जनके लिये आगे बढ़नेका यह नियम ही भौतिक विज्ञानकी विपुल सफलताका कारण है। परंतु यह स्पष्ट है कि यहाँ भ्रमोंकी कोई सृष्टि नहीं, शून्यमें असत्की कोई सृष्टि नहीं और उन भ्रमोंका प्रतीयमान वास्तविकताओंमें परिवर्तित कर दिया जाना नहीं, जैसा कि विश्वमायाके संबंधमें कहा जाता है। कारण, मन उपादानमेंसे केवल उसकी सृष्टि कर सकता है जो उस उपादानके लिये संभव है; वह प्रकृतिकी शक्तिसे केवल वही कर सकता है जो प्रकृतिकी संसिद्धिशक्य ऊर्जाओंके अनुरूप है;

वह, जो प्रकृतिके सत्य और शक्यतामें पहलेसे समाया हुआ है, उसका आविष्कार या अन्वेषण मात्र कर सकता है। दूसरी ओर, सर्जनके लिये उसे अपने अंदर या ऊपरसे प्रेरणाएं प्राप्त होती हैं : परंतु साकार तो वे केवल तब हो सकती हैं यदि वे सत्य अथवा संभाव्य हों, न कि मनके आविष्कारके स्वाधिकारके नाते ; क्योंकि, मन यदि ऐसा कुछ खड़ा करे जो न तो सत्य है, न शक्य ही, तो उसका सर्जन नहीं हो सकता, वह प्रकृतिमें वास्तविक रूप नहीं ले सकता। इसके विपरीत, यदि माया सद्वस्तुके आधारपर सृष्टि करती है तो भी वह ऐसी अधिरचना खड़ी करती है जिसका उस सद्वस्तुसे कोई संबंध नहीं, जिसका कोई सत्य या जिसकी कोई संभाव्यता उस सद्वस्तुमें नहीं ; यदि वह सद्वस्तुके उपादानसे सृष्टि करती है तो भी वह उससे ऐसी वस्तुएँ बनाती है जो न तो उस सद्वस्तुके लिये संभव हैं, न उसके अनुरूप ही,—कारण, माया रूपोंकी सृष्टि करती है जब कि 'सद्वस्तु' को, ब्रह्मको रूपधारणमें असमर्थ एक 'अरूप' माना जाता है, माया निर्दिष्टोंकी सृष्टि करती है जब कि 'सद्वस्तु' को, ब्रह्मको पूर्णतया अनिर्देश्य माना जाता है।

परंतु हमारे मनमें कल्पनाशक्ति है ; मन सृष्टि कर सकता है और अपनी निजकी मनोरचनाओंको सत्य और यथार्थ मान सकता है : ऐसा सोचा जा सकता है कि यहाँ मायाकी क्रियासे सादृश्य रखनेवाली कोई वस्तु है। हमारी मानसिक कल्पना अज्ञानका उपकरण है; वह ज्ञानके सीमित सामर्थ्यका, फलप्रद क्रियाके सीमित सामर्थ्यका अवलंब या उपाय या आश्रय है। इन न्यूनताओंकी अनुपूर्ति मन अपनी कल्पनाशक्तिके द्वारा करता है : वह उसका उपयोग स्पष्ट और दृश्य वस्तुओंमेंसे उन वस्तुओंको निकाल लेनेके लिये करता है जो अस्पष्ट और अदृश्य हैं ; वह संभव और असंभवके अपने ही चित्रोंकी सृष्टि करनेमें प्रवृत्त होता है ; वह भ्रमात्मक वास्तविकोंको खड़ा करता अथवा वस्तुओंके किसी अनुमानित या निर्मित सत्यके चित्र खींचता है जो बाह्यानुभवके लिये सत्य नहीं होते। कमसे कम, यह मानसिक कल्पनाकी क्रियाका बाह्य रूप तो है ही ; परंतु, वास्तवमें यह कल्पना मनकी विधि या उसकी कई विधियोंमेंसे एक है जिससे वह 'सत्-पुरुष'मेंसे उसकी अनंत संभावनाओंके बाहर आनेके लिये आह्वान करता है, यहाँतक कि अनंतकी अज्ञात संभावनाओंको खोज निकालता या आयत्त करता है। परंतु, चूंकि ऐसा वह सज्ञान रूपसे नहीं कर सकता, अतः वह सत्य और संभावनाका, अबतक असंसिद्ध रहनेवाली वास्तविकताओंका प्रायोगिक निर्माण करता है : चूंकि उसका सत्यकी प्रेरणाओंको ग्रहण करनेका सामर्थ्य सीमित

है, वह कल्पना करता है, प्राक्कल्पना करता है, प्रश्न करता है कि अमुक या अमुक सत्य हो सकता है या नहीं ; चूँकि यथार्थ शक्यताओंका आह्वान करनेकी उसकी शक्ति संकीर्ण और निरुद्ध है, वह ऐसी संभावनाओंको खड़ी करता है जिन्हें वह वास्तविकताका रूप देनेकी आशा करता या यह इच्छा करता है कि वह उन्हें वास्तविक बना सकता ; चूँकि उसकी वास्तविक करनेकी शक्ति भौतिक जगत्के विरोधों द्वारा निरूद्ध और सीमित है, अतः वह अपनी सृजनेच्छाकी तुष्टि और आत्म-उपस्थापनके आनंदके लिये प्रत्यक्-वास्तवरूपणोंकी आकृतियाँ बना लेता है। परंतु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि वह कल्पनाके द्वारा सत्यकी कोई आकृति अवश्य पाता है, ऐसी संभावनाओंका अवश्य आह्वान करता है जो बादमें संसिद्ध हो जाती हैं, अपनी कल्पनाके द्वारा जगत्की वास्तविकताओंपर अवश्य ही एक प्रभावशाली दबाव डालता है। मानव-मनमें डटी रहनेवाली कल्पनाएँ, जैसे हवामें यात्राकी भावना, अंतमें प्रायः अपने-आपको पूरी करके ही रहती हैं ; वैयक्तिक विचार-रचनाएँ भी, यदि उन रचनाओं अथवा उनके रचयिता मनमें पर्याप्त बल हो, वास्तविक बन जा सकती हैं। कल्पनाएँ अपनी निजी शक्यताकी सृष्टि कर सकती हैं, विशेषतः यदि सामूहिक मानसमें उन्हें अवलंब मिला हो, और अंतमें वे अपने लिये वैश्व इच्छाका अनुमोदन प्राप्त कर लेती हैं। असलमें समस्त कल्पनाएँ संभावनाओंका प्रतिनिधित्व करती हैं : उनमेंसे कुछ तो एक दिन किसी रूपमें वास्तविक बननेमें समर्थ होती हैं, चाहे वास्तविकताका वह रूप शायद बहुत भिन्न ही क्यों न हो ; बहुत सारी कल्पनाएँ बंध्यावस्थामें ही रहनेको अभिशप्त होती हैं, कारण, वे वर्तमान सृष्टिके चित्र या योजनामें स्थान नहीं पातीं, व्यक्तिको जिस शक्यताकी अनुमति प्राप्त है उसके अंदर नहीं आतीं अथवा समष्टि या जातिके नियमके साथ मेल नहीं खातीं या इन सबकी धारयित्री विश्व-सत्ताकी प्रकृति या भवितव्यतासे विजातीय हैं।

अतएव मनकी कल्पनाएँ शुद्धतः और मूलतः भ्रम नहीं हैं : वे वास्तविकताओंके संबंधमें होनेवाले मनके अनुभवके आधारपर अग्रसर होतीं या कम-से-कम, वहाँसे आरंभ करती हैं, वास्तविकतामें लाये गये परिवर्तन होती हैं, या वे 'अनंत'की "हो सकता है" या "हो सकता था" रूपिणी संभावनाओंको चित्रित करती हैं, यह चित्रित करती हैं कि यदि अन्य सत्य अभिव्यक्त होते, वर्तमान शक्यताएँ अन्यथा आयोजित होतीं या स्वीकृत संभावनाओंसे भिन्न संभावनाएँ शक्य होतीं तो क्या होता। इसके अतिरिक्त, स्थूल वास्तविकतासे भिन्न अन्य लोकोंके रूप और शक्तियाँ हमारी मनोमय

सत्ताके साथ इसी क्षमताके द्वारा संपर्क करती हैं। जब कल्पनाएँ अमर्यादित हो जातीं या विभ्रमों अथवा भ्रमोंका रूप ले लेती हैं तब भी वे वास्तविक या संभवको ही अपना आधार बनाकर आगे बढ़ती हैं। मन मत्स्यनारीकी आकृतिकी सृष्टि करता है, परंतु इस कल्पनाका निर्माण दो वास्तविकताओंको ऐसे रूपमें साथ जोड़ देनेसे होता है जो पृथ्वीकी सामान्य शक्यतासे बाहर है; देवदूत, श्येनसिंह[1] और किमरा[2] की रचना भी इसी रीतिसे हुई है। कभी-कभी कल्पना अतीतकी वास्तविकताओंकी स्मृति होती है जैसे कि यूनानी पुराणोंमें वर्णित ड्रेगन था; कभी-कभी वह ऐसी आकृति या घटना होती है जो अन्य लोकोंमें या जीवनकी अन्य अवस्थाओंमें वास्तव है या वास्तव हो सकती थी। यहाँ तक कि पागलके भ्रम भी वास्तविकोंके अमर्यादित अयुक्त संयोजनोंपर आधारित होते हैं, जैसे कि जब कोई पागल अपने-आपको, राजपद और इंग्लैंडको परस्पर संयुक्त कर लेता और कल्पनामें प्लांटेजैनेटों और ट्यूडरोंकी राजगद्दीपर बैठ जाता है। फिर, जब हम मनकी भूलके मूलकी खोज करते हैं तो सामान्यत: पाते हैं कि वह ज्ञान और अनुभवके तत्त्वोंका वितथ संयोग, वितथ स्थापन, वितथ उपयोग, वितथ समझ या वितथ प्रयोग होती है। स्वयं कल्पनाके स्वरूपको देखें तो कल्पना संभावनाकी संबोधिकी उस क्षमताका अनुकल्प है जो एक सत्यतर चेतनामें रहती है। मन ज्यों-ज्यों ऋत-चेतनाकी ओर आरोहण करता है, त्यों-त्यों मनकी यह शक्ति सत्य-कल्पना होती जाती है जो तबतकके प्राप्त और रूपायित ज्ञानकी परिसीमित पर्याप्ति या अपर्याप्तिमें उच्चतर सत्यके रंग और प्रकाशको ले आती है, और अंतमें, ऊपरकी रूपांतरकारिणी ज्योतिमें या तो अपना संपूर्ण स्थान उच्चतर सत्य-शक्तियोंको दे देती या स्वयं ही संबोधि और प्रेरणा बन जाती है; उस उन्नयनमें मन भ्रांतियोंका स्रष्टा और भूलका शिल्पी नहीं रह जाता। सुतरां, मन अस्तित्वहीन या शून्यमें निर्मित वस्तुओंका प्रभुतासम्पन्न स्रष्टा नहीं; वह है जाननेका प्रयास करता अज्ञान। स्वयं उसके भ्रम भी किसी आधारसे ही आरंभ करते हैं और सीमित ज्ञान अथवा अर्ध-अज्ञानके परिणाम हैं। मन वैश्व अज्ञानका यंत्र है, परंतु वह किसी विश्वमायाकी शक्ति या यंत्र नहीं लगता, न उस तरह क्रिया ही करता है। वह सत्यों, संभावनाओं और वास्तविकताओंका

---

1. यूनानी पुराणोंका एक जंतु जिसके सर और पंख ईगल पक्षी जैसे और धड़ और पीछेका भाग शेर जैसे होते थे। (अनु०)
2. यूनानी पुराणोंका एक अग्नि-श्वासवाला राक्षस जिसका सिर शेर जैसा, धड़ बकरे जैसा और पूँछ साँप जैसी थी। (अनु०)

अन्वेषक और आविष्कारक या उनका स्रष्टा अथवा भावी स्रष्टा है, और यह अनुमान करना युक्तिसंगत होगा कि आद्या चेतना एवं शक्ति भी, जिससे अवश्य ही मनकी व्युत्पत्ति हुई होगी, सत्यों, संभावनाओं और वास्तविकताओंकी स्रष्ट्री है; वह मनकी भांति सीमित नहीं, अपितु अपने विस्तारमें विश्वव्यापी है; उसमें भूलकी संभावना नहीं, कारण वह सकल अज्ञानसे मुक्त है; वह एक परम सर्वज्ञता एवं शक्तिमत्ताका, शाश्वत प्रज्ञा एवं ज्ञानका परम यंत्र या उनकी आत्मशक्ति है।

अतः हमारे सम्मुख यह द्विविध संभावना उपस्थित होती है। एक तो हम यह मान सकते हैं कि एक आद्या चेतना और शक्ति है जो भ्रमों और अवास्तवोंकी स्रष्ट्री है, मनुष्य और पशुकी चेतनामें उसका यंत्र या माध्यम मन है, अतः जिस भेदमय विश्वको हम देखते हैं वह मिथ्या है, मायाकी कल्पना है, और केवल कोई अनिर्देश्य और अविभेदित निर्विशेष सत्य है। या, नहीं तो, हम समान रूपसे यह अनुमान कर सकते हैं कि एक आद्य, एक परम या सार्वभौम ऋत-चित् है जो एक सच्चे विश्वका स्रष्टा है, परंतु उस विश्वमें मन एक अपूर्ण, अज्ञानमयी, अंशतः जानती हुई, अंशतः न जानती हुई चेतनाकी भाँति, ऐसी चेतनाकी भाँति क्रिया करता है जिसके लिये अपने अज्ञान अथवा ज्ञान-परिसीमनके कारण यह संभव होता है कि वह भूल करे, वितथ प्रत्युपस्थापन करे, जिसे जानती है उसके आधारपर भ्रांत अथवा अपनिदेशित परिवर्द्धन करे, जिसे नहीं जानती उसकी ओर बढ़नेके लिये अनिश्चित रूपसे टटोला करे, आंशिक सृष्टियाँ और निर्माण करे, सदा सत्य और भूलके बीच, ज्ञान और अज्ञानके बीचकी अर्धस्थिति अपनाया करे। परंतु यह अज्ञान, वह चाहे कितना ही लड़खड़ाता क्यों न चले, वास्तवमें ज्ञानके आधारपर और ज्ञानकी ओर ही बढ़ता है; उसके अंतरमें यह सामर्थ्य निहित है कि वह उस परिसीमनका, उस सम्मिश्रणका परित्याग करे, और उस मुक्तिके द्वारा वह ऋत-चित्में परिणत हो जा सकता है, आद्य ज्ञानकी शक्ति बन जा सकता है। हमारा अवतकका अनुसंधान हमें बल्कि इस दूसरी दिशामें ला रहा है; उसका इंगित इस निष्कर्षकी ओर है कि हमारी चेतनाका स्वभाव ऐसा नहीं जो उसकी समस्याके समाधान-रूपमें विश्वमायाकी उपकल्पनाको न्याय्य सिद्ध करे। समस्या है तो सही, परंतु वह है हमारे आत्म-प्रत्यय और विषय-प्रत्ययमें ज्ञान और अज्ञानके सम्मिश्रणकी, और हमें इसी अपूर्णताका मूल खोज निकालना है। इसके लिये कोई ऐसी आद्या भ्रम-शक्ति प्रविष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं जो या तो सर्वदा शाश्वत सद्वस्तुमें रहस्यमय विधिसे अस्तित्ववान् हो या

अध्याय छः

सद्वस्तु और विश्व-माया

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या।

—विवेकचूड़ामणि
श्लोक 20

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।।
मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।।

मायी अपनी मायासे इस विश्वका सृजन करता है और उसके अन्दर अन्य एक निरुद्ध है। उसकी मायाको प्रकृति और मायीको सबका महेश्वर जानना चाहिये।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
4. 9, 10

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।

पुरुष ही वह सब है जो अभी है, जो हुआ है और जो होनेवाला है; वह अमृतत्वका प्रभु है और जो अन्नसे वर्द्धित होता है वह भी वही है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
3. 15

वासुदेवः सर्वम्।

सब वासुदेव है।

—गीता
7. 19

परंतु अभी तक हमने अनुसंधानके क्षेत्रका केवल सामनेका एक भाग ही साफ किया है; पृष्ठभूमिमें समस्या अभी तक अनसुलझी और पूरीकी पूरी बची हुई है। समस्या है विश्वकी सृष्टि करनेवाली या उसका धारणात्मक निर्माण करनेवाली या उसे अभिव्यक्त करनेवाली आद्या चेतना या शक्तिके स्वरूपकी, और हमारे जगत्-ज्ञानके साथ उसके संबंधकी। अर्थात्, क्या यह विश्व चेतनाकी कोई मिथ्या सृष्टि है जो हमारे मनपर भ्रमकी किसी परमा शक्ति द्वारा आरोपित है? अथवा, क्या वह सत्-पुरुषकी कोई सच्ची रचना है जिसका अनुभव हम अभी तक अज्ञ रहते परंतु वर्द्धमान ज्ञानके द्वारा करते हैं? और सच्चा प्रश्न केवल 'मन'का या मनसे उत्पन्न विश्व-स्वप्न या विश्व-विभ्रमका नहीं, अपितु सद्वस्तुके स्वरूपका है, उसमें होनेवाली या उसपर आरोपित सृष्टिक्रियाके प्रामाण्यका है, उसकी या हमारी चेतनामें और उसके या हमारे विश्वावलोकनमें कोई सच्ची अंतर्वस्तु होने या न होनेका है। अस्तित्वके सत्यके संबंधमें हमने जो सिद्धांत सामने रखा है उसका उत्तर मायावादकी ओरसे यह दिया जा सकता है कि यह सब विश्व-भ्रमकी सीमाओंके अंदर ही प्रामाणिक हो सकता है; यही वह प्रणाली है, व्यावहारिक यंत्र है जिसके द्वारा माया कार्य करती और अपने-आपको अज्ञानमें बनाये रखती है: परंतु विश्व-व्यवस्थाके सत्य, संभावनाएँ, वास्तविकताएँ 'भ्रम'के अंदर ही सत्य और वास्तविक हैं, उस जादूकी परिधिके बाहर उनका कोई प्रामाण्य नहीं; वे स्थायी और शाश्वत वास्तवताएँ नहीं; सब क्षणिक रूप हैं, जैसे अज्ञानके कार्य वैसे ही ज्ञानके। यह स्वीकार किया जा सकता है कि माया अपने-आपसे निस्तार पाय, मनके अंदर अपने-आपको विनष्ट करे, इसके लिये ज्ञान मायाके भ्रमका एक उपयोगी उपकरण है; आध्यात्मिक ज्ञान अपरिहार्य है: परंतु एकमात्र सच्चा सत्य, ज्ञान और अज्ञानके समस्त द्वैतसे परेकी एकमात्र स्थायी सद्वस्तु है सनातन संबंधरहित निर्विशेष, अथवा आत्मा, नित्य एवं शुद्ध सत्। यहाँ सब कुछ सद्वस्तुके संबंधमें मनकी धारणा और मनोमय जीवके अनुभवपर निर्भर करता है; कारण, सद्वस्तुके विषयमें मनकी धारणा या अनुभूतिके अनुसार ही अन्यथा एक समान रहनेवाली प्राप्त सामग्रीका, विश्वके तथ्यों, वैयक्तिक अनुभव, परम विश्वातीतकी उपलब्धिका अर्थ लगाया जायगा। समस्त मानस-ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, इन तीन तत्त्वोंपर निर्भर करता है। इन तीनों या इनमेंसे किसीकी भी वास्तवताको स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है; प्रश्न तब यह है कि इन तीनोंमेंसे कोई यदि वास्तव हैं भी तो कौन-कौन और कहाँ तक या किस प्रकार? यदि इन तीनोंको विश्व-मायाके

उपकरण कहकर अस्वीकार कर दिया जाय तो इससे आगेका और इसके परिणाम-स्वरूप यह प्रश्न उठता है: क्या उनसे बाहर कोई सद्वस्तु है, और यदि है, तो उस परम सद्वस्तु और मायाके बीच क्या संबंध है?

ज्ञेयकी वास्तवता, बहिर्व्यक्त विश्वकी वास्तवताकी पुष्टि करना और ज्ञाता व्यक्ति तथा उसकी ज्ञान प्राप्त करनेवाली चेतनाकी वास्तवताको अस्वीकार करना या घटा देना संभव है। जड़तत्त्वको एकमात्र वास्तवता माननेके सिद्धान्तके अनुसार चेतना और कुछ नहीं, जड़तत्त्वमें जड़-ऊर्जाकी एक क्रिया है, मस्तिष्कके कोषाणुओंका स्राव या कम्पन है, स्थूल अंगों द्वारा प्रतिरूपोंका ग्रहण और मस्तिष्कका प्रत्युत्तर है, जड़के संपर्कोंके प्रति जड़की प्रतिवर्त क्रिया अथवा प्रतिक्रिया है। इस मान्यताकी कठोरताको यदि शिथिल भी कर दिया जाय और चेतनाकी अन्य कोई व्याख्या कर दी जाय तो भी वह किसी स्वल्पकालीन और व्युत्पत्तिक व्यापारसे अधिक कुछ नहीं होगी, चिरस्थायी सद्वस्तु नहीं होगी। स्वयं ज्ञाता व्यक्ति एक ऐसा शरीर और मस्तिष्क मात्र है जिसमें यंत्रवत् प्रतिक्रियाएँ करनेका सामर्थ्य है, उन प्रतिक्रियाओंको ही हम चेतनाका सामान्य नाम देते हैं: व्यक्तिका मूल्य केवल सापेक्ष है और उसकी सत्यता स्वल्पकालीन। परंतु यदि स्वयं जड़तत्त्व भी अवास्तव अथवा व्युत्पत्तिक और शक्तिका व्यापारमात्र प्रमाणित हो जाय, जैसी कि अब संभावना लग रही है, तब शक्ति ही एकमात्र सद्वस्तु बच जाती है; ज्ञाता, उसका ज्ञान और ज्ञेय विषय, शक्तिके व्यापार मात्र रह जाते हैं। परंतु ऐसी शक्ति जिसे अधिकृत रखनेवाला कोई पुरुष या सत्स्वरूप नहीं या जिसकी प्रदायिका कोई चेतना नहीं, ऐसी शक्ति जिसकी आदि क्रिया शून्यमें हो,—कारण, जिस भौतिक क्षेत्रमें हम उसे क्रिया करती देखते हैं वह स्वयं ही एक सृष्टि है,—स्वयं ही बहुत कुछ मानसिक निर्माण-जैसी, अवास्तव-जैसी लगती है: या, वह गतिशीलताका कुछ कालके लिये अव्याख्येय उद्भव हो सकती है जो किसी भी समय प्रपंचकी सृष्टि करना बंद कर दे सकती है; तब एकमात्र अनंतका शून्य स्थायी और सत्य होगा। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कर्मकी ही रचना हैं, कर्मके किसी वैश्व तथ्यकी प्रक्रिया हैं, इस बौद्ध मतने ऐसे निष्कर्षको अवकाश दिया; क्योंकि इसका तर्कसंगत परिणाम असत् या शून्यका पुष्टिकरण हुआ। निस्संदेह यह संभव है कि जो वस्तु क्रियारत है वह 'ऊर्जा' नहीं, अपितु चेतना हो; जैसे जड़ ऐसी 'ऊर्जा'में पर्यवसित हो जाता है जो स्वयं तो हमारे द्वारा अग्राह्य, परंतु अपने परिणाम और क्रियाकलापमें ग्राह्य होती है, वैसे ी ऊर्जा भी ऐसी चेतनाकी क्रियामें पर्यवसित हो जा सकती है जो

स्वयं तो हमारे द्वारा अग्राह्य परंतु अपने परिणाम और क्रियाकलापमें ग्राह्य होती है। परंतु यदि यह मान लिया जाय कि यह 'चेतना' भी उसी प्रकार किसी शून्यमें क्रिया कर रही है तो हम उसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वह स्वल्पकालीन प्रपंचात्मक भ्रमोंकी स्रष्ट्री है और स्वयं भी भ्रममूलक है; शून्य, एक अनंत शून्य, एक आद्य असत् ही एकमात्र स्थायी सद्वस्तु है। परंतु ये निष्कर्ष अनुल्लंघ्य नहीं; कारण, हो सकता है कि केवल अपने क्रियाकलापमें ग्राह्य रहनेवाली इस चेतनाके पीछे एक अदृश्य आद्य सत् हो : तब उस सत्की चिन्मयी ऊर्जा एक वास्तवता हो सकती है; तब सत्ताकी उस अत्यणु रूपधातुसे बनी उसकी सृष्टियाँ भी वास्तव होंगी जो आरंभमें इन्द्रियोंके लिये अग्राह्य रहती, परंतु शक्तिकी क्रियाकी विशेष भूमिकामें इन्द्रियोंके सामने जड़के रूपमें प्रकट की जाती है; वैसे ही जड़-लोकमें आद्य सन्मात्रकी चिन्मयसत्ता-रूपमें उद्गत होता जीव भी वास्तव है। यह आद्य सद्वस्तु एक वैश्व आध्यात्मिक सन्मात्र या 'विश्वेदेवाः' हो सकती है, या हो सकता है कि उसकी कोई अन्य स्थिति हो; परंतु किसी भी दशामें, विश्व कोई भ्रम या प्रतिभास मात्र नहीं, अपितु सच्चा विश्व होगा।

मायावादके शास्त्रीय सिद्धांतमें एक अद्वितीय और परम आध्यात्मिक सन्मात्रको एकमात्र 'सद्वस्तु' माना जाता है; वह सारतत्त्व है, अतः 'आत्मा' है, फिर भी वे प्राकृतिक जीव, जिनका वह 'आत्मा' है, स्वल्पकालीन प्रतिभास मात्र हैं; अपनी अद्वितीयतामें वह सकल वस्तुओंका मूल आधार है, परंतु उस मूल आधारपर खड़ा किया गया विश्व या तो असत् है, आभास है, या फिर किसी प्रकारसे अवास्तवतः वास्तव है; यह विश्व-भ्रम है। क्योंकि, 'सद्वस्तु' एकमेवाद्वितीय है, नित्य अक्षर है, एकमात्र सत् है; उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, इस सत्की कोई सच्ची संभूतियाँ नहीं हैं : वह नाम, लक्षण, गुण, रूप, संबंध और घटनासे शून्य है और नित्य वैसा ही रहेगा; यदि उसमें कोई चेतना है तो वह उसकी अपनी ही निर्विशेष सत्ताकी शुद्ध चेतना हो सकती है। परंतु तब परम तत्त्व या सद्वस्तु और माया या प्रपंच-भ्रमके बीच क्या संबंध है? वह कौनसा चमत्कार या रहस्य है जिससे माया अस्तित्वमें आती है? वह कैसे प्रकट होती है? कालमें कैसे चिरस्थायी बनी रहती है?

चूंकि एकमात्र ब्रह्म सत्य है; अतएव ब्रह्मकी ही कोई चेतना या शक्ति सच्ची स्रष्ट्री और वास्तवताओंकी स्रष्ट्री हो सकती है। परन्तु चूंकि शुद्ध एवं निर्विशेष ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई सत्यता हो नहीं सकती, अतः ब्रह्मकी कोई सच्ची स्रष्ट्री शक्ति नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म-

चेतनाको सत्ताओं, रूपों और क्रियाओंके सत्य होनेकी संवित् हो तो इसका अर्थ यह होगा कि संभूतिमें एक सत्य है, विश्वकी एक आध्यात्मिक और भौतिक सत्यता है, जब कि परम सत्यका अनुभव इसे खंडित करता और असत् बताता है और इसके साथ ब्रह्मके एकमात्र अस्तित्वकी इससे संगति नहीं। मायाकी सृष्टि सत्ताओं, नाम, रूप, घटना और वस्तुओंका उपस्थापन है, उन्हें सत्य मानना संभव नहीं, वे उस अद्वय सत्की अनिर्देश्य शुद्धताके विपरीत हैं। अतः माया सत् नहीं, असत् है; माया स्वयं एक भ्रम है, असंख्य भ्रमोंकी जननी है। परंतु फिर भी इस भ्रमका और इसके क्रियाकलापोंका किसी प्रकारका अस्तित्व तो है ही अतः वे किसी रूपमें यथार्थ भी होने ही चाहिये; इसके अतिरिक्त विश्वका अस्तित्व किसी शून्यमें नहीं, अपितु इस कारण है कि वह ब्रह्मपर आरोपित है, एक प्रकारसे उस अद्वय सद्वस्तुपर आधारित है; मायामें अवस्थित स्वयं हम विश्वके नाम, रूप, संबंध, घटनाएँ ब्रह्मपर आरोपित करते हैं, यह अनुभव करते हैं कि सकल वस्तुएँ ब्रह्म हैं, उस सद्वस्तुको इन असत्य वस्तुओंके द्वारा देखते हैं। अतएव मायामें एक सत्यता है; वह युगपत् सत्य और असत्य है, सत् और असत् है; या ऐसा कहें कि वह न सत्य है, न असत्य: यह एक विरोधाभास है, तर्कातीत पहेली है। परन्तु तब यह रहस्य क्या है? या क्या इसका कोई समाधान ही नहीं? ब्रह्म-सत्तामें हस्तक्षेप करने यह माया कैसे चली आती है? मायाकी इस अवास्तव वास्तवताका स्वरूप क्या है?

प्रथम दृष्टिमें यह माननेको बाध्य होना पड़ता है कि ब्रह्मको किसी न किसी रूपमें मायाका ज्ञाता होना ही चाहिये,—कारण, ब्रह्म एकमात्र सद्वस्तु है, और यदि वही ज्ञाता नहीं तो भ्रमको ज्ञात करनेवाला है कौन? अन्य किसी ज्ञाताका तो अस्तित्व ही नहीं; जो व्यक्ति हमारे अंदर प्रतीयमान साक्षी है वह स्वयं ही प्रातिभासिक और मिथ्या है, मायाकी सृष्टि है। परंतु यदि ब्रह्म ज्ञाता हो, तो जब कि 'ज्ञाता' की चेतना आत्म-चेतना है, एकमात्र अपनी ही शुद्ध आत्म-सत्ताकी संवित् है, यह कैसे संभव है कि वह भ्रम एक क्षणके लिये भी टिक सके? जगत् और वस्तुओंको ब्रह्म यदि एक सच्ची चेतनासे देखता है, तो उन सबको भी वही और सत्य होना ही चाहिये; परंतु, चूँकि वे शुद्ध आत्म-सत्ता नहीं हैं, अपितु, अधिक-से-अधिक, उसके रूप ही हैं और प्रापंचिक अज्ञान द्वारा ही देखे जाते हैं, इसलिये जगत्को सत्य माननेवाला समाधान संभव नहीं। फिर भी हमें, अस्थायी रूपमें ही सही, विश्वको एक तथ्य-रूपमें, एक असंभवताको ऐसी

वस्तुके रूपमें स्वीकार करना ही होता है जो है, क्योंकि माया विद्यमान है और उसके कार्योंमें स्थायित्व है और वे आत्माको अपनी वास्तवताके भानसे आविष्ट करते हैं, वह भान चाहे कितना ही मिथ्या क्यों न हो। अतएव, पहेलीका सामना और समाधान हमें इसी आधारपर करना है।

यदि माया किसी भी रूपमें सत्य हो तो यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है कि सद्वस्तु-स्वरूप ब्रह्म भी उसी रूपसे मायाका ज्ञाता है। माया ब्रह्मकी भेद-विभाविनी ज्ञान-शक्ति हो सकती है, कारण, मायाचेतनाकी जो शक्ति उसे एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी सच्ची चेतनासे पृथक् करती है वह उस मायाचेतनाकी सृजनशील भेद-दर्शनकी शक्ति है। अथवा, यदि यह भेद-सृष्टि माया-शक्तिका सार नहीं, अपितु उसका परिणाम ही मानी जाय, तो भी कमसे कम, माया ब्रह्म-चेतनाकी ही कोई शक्ति होनी चाहिये,—कारण, केवल चेतना ही भ्रमको देख सकती और उसकी सृष्टि कर सकती है और ब्रह्मकी चेतनासे भिन्न अन्य कोई आद्या या प्रवर्तिका चेतना हो नहीं सकती। परन्तु, ब्रह्म नित्य आत्म-संविन्मय भी है, अतः ब्रह्म-चेतनाकी एक द्विविध स्थिति अवश्य होनी चाहिये,—एक उस एकमात्र सद्वस्तुके प्रति सचेतन, दूसरी उन अ-वस्तुओंके प्रति जिनका सर्जनात्मक प्रत्यक्षण कर वह उन्हें एक प्रकारका प्रतीयमान अस्तित्व प्रदान करती है। ये अ-वस्तुएँ सद्वस्तुकी धातुसे नहीं बन सकतीं, कारण, उससे बननेपर वे भी वास्तव हो जायँगी। इस दृष्टिके अनुसार, उपनिषदोंकी यह वाणी स्वीकार्य नहीं होती कि जगत् उस परम सत्‌मेंसे ही निर्मित है, सनातन सत्-पुरुषकी संभूति, परिणाम या रचना है। ब्रह्म विश्वका उपादान-कारण नहीं है : हमारे आत्माके विपक्षमें, हमारी प्रकृति उसकी आध्यात्मिक धातुसे नहीं बनी है; वह तो मायाकी अवास्तव वास्तवतासे निर्मित है। परन्तु इसके विपरीत, हमारी आध्यात्मिक सत्ता उसी धातुसे बनी है, वस्तुतः वह ब्रह्म ही है; ब्रह्म मायासे ऊपर है, परंतु वह मायाके ऊपरसे और अंदरसे, उभयविध, अपनी सृष्टियोंका द्रष्टा भी है। अतः यह जो पहेली है जिसमें एक वास्तव शाश्वत द्रष्टा (ब्रह्म) है, एक अवास्तव दृश्य (जगत्) है, और ऐसा दर्शन (माया) है जो अवास्तव दृश्योंका अर्ध-वास्तव स्रष्टा है, इसके एकमात्र युक्तिसंगत समाधानके रूपमें यह द्विविध चेतना ही उपस्थित होती है।

यदि यह द्विविध चेतना नहीं है, यदि माया ब्रह्मकी एकमात्र सचेतन शक्ति है तो दो विकल्पोंमेंसे एकको अवश्य सत्य होना चाहिये : या तो शक्ति-रूपा मायाकी सत्यता यह है कि वह ब्रह्म-चेतनाकी एक प्रत्यक्-क्रिया है जो उसकी नीरवता और अतिचेतन निश्चलतामेंसे उन्मज्जित हो

रही है और उन अनुभवोंमेंसे गुजरती जा रही है जो वास्तव तो इस कारण हैं कि वे ब्रह्मकी चेतनाके अंग हैं, परंतु अवास्तव इस कारण कि वे उसकी सत्ताके अंग नहीं; या नहीं तो, माया ब्रह्मकी विश्व-कल्पनाकी शक्ति है जो उसकी शाश्वत सत्तामें अंतर्निहित है और शून्यमेंसे नाम, रूप और घटनाओंकी सृष्टि करती है जो किसी भी भाँति वास्तव नहीं होते। उस दशामें माया तो सत्य होगी, परंतु उसके कार्य सम्पूर्णतया असत्य, शुद्ध कल्पनाएँ होंगे। परंतु, क्या हम कल्पनाको सनातन ब्रह्मकी एकमात्र सक्रिय अथवा स्रष्ट्री शक्ति कहकर प्रतिष्ठित कर सकते हैं? अज्ञानमयी चेतनावाले आंशिक पुरुषके लिये तो कल्पना एक आवश्यकता है, कारण उसे अपने अज्ञानकी अनुपूर्ति कल्पना और अनुमान द्वारा करनी होती है: किंतु अद्वय सद्वस्तुकी अद्वय चेतनामें ऐसी वृत्तिके लिये कोई स्थान नहीं हो सकता; वस्तुतः उस सद्वस्तुके लिये अवस्तुओंका निर्माण करनेका कोई कारण नहीं, क्योंकि, वह नित्य शुद्ध और स्वयं-पूर्ण है। 'एकं सत्' पूर्णस्वरूप है, नित्य आनंदमय है, अभिव्यक्त किये जानेको उसमें कुछ भी नहीं है, वह कालातीत रूपसे पूर्ण है, अतः यह देखना कठिन है कि उसकी अपनी सत्तामें ऐसा क्या है जो उसे मिथ्या काल और देशकी सृष्टि करने और उसे चिर कालके लिये मिथ्या प्रतिरूपों और घटनाओंकी एक कभी अंत न होनेवाली विश्व-प्रदर्शनीसे भर देनेके लिये प्रेरित या राजी करता है। यह समाधान तर्ककी दृष्टिसे अमान्य है।

दूसरा समाधान, एक शुद्ध प्रत्यक्-वृत्ति-प्रसूत अवास्तव वास्तवताका विचार, उस भेदसे आरंभ करता है जिसे मन भौतिक प्रकृतिमें अपने प्रत्यक्-अनुभव और पराक्-अनुभवके बीच करता है; कारण, जो पराक्-दृष्ट है केवल उसके ही सम्पूर्ण और ठोस रूपसे वास्तव होनेका निश्चय मनको होता है। परंतु ऐसा भेद ब्रह्म-चैतन्यमें शायद ही हो सकता है, कारण, वहाँ न तो कोई विषयी है न विषय, अथवा, स्वयं ब्रह्म ही अपनी चेतनाका एकमात्र संभव विषयी है और एकमात्र संभव विषय; ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जो ब्रह्मके लिये बाह्यतः विषयरूप हो, क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न कुछ भी नहीं। अतः चेतनाकी एक प्रत्यक्-क्रियाने एकमात्र सत्य वस्तुसे भिन्न या उसे विकृत करनेवाले मिथ्या कल्पनाओंके जगत्को सृष्ट किया है, यह विचार ब्रह्मपर हमारे मनके द्वारा अध्यारोपित जैसा ही दीखता है; वह शुद्ध एवं पूर्ण 'सद्वस्तु'पर अपनी ही अपूर्णताके लक्षणको आरोपित करता है जो परम पुरुषकी अनुभूतिपर सत्यतः आरोप्य नहीं। दूसरी ओर, ब्रह्मकी चेतना और सत्ताके बीच भेद करना तबतक वैध नहीं हो सकता, जबतक

ब्रह्मकी चेतना और ब्रह्मकी सत्ता दो भिन्न सत्ताएँ न हों, ऐसी स्थिति न हो कि चेतना अपने अनुभवोंको पुरुषकी शुद्ध सत्तापर आरोपित करती हो परंतु उसे स्पर्श या प्रभावित या अनुविद्ध करनेमें असमर्थ हो। अतएव, ब्रह्म चाहे परम एकमेंवाद्वितीय स्वयंभू हो चाहे मायागत अवास्तव-वास्तव व्यक्तिका आत्मा, उसे अपने ऊपर आरोपित भ्रमोंकी संवित् अपनी सच्ची चेतनाके द्वारा होगी और यह ज्ञात रहेगा कि वे भ्रम हैं; केवल माया-प्रकृतिकी कोई ऊर्जा या उसके अंदरकी कोई वस्तु ही अपने ही आविष्कारोंके द्वारा विभ्रांत होगी,—या अन्यथा, यथार्थतः विभ्रांत न होते हुए भी इस भाँति आचरण और अनुभव जारी रखेगी मानो वह विभ्रांत हो। हमारी अज्ञानस्थ चेतनामें यही द्वैत भाव तब होता है जब वह चेतना अपने-आपको प्रकृतिके कार्योंसे पृथक् करती है और उसे अंतरमें यह संवित् रहती है कि आत्मा ही एकमात्र सत्य है और बाकी सब कुछ अनात्मा और अवास्तव है, परंतु बहिस्तलपर उसे इस भाँति आचरण करना पड़ता है मानों बाकी सब कुछ भी वास्तव हो। परंतु यह समाधान ब्रह्मकी एकमात्र और अविभाज्य शुद्ध सत्ता एवं शुद्ध चेतनाका खंडन करता है; यह उसके लक्षणरहित एकत्वमें एक द्वैतकी सृष्टि कर देता है जिसका तात्पर्य सांख्य दर्शनके द्विविध तत्त्व, पुरुष और प्रकृतिके द्वैतसे भिन्न नहीं है। अतः या तो इन समाधानोंको अमान्य मानकर हटा देना होगा, या हमें अपनी सद्वस्तु-विषयक प्रथम दृष्टिमें हेर-फेर करना होगा और यह स्वीकार करना होगा कि उसमें चेतनाकी बहुविधा स्थिति या सत्ताकी बहुविधा स्थितिका सामर्थ्य है।

परन्तु फिर, यदि हम इस द्विविध चेतनाको स्वीकार करें, तो भी उसकी व्याख्या इस रूपमें नहीं की जा सकती कि वह ज्ञान-अज्ञानकी द्विविध शक्ति है जो परम सत्के लिये भी वैसे ही मान्य हो जैसे कि विश्वमें हमारे लिये है। कारण, हम यह कल्पना बिल्कुल नहीं कर सकते कि ब्रह्म लेशमात्र भी मायाके अधीन है, क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि एक अज्ञान-तत्त्व शाश्वत ब्रह्मकी आत्म-संवित्को आवृत कर लेता है; यह हमारी अपनी चेतनाकी सीमाओंको शाश्वत 'सद्वस्तु' पर आरोपित करना होगा। ऐसा अज्ञान जो अभिव्यक्तिके दौरानमें चेतनाकी किसी गौण क्रियाके परिणाममें और विश्वकी एक दिव्य योजना और उसके क्रम-वैकासिक अर्थके अंग-रूपमें घटित होता या हस्तक्षेप करता हो, एक चीज है और युक्तिसंगत धारणा है; किंतु एक निरर्थक अज्ञान या भ्रम, जो सद्वस्तुकी आद्या चेतनामें शाश्वत रूपसे रहता हो, एक और चीज है और आसानीसे धारणागम्य नहीं; यह मनकी

एक उग्र कृति लगता है जिसकी निर्विशेषके सत्यमें संगतिकी कोई संभावना नहीं। ब्रह्मकी द्वैध चेतना किसी भी रूपमें अज्ञान होनी ही नहीं चाहिये, अपितु उसे तो एक ऐसी आत्म-संवित् होनी चाहिये जो भ्रमोंके विश्वको निर्मित करनेकी स्वेच्छाके साथ सह-अस्तित्ववान् होगी; वे भ्रम एक पुरोभागकी दृष्टि में धारित रहेंगे, उसे अपनी और भ्रमात्मक जगत्की संवित् साथ-साथ रहेगी जिससे उसे उस जगत्की सत्यताकी कोई भ्रान्ति, कोई भावना नहीं होगी। भ्रान्ति केवल भ्रमात्मक जगत्में घटित होती है, और जगत्में यह लीला अपना जादूमय सम्मोहन केवल प्राकृत-मनपर ही डालती है जिसे मायाने अपनी क्रियाके लिये सृष्ट किया है; स्वयं आत्मा या ब्रह्म पृथक् और अस्पर्शम् रहकर या तो लीलामें उन्मुक्त रूपसे भाग लेता हुआ उसका भोग करता या उसे साक्षी भावसे देखता है। किंतु इससे यह तात्पर्य निकलता प्रतीत होता है कि 'शाश्वत' को अपने शुद्ध निर्विशेष अस्तित्वसे तुष्टि नहीं और उसे सृष्टि करनेकी, अपने-आपको कालमें आद्योपांत नाम, रूप और घटनाओंके नाटकसे व्यस्त रखनेकी आवश्यकता होती है; एकाकी होनेके कारण उसे अपने-आपको बहुके रूपमें देखनेकी आवश्यकता होती है, शांतं, आनन्दम्, आत्मज्ञानम् होनेके कारण उसे व्यामिश्र ज्ञान और अज्ञान, आनंद और कष्ट, अवास्तव जीवन और उस अवास्तव जीवनमेंसे मुक्तिके अनुभव या प्रतिरूपणके अवलोकनकी आवश्यकता होती है। वस्तुतः मुक्तिका प्रश्न मायाके द्वारा निर्मित व्यष्टि-जीवके लिये है, 'शाश्वत'को मुक्तिकी आवश्यकता नहीं और लीलाका चक्र नित्य चलता रहता है। या यदि सृष्टि करनेकी आवश्यकता नहीं है तो इस प्रकार सृष्टि करनेकी इच्छा ही है, या इन विरोधी तत्त्वोंकी प्रेरणा या स्वचलित क्रिया होती है; परंतु यदि हम 'सद्वस्तुके' लक्षण-रूपमें शुद्ध सन्मात्रकी अद्वय नित्यताको ध्यानमें लें तो उपरोक्त आवश्यकता, इच्छा, प्रेरणा या स्वचलता, इनमेंसे किसीका भी होना समान रूपसे असंभव और अबोधगम्य होता है। यह एक प्रकारकी व्याख्या तो है, परंतु ऐसी व्याख्या है जो रहस्यको फिर भी तर्क या समझसे बाहर ही छोड़ देती है; कारण, 'शाश्वत'की यह सक्रिय चेतना उसके निष्क्रिय एवं प्रकृत स्वरूपका सीधा प्रतिवाद होती है। सृष्टि या अभिव्यक्तिकी इच्छा या शक्ति तो निस्संदेह है, परन्तु वह यदि ब्रह्मकी इच्छा या शक्ति है तो वह 'सद्वस्तु'की वास्तवताओंकी सृष्टिके लिये ही अथवा उसकी सत्ताकी कालातीत प्रक्रियाको काल-नित्यतामें अभिव्यक्त करनेके लिये ही हो सकती है; कारण, यह अविश्वसनीय लगता है कि 'सद्वस्तु'की अद्वय् शक्तिको बस किसी अपनेसे

विपरीत वस्तुकी अभिव्यक्ति या किसी भ्रमरूप विश्वमें असत् वस्तुओंकी सृष्टि ही अभीष्ट है।

पहेलीका कोई संतोषप्रद उत्तर अवतक नहीं मिला है: परंतु हो सकता है कि हम माया या उसके कृत्योंकी कोई भी सत्यता माननेकी भूल कर रहे हैं, वह आधारतः चाहे कितनी ही भ्रामक क्यों न हो। सच्चा समाधान तो माया और उसके कृत्योंकी नितांत अवास्तवताके रहस्यका साहससे सामना करनेमें ही है। मायावादके कुछ निरूपणों या उसके समर्थनमें दी गयी कुछ युक्तियोंमें इस नितांत अवास्तवताकी परिकल्पना की गयी लगती है। अतः हमें पहले समस्याके इस पक्षपर विचार करना होगा, तभी हम उन समाधानोंकी परीक्षा विश्वस्त भावसे कर सकेंगे जो इस आधारपर खड़े होते हैं कि विश्वमें सापेक्ष अथवा आंशिक वास्तवता है। वस्तुतः एक ऐसी तर्क-धारा है जो इस समस्याको अलग छोड़ कर ही उससे छुटकारा पा जाती है; वह यह कहती है कि भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ, विशुद्ध ब्रह्म-सत्तामें विश्व किस प्रकार आ जुटा, यह प्रश्न ही अवैध है: यह समस्या है ही नहीं, क्योंकि विश्व असत् है, माया मिथ्या है, ब्रह्म एकमात्र सत्य है, सदा ही असंग एवं-स्वयंभू है। ब्रह्मपर किसी भ्रममूलक चेतनाका प्रभाव नहीं पड़ता, उसकी कालातीत वास्तवतामें किसी भी विश्वका आविर्भाव हुआ ही नहीं। परंतु कठिनाईको इस भाँति टालना या तो अर्थहीन कुतर्क है, शाब्दिक तर्ककी कलाबाजी है, तर्क-बुद्धिका शब्दों और विचारोंके खेलमें अपना सिर छिपा लेना और एक यथार्थ और दुःसाध्य कठिनाईको देखने या हल करनेसे इन्कार करना है, या नहीं तो इसका अर्थ अत्यधिक है, क्योंकि इसका परिणाम यह होता है कि ब्रह्मके साथ मायाके सारे संबंधसे वह यह कहकर पीछा छुड़ा लेता है कि माया अपने सृष्ट विश्वके साथ-साथ स्वयं भी एक स्वतंत्र और नितांत अवास्तवता है। यदि किसी यथार्थ विश्वका अस्तित्व न भी हो तो भी एक विश्वभ्रमका अस्तित्व तो है, और हमारी यह जिज्ञासा होगी ही कि वह अस्तित्वमें कैसे आया या कैसे अस्तित्व बनाये रखता है, सद्वस्तुके साथ उसका संबंध या असंबंध क्या है, मायामें स्वयं हमारे अस्तित्वका, हमारा मायाके चक्रोंके अधीन होनेका और मायासे हमारी मुक्तिका अर्थ क्या है। कारण, इस दृष्टिके अनुसार हमें मानना होता है कि ब्रह्म माया या उसके कार्योंका द्रष्टा नहीं, स्वयं माया भी ब्रह्म-चेतनाकी कोई शक्ति नहीं: ब्रह्म अतिचेतन है, अपनी शुद्ध सत्तामें लीन है अथवा केवल अपने निर्विशेष स्वरूपके प्रति सचेतन है; उसका मायासे कोई संबंध नहीं। परंतु उस दशामें, या तो मायाका अस्तित्व

भ्रम-रूपमें भी नहीं हो सकता या एक द्वैत सत्ता अथवा दो सत्ताएँ हो जाती हैं,—एक तो शाश्वत सत्, अतिचेतन या केवल अपने ही प्रति सचेतन, और एक भ्रामक-शक्ति, मिथ्या विश्वकी स्रष्ट्री और उसके प्रति सचेतन। यहाँ हम फिर उभयत:पाशकी उलझनमें वापस आ जाते हैं और उसके-फन्देसे छुटकारा पानेके लिये हमें इस निष्कर्षको माननेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं दीखता कि चूँकि सारा दर्शनशास्त्र मायाका अंग है, अत: सारा दर्शनशास्त्र भी भ्रम ही है, समस्याएँ प्रचुर हैं, परंतु कोई निष्पत्ति संभव नहीं। कारण, हमें सामना करना पड़ रहा है एक ओर शुद्ध निष्क्रिय एवं अक्षर सद्वस्तुका और दूसरी ओर एक मायामयी सक्रियताका; वे दोनों एक-दूसरीसे पूर्णतया विपरीत हैं, और उनके परे ऐसा कोई सत्य नहीं दीख रहा जिसमें उनके रहस्यका पता और उनके विरोधोंका समन्वयकारी हल मिल जायँ।

यदि ब्रह्म द्रष्टा नहीं है तो वैयक्तिक जीवको ही द्रष्टा होना होगा : परन्तु यह द्रष्टा तो मायाके द्वारा सृष्ट है और अवास्तव है; और दृश्य, जगत्, वह भी माया द्वारा सृष्ट एक भ्रम है और अवास्तव है; स्वयं द्रष्ट्री चेतना भी एक भ्रम है, अत: अवास्तव है। परंतु ऐसा माननेसे तो प्रत्येक वस्तुकी, जैसे हमारे कालिक जीवन और हमारे मायामें निमज्जनकी, वैसे ही हमारे आध्यात्मिक जीवन और मायासे हमारी मुक्तिकी सार्थकता लुप्त हो जाती है; सब कुछ समान रूपसे अवास्तव और महत्वहीन हो जाता है। यह संभव है कि हम एक कम अनम्य दृष्टिकोण अपनावें और यह मानें कि ब्रह्म-रूपमें ब्रह्मको मायासे कोई संबंध नहीं है, वह समस्त भ्रमसे अथवा भ्रमके साथ किसी भी संसर्गसे नित्यमुक्त है, परंतु विश्वमें वैयक्तिक द्रष्टा-रूपमें अथवा सर्वभूतात्मा-रूपमें ब्रह्म मायामें प्रविष्ट हो गया है और व्यक्तिमें उससें हट भी जा सकता है, और यह हटना व्यक्तिके लिये परम महत्वका कार्य है। परंतु यहाँ ब्रह्मपर एक द्विविध सत्ता आरोपित की गयी है और ऐसी वस्तुको सत्य माना गया है जो विश्वमायाकी चीज है,—मायामें अवस्थित ब्रह्मकी वैयक्तिक सत्ताको सत्य माना गया है, क्योंकि सर्वात्मा-रूप ब्रह्म तो प्रातिभासिक रूपसे भी आवद्ध नहीं होता और उसे मायासे बच निकलनेकी आवश्यकता भी नहीं : इसके अतिरिक्त, यदि बंधन अयथार्थ हो तो मुक्तिका महत्व नहीं हो सकता और जबतक माया और उसका जगत् सत्य नहीं हों बंधन यथार्थ नहीं हो सकता। मायाकी नितांत अवास्तवता अब विलुप्त हो जाती है और उसके स्थानपर एक बहुत व्यापक वास्तवता आ जाती है, चाहे वह शायद व्यावहारिक और कालिक ही क्यों न हो।

इस निष्कर्षसे बचनेके लिये यह कहा जा सकता है कि हमारी वैयक्तिकता मिथ्या है, ब्रह्म ही वैयक्तिकताकी माया-कल्पनामें निजके एक प्रतिबिंबसे हट जाता है और उसका निर्वाण ही हमारा उद्धार, हमारी मुक्ति है: परंतु ब्रह्म नित्य-मुक्त है, उसे न तो बंधनका कष्ट हो सकता है, न मुक्तिसे लाभ, और प्रतिबिंब, वैयक्तिकताकी माया-कल्पना, यह ऐसा कुछ नहीं जिसे मुक्तिकी आवश्यकता हो। प्रतिबिंबको, काल्पनिकको, मायाके प्रवंचक दर्पणमें आनेवाली प्रतिच्छाया मात्रको यथार्थ बंधनका भोग सहना नहीं हो सकता, उसे किसी यथार्थ मुक्तिका लाभ भी नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि वह एक सचेतन प्रतिबिंब या कल्पना है और फलतः वह यथार्थमें बंधन भोग सकता और मुक्तिके आनंदमें प्रवेश कर सकता है तो यह प्रश्न उठता है कि इस मिथ्या जीवनमें इस भाँति दुःख भोगनेवाली चेतना किसकी होती है,—कारण, उस एकमेव सत्की चेतनाके अतिरिक्त और कोई भी यथार्थ चेतना नहीं हो सकती ; इस तरह, ब्रह्मकी द्विविध चेतना एक बार फिर स्थापित हो जाती है, एक तो मायासे मुक्त चेतना अथवा अतिचेतना और दूसरी मायाके अधीन चेतना, और इस भाँति हम फिर मायाके अंतर्गत अपने जीवन और अनुभवकी एक विशेष वास्तवताकी पुष्टि कर देते हैं। कारण, चाहे कितनी ही उपाधियोंसे युक्त होकर क्यों न हो, यदि हमारी सत्ता ब्रह्मकी ही सत्ता है, हमारी चेतना ब्रह्मकी चेतनाकी ही कोई वस्तु है, तो उस दूरीतक वह वास्तव है,—और यदि हमारी सत्ता वास्तव है, तो विश्वकी सत्ता क्यों न वास्तव होगी ?

अंतमें समाधानके रूपमें यह कहा जा सकता है कि द्रष्टा व्यक्ति और दृश्य विश्व अवास्तव हैं, परन्तु माया अपने-आपको ब्रह्मपर आरोपित कर एक विशेष वास्तवता प्राप्त कर लेती है और वह वास्तवता विश्व-मायामें व्यक्ति-जीव और उसके अनुभवमें संक्रान्त हो जाती है, वह अनुभव उस व्यक्तिके लिये तबतक टिका रहता है जबतक व्यक्ति मायाधीन रहता हो। परंतु फिर, वह अनुभव किसके लिये प्रामाणिक है ? वह अनुभव जबतक रहता है वह वास्तवता किसके लिये प्राप्त होती है ? मुक्ति, निर्वाण या प्रत्याहार द्वारा उसका अवसान किसके लिये होता है ? कारण, भ्रममूलक अवास्तव जीव तो वास्तवता धारण नहीं कर सकता, कोई यथार्थ बंधन नहीं भोग सकता, अतः उसके लिये परिहार या आत्म-विलोपनकी किसी यथार्थ क्रिया द्वारा उससे बच निकलनेकी कोई बात भी नहीं ; उसके अस्तित्वकी प्रतीति किसी वास्तव आत्मा या सत्को ही हो सकती है, परंतु उस दशामें यह वास्तव आत्मा किसी प्रकार या किसी मात्रामें अवश्य ही मायाके अधीन

होना चाहिये। उसे या तो ब्रह्मकी चेतना होना चाहिये जो मायाके जगत्‌में प्रक्षिप्त और मायासे उद्‌गत हो, या ब्रह्मकी सत्ता होना चाहिये जो निजके कुछ अंशको, अपनी वास्तवताको मायामें डाल देती और फिर मायासे निकाल लेती हो। या फिर, यह माया क्या है जो अपने-आपको ब्रह्मपर आरोपित करती है? यदि वह ब्रह्ममें पहलेसे विद्यमान नहीं है, सनातन चेतना या सनातन अतिचेतनाकी क्रिया नहीं है तो वह आती कहाँ से है? उस भ्रमके चक्रोंको सनातन ब्रह्मके खिलवाड़के लिये छायामयी कठपुतलियोंका नाच होनेके अतिरिक्त, कालपटपर कठपुतलियोंका खेल होनेके अतिरिक्त अन्य किसी वास्तवता या महत्वकी केवल तब प्राप्ति हो सकती है यदि सद्वस्तुकी कोई सत्ता या चेतना ही उस भ्रमके परिणामोंमेंसे गुजरती हो। इस तरह हमें फिर इसी निष्कर्षकी ओर वापस मुड़ जाना होता है कि ब्रह्मकी द्विविध सत्ता है, द्विविध चेतना है, एक माया-ग्रस्त, दूसरी माया-मुक्त, और साथ ही मायामें भी सत्ताकी एक विशेष प्रापंचिक सत्यता है: विश्वमें हमारे जीवनका कोई समाधान नहीं हो सकता यदि उस जीवन और स्वयं उस विश्वमें सत्यता नहीं हो,—भले ही वह सत्यता केवल आंशिक, नियंत्रित, व्युत्पत्तिक क्यों न हो। परंतु एक आद्य, विश्वव्यापी और मूलतः निराधार भ्रमकी सत्यता भला क्या हो सकती है? एकमात्र संभव उत्तर यह है कि यह रहस्य बुद्धिसे अतीत और अव्याख्येय है, अनिर्वचनीय है।

तथापि, यदि हम इस विचारका परित्याग कर दें कि जीव और विश्व नितांत अवास्तव हैं और कोई मर्यादा या समझौता स्वीकार कर लें, तो इस कठिनाईके दो उत्तर संभव हैं। उपनिषदोंमें सुषुप्ति और स्वप्न-सृष्टिका जो वर्णन है, उसे हम यदि एक प्रत्यक् मिथ्या विश्वानुभवके रूपमें लें, तो एक प्रत्यक् भ्रम-चेतनाके लिये आधार सृष्ट हो जाता है जो फिर भी सत्‌का अंग हो। कारण, वहाँ यह प्रतिष्ठित किया गया है कि ब्रह्म आत्मारूपमें चतुष्पाद है; आत्मा ब्रह्म है और जो कुछ है वह सब ब्रह्म है, परंतु जो कुछ है वह सब आत्माके द्वारा अपनी सत्ताकी चार अवस्थाओंमें देखा गया आत्मा ही है। शुद्ध स्वरूप-स्थितिमें ब्रह्मका वर्णन हम न तो, अपनी धारणाके अर्थमें, 'चेतना' कहकर कर सकते हैं, न 'अचेतना' कहकर; वह स्थिति है अतिचेतनाकी, अपनी आत्म-सत्तामें, आत्म-नीरवतामें या आत्मानंदमें निमज्जित, अथवा, वह एक स्वतंत्र अतिचेतनकी स्थिति है, उस अतिचेतनकी जो सर्वाधार या सर्वाधिष्ठान है, अथच सबसे अपरामृष्ट है। परंतु सुषुप्ति-पुरुषकी एक ज्योतिर्मयी अवस्था भी है, चिद्‌घन अवस्था है जो विश्व-सत्ताका मूल है; गभीर सुषुप्तिकी यह स्थिति ही, जिसमें फिर भी

एक सर्वशक्तिमती प्रज्ञा विद्यमान है, वह बीजावस्था अथवा कारण-अवस्था है जिससे विश्व उद्‌गत होता है। फिर, स्वप्न-पुरुष है जो समस्त सूक्ष्म, प्रत्यक् अथवा अतिभौतिक अनुभवका आधार है, और जागृत पुरुष है जो समस्त भौतिक अनुभवका आश्रय है। इन तीनोंको मिलाकर मायाका सम्पूर्ण क्षेत्र माना जा सकता है। जैसे मनुष्य गहरी निद्रामें स्वप्नोंमें चला जाता है जहाँ वह नाम, रूप, संबंध और घटनाओंके स्व-निर्मित अस्थायी निर्माणोंका अनुभव करता है, और जागृत अवस्थाम अपने-आपको भौतिक चेतनाके, अधिक प्रतीयमानतः स्थायी परन्तु फिर भी क्षणभंगुर निर्माणोंमें वहिर्वृत्त करता है, वैसे ही 'आत्मा' भी अपनी चिद्‌घन अवस्थामेंसे अपने अंतःप्रज्ञ तथा बहिःप्रज्ञ विश्वानुभवका विकास करता है। परन्तु जागृत अवस्था इस आद्या और कारण-निद्रामेंसे सच्चा जागरण नहीं होती; वह तो चेतनाके विषयोंके सूक्ष्म प्रत्यक्-वृत्त स्वप्नानुभवके विपरीत उनकी निश्चयात्मक वास्तवताके स्थूल, वाह्य और पराक्-वृत्त अनुभवमें सम्पूर्ण उन्मज्जन मात्र है: सच्ची जागृति है प्रत्यक्-वृत्त चेतना और पराक्-वृत्त चेतना, इन दोनों और कारणरूप घनीभूत प्रज्ञासे निवृत्त होकर समस्त चेतनासे श्रेष्ठतर अतिचेतनामें अवगाहन, क्योंकि समस्त चेतना और समस्त अचेतना माया है। यहाँ हम कह सकते हैं कि माया वास्तव है, क्योंकि वह आत्माके द्वारा 'आत्मा'का अनुभव है, आत्माका कोई अंश उसमें प्रवेश करता है, उसकी घटनाओंसे प्रभावित होता है क्योंकि वह उन्हें स्वीकार करता है, उनमें विश्वास करता है, वे उसके लिये यथार्थ अनुभव हैं, उसकी सचेतन सत्तामेंसे की गयी सृष्टियाँ हैं; परंतु वह अवास्तव इस कारण है कि वह निद्रावस्था है, स्वप्नावस्था है, अंततः एक अस्थायी जागृतावस्था है, अतिचेतन सद्‌वस्तुकी सच्ची अवस्था नहीं। यहाँ स्वयं सत्ताका कोई वास्तविक द्वैध- नहीं, अपितु उस एक सत्‌की वहुपाद स्थिति है; यहाँ ऐसी कोई आद्या द्विविध चेतना नहीं जिसमें यह लक्षित हो कि असत्‌मेंसे भ्रमात्मक वस्तुओंकी सृष्टि करनेकी इच्छा असृष्टमें हुई, अपितु एक ही सत् अतिचेतना तथा चेतनाकी अवस्थाओंमें है और इनमें प्रत्येकका आत्मानुभवका अपना-अपना स्वभाव है। परंतु निम्नतर अवस्थाएँ, यद्यपि उनमें वास्तवता है, फिर भी ऐसी प्रत्यक्-वृत्त आत्म-रचनाओंके निर्माण और अवलोकनसे मर्यादित हैं जो 'सत्' नहीं हैं। वह अद्वय आत्मा अपने-आपको वहुके रूपमें देखता है, परंतु यह वहु-अस्तित्व प्रत्यक्-चेतनामें है; उसमें अपनी चेतनाकी अवस्थाओंका वहुत्व तो है, परन्तु यह वहुत्व भी प्रत्यक्-चेतनामें है; एक वास्तव सत्-पुरुषके प्रत्यक्-अनुभवकी एक वास्तवता तो है, परंतु कोई वस्तु-विषयरूप विश्व नहीं।

तथापि यह ध्यानमें रखना चाहिये कि उपनिषदोंमें वस्तुतः कहीं भी ऐसा नहीं कहा गया है कि यह त्रिविध स्थिति भ्रमकी अवस्था या अवास्तवताकी सृष्टि है; निरंतर यह कथन किया गया है कि यह सब जो कुछ है,—यह विश्व जिसे अभी हम मायाके द्वारा निर्मित मान रहे हैं,—ब्रह्म है, 'सद्वस्तु' है। ब्रह्म ही ये समस्त भूत हो जाता है; समस्त भूतोंको सद्वस्तुमें, आत्मामें देखना होगा और सद्वस्तुको समस्त भूतोंमें, 'सद्वस्तु'को इस भाँति देखना होगा कि वह वस्तुतः समस्त भूत हो गयी है; क्योंकि यही नहीं कि आत्मा ब्रह्म है, अपितु सब कुछ आत्मा है, यह सब जो कुछ है 'सद्वस्तु' है, ब्रह्म है। इतने बलके साथ उपस्थित की गयी यह दृढ़ोक्ति भ्रमरूपिणी मायाके लिये अवकाश नहीं छोड़ती; परन्तु, फिर भी, उनका बार-बार यह अस्वीकार करना कि अनुभव करनेवाले आत्माके अतिरिक्त या उससे भिन्न और कुछ भी है, उनका कुछ विशेष शब्दावलियोंका व्यवहार और चेतनाकी अवस्थाओंमेंसे दो का निद्रा और स्वप्न कहकर वर्णन,—इन्हें इस रूपमें लिया जा सकता है मानों उन्होंने सार्वभौम 'सद्वस्तु'पर दिये गये जोरको नष्ट कर दिया हो; ये उद्धरण मायावादी विचारके लिये द्वार खोल देते हैं और मायावादी प्रकारके हठीले सिद्धांतके आधार-रूपमें प्रयुक्त हुए हैं। यदि इस चतुष्पाद अवस्थाको हम आत्माका एक रूपक मानें जब कि वह अपनी अतिचेतन अवस्थामेंसे निकलकर, जहाँ न विषयी है, न विषय, एक ज्योतिर्मयी समाधिमें चला जाता है जिसमें अति-चेतना चिद्घन, घनीभूत चेतना हो जाती है जिसमेंसे सत्ताकी अंतःप्रज्ञ स्थिति और बहिःप्रज्ञ स्थिति उद्भूत होती हैं, तो हमें, अपने-अपने दृष्टि-कोणके अनुसार, भ्रमात्मिका सृष्टिकी संभव प्रक्रिया अथवा सर्जनकारी आत्मज्ञान एवं सर्वज्ञानकी प्रक्रिया मिलती है।

उपनिषदोंमें आत्माकी तीन निम्नतर अवस्थाओंका वर्णन सर्वज्ञ प्रज्ञा[1] (प्रज्ञानघन), सूक्ष्मका द्रष्टा (प्रविविक्तभुक्) और स्थूल भौतिक सत्ताका

---

1. प्रज्ञा। बृहदारण्यक उपनिषद्में याज्ञवल्क्य ऋषि बहुत ही निश्चयके साथ कहते हैं कि पुरुषकी दो भूमिकाएँ या अवस्थाएँ हैं जो दो लोक हैं और स्वप्नावस्थामें दोनों लोक दिखाई दे सकते हैं, कारण, स्वप्नावस्था उनके बीचकी अवस्था, उनका संधि-स्थल है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि याज्ञवल्क्य चेतनाकी एक अवगूढ़ अवस्थाकी बात कह रहे हैं जो भौतिक और अतिभौतिक लोकोंके बीच आदान-प्रदानका सेतु हो सकती है। स्वप्नरहित सुषुप्ति-अवस्थाका वर्णन गाढ़ी निद्राके लिये लागू होता है और समाधि-अवस्थाके लिये भी जिसमें मनुष्य घनीभूत चैतन्यमें प्रवेश करता है और वह चैतन्य अपने अन्दर सत्ताकी समस्त शक्तियोंको समाये

द्रष्टा (स्थूलभुक्) कह कर किया गया है। वास्तवमें, यदि हम इस वर्णनके आधारपर निर्णय कर सकें तो यह सुषुप्ति-अवस्था और यह स्वप्नावस्था हमारी जागृत अवस्थाके पीछे और परे रहनेवाली अतिचेतन और अवगूढ़ अवस्थाओंके लिये आलंकारिक नाम प्रतीत होती हैं; उनके लिये यह नाम और रूपक इसलिये दिया जाता है कि बहिस्तलीय मनश्चेतना सामान्यतया स्वप्न और निद्राके द्वारा ही—या समाधिके द्वारा, जिसे एक प्रकारका स्वप्न या निद्रा कह सकते हैं—बाह्य वस्तुओंके प्रत्यक्षणसे निकलकर आंतरिक अवगूढ़ और उच्चतर अतिमानसिक अथवा अधिमानसिक अवस्थामें चली जाती है। उस आंतरिक अवस्थामें वह चेतना अतिभौतिक वास्तवताओंको स्वप्न या सूक्ष्मदर्शनके प्रतिलेख-रूपोंमें देखती है, अथवा, उच्चतर अवस्थामें, वह घनीभूत चेतनामें खो जाती है, उस चिद्घनका कोई विचार या प्रतिरूप वह प्राप्त नहीं कर सकती। इस अवगूढ़ तथा इस अतिचेतन अवस्थासे होते हुए ही हम आत्म-सत्ताकी उच्चतम स्थितिकी परम अतिचेतनामें जा सकते हैं। यदि इन उच्चतर अवस्थाओंमें हमारा गमन स्वप्न-समाधि अथवा निद्रा-समाधिके द्वारा नहीं, अपितु आध्यात्मिक जागरणके द्वारा हो, तो उन सबमें हमें एक सर्वगत सद्वस्तुकी संवित् होती है; किसी भ्रममयी मायाके प्रत्यक्षणकी आवश्यकता नहीं रहती, तब मानससे मानसातीतमें संक्रमणका अनुभव ही होता है जिससे विश्वके संबंधमें हमारी मानसिक निर्मिति प्रामाणिक नहीं रह जाती और अज्ञानमय मानसिक ज्ञानका स्थान उसकी एक अन्य सत्यता लेती है। एक सामंजस्यपूर्ण और एकत्वमय अनुभवमें सत्ताकी समस्त अवस्थाओंके प्रति एकसाथ जागृत रहना और सर्वत्र सद्वस्तुका दर्शन करना इस संक्रमणमें संभव रहता है। परन्तु यदि हम ऐकांतिक एकाग्रीकरणकी समाधिके द्वारा एक रहस्यमयी सुषुप्ति-अवस्थामें गोता लगा लेते या जागृत मनमें सहसा ऐसी अवस्थामें चले जाते हैं जो अतिचेतनकी है, तो इस मार्गमें मन विश्व-शक्ति और उसकी सृष्टियोंकी अवास्तवताके बोधकी पकड़में चला जा सकता है; तब वह आंतरिक रूपसे उन सबका विलोप कर परम अतिचेतनामें चला जाता है। यह अवास्तवताका बोध और यह ऊर्ध्वाभिमुख संक्रमण इस विचारको आध्यात्मिक

रखता है किंतु वे सब शक्तियाँ स्वयं उसके अन्दर समाहृत रहती हैं और वह एकमात्र अपने-आपपर संकेंद्रित रहता है, और जब सक्रिय होता है तो ऐसी चेतनामें सक्रिय होता है जहाँ सब कुछ आत्मा है। स्पष्ट ही यह ऐसी अवस्था है जो हमें आत्मा-के उन उच्चतर लोकोंमें प्रवेश देती है जो अभी हमारी जागृत सत्ताके लिये सामान्यतः अतिचेतन हैं।

समर्थन प्रदान करते हैं कि जगत्की सृष्टि मायाने की है; परन्तु यह परिणाम अंतिम नहीं, इसका अधिक्रमण करनेवाली एक बृहत्तर और संपूर्णतर निष्पत्ति आध्यात्मिक अनुभवके लिये संभव है।

मायावादके ये और अन्य सारे समाधान हमें संतुष्ट करनेमें विफल होते हैं, क्योंकि उनमें कोई अंतिम निश्चयात्मकता नहीं। यदि मायावादको मान्य बनाना है तो यह प्रस्थापित करना आवश्यक है कि यह सिद्धांत अपरिहार्य है; परन्तु यह अपरिहार्यता इन समाधानोंसे प्रतिष्ठित नहीं होती, ये समाधान एक ओर शाश्वत सद्वस्तुके अनुमानित सच्चे स्वरूप और दूसरी ओर विश्व-भ्रमके विरोधाभासी और विपरीत स्वभावके बीचकी खाईको नहीं पाटते। अधिक-से-अधिक, ये एक प्रक्रियाका संकेत देते हैं जो इन दो विरोधियोंके सह-अस्तित्वको धारणागम्य और बोधगम्य बनानेका दावा करती है; परन्तु उसमें निश्चयता या प्रकाशकारी विश्वासोत्पादकताकी ऐसी शक्ति नहीं जो उसकी असंभाव्यताका ऐसा प्रभावी उपचार करती हो कि उसे स्वीकार करना बुद्धिके लिये अनिवार्य हो जाय। विश्व-मायावाद एक मूल विरोध, समस्या और रहस्यसे परित्राण पानेके लिये, जिसका समाधान अन्य रूपसे भी हो सकता है, एक ऐसे अन्य विरोध, एक ऐसी नयी समस्या और रहस्यको खड़ा करता है, जो अपने उपस्थापनमें ही ऐसा है कि उसमें मेल नहीं बैठाया जा सकता और असमाधेय भी है। कारण, हम इस धारणा या अनुभवसे आरंभ करते हैं कि एक तो निर्विशेष सद्वस्तु है जो स्वरूपतः शाश्वत रूपसे एक, विश्वातीत, निष्क्रिय, अचल, अक्षर है, अपनी शुद्ध सत्ताके प्रति आत्म-चेतन है, और एक है विश्वप्रपंच, जिसमें सक्रियता है, गति है, क्षरता है, आद्या शुद्ध सत्ताके विकार हैं, विभेद हैं, अनंत बहुत्व है। इस प्रपंचसे यह कहकर छुटकारा लिया जाता है कि वह चिर भ्रम है, माया है। परंतु, वास्तवमें, इस मान्यताका परिणाम होता है 'एकं'की सत्ताकी स्वतोविरोधी द्वैध स्थितिको मिटानेके लिये 'एकं'की चेतनाकी स्वतोविरोधी द्वैध स्थितिको ले आना। उस 'एकं'के बहुत्वके प्रापंचिक सत्यका खंडन करनेके लिये यह स्थापना की जाती है कि उस 'एकं'में एक अवास्तव बहुत्वकी सृष्टि करनेवाला धारणात्मक मिथ्यात्व है। वह 'एकं', जो अपनी शुद्ध-सत्ताके प्रति नित्य आत्म-संविन्मय है, अपने-आपकी एक चिरस्थायी कल्पना अथवा भ्रममयी रचनाको आश्रय देता है जिसमें मूढ़ और कष्ट पाते आत्मज्ञानहीन जीवोंकी अनंत बहुलता है, और उन जीवोंको एक-एक कर आत्म-ज्ञानकी ओर जागृत होना और अपनी वैयक्तिक सत्ताका अवसान करना है।

यह जो एक गुत्थीका समाधान एक नयी गुत्थीके द्वारा किया जाता है, इसके सामने आनेपर हम यह संदेह करने लगते हैं कि हमारा मूल अभ्युपगम ही कहीं-न-कहीं अवश्य असंपूर्ण रहा है,—भूल तो नहीं, परंतु एक प्रथम विवरण और अपरिहार्य आधार मात्र रहा है। हम 'सद्वस्तु'को इस रूपमें देखने लगते हैं कि वह सनातन एकत्व, स्थिति, शुद्ध सत्ताका अक्षर सार है जो उसीकी सनातन सक्रियता, गति, अनंत बहुत्व तथा वैचित्र्यको अवलंब दे रहे हैं। एकत्वकी अक्षर स्थिति क्रिया, गति और बहुत्वको अपने-आपमेंसे बाहर लाती है,—वह क्रिया, गति तथा बहुत्व सनातन एवं अनंत एकत्वको रद्द नहीं करते, अपितु उनसे वह एकत्व और भी उभर आता है। ब्रह्मकी चेतना यदि स्थिति या क्रियामें द्विविध या बहुविध भी हो सकती है तो इसका कोई कारण नहीं लगता कि ब्रह्ममें अपनी सत्ताकी द्विविध स्थिति अथवा बहुविध यथार्थ आत्मानुभूतिका सामर्थ्य न हो। उस दशामें विश्वचेतना कोई सर्जनकारी भ्रम नहीं, वरन् निर्विशेषके किसी सत्यका एक अनुभव होगी। यह व्याख्या, निष्पादित की जानेपर, अधिक व्यापक और आध्यात्मिकतः अधिक उर्वर, हमारे आत्मानुभवके दोनों प्रान्तोंमें मिलन करानेमें अधिक समन्वय-साधिका प्रमाणित हो सकती है, और कम-से-कम, उस विचारसे तो कम तर्क-संगत नहीं होगी, जो यह मानता है कि एक सनातन सद्वस्तु चिरकाल एक ऐसे सनातन भ्रमको आधार देती है जो अनंत बहुसंख्यक अज्ञ और संतप्त जीवोंके लिये ही वास्तव है और वे जीव मायाके अंधकार और कष्टसे एक-एक कर मुक्ति पाते हैं, उनमेंसे प्रत्येक मायामें अपना-अपना पृथक् आत्म-विलोप करता है।

मायावादके आधारपर इस समस्याका दूसरा संभव उत्तर शंकरके दर्शनमें मिलता है जिसे हम विशिष्ट मायावाद कह सकते हैं। उसमें यह उत्तर विलक्षण प्रभाव रखनेवाली शक्ति और व्यापकताके साथ उपस्थित किया गया है, और हम इस समाधानकी ओर पहला डग लेते हैं। यह दर्शन मायाकी एक मर्यादित सत्यताकी प्रतिष्ठा करता है। निस्संदेह शंकरने उसे अनिर्वचनीय और अव्याख्येय रहस्य कहा है, परंतु साथ ही उनका दर्शन हमारे मनको संतप्त करनेवाले द्वन्द्वका एक युक्तियुक्त समाधान उपस्थित करता है जो प्रथम दृष्टिमें संपूर्णतया संतोषप्रद भी होता है; हमें जो विश्वकी स्थायी और सबल वास्तवताका बोध होता है और हमें जीवन तथा विश्वप्रपंचकी निर्णयहीनता, अपर्याप्तता, व्यर्थता, क्षणभंगुरता और एक निश्चित अवास्तवताका जो बोध होता है, इनकी व्याख्या यह दर्शन करता है। कारण, वहाँ सत्यताकी दो भूमियोंके बीच विभेद किया गया है,

पारमार्थिक (विश्वातीत) और व्यावहारिक, निर्विशेष और प्रातिभासिक, शाश्वत और कालिक। इनमें पहली है ब्रह्मकी शुद्ध सत्ताकी सत्यता, निर्विशेष, विश्वातीत एवं शाश्वत; दूसरी है मायोपहित ब्रह्मकी, मायामें स्थित ब्रह्मकी सत्यता, विश्वगत, कालगत और सापेक्ष। इसके अनुसार हमें अपने-आपको और विश्वको एक सत्यता प्राप्त होती है: कारण, व्यष्टि-जीव यथार्थमें ब्रह्म है; ब्रह्म ही व्यक्ति-रूपमें मायाके क्षेत्रमें प्रातिभासिकतः मायाके अधीन प्रतीत होता है और अन्तमें सापेक्ष और प्रातिभासिक व्यक्तिको अपनी शाश्वत और सच्ची सत्तामें मुक्त करता है। सापेक्षताओंके कालिक क्षेत्रमें हमारा सकल भूत बने ब्रह्मका, विश्व और व्यक्ति बने ब्रह्मका अनुभव भी प्रामाणिक है; यह अनुभव निस्संदेह मायामें मायासे मुक्त होनेकी ओरकी क्रियामें एक मध्यवर्ती डग है। विश्व भी और उसके अनुभव भी कालगत चेतनाके लिये वास्तव हैं और वह चेतना वास्तव है। परंतु तुरंत ही इस वास्तवताके स्वरूप और विस्तार-क्षेत्रका प्रश्न खड़ा होता है; कारण, हो सकता है कि विश्व और हम सच्ची वास्तवता तो हों, परन्तु एक निम्नतर श्रेणीकी वास्तवता हों, या अंशतः वास्तव, अंशतः अवास्तव, या फिर, अवास्तव वास्तवता हों। यदि वे सच्ची वास्तवता हों ही तो मायाके किसी सिद्धांतके लिये स्थान नहीं रह जाता; तब कोई अवास्तविक सृष्टि नहीं होती। यदि वे अंशतः वास्तव, अंशतः अवास्तव हों तो इसका दोष अवश्य ही या तो वैश्व आत्म-संवित्‌में या हमारे आत्म-दर्शन और विश्व-दर्शनमें कहींपर होना चाहिये, जिससे सत्ताकी भूल, ज्ञानकी भूल, जीवनकी क्रियात्मकताके अन्दर भूल उत्पन्न होती है। परंतु वह भूल केवल अज्ञान अथवा ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण ही हो सकती है, और तब व्याख्या करनेके लिये कोई आद्य विश्व-भ्रम नहीं रह जाता, अपितु सर्जनात्मिका चेतनामें या 'शाश्वत' एवं 'अनंत'की सचल क्रियामें अज्ञानके हस्तक्षेपकी व्याख्या ही आवश्यक होती है। परन्तु, यदि विश्व और स्वयं हम अवास्तव वास्तवता हों, यदि विश्वातीत चेतनाके लिये इन सबके अस्तित्वका कोई सत्य नहीं और जैसे ही हम मायाके स्वीय क्षेत्रके बाहर पैर रखते हैं यह प्रतीयमान वास्तवता समाप्त हो जाती हो, तो यह एक हाथसे दी गयी रिआयतको दूसरे हाथसे ले लेना है; कारण, जिसे सत्य मान लिया गया था वह सदासे ही भ्रम रहता आया पाया जाता है। माया और विश्व और हम वास्तव और अवास्तव दोनों हैं,—परंतु वह वास्तवता एक अवास्तव वास्तवता है,—हमारे अज्ञानके लिये ही वास्तव, किसी भी सच्चे ज्ञानके लिये अवास्तव।

यह समझना कठिन है कि एकबार जब हमारी और विश्वकी कोई भी वास्तवता स्वीकार कर ली गयी तो वह वास्तवता अपनी सीमाके भीतर सच्ची क्यों न हो। यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'अभिव्यक्त'की तुलनामें अभिव्यक्ति अपनी सतहपर एक अधिक सीमित वास्तवता होगी; हम कह सकते हैं कि हमारा विश्व ब्रह्मके छंदोंमेंसे एक है, और उसकी मूल सत्ताकी बात न करें तो संपूर्ण वास्तवता नहीं; परंतु यह उसे अवास्तव कहकर अलग हटा देनेके लिये तो पर्याप्त कारण नहीं है। अपने-आपसे और अपने निर्माणोंसे उपरत होते मनको निस्संदेह उसका ऐसा अनुभव होता है, परंतु इसका कारण यही है कि मन अज्ञानका करण है, और जब वह अपने निर्माणोंसे, विश्वके संबंधमें अपने अज्ञ और अपूर्ण चित्रसे उपरत हो जाता है, तब वह उन्हें अपनी ही कल्पनाएँ और रचनाएं, निराधार, अवास्तव होनेसे अधिक कुछ न होनेके रूपमें देखनेको प्रवृत्त होता है; उसके अज्ञान और परम सत्य एवं ज्ञानके बीचकी खाई उसे विश्वातीत सद्वस्तु और विश्वात्मक सद्वस्तुके बीच सच्चे संबंधोंका पता पानेमें असमर्थ कर देती है। चेतनाकी एक उच्चतर स्थितिमें यह कठिनाई विलुप्त हो जाती है, संबंध स्थापित हो जाता है; अवास्तवताका भाव पीछे हट जाता है और मायावाद या भ्रमवाद निरर्थक और अप्रयोज्य हो जाता है। यह अंतिम सत्य नहीं हो सकता कि परमा चेतनाकी दृष्टि विश्वपर नहीं हो या कि जिसे उसका कालगत आत्मा सत्य मानता है उसे वह कल्पना मानती हो। विश्वका अस्तित्व विश्वातीतका आश्रय लेकर ही है, कालातीत नित्य ब्रह्मके लिये कालगत ब्रह्मकी कोई सार्थकता होनी ही चाहिये; नहीं तो, सृष्ट वस्तुओंमें आत्मा नहीं हो सकेगा, अध्यात्म-सत्ता नहीं हो सकेगी, और तब कालिक जीवनका कोई आधार नहीं हो सकेगा।

परंतु विश्वको शेषतः अवास्तव होनेका दोषी इसलिये ठहराया जाता है कि वह शाश्वत नहीं, अचिर है, 'अरूप' एवं 'अविनाशी'पर आरोपित सत्ताका एक नश्वर रूप है। इस संबंधके लिये मृत्तिका और उससे निर्मित घटका दृष्टांत दिया जा सकता है: मृत्तिकासे बने घट और अन्य रूप विनष्ट हो जाते हैं, सत्-तत्त्वमें, मृत्तिकामें वापस चले जाते हैं; वे क्षणिक रूप मात्र हैं, वे जब विलुप्त हो जाते हैं तो रूपहीन और सारतत्त्व मृत्तिका ही शेष रह जाती है, अन्य कुछ भी नहीं। परन्तु यह दृष्टांत इसकी विपरीत दिशामें अधिक विश्वासदायक रूपमें बोल सकता है; कारण, मृत्तिका सत्य है, अतः उसके उपादानसे बननेके अधिकारके कारण घट भी सत्य है; वह भ्रम नहीं है, और जब वह मूल मृत्तिकामें विघटित हो जाता है, तब

भी ऐसा नहीं सोचा जा सकता कि उसका विगत अस्तित्व मिथ्या अथवा भ्रम था। यह संबंध एक ओर आद्या सद्वस्तु और दूसरी ओर प्रातिभासिक अवास्तवताका नहीं, अपितु एक आद्या,—या, यदि हम मृत्तिकासे चलकर पीछेकी ओर अदृश्य अधिष्ठान और उपादानभूत आकाशकी ओर जायँ, तो एक शाश्वत एवं अनभिव्यक्त—सद्वस्तु और एक परिणामिक तथा उपाश्रित, एक कालिक तथा अभिव्यक्त सद्वस्तुका है। इसके अतिरिक्त, घटका रूप मृत्तिका-उपादान या आकाशीय उपादानकी एक शाश्वत संभावना है, और जबतक उपादानका अस्तित्व होगा रूप सदैव अभिव्यक्त किया जा सकेगा। कोई रूप विलुप्त हो जा सकता है, परन्तु तब केवल यह होता है कि वह व्यक्तावस्थामेंसे निकलकर अव्यक्तावस्थामें चला जाता है; कोई जगत् विलुप्त हो जा सकता है, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं कि जगत्का अस्तित्व एक क्षणिक व्यापार है: इसके विपरीत हम यह मान सकते हैं कि अभिव्यक्तिकी शक्ति ब्रह्ममें अंतर्निहित है और या तो अविच्छिन्न रूपसे काल-नित्यतामें या शाश्वत प्रत्यावर्तनमें क्रिया करती रहती है। 'सत्'की विश्व-भूमिका उसकी विश्वातीत तुरीयतासे भिन्न श्रेणीकी है, परंतु उसे किसी भी रूपमें उस विश्वातीतताके लिये असत् या अवास्तव माननेकी आवश्यकता नहीं। कारण, यह शुद्ध बौद्धिक धारणा कि एकमात्र शाश्वत ही सत्य है, हम उसे चाहे इस अर्थमें लें कि सत्यताका आधार चिर स्थायित्व है, चाहे इस अर्थमें कि केवल कालातीत सत्य है, विचारका बनाया विभेद है, मानसिक निर्माण है; यह सारभूत और सर्वांगीण अनुभवके लिये लागू नहीं। कालरहित नित्यताके कारण कालका अस्तित्व रद्द हो जाना आवश्यक नहीं; उनका संबंध केवल शब्दोंमें परस्पर-विरोधका है, वस्तुतः अधिक संभावना यह है कि वह निर्भरताका संबंध हो।

इसी प्रकार, जो तर्कणा निर्विशेषकी क्रियाशक्तिका निराकरण करती है, वस्तुओंका व्यावहारिक सत्य चूँकि व्यावहारिक है अतः उसपर अवास्तव वास्तवताका जो कलंक आरोपित किया जाता है, इससे सहमत होना कठिन है; कारण, अंततोगत्वा, व्यावहारिक सत्य आध्यात्मिकसे सर्वथा भिन्न, सर्वथा पृथक् और असंबंधित कुछ नहीं है, वह 'आत्मा'की ऊर्जाका एक परिणाम अथवा आत्माकी सचल क्रियाशीलताका एक परिस्पंद है। निस्संदेह, इन दोनोंके बीच विभेद तो करना है, परन्तु इनके बीच संपूर्ण विरोध होनेका विचार केवल इसी अभ्युपगमपर आश्रित हो सकता है कि नीरव और निष्क्रिय स्थिति ही 'शाश्वत'की संपूर्ण और सच्ची सत्ता है; परन्तु उस

दशामें हमें यह निष्कर्ष मानना होगा कि 'निर्विशेष'में सक्रिय कुछ भी नहीं और समस्त सक्रियता भगवान् एवं शाश्वतकी परा प्रकृतिके विपरीत है। परंतु, यदि किसी भी प्रकारकी कालिक अथवा वैश्व वास्तवताका अस्तित्व है तो निर्विशेषकी कोई शक्ति, कोई अन्तर्निहित सक्रिय शक्ति होनी ही चाहिये जो उसे अस्तित्वमें ले आयी, और यह अनुमान करनेका कोई कारण नहीं कि निर्विशेषकी शक्ति भ्रमोंकी सृष्टिके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती। इसके विपरीत, जो शक्ति सृष्टि करती है वह अवश्य ही एक सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ चेतनाकी शक्ति होनी चाहिये; परम 'सत्'की सृष्टियाँ सत्य होनी चाहिये, भ्रम नहीं, और चूँकि वह 'एकं सत्' है, इसलिये वे सृष्टियाँ, 'शाश्वत'की आत्म-सृष्टियाँ, उसकी अभिव्यक्तिके रूप होनी चाहिये, आद्य शून्यमेंसे—उसे चाहे शून्य सत्ता कहें चाहे शून्य चेतना—मायाके द्वारा खड़े किये गये शून्यके रूप नहीं।

विश्वको सत्य माननेसे अस्वीकार करनेके आधारमें यह धारणा या अनुभूति है कि सद्वस्तु अक्षर, अलक्षण तथा निष्क्रिय है जिसकी उपलब्धि ऐसी चेतनाके द्वारा होती है जो स्वयं भी नीरवताकी स्थितिमें आ गयी हो और निश्चल हो। विश्व गतिमान् क्रियाशक्तिका परिणाम है, वह क्रियामें प्रक्षिप्त होती सत्ताकी शक्ति है, क्रियारत ऊर्जा है, वह ऊर्जा चाहे धारणात्मक हो, चाहे यांत्रिक, चाहे वह आध्यात्मिक, मनोमय, प्राणिक या भौतिक क्रियाशक्ति हो; इस प्रकार, हम उसे निष्क्रिय एवं अचल सनातन सद्वस्तुका प्रतिषेध—अथवा उसका आत्म-स्वरूपसे स्खलन—अतएव असत्य मान सकते हैं। परन्तु धारणा-रूपमें इस विचार-विन्यासमें ऐसा कुछ नहीं जिसके कारण उसे मानना ही पड़े; इसका कोई कारण नहीं कि हम सद्-वस्तुकी यह धारणा नहीं बनायें कि वह निष्क्रिय और सक्रिय दोनों ही है। यह अनुमान करना पूर्णतया युक्तिसंगत है कि 'सद्वस्तु'की सत्ताकी शाश्वत स्थिति सत्ताकी शाश्वत शक्तिको अपने अंदर समाये रखती है, और इस शक्तिमत्ताके अन्दर अवश्य ही कर्म तथा गतिकी शक्ति होगी, क्रियाशीलता होगी; सत्ताकी स्थिति और सत्ताकी गतिशीलता दोनों ही सत्य हो सकती हैं। इसका भी कोई कारण नहीं कि वे दोनों युगपत् न हों; इसके विपरीत, दोनोंका युगपत् होना अपेक्षित है, क्योंकि, समस्त ऊर्जाको, समस्त सचल क्रियाको, यदि उसे प्रभावी या स्रष्टात्मक होना है, स्थितिपर अथवा स्थितिके सहारे आश्रय लेना होगा; नहीं तो किसी भी सृष्ट वस्तुका ठोसत्व नहीं होगा, केवल एक सतत चक्कर चलता रहेगा, कोई रूपायण न हो सकेगा; सत्ताकी स्थिति और सत्ताका रूप सत्ताकी क्रियाशीलताके

लिये आवश्यक हैं। यदि ऊर्जा ही आद्य वास्तवता हो, जैसा कि भौतिक जगत्में प्रतीत होता है, तो भी उसे अपनी क्रियाशीलताके अवलंबके लिये अपनी स्थितिकी, स्थायी रूपोंकी, सत्ताओंकी एक स्थायिताकी सृष्टि करनी होती है: हो सकता है कि वह स्थिति स्वल्पकालीन हो, उपादानका एक सतत क्रियाशीलताके द्वारा सृष्ट और रक्षित संतुलन या साम्यावस्था ही हो, परन्तु वह जबतक टिकी रहती है सत्य रहती है, और जब वह समाप्त हो जाती है तब भी हम उसे ऐसी चीज मानते हैं जो सत्य थी। क्रियाके आधार-स्वरूप कोई स्थिति हो, यह विधान चिर विधान है, और काल-नित्यतामें उसकी क्रिया सतत चलती है। जब हम ऊर्जाकी इस सारी गतिधारा और रूपोंकी इस सृष्टिके आधारमें रहनेवाली स्थायी सद्वस्तुका आविष्कार कर लेते हैं, तो निस्संदेह हमें यह प्रत्यक्ष होता है कि सृष्ट रूपोंकी स्थिति केवल स्वल्पकालीन है; संचलनकी एक-सी ही निरंतर क्रिया और आकृतिमें क्रियाशीलताकी स्थायी रूपसे पुनरावृत्ति होती रहती है जो सत्ताके उपादानको अपने-आपके स्थायी रूपमें बनाये रखती है: परन्तु यह स्थिरता एक सृष्ट वस्तु है जब कि एकमात्र चिरस्थायी और स्वयम्भू स्थिति उस शाश्वत सत्-पुरुषकी है जिसकी 'ऊर्जा'ने इन रूपोंको खड़ा किया है। परन्तु इससे हमें यह परिणाम निकालना आवश्यक नहीं कि स्वल्प-कालीन रूप मिथ्या हैं; कारण, सत्ताकी ऊर्जा सत्य है और उसके द्वारा बनाये रूप सत्ताके ही रूप हैं। हर दशामें, सत्ताकी स्थिति और सत्ताकी शाश्वत क्रियाशीलता, दोनों ही सत्य हैं, और दोनों साथ-साथ हैं; स्थितिमें क्रियाशक्तिकी क्रिया निहित है और क्रियाशीलता स्थितिका विनाश नहीं करती। अतः हमें यह परिणाम मानना होगा कि शाश्वत स्थिति और शाश्वत क्रियाशक्ति, दोनों ही 'सद्वस्तु'के संबंधमें सत्य हैं, स्वयं वह 'सद्वस्तु' स्थिति और क्रियाशीलता दोनोंका अतिक्रमण किये रहती है; अचल और सचल ब्रह्म दोनों एक ही सद्वस्तु हैं।

परन्तु अनुभवमें हम पाते हैं कि सामान्यतः उपशमसे ही हमें शाश्वत एवं अनंतकी स्थिर उपलब्धि होती है : जो हमारे मन और इन्द्रियोंके द्वारा हमें दीखनेवाले जगत्के पीछे है 'उस' का अनुभव नीरवता या निष्क्रियतामें ही हमें अत्यधिक दृढ़तासे होता है। हमारे विचारकी बोधात्मक क्रिया, हमारे प्राण और सत्ताकी क्रिया सत्यको, तत्त्व-वस्तुको आवृत करती प्रतीत होती हैं; वे सांतको गृहीत करती हैं परन्तु अनंतको नहीं, वे कालिकसे व्यवहार करती हैं, शाश्वत सद्वस्तुसे नहीं। यह तर्क किया जाता है कि ऐसा इसलिये है कि समस्त कर्म, समस्त सृष्टि, समस्त निर्धारक प्रत्यक्षण

सीमाकारी है; 'सद्वस्तु' इनके आलिंगन या पकड़में नहीं आती, और जब हम 'सत्'की अविभाज्य और अनिर्देश्य चेतनामें प्रवेश कर जाते हैं तो इनके निर्माण विलुप्त हो जाते हैं: ये निर्माण कालमें चाहे कितने ही वास्तव क्यों न लगें या हों, नित्यतामें अवास्तव हैं। कर्म अज्ञानकी ओर, सृष्ट तथा सांतकी ओर ले जाता है; क्रियाशीलता और सृजन अक्षर 'सद्वस्तु'का, शुद्ध असृष्ट सत्का प्रतिषेध करते हैं। परंतु यह युक्ति संपूर्णतः प्रामाणिक नहीं है, कारण वह प्रत्यक्ष वोध और कर्मको केवल उस रूपमें देखती है जिसमें वे जगत् और उसकी गतिविधियोंके विषयमें हमारे मानसिक ज्ञानमें आते हैं; परन्तु यह तो हमारी बाह्य सत्ताका अनुभव है, हमारी बाह्य सत्ताका वस्तुओंको अपनी कालगत प्रवहमान गतिमेंसे देखना है, यह दृष्टि स्वयं बहिस्तलीय, खंडित और सीमित होती है, संपूर्ण नहीं होती, वस्तुओंके आंतरिक मर्ममें नहीं पैठती। वस्तुतः यदि हम इस क्षणगत ज्ञानसे निकलकर शाश्वतके ज्ञानकी स्थितिमें चले जाते हैं, जो कि सच्ची चेतनाका धर्म है, तो पाते हैं कि कर्मका बंधनकारी या सीमाकारी होना आवश्यक नहीं। मुक्त मनुष्यके लिये कर्म न तो बंधन है, न सीमाकारी; 'शाश्वत'के लिये कर्म न तो बंधन है, न सीमाकारी: परन्तु हम और भी आगे बढ़कर कह सकते हैं कि कर्म हमारी सच्ची सत्ताके लिये न तो रंचमात्र बंधन है, न सीमाकारी। कर्मका ऐसा कोई प्रभाव हमारे अन्दरके आध्यात्मिक पुरुष या चैत्य पुरुषपर नहीं पड़ता, वह केवल बहिस्तलके निर्मित व्यक्तित्वके लिये बंधन या सीमाकारी है। यह व्यक्तित्व हमारी आत्म-सत्ताकी एक स्वल्पकालीन अभिव्यक्ति है, उसका एक परिवर्तनशील रूप है, उसके सहारे अस्तित्व रखनेमें समर्थ बना है, अपने उपादान और अस्तित्व-संरक्षणके लिये उसपर आश्रित है, किंतु वह स्वल्पकालीन तो है, पर मिथ्या नहीं। हमारे विचार और कर्म हमारे अपने आपकी इस अभिव्यक्तिके साधन हैं, और चूंकि यह अभिव्यक्ति असम्पूर्ण तथा क्रमविकसनशील है, चूंकि यह काल-छंदमें हमारी प्राकृत सत्ताका विकास है, इसलिये विचार और कर्म उसे परिवर्द्धित होनेमें, परिवर्तित होनेमें, अपनी सीमाओंको बदलने और विस्तृत करनेमें उसकी सहायता करते हैं, परंतु साथ ही सीमाओंको बनाये रखनेमें भी; वे इसी अर्थमें सीमाकारी और बंधन हैं; स्वयं वे आत्म-प्रकटनकी एक असम्पूर्ण विधि हैं। परन्तु जब हम अपने-आपके अन्दर, सच्चे आत्म-स्वरूप और सत्तामें वापस चले जाते हैं तब कर्म या प्रत्यक्षणकी सीमाओंका कोई बंधन या सीमाकरण नहीं रह जाता; दोनोंका उद्गम आत्माकी चेतनाकी अभिव्यक्तियों और उसकी शक्तिकी अभिव्यक्तियोंके रूपमें होता है जब कि

वह अपनी प्राकृत सत्ताकी स्वतंत्र आत्म-निर्देशनाके लिये, स्वयं असीम्य रहनेवाली किसी वस्तुके कालिक आत्मोन्मीलन, कालिक संभूतिके लिये क्रिया करता है। परिसीमन, जो कि क्रमविकासशील आत्म-निर्देशनाकी एक आवश्यक परिस्थिति है, यदि सत्ताके सारतत्त्व या समग्रत्वको परिवर्तित या विकृत कर देता हो, तो वह आत्म-स्वरूपका निराकरण या आत्म-स्वरूपसे, सद्वस्तुसे स्खलन हो सकता है, अतएव स्वयं अवास्तव हो सकता है; वह यदि किसी अनात्म-शक्तिसे उद्गत होनेवाले विजातीय अध्यारोपके द्वारा हमारे जागतिक जीवनके अंतरतम साक्षी और स्रष्टा चैतन्यको आच्छन्न कर देता हो, या किसी ऐसी वस्तुका निर्माण करता हो जो सत्-पुरुषकी आत्म-चेतना या संभूति-इच्छाके विपरीत हो, तो वह आत्माके लिये बंधन, अतः अवैध होगा। परन्तु सत्ताका सार समस्त कर्म और रूपायणमें एक-सा रहता है, और स्वतंत्रतासे स्वीकार की गयी सीमाएँ सत्ताके समग्रत्वको क्षीण नहीं करतीं; वे सीमाएँ बाहरसे आरोपित नहीं, वरन् स्वीकार की हुई और स्वारोपित हैं; वे कालकी गतिमें हमारी समग्रताकी अभिव्यक्तिका एक साधन हैं, वे नित्य-मुक्त आत्मापर आरोपित बंधन-रूप नहीं, वरन् वस्तुओंकी वह व्यवस्था हैं जिसे हमारी आन्तरिक आध्यात्मिक सत्ताने हमारी बाह्य प्राकृत सत्तापर आरोपित किया है। अतः प्रत्यक्षण और कर्मकी सीमाओंसे यह परिणाम निकालनेका कोई कारण नहीं कि वह गति-धारा मिथ्या है या कि आत्माकी अभिव्यक्ति, रूपायण या आत्म-सृष्टि मिथ्या है। निस्संदेह, यह कालिक स्तरकी वास्तवता है, परंतु फिर भी 'सत्'की ही एक वास्तवता है, अन्य कुछ नहीं। गतिशीलतामें, स्पन्दनमें, कर्ममें, सृष्टिमें जो कुछ है वह सब ब्रह्म है; संभूति सत्की एक स्पंदलीला है; काल 'शाश्वत'की ही एक अभिव्यक्ति है। सब कुछ एक ही सत् है, एक ही चेतना है, अनंत बहुत्वमें भी एक है, उसे द्विभाजित कर विश्वातीत सद्-वस्तु और अवास्तव विश्वमायाके बीच विरोध खड़ा करनेकी आवश्यकता नहीं।

शंकरके दर्शनमें एक संघर्ष, एक विरोध विद्यमान अनुभव होता है, जिसे शंकरकी शक्तिशाली बुद्धिने अन्तिम रूपमें हल न करके पूरे बलके साथ व्यक्त और चमत्कारिक रूपसे विन्यस्त ही किया है। इस संघर्षमें एक ओर वह संबोधि है जिसे एक निर्विशेष, तुरीय तथा अंतरतम 'सद्वस्तु'का प्रगाढ़ भान है, और दूसरी ओर एक सबल मानस-बुद्धि है जो जगत्को तीक्ष्ण और ओजस्वी यौक्तिक बुद्धिसे देखती है। मनीषीकी बुद्धि प्रपंच-जगत्को युक्तिके दृष्टिकोणसे देखती है; वहाँ युक्ति ही निर्णायक और स्वामी है

और युक्तिसे अतीत कोई भी आप्त वचन उसे काट नहीं सकता : परन्तु प्रपंच-जगत्‌के पीछे एक विश्वातीत 'सद्‌वस्तु' है जिसे एकमात्र संबोधि ही देख सकती है; वहाँ युक्ति—अंततः, सांत विभक्त सीमाकारिणी युक्ति तो अवश्य ही—संबोधिमूलक अनुभवके सामने नहीं जीत सकती, वह तो इन दोनोंको संबंधित भी नहीं कर सकती, अतः वह विश्वका रहस्य भी नहीं सुलझा सकती। युक्तिको प्रापंचिक या 'व्यावहारिक' सत्ताकी वास्तवताकी पुष्टि करनी होती है, उसके सत्योंको प्रामाणिक घोषित करना पड़ता है, परंतु वे केवल उस प्रापंचिक सत्तामें प्रामाणिक हैं। यह प्रापंचिक सत्ता इस कारण सत्य है कि वह शाश्वत 'सत्‌'का, सद्‌वस्तुका कालिक प्रपंच है : परंतु स्वयं वह वह 'सद्‌वस्तु' नहीं, और जब हम प्रपंचको पारकर 'सद्‌-वस्तु'में पहुंचते हैं तब भी प्रापंचिक जगत्‌का अस्तित्व तो रहता है, परंतु वह हमारी चेतनाके लिये प्रामाणिक नहीं रह जाता; अतः वह असत्य है। हमारे मनकी चेतनाको जब सत्ताके दोनों पार्श्वोंका बोध होता है और वह उनके बीच खड़ी होती है तो यह खंडन, यह विरोध उसके लिये स्वाभाविक होता है। शंकर इस खंडन, इस विरोधको लेते और इसे हल करनेके लिये युक्ति-बुद्धिको बाध्य करते हैं कि वह अपनी सीमाओंको मान ले,—किंतु उन सीमाओंमें, उसके अपने विश्व-प्रदेशमें उसका एकछत्र प्रभुत्व अक्षत रखते हैं,—साथ ही उसे बाध्य करते हैं कि वह तुरीय 'सद्‌वस्तु'के विषयमें अंतरात्माकी संबोधिको सम्मति दे दे और मायाके द्वारा निर्मित और मनपर आरोपित सीमाओंमेंसे बच निकलनेका समर्थन ऐसी तर्कणासे करे जो अन्तमें वस्तुओंके समूचे वैश्व, प्रापंचिक और यौक्तिक-व्यावहारिक महलको विघटित कर देती है। विश्वके अस्तित्वकी जिस व्याख्यासे यह परिणाम घटित होता है वह यही प्रतीत होती है,—या हम अपने समझनेके लिये उसे इस भाँति व्यक्त कर सकते हैं, क्योंकि इस गभीर और सूक्ष्म दर्शनके सिद्धान्तके नाना प्रतिपादन हुए हैं,—कि एक तो विश्वातीत है जो नित्य स्वयम्भू एवं अक्षर है, और एक जगत् है, जो मात्र प्रातिभासिक और कालिक है। दृश्य जगत्‌के संबंधमें शाश्वत 'सद्‌वस्तु' अपने-आपको 'आत्मा' और 'ईश्वर'के रूपमें प्रकट करती है। ईश्वर इस जगत्‌को अपनी मायाके द्वारा, अपनी प्रापंचिक सृजन-शक्तिके द्वारा एक कालगत प्रपंचके रूपमें निर्मित करता है, और शुद्ध 'सद्‌वस्तु'में अस्तित्व न रखनेवाली वस्तुओंके इस प्रपंचको माया हमारी मानस-धारणात्मक और इंद्रिय-बोधात्मक चेतनाके माध्यमसे अतिचेतन अथवा शुद्धतः आत्म-चेतन 'सद्‌वस्तु'पर आरोपित करती है। सद्‌वस्तु-स्वरूप ब्रह्म प्रापंचिक जगत्‌में व्यष्टि-जीवके आत्माके

रूपमें प्रकट होता है; परंतु जब व्यक्तिकी वैयक्तिकता संबोधिमूलक ज्ञानके द्वारा विघटित हो जाती है तब प्रापंचिक सत्ता आत्म-सत्तामें उन्मुक्त हो जाती है : तब वह मायाके अधीन नहीं रह जाती और वैयक्तिकताके प्रतीयमान रूपसे मुक्त होकर 'सद्वस्तु'में निर्वाण प्राप्त कर लेती है; परन्तु जगत् ईश्वरकी मायिक सृष्टि-रूपमें आदि-अंतहीन बना रहता है।

यह व्याख्या आध्यात्मिक संबोधिकी दत्त सामग्री और युक्ति तथा इन्द्रियकी दत्त सामग्रीको परस्पर संबंधित करती है, और इससे उनके परस्पर-विरोधमेंसे एक राह खुल जाती है, यह आध्यात्मिक और व्यावहारिक राह है; परन्तु यह समाधान नहीं, इससे परस्पर-विरोधका पर्यवसान नहीं होता। माया सत्य और असत्य दोनों है; जगत् कोई निरा भ्रम नहीं, कारण कालमें उसका अस्तित्व है और वह वास्तव है, परंतु अंतमें और तुरीय भूमिमें वह मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। इससे एक द्विधा उत्पन्न होती है जो अपने-आपके परे विस्तृत होती है और जो कुछ शुद्ध स्वयम्भू सत्ता नहीं है उस सबको छूती है। इस प्रकार, यद्यपि ईश्वर मायासे भ्रमित नहीं होता और मायाका स्रष्टा है, तथापि स्वयं वह ब्रह्मका एक रूप ही लगता है, न कि अंतिम सद्वस्तु; वह जिस काल-जगत्की सृष्टि करता है केवल उसीके संबंधमें वास्तव है; वैयक्तिक आत्माका स्वरूप भी वैसा ही द्विधापूर्ण है। यदि माया अपनी क्रियाओंको बिल्कुल बंद कर दे तो ईश्वर, जगत् और व्यक्ति रह ही नहीं जायँगे; परंतु माया नित्य है, ईश्वर और जगत् कालमें नित्य हैं, व्यक्ति तबतक टिका रहता है जबतक कि वह ज्ञानके द्वारा अपना विलोप नहीं कर लेता। इन अभ्युपगमोंपर आश्रित हमारी विचारधाराको बुद्धिके लिये असमाधेय रहनेवाले एक युक्तिसे अतीत और अनिर्वचनीय रहस्यकी धारणाकी शरण लेनी पड़ती है। परन्तु इस द्विधाके सामने पड़नेपर, वस्तुओंके आरंभमें और विचार-प्रक्रियाके अंतमें एक असमाधेय रहस्यको स्वीकार करनेसे हम यह संदेह करने लग जाते हैं कि एक कड़ी खो रही है। स्वयं ईश्वर मायाकी क्रिया नहीं है, वह वास्तव है; अतः उसे तुरीयावस्थाके किसी सत्यकी अभिव्यक्ति होना ही चाहिये, अथवा, वह स्वयं तुरीयस्वरूप ही होगा और अपनी स्व-सत्तामें अभिव्यक्त विश्वके साथ व्यवहार कर रहा होगा। यदि जगत् सत्य हो ही तो उसे भी किसी तुरीय सत्यकी अभिव्यक्ति होना ही चाहिये, कारण, केवल उसीकी कोई सत्यता रह सकती है। यदि व्यक्तिमें आत्मोपलब्धिका और तुरीय नित्यतामें प्रवेश करनेका सामर्थ्य है, और उसकी मुक्ति यदि इतनी महत्वपूर्ण है, तो इसका कारण यही होगा कि व्यक्ति भी तुरीयकी

एक वास्तवता है; उसे अपने-आपको वैयक्तिक रूपसे खोज लेना है, कारण, उसकी वैयक्तिकताका भी कोई अपना सत्य तुरीयके अन्दर है जो उससे प्रच्छन्न है और जिसे उसे पुनः प्राप्त करना है। हमें आत्मा और जगत्-संबंधी अज्ञानको जीतना है, न कि व्यक्ति और विश्वजीवनके किसी भ्रम या माया-कल्पनाको।

यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे तुरीय ब्रह्म अप्रतर्क्य है और केवल संबोधिमूलक अनुभव और उपलब्धिके द्वारा ही ग्राह्य है, वैसे ही विश्वका रहस्य भी अप्रतर्क्य है। इसका ऐसा होना आवश्यक भी है, क्योंकि वह तुरीय सद्वस्तुका प्रपंच है, और यदि वह इससे अन्यथा होता, तो विचार-बुद्धिके लिये असमाधेय न होता। परन्तु यदि ऐसा है तो इस खाईको पाटने और रहस्यके अन्दर प्रवेश करनेके लिये हमें मनकी बुद्धिसे परे जाना होगा; असमाधित विरोधको रहने देना अंतिम समाधान नहीं हो सकता। यह विचार-बुद्धि ही है जो ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, व्यष्टि-जीव, परमाचेतना या अतिचेतना और मायिक जगत्-चेतनाकी विरोधी या विभाजक धारणाओंकी रचना कर एक प्रतीयमान विरोधको साकार करती और उसे चिरस्थायी बना देती है। यदि एकमात्र ब्रह्मका अस्तित्व है तो इन सबोंको भी ब्रह्म ही होना चाहिये और ब्राह्मी चेतनामें इन धारणाओंके विभाजनको एक समन्वयकारी आत्म-दर्शनमें विलुप्त हो जाना चाहिये; परंतु उनके सच्चे एकत्वतक हम केवल तब पहुँच सकते हैं जब कि हम विचार-बुद्धिसे परे निकल जायँ और जहाँ इन सारी धारणाओंका संगम हो जाता है और वे एक हो जाती हैं उसका पता आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा लगा लें और उनकी प्रतीयमान विषमताकी आध्यात्मिक सत्यताका पता पा लें। वास्तवमें ब्राह्मी चेतनामें विषमताओंका अस्तित्व ही नहीं हो सकता, हम यदि उस चेतनामें चले जाते हैं तो उन विषमताओंको एकतामें अभिसृत हो जाना होगा; विचार-बुद्धिके बनाये विभाजन किसी सत्यताके समरूप हो सकते हैं, परंतु तब वह सत्यता एक बहुविध एकत्वकी होगी। हमारा मन और हमारी इन्द्रियाँ जगत्को जिस रूपमें देखती हैं उसपर बुद्धने संबोधिमूलक दृष्टिसे युक्त अपनी तीक्ष्ण युक्तिशाली बुद्धि प्रयुक्त की और उसके निर्माणका नियम और समस्त निर्माणोंसे मुक्ति पानेका मार्ग खोज निकाला, परन्तु वह और आगे जानेसे इंकार कर गये। शंकरने आगेका डग लिया और अप्रतर्क्य सत्यको देखा जिसे बुद्धने यह कहकर पर्देके पीछे रखा था कि वह चेतनाके निर्माणोंके विनाशके द्वारा प्राप्य है परन्तु मनकी बुद्धिके आविष्कार-क्षेत्रसे परे है। शंकरने जगत् और सनातन

सद्वस्तुके बीच खड़े होकर देखा कि जगत्का रहस्य अंततः अवश्य ही अप्रतर्क्य है, हमारी बुद्धिके लिये धारणातीत या अनिर्वचनीय है, परंतु उन्होंने जगत्के उस रूपको भी प्रामाणिक माना जिसमें वह बुद्धि और इन्द्रियको गोचर होता है; अतएव, उन्हें एक अवास्तव वास्तवताकी प्रतिष्ठा करनी पड़ी, क्योंकि उन्होंने उससे भी आगेका डग नहीं भरा। कारण, जगत्के यथार्थ सत्यको, उसके प्रकृत तत्त्वको जाननेके लिये यह आवश्यक है कि हम उसे उस चेतनाकी दृष्टिसे देखना छोड़ दें जो जगत्के द्वारा संधारित और अतिक्रांत है, और अतएव वह उसे जानती नहीं, या यदि जानती है तो उसके प्रतीयमान रूपोंके द्वारा ही; वरन् हम उसे तर्कातीत संवित्से, अतिचेतनाकी दृष्टिसे देखें जो जगत्के सत्यको कायम रखती और उसका अतिक्रमण भी करती है और चूँकि उसका अतिक्रमण करती है, अतः उसे उसके सच्चे स्वरूपमें जानती है। ऐसा नहीं हो सकता कि उस आत्म-स्रष्टा परमा चेतनाके लिये जगत् एक अबोधगम्य रहस्य हो, या एक ऐसा भ्रम हो जो सर्वथा भ्रम नहीं, एक ऐसी वास्तवता हो जो फिर भी अवास्तव है। भगवान्के लिये विश्वके रहस्यका अवश्य ही कोई दिव्य अर्थ होगा; उसमें अवश्य ही विश्व-सत्ताका कोई तात्पर्य या सत्य होगा जो उसे अपनी विश्वातीत किंतु साथ ही अन्तर्व्यापी अतिचेतनाके द्वारा धारण करनेवाली सद्वस्तुके लिये द्युतिमान् हो।

यदि एकमात्र 'सद्वस्तु'का अस्तित्व है और सब कुछ वह 'सद्वस्तु' ही है, तो जगत् भी उस सद्वस्तुसे बहिष्कृत नहीं किया जा सकता; विश्व भी सत्य है। वह यदि अपने रूपों और शक्तियोंमें उस 'सद्वस्तु'को हमारे सामने अभिव्यक्त नहीं करता जो वह स्वयं है, वह यदि देश और कालमें एक स्थायी और फिर भी परिवर्तनशील गतिधारा ही लगता है तो इस कारण नहीं कि वह अवास्तव है या कि वह वह 'तत्' है ही नहीं, अपितु इस कारण कि वह कालमें 'तत्'की एक प्रगतिशील आत्म-व्यंजना, एक अभिव्यक्ति, एक क्रमविकसनशील आत्म-परिवर्द्धन है, जिसे हमारी चेतना अभीतक उसके समग्र अथवा मूल अर्थमें नहीं देख पाती। इस अर्थमें हम कह सकते हैं कि वह तत्-स्वरूप है और तत्-स्वरूप नहीं भी है,—कारण वह संपूर्ण सद्वस्तुको आत्माभिव्यंजनाके अपने किसी भी रूपके द्वारा अथवा रूपोंके किसी भी योगफलके द्वारा व्यक्त नहीं करता; परंतु, फिर भी, उसके सारे रूप उसी 'सद्वस्तु'के उपादान और सत्ताके रूप होते हैं। समस्त सांत अपने आध्यात्मिक सारमें अनंत हैं, और हम यदि उनके अंदर पर्याप्त गहराईमें देखें तो वे संबोधिके सम्मुख 'अभिन्न' एवं 'अनंत'को

अभिव्यक्त करते हैं। निस्संदेह यह प्रतिपादित किया जाता है कि विश्व कोई अभिव्यक्ति नहीं हो सकता, कारण, चूंकि 'सद्वस्तु' स्वयंके लिये नित्य अभिव्यक्त है, अतः उसे अभिव्यक्तिकी कोई आवश्यकता ही नहीं। परंतु समान रूपसे यह भी कहा जा सकता है कि 'सद्वस्तु'को आत्म-विभ्रम या किसी भी प्रकारके भ्रमकी कोई आवश्यकता नहीं, कोई मायिक विश्व सृष्ट करनेकी आवश्यकता भी नहीं। 'निर्विशेष'को किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं हो सकती; परंतु फिर भी ऐसा हो सकता है कि एक परमा स्वयं-संपादिका शक्तिकी एक अनुल्लंघ्य प्रेरणा हो, आत्म-सृष्टिकी एक अनिवार्यता हो जिसकी उत्पत्ति निर्विशेषकी अपने-आपको कालके अंतर्गत देखनेकी शक्तिसे हुई हो,—यह उसकी स्वतंत्रताका दमन नहीं, उसके लिये आवद्धकारी नहीं, अपितु उसकी आत्मशक्तिकी एक अभिव्यक्ति है, उसकी संभूत होनेकी 'इच्छा'का परिणाम है। यह अनुल्लंघ्य प्रेरणा या अनिवार्यता हमारे सामने एक सृजनेच्छाके रूपमें, आत्माभिव्यक्तिकी इच्छाके रूपमें प्रत्युपस्थित होती है, परन्तु इसकी अपेक्षा अधिक अच्छा निरूपण यह कहकर किया जा सकता है कि यह 'निर्विशेष'की सत्ताकी शक्ति है जो अपने-आपको निजकी क्रियारत शक्तिके रूपमें प्रदर्शित करती है। 'निर्विशेष' यदि सनातन कालातीततामें अपने-आपके लिये स्वयं-प्रकाश है, तो वह कालकी सनातन गतिधारामें भी अपने-आपके लिये स्वतः-अभिव्यक्त हो सकता है। विश्व यदि मात्र प्रापंचिक वास्तवता है, तो भी वह ब्रह्मकी ही अभिव्यक्ति या प्रपंच है; कारण, चूंकि सब कुछ ब्रह्म है, अतः प्रपंच और अभिव्यक्तिको भी वही होना चाहिये : उनकी अवास्तवताका अभियोग एक निष्प्रयोजन धारणा है, निरर्थक है और अनावश्यक पेचीदगी उत्पन्न करता है, कारण, जिस किसी भी भेदकी आवश्यकता है वह काल और कालातीत शाश्वतकी संकल्पना और अभिव्यक्तिकी संकल्पनामें विद्यमान है ही।

जिस एक वस्तुको अवास्तव वास्तवता कहा जा सकता है वह है हमारा पृथक्त्वका वैयक्तिक बोध और सांतके विषयमें यह धारणा कि वह 'अनंत'के अंतर्गत एक स्वयं-सत् वस्तु है। यह धारणा, यह बोध बाह्य व्यक्तित्वकी क्रियाओंके लिये व्यवहारतः आवश्यक हैं, ये प्रभावी हैं और उनके परिणाम इन्हें न्याय्य प्रमाणित करते हैं; अतः ये उसकी सांत बुद्धि और सांत आत्मानुभूतिके लिये वास्तव हैं। परंतु एक बार जब हम सांत चेतनासे पीछे हटकर सारस्वरूप एवं अनंतकी चेतनामें चले जाते हैं, प्रतीयमान पुरुषकी भूमिसे पीछे हट सच्चे पुरुषकी भूमिमें चले जाते हैं, सांत या व्यक्तिका

अस्तित्व रहता तब भी है, परन्तु 'अनंत'की सत्ता, शक्ति तथा अभिव्यक्तिके रूपमें ही; उसकी कोई स्वतंत्र अथवा पृथक् सत्यता नहीं होती। वैयक्तिक स्वातंत्र्य, उसका संपूर्ण पृथक्त्व, ये व्यष्टिकी सत्यताके लिये न तो आवश्यक हैं, न उसके उपादान ही। दूसरी ओर, अभिव्यक्तिके इन सांत रूपोंका विलोपन अवश्य ही समस्याका एक अंग होता है, परन्तु अकेला यह विलोपन उन्हें असत्य होनेका दोषी नहीं ठहरा सकता; यह विलोपन अभिव्यक्तिमेंसे हट जाना मात्र भी हो सकता है। 'कालातीत'की विश्वाभिव्यक्ति 'काल'के अनुक्रमोंमें घटित होती है : अतएव उसके रूप सतहपर प्रकट होनेमें अस्थायी ही होंगे, परंतु अपनी अभिव्यक्तिकी मूल शक्तिमें वे शाश्वत हैं, कारण वे वस्तुओंके सारमें और जिस सारभूत चेतनामेंसे उनका उद्‌गमन होता है उसमें वे निहित और शक्यता-रूपमें धारित रहते हैं : उनकी स्थायी शक्यताको कालातीत चेतना सदा ही काल-वास्तविकताके पदोंमें परिणत कर सकती है। जगत् तो तभी मिथ्या होता यदि स्वयं वह और उसके रूप सत्ताके उपादानसे रहित प्रतिमूर्तियाँ होते, चेतनाकी माया-कल्पनाएँ होते जिन्हें सद्वस्तुने अपने सम्मुख शुद्ध माया-कल्पनाओंके रूपमें उपस्थित किया है, और फिर वे सदाके लिये विनष्ट कर दिये जाते। परंतु, यदि अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति-शक्ति शाश्वत है, यदि सब कुछ सद्वस्तु-स्वरूप ब्रह्मकी सत्ता है, तो यह अवास्तवता या भ्रमात्मकता वस्तुओंका मूलगत स्वरूप नहीं हो सकती, उस विश्वका भी स्वरूप नहीं हो सकती जिसमें वे प्रकट होती हैं।

मायाके सिद्धांतका यदि यह अर्थ हो कि विश्वका अस्तित्व भ्रम अथवा मिथ्या है, तो इससे जितनी कठिनाइयोंका समाधान होता है उनसे अधिककी रचना हो जाती है। वह जीवनकी समस्याका यथार्थमें समाधान नहीं करता अपितु उसे सदाके लिये असमाधेय बना देता है। कारण, माया चाहे अवास्तवता हो या अवास्तव वास्तवता, इस सिद्धांतके अंतिम परिणामोंमें शून्यनकी विनाशकारी सरलता रहती है। स्वयं हम और विश्व शून्यत्वमें खो जाते या कुछ ही समयके लिये एक ऐसे सत्यको धारण करते हैं जो मिथ्या कल्पनासे किंचित् ही अधिक कुछ होता है। मायाकी शुद्ध अवास्तवताके प्रतिपादनमें सकल अनुभव, सकल अज्ञान और साथ ही सकल ज्ञान, हमारा बंधनकारी अज्ञान और साथ ही हमारा मुक्तिदायी ज्ञान, जगत्-स्वीकरण और जगत्-वर्जन,—ये सब एक ही भ्रमके दो पार्श्व हैं; कारण, न तो ऐसा कुछ है जिसे स्वीकार किया जाय या अस्वीकार, न ऐसा कोई है जो इसे स्वीकार करेगा या अस्वीकार। यदि किसीका अस्तित्व

था भी तो सर्वदा उस अक्षर और अतिचेतन सद्वस्तुका ही था, बंधन और मुक्ति प्रतीतियाँ मात्र थीं, न कि कोई यथार्थता। जगत्-जीवनके प्रति समस्त आसक्ति भ्रम है, परन्तु मुक्तिकी पुकार भी उस भ्रमकी ही एक बात है; कोई ऐसी वस्तु ही, जिसकी सृष्टि मायामें हुई थी, अपनी मुक्तिके द्वारा मायामें अवसान प्राप्त कर लेती है। परन्तु इस शून्यनकी विध्वंसकारी प्रगतिको उसके लिये एक आध्यात्मिक मायावादके द्वारा निर्धारित सीमापर रुक पड़नेको बाध्य नहीं किया जा सकता। कारण, विश्वमें वैयक्तिक चेतनाके अन्य सारेके सारे अनुभव यदि भ्रम ही हैं तो इस बातका ही क्या भरोसा कि उसके आध्यात्मिक अनुभव भी भ्रम नहीं, परमात्मा के अन्दर जीवका तल्लीन आत्मानुभव, जिसे हमारे लिये पूर्णतया यथार्थ स्वीकार कर लिया जाता है, वह भी भ्रम नहीं? कारण, यदि विश्व असत्य है तो हमारा विश्वचेतनाका अनुभव, विश्वात्माका अनुभव, यह अनुभव कि ब्रह्म ही ये सकल भूत या इन सकल भूतोंका आत्मा है, सबमें वह एक है, सब उस एकमें हैं,—इन सबका कोई सुरक्षित आधार नहीं रह जाता, क्योंकि इस अनुभवका एक पाद किसी भ्रमपर, मायाकी निर्मितिपर आधारित है। उस पादको, उस विश्व-पादको ढह जाना होता है, कारण ये सकल भूत, जिन्हें हमने ब्रह्मके रूपमें देखा था, सब-के-सब भ्रम थे। तब, उस अन्य पाद, शुद्ध आत्मा, नीरव, निष्क्रिय या निर्विशेष सद्वस्तुका हमें जो अनुभव होता है उसकी सत्यताका भी क्या भरोसा, क्योंकि वह अनुभव भी तो हमारे मनमें ही आता है जो मन कि विभ्रमके उपादानमें ढला और एक भ्रम द्वारा रचित शरीरमें गठित है? उस उपलब्धि या अनुभवकी अभिभूतकारी स्वतःसिद्ध विश्वसनीयता, उसकी पूर्ण प्रामाणिकताकी अनुभूति, उसकी एकमात्र वास्तवता अथवा एकमात्र अंतिमताका अखंडनीय प्रमाण नहीं; कारण, जो अन्य आध्यात्मिक अनुभव हैं, जैसे सर्वत्र विद्यमान दिव्य पुरुषका अनुभव, एक वास्तव विश्वके प्रभुका अनुभव, वे भी वैसी ही विश्वसनीयता, प्रामाणिकता और अंतिमताके लक्षणसे युक्त होते हैं। जो बुद्धि एक बार इस निश्चयपर पहुँच गयी कि अन्य सारी वस्तुएँ असत्य हैं, उसके लिये यह खुला है कि वह और एक डग आगे बढ़े और आत्मा तथा सकल अस्तित्वकी सत्यताको अस्वीकार कर दे। बौद्धोंने यह अंतिम डग भरा और आत्माकी सत्यताको भी इस आधारपर अस्वीकार कर दिया कि शेष सब कुछके जितना ही आत्मा भी मनका ही एक निर्माण है; उन्होंने चित्रपटमेंसे ईश्वरको ही नहीं अपितु शाश्वत आत्मा एवं निर्व्यक्तिक ब्रह्मको भी काट निकाला।

मायावादका कट्टर सिद्धांत हमारे जीवनकी किसी समस्याका समाधान नहीं करता; वह तो बस व्यक्तिको बाहर निकल जानेका मार्ग दिखलाकर उसके लिये समस्याको काट फेंकता है। इसके चरम रूप और परिणाममें हमारी सत्ता और उसका कर्म शून्य और अनुमोदनहीन हो जाते हैं, हमारी सत्ताके अनुभव, अभीप्सा, और प्रयास अपनी सार्थकता खो बैठते हैं; वह जो एक अनिर्वचनीय एवं अव्यवहार्य 'सत्य' है उसको और उसकी ओर उन्मुख होनेको छोड़कर जो कुछ है, वह सबका सब सत्ताका भ्रम ही हो जाता है, एक विश्वव्यापी भ्रमका अंग और स्वयं भी भ्रम होता है। तब ईश्वर, स्वयं हम और विश्व, मायाकी काल्पनिक रचनाएँ हो जाते हैं; कारण, तब ईश्वर मायामें ब्रह्मका प्रतिबिंब मात्र होता है, स्वयं हम ब्रह्मका भ्रमात्मक वैयक्तिकतामें एक प्रतिबिंब होते हैं, जगत् ब्रह्मकी अनिर्वचनीय स्वयंभू सत्तापर किया गया एक अध्यारोप मात्र होता है। यदि भ्रमके अंदर भी जीवकी कोई वास्तवता मान ली जाती है, हम जिस ज्ञान और अनुभवके द्वारा आत्माकी ओर अग्रसर होते हैं उसके किसी प्रामाण्यको यदि मान लिया जाता है, तो यह शून्यन कम मूलगत हो जाता है: परंतु ऐसा तभी हो सकता है यदि कालिककी कोई प्रामाणिक वास्तवता हो और उसके अंदर हुए अनुभवका कोई यथार्थ प्रामाण्य हो, और उस दशामें हमारा सामना अवास्तवको वास्तव माननेवाले भ्रमसे नहीं, अपितु वास्तवको गलत रूपसे जाननेवाले अज्ञानसे होता है। अन्यथा, जिन भूतोंका आत्मा ब्रह्म हैं, वे यदि मिथ्या हों, तो ब्रह्मकी आत्मता अप्रामाणिक हो जाती है, वह भी भ्रमका ही एक अंग हो जाती है; तब आत्माकी अनुभूति भी भ्रम हो जाती है, "सोऽहं"का अनुभव एक अज्ञानमयी धारणासे दूषित हो जाता है, कारण, कोई "मैं" नहीं है, केवल 'तत्' है; "अहं ब्रह्मास्मि"के अनुभवमें द्विविध अज्ञान है, क्योंकि, वह एक चिन्मय 'शाश्वत'को, एक विश्व-प्रभुको, एक विश्वपुरुषको मानता है, जबकि यदि विश्वमें कोई सत्यता नहीं हो तो ऐसा कुछ भी हो नहीं सकता। जीवनका यथार्थ समाधान किसी ऐसे सत्यपर ही खड़ा हो सकता है जो हमारे अस्तित्व और जगत्के अस्तित्वकी व्याख्या करता हो, उनके सत्यकी, उनके सही संबंधकी और उनके संबंधके सत्यकी संगति प्रत्येक वस्तुका मूल रहनेवाली उस विश्वातीत 'सद्वस्तु'से करता हो, वह सद्वस्तु चाहे जो कुछ भी हो। परंतु इसमें यह निहित रहता है कि व्यक्ति और विश्वमें कुछ सत्यता है, एक सत् और समस्त भूतोंके बीच, सापेक्ष अनुभव और 'निर्विशेष'के बीच कोई सच्चा संबंध है।

मायावाद जगत्की समस्याकी ग्रन्थिको खोलता नहीं, काट डालता है;

यह एक पलायन है, समाधान नहीं। आत्माका पलायन संभूतिके इस जगत्में देहधारी जीवके लिये पर्याप्त विजय नहीं होता; इससे प्रकृतिसे वियुक्ति संपादित होती है, परंतु हमारी प्रकृतिकी मुक्ति और परिपूर्ति नहीं। इस अंतिम परिणामसे हमारी सत्ताके केवल एक तत्त्वकी संतुष्टि होती है, उसके केवल एक अन्तर्वेगका ऊर्ध्वायन होता है; जो कुछ शेष रह जाता है उसे मायाकी अवास्तव वास्तवताके क्षीणालोकमें अवहेलनासे नष्ट होनेको छोड़ दिया जाता है। जैसे भौतिक विज्ञानमें, वैसे ही दार्शनिक चिंतनमें भी उसी व्यापक और परम समाधानके उत्तम होनेकी संभावना रहती है जो सबको अंतर्गत करता हो और सबकी व्याख्या करता हो ताकि अनुभवका प्रत्येक सत्य समग्रके अन्दर अपना स्थान ले; उसी ज्ञानके उच्चतम होनेकी संभावना रहती है जो सकल ज्ञानकी अर्थवत्ताको द्योतित, सर्वांगीण और सुसमंजस करता हो, और हमारे अज्ञान और भ्रमका उपचार करता हुआ उनकी व्याख्या करता हो, उनके आधारभूत, और यहां तक भी कह सकते हैं कि उन्हें न्याय्य सिद्ध करनेवाले कारणको भी खोज निकालता हो; यही वह उच्चतम अनुभव है जो सकल अनुभवको एक परम और सर्व-समन्वयी एकत्वमें एक साथ एकत्र करता है। मायावाद एकीकरण करता है विलोपनके द्वारा; उसमें उस एक परम विलयनके अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान और अनुभव सार्थकता और सत्यतासे वंचित हो जाते हैं।

परन्तु यह वादविवाद शुद्ध बुद्धिके क्षेत्रकी वस्तु है और इस श्रेणीके सत्योंका अंतिम परीक्षक बुद्धि-युक्ति नहीं अपितु आध्यात्मिक प्रकाश है जो आत्माके स्थायी तथ्यसे प्रमाणित होता है। कोई भी एक निर्णायक आध्यात्मिक अनुभव अकेला ही तार्किक बुद्धिके द्वारा निर्मित तर्कणाओं और निगमनोंके समूचे महलको ध्वंस कर दे सकता है। यहाँ मायावादका आधार बहुत ठोस भूमिपर है; क्योंकि, यद्यपि वह स्वयं एक मानसिक रूपायणसे अधिक कुछ नहीं, तथापि वह जिस अनुभवको दार्शनिक सिद्धांतमें निरूपित करता है, वह एक अति सबल, और अन्तिम प्रतीत होनेवाली, आध्यात्मिक उपलब्धिका संगी होता है। जब विचार निस्तब्ध हो जाता है, मन अपने निर्माणोंसे उपरत हो जाता है, हम शुद्ध आत्म-स्थितिमें चले जाते हैं जो वैयक्तिकताके समस्त भानसे रहित है, समस्त वैश्व अंतर्वस्तुओंसे रिक्त है, तब यह अनुभव 'सद्वस्तु'की ओर जगानेवाली महान् शक्ति लेकर हमपर उतरता है: उस समय अध्यात्मभावापन्न मन यदि व्यक्ति और विश्वपर दृष्टिपात करे तो यह भली-भाँति संभव है कि वे उसे एक भ्रम लगें, स्वयंभूकी एकमात्र वास्तवतापर मिथ्या रूपसे अध्यारोपित नाम, रूप

और गतिधाराओंका आयोजन लगें। या, तब आत्माका बोध भी अपर्याप्त हो जाता है; ज्ञान और अज्ञान दोनों चेतनामें विलुप्त हो जाते हैं और चेतना निमग्न हो जाती है शुद्ध अतिचेतन सत्ताकी समाधिमें। या, तब जो एकमेव नित्य है उसके लिये 'सत्ता' नाम भी अंतमें अति सीमाकारी हो जाता है; तब है बस एक कालातीत शाश्वत, एक देशातीत अनंत, निर्विशेषकी केवलता, एक नामातीत शांति, एक अभिभूतकारी, एकक एवं निर्विषय आनंद। अवश्य ही इस अनुभवके प्रामाण्यके प्रति कोई संदेह नहीं हो सकता, वह अपने-आपमें संपूर्ण भी है; जिस अभिभूतकारी निर्णायक निश्चयताके साथ—एकात्म्यप्रत्ययसारम्—यह उपलब्धि अध्यात्म-साधककी चेतनाको कस कर पकड़ लेती है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु, फिर भी, सारा आध्यात्मिक अनुभव अनंतका ही अनुभव है और वह बहुविध दिशाएँ लेता है। इनमेंसे यह अनुभव ही नहीं, वरन् कई अनुभव भगवान् और निर्विशेषके इतने समीप होते हैं, 'उन'की विद्यमानताकी सत्यताके द्वारा, अथवा जो सब 'उन'से न्यून है उस सबमेंसे निर्मुक्तिकी अवर्णनीय शांति और शक्तिके द्वारा इतने अनुविद्ध होते हैं कि उनके संपूर्ण और निश्चित रूपसे अंतिम होनेका यह अभिभूतकारी बोध उनके साथ-साथ चलता है। 'परम सद्वस्तु' तक जानेके सैकड़ों मार्ग हैं, और हमारे अपनाये मार्गके स्वरूपके अनुसार ही उस अंतिम अनुभवका स्वरूप होगा जिसके द्वारा हम उस 'तत्'में चले जाते हैं जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, जिसका कोई विवरण मनको नहीं दिया जा सकता, जिसे वाणीके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। ये सारी निश्चयात्मक चोटियाँ उस अद्वय 'अंतिम'के उपांत्य मानी जा सकती हैं; ये वे डग हैं जिनके द्वारा जीव मनकी सीमाओं-को पारकर निर्विशेषमें प्रविष्ट होता है। तो प्रश्न यह है, यह एक शुद्ध अचल स्वयंभत्वम चले जानेकी उपलब्धि, अथवा यह व्यक्ति और विश्वका निर्वाण, क्या यह इन उपांत्योंमेंसे एक है अथवा क्या यह स्वयं ही वह अंतिम एवं निर्विशेष उपलब्धि है जो प्रत्येक यात्राके अंतमें मिलती और समस्त न्यूनतर अनुभवका अतिक्रमण और निष्कासन करती है? उसका दावा है कि वह अन्य प्रत्येक ज्ञानके पीछे स्थित है, उसका अतिक्रमण करती है, उसे रद्द और निरस्त करती है; यदि वस्तुतः ऐसा है तो उसकी अंतिमताको निश्चायक मान लेना चाहिये। परंतु इसके विरोधमें यह दावा किया जाता है कि एक महत्तर नेति या महत्तर इतिके द्वारा और भी आगेकी यात्रा संभव है,—आत्माका असत्में निर्वाण संभव है, उस "एकं सत्"के अंदर विश्व चेतनाकी और जगत्-चेतनाके निर्वाणकी द्विदल अनुभूतिके

बीचसे निकलते हुए उस महत्तर दिव्य 'ऐक्य' तथा 'एकत्व'में पहुंच जाना संभव है जो इन दोनों उपलब्धियोंको अपनी बृहत् अखंड 'सद्वस्तु'में धारण किये रहता है। कहा गया है कि द्वैत और अद्वैतके परे है 'तत्' जिसमें दोनों धारित रहते हैं और दोनोंको अपना सत्य एक अपनेसे परेके 'सत्य'में मिलता है। एक ऐसा प्रत्यंत अनुभव, जो अन्य सारे संभव परंतु न्यूनतर अनुभवोंका अतिक्रमण और निष्कासन करता हुआ अग्रसर होता है, 'निर्विशेष'-की ओर एक डगके रूपमें स्वीकार्य है। एक ऐसा परम अनुभव, जो समस्त आध्यात्मिक अनुभवके सत्यको प्रतिष्ठित और समाविष्ट करता है, प्रत्येकको उसका अपना परम पद प्रदान करता, समस्त ज्ञान और अनुभवको एक परम 'सद्वस्तु'में संपूर्ण करता है, आगेका वह एक डग हो सकता है जो समस्त वस्तुओंका एक विशालतम आलोककारी और रूपांतरकारी 'सत्य' और साथ ही उच्चतम अनंत तुरीयता भी हो। परम सद्वस्तु-स्वरूप ब्रह्म 'वह' है जिसे जाननेसे सब ज्ञात हो जाता है (यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति); परंतु मायावादी समाधानमें वह 'वह' है जिसे जान लेनेपर सब कुछ अवास्तव और एक अबोध्य रहस्य हो जाता है। हमने अभी जिस अन्य परम अनुभवकी बात कही है उसमें 'सद्वस्तु'के ज्ञात होने-पर सब कुछ अपनी सच्ची अर्थवत्ता प्राप्त कर लेता है, 'शाश्वत' एवं 'निर्विशेष'के संबंधमें उसका जो सत्य है उसे प्राप्त कर लेता है।

समस्त सत्योंका, जिन सत्योंका परस्पर विरोध लगता है उनका भी अपना-अपना प्रामाण्य रहता है, परंतु उनके बीच किसी ऐसे विशालतम सत्यके अंतर्गत संगति बैठानेकी आवश्यकता होती है जो उन्हें अपने-आपके अंतर्गत ले ले; समस्त दर्शनशास्त्रोंका अपना मूल्य है,—यदि और किसी कारण नहीं, तो इसी कारण कि वे 'आत्मा' और विश्वको अध्यात्म-सत्ताके बहुविध 'अभिव्यक्ति'के अनुभवके विशेष-विशेष दृष्टिकोणसे देखते हैं और ऐसा करनेमें किसी ऐसी वस्तुपर प्रकाश डालते हैं जिसको 'अनंत'के अंतर्गत जानना आवश्यक है। समस्त आध्यात्मिक अनुभव सत्य हैं, परंतु वे किसी उच्चतम और विशालतम सद्वस्तुकी ओर निर्देश करते हैं जो उनके सत्यको अंगीकार करती और उसका अतिक्रमण भी किये होती है। कह सकते हैं कि इससे समस्त सत्य और समस्त अनुभवकी सापेक्षताका संकेत मिलता है, क्योंकि दोनों ही ज्ञाता और अनुभवकारी मन तथा अंतःपुरुषकी बहिर्दृष्टि एवं अंतर्दृष्टिके अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं; कहा जाता है कि प्रत्येक मनुष्यका अपने-अपने स्वभावके अनुसार अपना-अपना धर्म होता है, परन्तु इसी भांति यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्यका अपना-

अपना दर्शन-शास्त्र, जीवनको देखने और अनुभव करनेकी अपनी-अपनी विधि होती है, यद्यपि उसका निरूपण थोड़े लोग ही कर पाते हैं। परंतु अन्य दृष्टिकोणसे यह वैविध्य बल्कि 'अनंत'के पहलुओंका आनंत्य प्रमाणित करता है; प्रत्येक मनुष्य किसी एक या अधिक पहलुओं या संपर्कोंकी आंशिक झलक या पूरी झलक पाता या अपने मानसिक अथवा आध्यात्मिक अनुभवमें उसके अंदर प्रवेश करता है। एक विशेष स्थितिमें, मनके लिये इन सारे दृष्टिकोणोंकी निश्चितता एक व्यापक उदारता या संश्लिष्ट सहिष्णु अनिश्चितताके अन्दर खोने लगती है, या यह हो सकता है कि वाकी सव कुछ उससे झड़ जाय और किसी अंतिम सत्य या एकमात्र निमग्नकारी अनुभवको स्थान दे दे। उस अवस्थामें यह संभावना रहती है कि उसने तवतक जिसे भी देखा और विचारा है और अपने-आपका या विश्वका अंग माना है उस सवकी अवास्तवता अनुभव करे। यह "सव" उसके लिये एक सार्वभौम अवास्तवता, या एकीकरणके तत्त्वसे विहीन, वहुविध खंड वास्तवता हो जाता है; और जव वह ऐसे चरम अनुभवकी नेतिमूलक शुद्धतामें प्रवेश करता है तो सब कुछ उससे झड़ जाता है, और केवल एक नीरव तथा निश्चल निर्विशेष रह जाता है। परंतु चेतनाको फिर भी यह आमंत्रण देना संभव है कि वह और भी आगे वढ़े और जो कुछ वह छोड़ चुकी है उसे एक नवीन आध्यात्मिक दृष्टिके प्रकाशमें फिरसे देखे : तव वह सकल वस्तुओंके सत्यको 'निर्विशेष'के सत्यके अन्दर पुनः प्राप्त कर सकती है; निर्वाणके नेति-भाव और विश्वचेतनाके इतिभावके वीच 'तत्'की एक-दृष्टिमें सामंजस्य वैठा सकती है जिसकी आत्माभिव्यक्तियाँ दोनों ही हैं। मानसिक ज्ञानसे अधिमानसिक ज्ञानकी यात्रामें यह वहुमुख एकत्व प्रमुख अनुभव है; समूची अभिव्यक्ति एक विलक्षण तथा वलशाली सामंजस्यका रूप धारण कर लेती है जो अपनी महत्तम संपूर्णताको तव प्राप्त करता है जव जीव अधिमानस और अतिमानसके वीचके सीमाप्रदेशमें खड़ा होता और विश्वसत्ताकी ओर मुड़कर उसे अपनी समग्र दृष्टिसे देखता है।

कमसे कम यह ऐसी संभावना तो है जिसका हमें अनुसंधान करना चाहिये और इस दृष्टिकोणको उसके अन्तिम परिणामतक भी ले जाना चाहिये। सत्ताकी पहेलीकी व्याख्या-रूपमें महत् विश्वभ्रम, विश्व-मायाकी संभावनापर विचार करना आवश्यक था, क्योंकि यह दृष्टिभंगि और अनुभूति सवल रूपसे उस समय उपस्थित होती है जव मनके आरोहणके सर्पिल चक्रकी अंतिम मंजिल आती है जहाँ वह चक्र अपने टूट जाने या

अन्तके बिन्दुपर पहुँच जाता है; परंतु एक बार जब यह निश्चित हो जाता है कि वह अंतिम सत्यके लिये सच्चाईसे की गयी परीक्षाका अवश्यम्भावी निष्कर्ष नहीं, तो हम उसे हटाकर अलग रख दे सकते हैं या उसका उल्लेख केवल तब कर सकते हैं जब विचार और तर्कणाके एक अधिक नमनशील प्रवाहकी किसी धाराके प्रसंगमें उसकी आवश्यकता पड़े। अब हम अपनी दृष्टिको उस समस्यापर एकाग्र कर सकते हैं जो मायावादी समाधानको परित्यक्त कर देनेपर शेष बचती है; वह ज्ञान और अज्ञानकी समस्या है।

सब कुछ इस प्रश्नपर निर्भर है, "'सद्वस्तु' क्या है?" हमारी विषयबोधी चेतना सीमित, अज्ञ और सांत है; हमारी वास्तवताकी धारणाएँ हमारी इस सीमित चेतनामें जीवनसे संपर्क करनेकी विधिपर निर्भर करती हैं और आद्या तथा अन्तिम चेतना उसे जैसा देखती है उससे बहुत भिन्न हो सकती हैं। यह आवश्यक होता है कि हम सार 'सद्वस्तु' या 'सत्-तत्त्व', उसपर निर्भर और उससे उद्गत 'व्यावहारिक' वास्तवता, और उन दोनोंके संबंधमें हमारे इन्द्रियानुभव और हमारी बुद्धि द्वारा रचित सीमित और बहुधा भ्रामक अनुभव या धारणा, इन तीनोंके बीच भेद करें। हमारे इन्द्रियबोधके लिये पृथ्वी चपटी है, और अत्यंत तात्कालिक व्यावहारिक उद्देश्योंके लिये, एक सीमाके अन्दर, हमें ऐंद्रिय वास्तवताका अनुसरण करना होता है और चपटेपनके साथ ऐसा व्यवहार करना होता है मानों वह एक तथ्य हो; परन्तु सच्ची 'व्यावहारिक' वास्तवतामें पृथ्वीका चपटापन असत्य है और वस्तुओंके अंदरकी 'व्यावहारिक' वास्तवताके सत्यको खोजनेवाले भौतिक विज्ञानको पृथ्वीको लगभग गोल मानना होता है। ऐसे बहुत सारे ब्योरे हैं जिनमें भौतिक विज्ञान दृग्विषयके यथार्थ सत्यके संबंधमें दिये गये इंद्रियोंके साक्ष्यका खंडन करता है; परन्तु फिर भी हमें अपनी इंद्रियोंके दिये ढांचेको स्वीकार करना होता है, कारण वे हमपर वस्तुओंके जो व्यावहारिक संबंध आरोपित करती हैं उनकी वैधता वास्तवताके परिणाम-रूपमें होती है और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इंद्रियोंपर निर्भर और साथ ही उनका अतिक्रमण करती हमारी बुद्धि वास्तव और अवास्तवके संबंधमें अपने निजी मानदंडों या धारणाओंका निर्माण करती है; परन्तु ये मानदंड तार्किक द्रष्टाके अपनाये दृष्टिकोणके अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। दृग्विषयके अन्दर जाँच करनेवाला भौतिक वैज्ञानिक पराक्-वृत्त तथा दृग्विषयक वास्तवता और उसकी प्रक्रियाओंपर आधारित सिद्धांतों और मानदंडोंका निर्माण करता है: उसकी दृष्टिमें मन जड़तत्त्वका एक प्रत्यक्-वृत्त परिणाम और अध्यात्म-सत्ता तथा आत्मा मिथ्या प्रतीत हो सकते हैं; जो कुछ भी हो, उसे इस भाँति कार्य करना होता है

मानों एकमात्र जड़ और ऊर्जाका ही अस्तित्व है, मन एक स्वतंत्र वास्तवता-का द्रष्टा मात्र है और उस भौतिक वास्तवतापर किन्हीं भी मानसिक प्रक्रियाओंका[1] अथवा किसी वैश्व 'प्रज्ञा' की उपस्थिति या हस्तक्षेपका प्रभाव नहीं पड़ता। मनकी चेतना और मनकी अचेतनामें स्वतंत्र रूपसे जाँच करनेवाला मनोवैज्ञानिक वास्तवताओंका एक अन्य प्रदेश खोज निकालता है, उस प्रदेशकी प्रकारता प्रत्यक्-वृत्त होती है, उसका अपना विघान, अपनी प्रक्रिया होती है। यह संभव है कि मनोवैज्ञानिकको मन ही सत्-तत्त्वकी कुंजी, जड़तत्त्व मनका क्षेत्र मात्र, और मनसे अलग अध्यात्म-सत्ता अवास्तव 'कुछ' लगने लगे। परन्तु एक और भी आगेका अन्वेषण होता है जो आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ताका सत्य प्रकट करता और सत्-तत्त्वकी एक महत्तर भूमि प्रस्थापित करता है। वहाँ प्रत्यक्-वृत्त मानस-वास्तवताओं और पराक्-वृत्त भौतिक वास्तवताओं, दोनोंके प्रति हमारी दृष्टि पलट जाती है; परिणाम-स्वरूप वे ऐसी वस्तुओंकी नाईं दिखाई देती हैं जो 'व्यावहारिक' और गौण हों, आत्माके सत्य और अध्यात्म-सत्ताकी वास्तवताओंपर निर्भर हों। वस्तुओंके अंदर इस गभीरतर खोजमें मन और जड़ सत्-तत्त्वकी एक निम्नतर भूमिका रूप धारण करने लगते हैं और आसानीसे अवास्तव प्रतीत होने लग सकते हैं।

परंतु यह तो सांतके साथ व्यवहार करनेकी अभ्यस्त बुद्धि ही है जो ये वहिष्कार करती हैं; वह संपूर्णको खंडोंमें काटती है और संपूर्णके किसी एक खंडको इस भाँति चुन सकती है मानो वह सम्पूर्ण वास्तवता हो। यह बुद्धिकी क्रियाके लिये आवश्यक है, कारण उसका कार्य है सांतको सांत मानकर उसके साथ व्यवहार करना, और हमें व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये और सांतके साथ बुद्धिके व्यवहारोंके लिये बुद्धि-प्रदत्त ढाँचेको स्वीकार करना होता है, कारण, वह वास्तवताके एक परिणाम-रूपमें वैध है और अतः उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब हम अध्यात्मके अनुभवपर आते हैं, जो स्वयं ही संपूर्ण है अथवा संपूर्णको अपने अन्दर समाये रखता है, तो हमारा मन अपनी खंडकारिणी बुद्धि, सांत ज्ञानके लिये आवश्यक रहने-वाली परिभाषाएं वहाँ भी ले आता है; वह अनंत और सांतके बीच, अध्यात्म और उसके प्रपंच-व्यापारों अथवा अभिव्यक्तियोंके बीच विभाजनकी

---

1. आपेक्षिकता-सिद्धांतने (Theory of relativity) इस मतकी जड़ हिला दी है, परन्तु वैज्ञानिक तथ्यके परीक्षण और अनुमोदनके लिये एक व्यावहारिक आधार-रूपमें यह अवश्य मान्य रहेगा।

एक रेखा खींच देता और अनंत और अध्यात्मको वास्तव और सांत और प्रपंचको अवास्तवकी उपाधि दे देता है। परंतु सत्ताके समस्त प्रान्तोंका एक ही सर्वांगीण दृष्टिमें आलिंगन करनेवाली आद्या और चरम चेतना संपूर्णको उसकी सारभूत आध्यात्मिक तात्त्विकतामें और प्रपंचको उस तत्त्वके प्रपंच या अभिव्यक्तिके रूपमें देखेगी। यदि यह महत्तर आध्यात्मिक चेतना वस्तुओंमें असत्यता मात्र देखती और उनमें अध्यात्म-सत्ताके सत्यसे संपूर्ण विच्छेद पाती तो,—यदि वह स्वयं ऋत-चित् हो,—उसके लिये इसका कोई कारण नहीं रह जाता कि वह उन्हें सकल कालमें अविच्छिन्न या पुनरावर्तक अस्तित्वमें बनाये रखे: यदि वह उन्हें इस भांति बनाये रखती है तो इसका कारण यह है कि वे अध्यात्मकी सत्यताओंपर आधारित हैं। किंतु, प्रापंचिक वास्तवताको जब हम इस भाँति समग्र दृष्टिसे देखेंगे, तो वह, अवश्य ही, सांत प्राणीकी बुद्धि और इंद्रियने उसे जिस रूपमें देखा था, उससे भिन्न रूप धारण करेगी; उसकी एक अन्य और गभीरतर सत्यता होगी, एक अन्य और महत्तर सार्थकता होगी, उसकी जीवनकी गतियोंकी एक अन्य और अधिक सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट प्रक्रिया होगी। वास्तवताके जो मानदंड और विचारके जो सारे रूप सांत बुद्धि और इन्द्रिय-बोधके द्वारा रचित होंगे वे उस महत्तर चेतनाको आंशिक निर्माण लगेंगे जिनमें कुछ तत्त्व सत्यका है और कुछ तत्त्व भूलका; अतः इन निर्माणोंको एक साथ ही वास्तव और अवास्तव कहा जा सकता है, परन्तु स्वयं प्रपंच-जगत् इस तथ्यके कारण अवास्तव अथवा अवास्तव-वास्तव न हो जायगा: वह एक आध्यात्मिक प्रकारकी अन्य सत्यता धारण करेगा; सांत 'अनंत' की एक शक्ति, गतिधारा और प्रक्रियाके रूपमें प्रकट होगा।

आद्या और चरम चेतना 'अनंत'की चेतना होगी और वैविध्यको देखनेमें अवश्यतः अद्वैतात्मिका होगी; वह होगी सर्वांगीण, सर्व-स्वीकारिणी, सर्वा-लिंगनकारिणी; सर्व-निर्धारिका होनेके नाते वह सबका विवेक करनेवाली होगी, वह होगी एक अविभाज्य समग्र-दृष्टि। वह वस्तुओंके सारको देखेगी और समस्त रूपों तथा गतिविधिको देखेगी उस सार 'सद्वस्तु'के दृग्विषय और परिणाम-रूपमें, उस 'सद्वस्तु'की सत्ताकी शक्तिकी गतिधाराओं और रचनाओंके रूपमें। बुद्धिकी यह धारणा होती है कि सत्यको विपरीतोंके किसी भी संघर्षसे रहित होना ही चाहिये: यदि ऐसा है, तो चूंकि गोचर विश्व सारभूत ब्रह्मसे विपरीत है या विपरीत प्रतीत होता है, अतः उसे मिथ्या होना ही चाहिये; चूंकि वैयक्तिक जीव विश्व और विश्वातीत दोनोंके विपरीत है,

अतः उसे मिथ्या होना ही चाहिये। परंतु, सांतपर आधारित बुद्धिको जो विपरीत लगें वे, हो सकता है, अनंत पर आधारित दृष्टि अथवा विशालतर बुद्धिको विपरीत न लगें। हमारा मन जिन्हें विपरीतोंके रूप में देखता है, हो सकता है कि वे अनंत चेतनाके लिये विपरीत नहीं, अपितु संपूरक हों : सार तत्त्व और सार तत्त्वका 'परिणाम' या विकार एक-दूसरेके संपूरक हैं, विपरीत नहीं,—'परिणाम' या विकार सार तत्त्वको अभिव्यक्त करता है; सांत अनंतकी एक घटना है, न कि उसकी विपरीतता; व्यक्ति विश्वव्यापी और विश्वातीतकी आत्मव्यंजना है, न कि उसकी विपरीतता अथवा उससे सर्वथा भिन्न कुछ,—वह संकेन्द्रित और वरणक्षम विश्वव्यापी है, अपने सार स्वरूप और सार प्रकृतिमें विश्वातीतके साथ एक है। इस एकत्वमूलक व्यापक दर्शनमें इसमें कोई विपरीतता नहीं कि सत्ताका एक अरूप 'सार' अपने अंदर रूपोंका बाहुल्य लिये रहे, या कि 'अनंत'की स्थिति 'अनंत'की गतिशीलताका अधिष्ठान हो, या कि एक अनंत 'एकत्व' अपने-आपको बहुल सत्ताओं, रूपों, शक्तियों और गतिधाराओंमें प्रकट करे, कारण वे उस 'एक'की ही सत्ताएँ, रूप, शक्तियाँ और गतिधाराएँ हैं। इस आधारपर जगत्‌की सृष्टि एक पूर्णतः स्वाभाविक, प्राकृत तथा अनिवार्य क्रिया है और स्वयं इससे कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती, कारण यह ठीक वही है जिसकी आशा 'अनंत'की क्रियामें की जा सकती है। समस्त बौद्धिक कठिनाई और समस्याका उद्‌भव सांत बुद्धिसे होता है, जब वह बुद्धि काटती हुई, पृथक् करती हुई, अनंतकी शक्तिको उसकी सत्ताके विरोधमें, उसकी क्रियाशीलताको उसके स्थाणुत्वके विरोधमें, उसके स्वाभाविक बहुत्वको उसके मूलगत एकत्वके विरोधमें खड़ा करती है, आत्माको विखंडित करती है, पुरुषको 'प्रकृति'के विरोधमें खड़ा करती है। 'अनंत'की जगत्-प्रक्रिया और 'शाश्वत्'की काल-प्रक्रियाको सत्यतः समझनेके लिये चेतनाको इस सांत बुद्धि तथा सांत इन्द्रिय-बोधका अतिक्रमण कर एक विशालतर बुद्धि तथा आध्यात्मिक इन्द्रियबोधमें पहुँचना होगा, जो 'अनंत'की चेतनाके संस्पर्शमें और अनंतकी न्याय-युक्तिके प्रति संवेदनशील रहेंगे, अनंतकी यह न्याययुक्ति स्वयं सत्ताकी न्याय-युक्ति ही है और उसकी अपनी वास्तवताओंकी आत्म-क्रियासे अनिवार्यतः उद्‌भूत होती है; इस न्याय-युक्तिके अनुक्रम विचारके डग नहीं, अपितु अस्तित्वके ही डग होते हैं।

परंतु यह कहा जा सकता है कि इस भाँति तो एक विश्वचेतनाका ही वर्णन किया गया है, परन्तु 'निर्विशेष' भी तो है : 'निर्विशेष'को सीमित नहीं किया जा सकता; और, चूँकि विश्व और व्यक्ति 'निर्विशेष'को

सीमित और विभक्त करते हैं, अतः उन्हें अवश्य ही अयथार्थ होना चाहिये। निस्संदेह यह स्वतः सिद्ध है कि 'निर्विशेष'को सीमित नहीं किया जा सकता; वह न तो अरूपत्वमें सीमित किया जा सकता है और न रूपमें, न एकत्वमें और न बहुत्वमें, न निश्चल स्थितिमें और न क्रियात्मक सचलतामें। यदि वह रूपको अभिव्यक्त करता है तो रूप उसे सीमित नहीं कर सकता; यदि वह बहुत्वको अभिव्यक्त करता है तो बहुत्व उसे विभक्त नहीं कर सकता; यदि वह गति और संभूतिको अभिव्यक्त करता है तो उसे न तो गति क्षुब्ध कर सकती है, न संभूति परिवर्तित ही: जैसे आत्म-सृष्टि उसे निःशेष नहीं कर सकती, वैसे ही वह उसे सीमित भी नहीं कर सकती। भौतिक वस्तुओंको भी अपनी अभिव्यक्तिकी तुलनामें यह श्रेष्ठता प्राप्त रहती है; मृत्तिका अपने बने पात्रोंमें सीमित नहीं होती, पवन अपने अंदर चलनेवाली वायुओंमें सीमित नहीं होता, समुद्र अपनी सतहपर उठती लहरोंमें सीमित नहीं होता। परिसीमनकी यह धारणा केवल मन और इन्द्रियोंकी होती है जो सांतको इस रूपमें देखती हैं मानों वह कोई स्वतंत्र सत्ता हो जो अपने-आपको अनंतसे पृथक् कर रही है अथवा कोई ऐसी वस्तु हो जो परिसीमनके द्वारा उनमेंसे काट निकाली गयी है। परिसीमनका यह संस्कार ही भ्रमात्मक है, परन्तु न तो अनंत कोई भ्रम है, न सांत ही; कारण, इन दोनोंमेंसे किसीका भी अस्तित्व इन्द्रिय या मनके संस्कारोंपर आश्रित नहीं, बल्कि वे ही अपने अस्तित्वके लिये 'निर्विशेष' पर निर्भर हैं।

स्वयं 'निर्विशेष'की परिभाषा बुद्धिके द्वारा नहीं की जा सकती, वाणीके लिये वह अनिर्वाच्य है; उसके समीप हमें अनुभवके द्वारा जाना होता है। उसतक अस्तिभावका एक निःशेष प्रतिषेध करते हुए जाया जा सकता है, मानों वह स्वयं ही कोई परम असत् हो, एक रहस्यमय अनंत शून्य हो। उसतक हमारी अपनी सत्ताके समस्त मूलगत तत्त्वोंको पूर्णतः स्वीकार करते हुए, ज्योति और ज्ञानके परम पदके द्वारा, प्रेम या सौन्दर्यके परम पदके द्वारा, शक्तिके परम पदके द्वारा, शांति या निःशब्दताके परम पदके द्वारा जाया जा सकता है। उसतक सत्ता या चेतनाके, या सत्ताकी शक्तिके, या सत्ताके आनंदके एक अनिर्वचनीय परम पदके द्वारा, अथवा जिस परमानुभूतिमें ये सारी वस्तुएँ अनिर्वाच्यतः एक हो जाती हैं वैसी अनुभूतिके द्वारा जाया जा सकता है; कारण, हम इस प्रकारकी अनिर्वचनीय अवस्थामें प्रवेश कर सकते हैं और, उसमें इस भाँति निमग्न होकर मानों वह सत्ताका एक ज्योतिर्मय गह्वर हो, ऐसी अतिचेतनामें पहुँच सकते हैं जिसका वर्णन निर्विशेषका द्वार कह कर किया जा सकता है। यह माना जाता है कि

हम व्यक्ति और विश्वका निषेध करके ही 'निर्विशेष'में प्रवेश कर सकते हैं। परंतु, वास्तवमें, व्यक्तिको केवल अपनी तुच्छ पृथक् अहं-सत्ताके वर्जनकी आवश्यकता रहती है; वह अपने व्यक्तित्वके उन्नयनके द्वारा, विश्वको अपने-आपके अन्दर लेता हुआ और उसका अतिक्रमण करता हुआ, निर्विशेषतक जा सकता है; अथवा, वह अपने-आपका सम्पूर्णतया निषेध कर दे सकता है, परन्तु फिर भी, आत्मातिक्रमणके द्वारा निर्विशेषके अंदर प्रवेश करनेवाला तो व्यक्ति ही होता है। वह अपनी सत्ताको एक परा सत्ता या अति-सत्तामें उन्नीत करके, अपनी चेतनाको एक परा चेतना या अति-चेतनामें उन्नीत करके, अपने और सत्ताके समस्त आनंदको एक परमानंद या अति-आनंदमें उन्नीत करके भी 'निर्विशेष'में प्रवेश कर सकता है। वह 'निर्विशेष'के समीप उस आरोहणके द्वारा भी जा सकता है जिसमें वह विश्व-चेतनामें प्रवेश करता, उसे अपने अन्दर धारण करता और अपने-आपको और विश्वचेतनाको सत्ताकी ऐसी अवस्थामें उठाकर ले जाता है जिसमें एकत्व और बहुत्व अभिव्यक्तिकी एक परमा स्थितिमें पूर्ण सामंजस्य तथा एकतामें हैं; उस स्थितिमें सब कुछ प्रत्येकमें है और प्रत्येक सबमें और सब कुछ किसी निर्धारक व्यक्तीयनके बिना उस एकमें है,—कारण, वहाँ क्रियात्मक तादात्म्य और पारस्परिकता संपूर्ण हो गयी हैं; इति-भावके पथमें अभिव्यक्तिकी यह स्थिति ही निर्विशेषके समीपतम है। निर्विशेषको चरम नेति-भावसे और चरम इति-भावसे, बहुत सारी विधियोंसे उपलब्ध किया जा सकता है, उसके इस विरोधाभासकी व्याख्या बुद्धिके सम्मुख केवल तब की जा सकती है यदि वह निर्विशेष एक परम सत् हो जो सत्ता-संबंधी हमारे भाव और अनुभवसे इतना अधिक ऊपर हो कि वह हमारे द्वारा किये जानेवाले उसके निषेधके भी समरूप हो सके, हमारी असत्की धारणा और अनुभूतिके भी समरूप हो सके, परन्तु साथ ही, चूंकि जिस किसीका भी अस्तित्व है, उसकी अभिव्यक्तिकी श्रेणी चाहे जो कुछ भी हो, वह 'तत्' ही है, वह स्वयं ही सकल वस्तुओंका परम है और उसतक जैसे चरम 'नेति'के द्वारा, वैसे ही चरम 'इति'के द्वारा भी जाया जा सकता है। निर्विशेष वह अनिर्वाच्य 'किम्स्विद' है जो, जिसे हम सत् या असत् कह सकते हैं उस सबसे ऊपर है, उस सबमें अंतःस्थ, अनुस्यूत एवं सार-भूत है।

हमारा प्रथम अभ्युपगम यह है कि निर्विशेष ही परम सद्वस्तु है। परन्तु प्रश्न यह है, बाकी सब कुछ जो हम अनुभव करते हैं वह वास्तव है या अवास्तव? कभी-कभी सत् और संभूतिमें, 'अस्ति' और 'भवति'में

भेद किया जाता है, और यह माना जाता है कि सत् वास्तव है किंतु संभूति, या जो संभूति-रूपमें अभिव्यक्त होता है, अवास्तव। परन्तु यह उक्ति तभी मान्य रह सकती है यदि असृष्ट शाश्वत और सृष्ट सत्ताओंके बीच कोई कठोर भेद, कोई विच्छेद और पार्थक्य हो; वैसी दशामें असृष्ट सत् एकमात्र वास्तव मान लिया जा सकता है। यह परिणाम तब नहीं निकलता यदि जिसका अस्तित्व है वह सत्का ही रूप हो और सत्की ही वस्तु हो; वह केवल तभी अवास्तव हो सकता है यदि वह असत्का रूप हो, शून्यमेंसे रचित हो। सत्ताकी जिन अवस्थाओंके द्वारा हम निर्विशेषके समीप जाते और उसमें प्रवेश करते हैं, उनका अपना निजी सत्य अवश्य होगा, क्योंकि असत्य और अवास्तव 'सत्'के अन्दर नहीं ले जा सकता। परंतु जो 'निर्विशेष'से निःसृत है, 'शाश्वत' जिसे अवलंब देता, अनुप्राणित करता और अपने-आपमें अभिव्यक्त करता है, उसकी भी एक वास्तवता होगी ही। अव्यक्त भी है और व्यक्तता भी; परन्तु जो वास्तवकी अभिव्यक्ति है स्वयं उसे भी वास्तव होना ही चाहिये। कालातीत भी है और कालमें वस्तुओंकी प्रक्रिया भी; परंतु कालमें तबतक कुछ भी प्रकट नहीं हो सकता जबतक कालातीत 'सद्वस्तु'में उसका कोई आधार न हो। यदि मेरा आत्मा और मेरी अध्यात्म-सत्ता वास्तव हैं, तो मेरे सब प्रकारके विचार, भाव, शक्तियाँ भी, जो उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं, अवास्तव नहीं हो सकतीं; मेरा शरीर, जो वह रूप है जिसे आत्मा अपने-आपके अंदर प्रकट करता है और साथ ही जिसके अन्दर वह निवास करता है, 'कुछ नहीं' अथवा मात्र निःसार छाया नहीं हो सकता। एकमात्र संगतिकारी व्याख्या यह है कि कालातीत नित्यता और काल-नित्यता 'शाश्वत' एवं 'निर्विशेष'के दो रूप हैं और दोनों ही सत्य हैं, परंतु सत्यताकी विभिन्न श्रेणियोंमें : 'कालातीत'में जो अव्यक्त है वह कालमें अभिव्यक्त होता है; प्रत्येक वस्तु, जिसका कि अस्तित्व है, अभिव्यक्तिकी अपनी निजी श्रेणीमें सत्य है और अनंतकी चेतना उसे इसी भाँति देखती है।

समस्त अभिव्यक्ति सत्तापर तो निर्भर है ही, चेतना और उसकी शक्ति या मात्रापर भी निर्भर है; कारण, चेतनाकी स्थितिके अनुरूप ही सत्ताकी भी स्थिति होगी। 'निश्चेतन' भी संवृत चेतनाकी एक स्थिति और शक्ति है जिसमें सत्ता अव्यक्तताकी, असत्-जैसी, एक अन्य और विपरीत स्थितिमें लीन हो जाती है, ताकि उसमेंसे भौतिक विश्वके अन्दरका सब कुछ अभि-व्यक्त हो सके। इसी भाँति अतिचेतन भी सत्ताको परम पदमें उठा ले जायी गयी चेतना है। कारण, एक अतिचेतन स्थिति है जिसमें चेतना

सत्ताके अंदर ज्योतिर्मय रूपसे संवृत और मानों आत्म-संवित्से रहित प्रतीत होती है; सत्ताकी समस्त चेतना, सत्ताका समस्त ज्ञान, आत्म-दर्शन एवं शक्ति उस संवृत अवस्थामेंसे उन्मज्जित अथवा उसमें प्रकट होती लगती हैं : यह उन्मज्जन, हमारे देखनेमें, एक निम्नतर सत्यताके रूपमें उन्मज्जन लग सकता है, परंतु वास्तवमें, अतिचेतना और चेतना दोनों एक ही सत् हैं और उस एक ही 'सत्' पर उनकी दृष्टि रहती है। 'परम'की एक ऐसी स्थिति भी है जिसमें सत्ता और चेतनामें कोई भेद नहीं किया जा सकता,—कारण, वहाँ वे इतनी अत्यधिक एक हुई रहती हैं कि उनमें इस भाँति भेद नहीं किया जा सकता,—परन्तु सत्ताकी यह परमा स्थिति सत्ताकी शक्तिकी भी, अतः चेतनाकी शक्तिकी भी परमा स्थिति है; कारण, वहाँ सत्ताकी शक्ति और उसकी चेतनाकी शक्ति एक हैं और पृथक् नहीं की जा सकतीं : शाश्वत् सत् एवं शाश्वत चित्-शक्तिका यह एकत्व ही परमेश्वरकी स्थिति है, और उसकी सत्ताकी शक्ति ही 'निर्विशेष'की क्रियाशक्ति है। यह स्थिति विश्वका प्रतिषेध नहीं है, वरन् उसमें निखिल विश्व-सत्ताका सार तथा शक्ति अंतर्निहित हैं।

परन्तु, फिर भी, अवास्तवता विश्व-जीवनका एक तथ्य है, और यदि सब कुछ ब्रह्म है, 'सद्वस्तु' है, तो 'सत्'के अन्दर अवास्तवताका यह जो तत्त्व है उसकी व्याख्या हमें करनी होगी। अवास्तव यदि सत्ताका तथ्य नहीं है तो उसे अवश्य ही चेतनाकी कृति या रचना होना चाहिये। तो क्या चेतनाकी ऐसी कोई अवस्था या श्रेणी नहीं जिसमें उसकी कृतियाँ और रचनाएँ संपूर्णतः या अंशतः अवास्तव हों? यदि यह अवास्तवता किसी आद्य विश्व-भ्रमकी, मायाकी वस्तु न मानी जाय, फिर भी स्वयं विश्वमें अज्ञानके भ्रमकी एक शक्ति तो है। यह मनकी क्षमताके अंतर्गत है कि वह ऐसी वस्तुओंकी धारणा करे जो वास्तव न हों, उसकी क्षमतामें यह भी है कि वह ऐसी वस्तुओंकी सृष्टि करे जो वास्तव नहीं या संपूर्णतया वास्तव नहीं। स्वयं उसका आत्मावलोकन और विश्वावलोकन ऐसा निर्माण है जो न तो संपूर्णतया वास्तव है, न संपूर्णतया अवास्तव। अवास्तवताके इस तत्त्वका कहाँ आरंभ है और कहाँ उसका अंत है? उसका कारण क्या है और कारण तथा परिणाम दोनोंको हटा देनेपर क्या होता है? यदि संपूर्ण विश्व-सत्ता अपने-आपमें अवास्तव नहीं भी हो, तो भी अज्ञानके जिस जगत्में हम रह रहे हैं, यह जो जन्म और मृत्यु, विफलता और कष्टका सतत परिवर्तनशील जगत् है, क्या उसके लिये अवास्तवताका यह वर्णन प्रयुक्त नहीं किया जा सकता? और, अज्ञानको हटा देनेसे क्या

अज्ञानके द्वारा सृष्ट जगत्की वास्तवता हमारे लिये नष्ट नहीं हो जाती? अथवा, क्या इस जगत्से बाहर कूच कर जाना ही स्वाभाविक और एकमात्र राह नहीं है? यह कथन तब मान्य हो सकता था यदि हमारा अज्ञान निरा अज्ञान होता, सत्य या ज्ञानका कोई भी तत्त्व उसमें नहीं होता। परन्तु, वास्तवमें, हमारी चेतना सत्य और मिथ्याका मिश्रण है; उसकी क्रियाएँ और सृष्टियाँ कोई निरी कल्पना, कोई निराधार निर्माण नहीं। वह जो निर्माण खड़ा करती है, वस्तुओंको या विश्वको वह जो रूप देती है, वह उतना वास्तवता और अवास्तवका मिश्रण नहीं जितना कि वह वास्तवकी अर्ध-अवधारणा, अर्ध-व्यंजना है; और, चूँकि सकल चेतना शक्ति है और फलस्वरूप संभाव्य रूपसे सृजनात्मिका है, अतएव हमारे अज्ञानका परिणाम होता है अयुक्त सृष्टि, अयुक्त अभिव्यक्ति, अयुक्त क्रिया अथवा सत्ताकी भ्रांत-कल्पित और अपनिर्देशित ऊर्जा। समस्त विश्व-सत्ता अभिव्यक्ति है, परंतु हमारा अज्ञान एक आंशिक, सीमित और अज्ञानमयी अभिव्यक्तिका अभिकर्त्ता है; वह अभिव्यक्ति मूल सत्-चित्-आनंदका अंशतः प्रकाशन है, परंतु अंशतः आच्छादन भी। यदि यह वस्तु-स्थिति चिरस्थायी और अपरिवर्तनीय ही हो, यदि हमारे जगत्को इस चक्रके अंदर अवश्यमेव घूमते रहना ही हो, यदि कोई अवस्था और परिस्थिति मात्र न होकर, यहाँकी समस्त वस्तुओं और समस्त क्रियाका कारण ही कोई अज्ञान हो, तो निस्संदेह, वैयक्तिक अज्ञानका अंत व्यक्तिके जगत्-सत्तासे निकल भागनेसे ही हो सकेगा, और वैश्व अज्ञानका अंत जगत्-सत्ताका विनाश ही होगा। परंतु इस जगत्के मूलमें यदि कोई क्रमविकासका तत्त्व हो, हमारा अज्ञान यदि ज्ञानकी ओर क्रमविकसनशील अर्धज्ञान हो, तो भौतिक प्रकृतिके मध्य हमारे जीवनका एक अन्य लेखा, एक अन्य परिणाम, एक अन्य आध्यात्मिक फल संभव हो जाता है, इहलोकमें एक महत्तर अभिव्यक्ति संभव हो जाती है।

अज्ञानकी इस समस्यासे व्यवहार करनेमें एक संभ्रमकी संभावना रहती है; उससे बचनेके लिये हमें अपनी अवास्तवता-संबंधी धारणाओंमें एक और भेद करना होगा। वास्तवताकी जाँचके लिये हमारे मन या उसके एक भागका एक व्यावहारिक मानक होता है; उसका आग्रह तथ्यके, वास्तविकताके मानकके लिये होता है। जो कुछ भी अस्तित्वका तथ्य है वह सब उसके लिये वास्तव है, परंतु यह तथ्यता अथवा वास्तविककी सत्यता उसके लिये भौतिक विश्वगत इस पार्थिव अस्तित्वके प्रपंचतक ही सीमित है। परंतु पार्थिव या भौतिक अस्तित्व आंशिक अभिव्यक्ति ही

है; वह सत्-पुरुषकी वास्तविक हो चुकी संभावनाओंका तंत्र है, परंतु इससे उन सारी अन्य संभावनाओंका बहिष्कार नहीं होता जो अभीतक या यहाँ वास्तविक नहीं हुई हैं। कालमें होनेवाली अभिव्यक्तिमें नवीन सत्यताएँ उन्मज्जित हो सकती हैं, सत्ताके जो सत्य अभीतक चरितार्थ नहीं हुए हैं, वे अपनी संभावनाएँ व्यक्त कर सकते हैं और भौतिक तथा पार्थिव जीवनमें वास्तविक बन जा सकते हैं। सत्ताके अन्य सत्य भी हो सकते हैं जो अति-भौतिक हों और अभिव्यक्तिके अन्य प्रदेशके हों, यहाँ चरितार्थ न हुए हों, किंतु फिर भी वास्तव हों। यहाँतक कि जो किसी भी विश्वमें, कहीं भी वास्तविक नहीं है वह भी सत्ताका एक सत्य हो सकता है, सत्ताकी एक शक्यता हो सकता है; वह अभीतक सत्ताके रूपमें प्रकट नहीं हुआ है इसी कारण उसपर असत्य होनेका आरोप नहीं लगाया जा सकता। परन्तु हमारा मन, अथवा उसका यह भाग, फिर भी वास्तवताके संबंधमें अपने व्यावहारिक अभ्यास या धारणाका आग्रह रखता है; उसकी यह प्रवृत्ति केवल तथ्यात्मक और वास्तविकको सत्य स्वीकार करती और बाकी सब कुछको अवास्तव माननेको प्रवण रहती है। अतः इस मनके लिये एक ऐसी अवास्तवता है जो निरी व्यावहारिकताकी होती है; यह अवास्तवता उन वस्तुओंके निरूपणमें रहती है जो अपने-आपमें अनिवार्यतः अवास्तव नहीं परन्तु हमारे द्वारा या वर्तमान परिस्थितियोंमें या हमारी सत्ताके वास्तविक जगत्‌में सिद्ध नहीं हुई हैं या शायद सिद्ध नहीं हो सकतीं। किंतु, यह सच्ची अवास्तवता नहीं; यह कोई अवास्तव नहीं अपितु असिद्ध है, यह कोई सत्ताका अवास्तव नहीं अपितु केवल वर्तमान या ज्ञात तथ्यका अवास्तव है। फिर एक और अवास्तवता है जिसके मूलमें मानस-बोध और इन्द्रिय-बोध हैं और जो वास्तवके विषयमें भ्रांत मानस-बोध और इन्द्रिय-बोधका परिणाम है: यह भी कोई सत्ताकी अवास्तवता नहीं, उसका सत्ताकी अवास्तवता होना आवश्यक भी नहीं; यह अज्ञानके परिसीमनके कारण चेतनाका एक मिथ्या निर्माण ही है। हमारे अज्ञानकी ये और अन्य गौण वृत्तियाँ समस्याका मर्म नहीं, कारण उसका आधार इहलोकमें हमारी चेतना और जगत्-चेतनाका एक अधिक सर्वसामान्य रोग है; समस्या वैश्व अज्ञानकी है। कारण, हमारा जीवनका सारा अवलोकन और अनुभव चेतनाके एक ऐसे परिसीमनसे बाधित है जो केवल हमारे लिये नहीं है, अपितु भौतिक सृष्टिके आधारमें स्थित लगता है। सद्वस्तुको अखंड रूपमें देखनेवाली आद्या तथा चरम चेतनाके बदले हमें यहाँ तो एक सीमित चेतना ही सक्रिय दिखाई देती है, और दिखाई देती है या तो एक आंशिक

और अधूरी सृष्टि या एक ऐसी वैश्व क्रियाशीलता जो अर्थहीन परिवर्तनके शाश्वत आवर्तमें घूमती रहती है। यदि यह सचमुचमें अभिव्यक्ति ही है, तो हमारी चेतना उस 'अभिव्यक्ति'के अंग और अंगोंको ही देखती है, और उसे या उन्हें ऐसा मानती है मानों वे पृथक् सत्ताएँ हों; हमारे समस्त भ्रमों और भूलोंकी उत्पत्ति एक सीमित भेदात्मिका चेतनासे होती है जो अ-वस्तुओंकी सृष्टि करती अथवा 'सत्'की भ्रांत धारणा करती है। परंतु समस्या और भी रहस्यमयी तब हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि हमारा भौतिक जगत् सीधे किसी आद्य सत् एवं चैतन्यमेंसे नहीं, अपितु निश्चेतना और प्रतीयमान असत्की स्थितिमेंसे उद्भूत होता लगता है और स्वयं हमारा अज्ञान ऐसा कुछ है जो निश्चेतनामेंसे मानों कठिनाई और संघर्षसे प्रकट हुआ है।

अतः रहस्य यह है,—समग्र सत्ताकी असीम्य चेतना एवं शक्ति इस परिसीमन और पार्थक्य-भावमें प्रविष्ट कैसे हुई? यह संभव कैसे हो सका? और यदि इसकी संभावनाको मानना पड़े तो 'सत्-तत्त्व'में इसकी न्याय्यता क्या है, इसकी सार्थकता क्या है? यह रहस्य आद्य भ्रमका नहीं, अपितु अज्ञान तथा निश्चेतनाके मूलका और आद्या चेतना अथवा अतिचेतनाके साथ ज्ञान और अज्ञानके संबंधोंका है।

अध्याय सात

विद्या और अविद्या

चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान्..........॥

चित्ति एवं अचित्तिको ज्ञानी पृथक्-पृथक् करे।

—ऋग्वेद
4. 2. 11

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

'अनंत'के गहनमें निहित ये दो विद्यमान हैं, विद्या एवं अविद्या, परंतु अविद्या है क्षर, विद्या है अमृत-स्वरूप; जो विद्या और अविद्या दोनोंपर शासन करता है, 'वह' इनसे भिन्न है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
5. 1

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।

दो अज, जिनमें एक है ज्ञानी, दूसरा अज्ञ, एक है ईश, दूसरा अनीश; एक अजा जिसमें भोग्य वस्तु और भोक्ता हैं।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
1. 9

ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती।

ये दोनों साथ-साथ संयुक्त हैं, ऋतायिनी शक्तियाँ और मायिनी शक्तियाँ; उन्होंने 'शिशु'का निर्माण किया है, उसे जन्म दिया है और वे ही उसे संवर्द्धित करती हैं।

—ऋग्वेद
10. 5. 3

निखिल अस्तित्वके सप्त तत्त्वोंकी समीक्षा करते हुए हमने देखा था कि वे अपने सारस्वरूप और मूलभूत सत्यमें एक ही हैं। यदि अत्यंत स्थूल जगत्‌की जड़वस्तु भी और कुछ नहीं, 'आत्मा'की सत्ताकी एक स्थिति ही हो जो इन्द्रिय-ज्ञानका विषय बना दी गयी है, जिसे 'आत्मा'की स्वकीय चेतना अपने रूपोंके उपादानकी नाईं देखती है, तो कहीं अधिक यह होगा कि अपने-आपको जड़के आकारमें रूपायित कर रही प्राण-शक्ति, प्राण-रूपमें प्रक्षिप्त हो रही मनश्चेतना, मनको अपनी कई शक्तियोंमेंसे एकके रूपमें विकसित कर रहा अतिमानस, स्वयं ये भी, और कुछ नहीं, 'आत्मा' ही होंगे जो सच्चे सार-स्वरूपमें परिवर्तनविहीन रहता हुआ, प्रतीयमान वस्तुमें और कर्मकी गतिशीलतामें परिवर्तित हुआ है। सब सत्‌की एक ही शक्तिकी शक्तियाँ हैं; वे उस सर्व-सत्ता, सर्व-चेतना, सर्वेच्छा, सर्वानंदसे भिन्न नहीं जो प्रत्येक बाह्य रूपके पीछे विद्यमान उसका सच्चा सत्य है। और वे अपनी तात्त्विकतामें तो एक हैं ही, अपनी क्रियाकी सप्तविध विविधतामें अवियोज्य भी हैं। वे दिव्य चेतनाकी ज्योतिके सप्त रंग हैं, 'अनंत'की सप्त किरणें हैं, और 'आत्मा'ने धारणात्मक रूपसे विस्तारित अपनी आत्म-सत्ताके चित्रपटको, 'देश'के पराक्-वृत्त ताने और 'काल'के प्रत्यक्-वृत्त बानेसे बुने चित्रपटको इन्हीं सातोंके द्वारा अपनी आत्म-सृष्टिके असंख्य आश्चर्योंसे भरा है। यह आत्म-सृष्टि अपने आद्य नियमों और बृहत् ढाँचोंमें महान्, सरल और सममित है, अपने रूपों और क्रियाओंके वैचित्र्यमें और संबंधोंकी और प्रत्येकपर सबके और सबपर प्रत्येकके पारस्परिक प्रभावकी जटिलताओंमें अनंततया अद्‌भुत और गहन है। ये सात ही प्राचीन ऋषियोंके "सप्त वाक्" हैं। हमारे जाने जगत्‌में और पीछे स्थित लोकोंमें, जिनका हमें परोक्ष ज्ञान ही है, विकसित और विकसन-शील सामंजस्योंकी सृष्टि इन्हीं सातोंसे हुई है, इन सातोंके अर्थके प्रकाशमें ही उन्हें कार्यान्वित किया जाता है और हमें उन्हें समझना भी है। ज्योति एक ही है, शब्द एक ही है; किंतु उनकी क्रिया सप्तविध है।

किंतु यहाँ है आद्य निश्चेतनापर आधारित जगत्; यहाँ चेतना रूपायित हुई है ज्ञानकी ओर श्रम करनेवाले अज्ञानकी आकृतिमें। हम देख चुके हैं कि स्वयं 'सत्-पुरुष'के स्वरूपमें या उसके सप्त तत्त्वोंके आद्य स्वरूप एवं मूलभूत संबंधोंमें ऐसा कोई मूलस्थ कारण नहीं जिससे अज्ञानका यह अनुप्रवेश हो, सामंजस्यमें वैषम्यका, प्रकाशमें अंधकारका, दिव्य सृष्टिकी आत्म-चेतन अनंततामें विभाजन और परिसीमनका अनुप्रवेश हो। कारण, हम ऐसे विश्व-सामंजस्यकी कल्पना कर सकते हैं जिसमें इन विपरीत

तत्त्वोंका प्रवेश नहीं हो, और यदि हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं तो भगवान् तो यह कल्पना और भी भली भाँति कर सकते हैं; और, यदि कल्पना है तो कहींपर कार्यान्विति भी, वास्तविक अथवा अभिप्रेत सृष्टि भी होनी ही चाहिये। वैदिक ऋषियोंको यह दिव्य आत्माभिव्यक्ति ज्ञात थी; उन्होंने उसे इस निम्नतर जगत्से परेके महत्तर जगत्के रूपमें, चेतना एवं सत्ताके एक मुक्ततर तथा विशालतर लोकके रूपमें, स्रष्टाकी सत्यात्मिका सृष्टिके रूपमें देखा था; इस सृष्टिका वर्णन उन्होंने "सदनम् ऋतस्य", "स्वे दमे ऋतस्य", "ऋतस्य बृहते", "ऋतं, सत्यं, बृहत्" कहकर किया था, अर्थात् वह सत्यका सदन अथवा स्वधाम है, बृहत् सत्य है, अथवा सत्य, ऋत्, बृहत् हैं; और, फिर यह वर्णन भी है कि वह सत्यसे आवृत सत्य है जहाँ ज्ञानका सूर्य अपनी यात्रा समाप्त करता और अपने अश्वोंको खोलता है, जहाँ चेतनाकी सहस्रों किरणें एक साथ एकत्रित हैं जिससे वहाँ दिव्य पुरुषका परम रूप, "तद एकं" है। परंतु यह जगत्, जिसमें हम रह रहे हैं, उन्हें सम्मिश्र ताना-बाना-जैसा दिखाई दिया जिसमें सत्य प्रचुर मिथ्यात्वसे विकृत है, "अनृतस्य भूरेः",[1] यहाँ उस अद्वय ज्योतिको प्राथमिक अंधकार अथवा निश्चेतनाके समुद्र—"अप्रकेतं सलिलम्"—मेंसे अपनी ही बृहत् शक्तिके प्रयाससे जन्म लेना होता है; अमरत्व और देवत्वको मृत्यु, अज्ञान, दुर्बलता, कष्ट और परिसीमनके जूएके अधीन जीवनमेंसे निर्मित करना होता है। इस आत्म-निर्माणके लिये उन्होंने यह रूपक दिया कि यह मनुष्यके द्वारा अपने-आपके अंदर अनंत सत्ताके उस अन्य लोक अथवा उच्च व्यवस्थित सामंजस्यका सृजन है जो 'दिव्य अनंत'में पूर्ण और शाश्वत रूपसे पूर्वविद्यमान है। निम्नतर हमारे लिये उच्चतरकी प्रथमावस्था है; अंधकार प्रकाशका सघन शरीर है, निश्चेतन निजके अंदर सारे प्रच्छन्न अतिचेतनको संरक्षित रखता है, विभाजन और मिथ्यात्वकी शक्तियाँ अपनी अवचेतनाकी गुहामें एकत्व और सत्यके बाज और वसुको हमसे छिपाकर रखती हैं, परंतु साथ ही यह भी है कि उन्होंने उनको हमारे लिये रखा है और इसीलिये रखा है कि हम उन्हें उनसे जीत लें। उनकी दृष्टिमें, प्राचीन रहस्यवेत्ताओंकी बहुत ही रूपक-रहस्यमयी भाषामें व्यक्त, यही तात्पर्य और औचित्य था मनुष्यके वास्तविक जीवनका उसके सचेतन या अचेतन ईश्वराभिमुखी प्रयासका, उसकी उस धारणाका जो उसके ठीक विपरीत लगनेवाले जगत्में प्रथम दृष्टिमें इतनी अधिक विरोधाभासिनी प्रतीत होती है, उसकी उस

1. ऋग्वेद 7. 60. 5.

अभीप्साका जो अमरत्व, ज्ञान, शक्ति एवं आनंदकी पूर्णताके लिये, दिव्य एवं अविनाशी जीवनके लिये है और इतने क्षणिक, दुर्बल, अज्ञ, सीमित जीवमें होनेके कारण उपरितलीय दृष्टिके अनुसार असंभव है।

कारण, वास्तवमें, जब कि आदर्श सृष्टिका आधार-शब्द ही है पूर्ण आत्म-चेतना, अनंत 'आत्मा'में पूर्ण आत्मवत्ता, पूर्ण एकत्व, हमें जिस सृष्टिका वर्तमान अनुभव होता है उसका आधार-शब्द इससे बिल्कुल विपरीत है। वह है आद्या निश्चेतना जो प्राणमें एक सीमित और विभक्त आत्म-चेतनामें विकसित होती है, एक अंधी स्वयम्भू शक्तिके परिचालनके प्रति आद्या निश्चेष्ट अधीनता जो प्राणमें आत्म-सचेतन जीवके निजको और समस्त वस्तुओंको अधिकृत करने और इस अंधी यांत्रिक शक्तिके राज्यमें एक प्रबुद्ध 'इच्छा' तथा 'ज्ञान'का शासन प्रतिष्ठित करनेके लिये संघर्षमें विकसित होती है। और, चूंकि अंधी यांत्रिक शक्ति ही (यद्यपि अब हम वास्तवमें जानते हैं कि यह कोई ऐसी वस्तु नहीं) हमारे सामने सर्वत्र आरंभिक, सर्वत्र-विद्यमान, मूलगत विधान, महान् समग्र ऊर्जाकी नाईं उपस्थित होती है, और चूंकि हम जिस एकमात्र प्रबुद्ध इच्छाको जानते हैं वह, हमारी निजकी इच्छा, एक बादका व्यापार, एक परिणाम, एक आंशिक, उपाश्रित, परिसीमित और अनियमित ऊर्जाकी नाईं प्रकट होती है, अतः वह संघर्ष हमें, अच्छीसे अच्छी दशामें भी, एक बहुत ही संकटपूर्ण और संदिग्ध उद्यम ही प्रतीत होता है। हमारे देखनेमें निश्चेतन ही आदि और अंत है; आत्म-चेतन जीव एक क्षणिक आकस्मिक संयोग होने, विश्वके इस विशाल, अंधकारमय और कराल कलेवरधारी अश्वत्थ-वृक्षपर एक भग्नशील कुसुम होनेकी अपेक्षा अधिक कुछ शायद ही लगता है। अथवा, यदि हम जीवको शाश्वत मानते हैं, तो कम-से-कम, वह इस वृहत् निश्चेतनाके राज्यमें कोई अति सत्कारित अतिथि-जैसा नहीं, अपितु एक विदेशी, एक विजातीय-जैसा ही जान पड़ता है। यदि वह निश्चेतन अंधकारमें होनेवाला कोई आकस्मिक संयोग नहीं, तो शायद अतिचेतन ज्योतिकी कोई भूल, उसका कोई अवस्खलन ही है।

यदि यह दृष्टि संपूर्णतया प्रामाणिक होती, तो इन परिस्थितियोंमें मानव-प्रयासकी संपूर्ण सफलताकी आशाको अपने सम्मुख, और कहीं अधिक, अविश्वासी और संदेहशील जगत्के सम्मुख खड़ी रखनेमें, किसी उच्चतर लोकसे भेजा गया, अपना मिशन भूलनेमें असमर्थ, किसी दिव्य उन्मादके द्वारा अदम्य उत्साहमें गुंथा हुआ, अथवा अदृष्ट देवकी ज्योति, शक्ति और वाणीके द्वारा शांत तथा अनंत धीरतामें स्थिर, कोई चरम कोटिका आदर्शवादी ही अडिग रह पाता। वस्तुतः, अधिकतर यह होता है कि मनुष्य या तो

उसे आरंभसे ही अस्वीकार कर देता, या कुछ आरंभिक उत्साहके बाद उसे प्रमाणित असंभवता मानकर अंततः उससे विमुख हो जाता है। अपने सिद्धांतपर स्थिर रहनेवाला भौतिकवादी एक आंशिक और स्वल्पायु शक्ति, ज्ञान और सुखकी ही, उतने ही की खोज करता है जितनेकी अनुमति प्रकृतिकी आधिपत्यशाली निश्चेतन व्यवस्था मनुष्यकी संघर्ष करती आत्म-चेतनाको तब प्रदान करती है जब मनुष्य अपनी सीमाओंको स्वीकार करता, प्रकृतिके नियमोंका अनुगामी होता और अपनी प्रबुद्ध इच्छाके द्वारा उनका उतना अच्छा-से-अच्छा उपयोग करता है जितना उनकी अप्रशाम्य यांत्रिकता सहन करे। धर्मवादी प्रबुद्ध इच्छा, प्रेम या दिव्य पुरुषके राज्यकी, ईश्वरके राज्यकी अपनी धारणाकी परिपूर्ति उस अन्य लोकमें खोजता है जहाँ वे अमिश्र और नित्य हैं। दार्शनिक रहस्यपंथी इन सबको मनका भ्रम मानकर इनका परित्याग करता और किसी निर्वाणमें आत्म-निर्वापणकी, या नहीं तो अलक्षण निर्विशेषमें निमज्जनकी अभीप्सा करता है; माया-परिचालित व्यक्तिके अंतरात्मा या मनने यदि अज्ञानके इस क्षणिक जगत्में दिव्य संसिद्धिका स्वप्न देखा है तो उसे अंतमें अपनी भूल माननी होगी और अपना व्यर्थका प्रयास त्याग देना होगा। परंतु, फिर भी, चूँकि जीवनके ये दो पहलू हैं, प्रकृतिका अज्ञान और आत्माका आलोक, और चूँकि उन सबके पीछे वह 'अद्वय सद्वस्तु' है, उनके बीच सामंजस्यका स्थापन अथवा, कम-से-कम, खाईपर सेतुका वह निर्माण संभव होना चाहिये जो वेदोंके रहस्यमय आख्यानोंमें पूर्वदृष्ट रहा है। इस संभावनाकी तीक्ष्ण भावना ही शताब्दियोंसे टिकी आ रही है और उसने नाना रूप धारण किये हैं,—मनुष्यकी पूर्णत्व-प्राप्तिकी शक्यता, समाजकी पूर्णत्व-प्राप्तिकी शक्यता, अलवारका पृथ्वीपर विष्णु एवं देवोंके अवतरणका अंतर्दर्शन, संतोंका राज्य, साधूनां राज्यम्, ईश्वर-नगरी, सत्ययुग, इलहामका नया बहिश्त और नयी धरती। परंतु इन संबोधि-स्फुरणोंमें विश्वस्त ज्ञानके आधारका अभाव रहा है और मनुष्यका मन एक भावी उज्ज्वल आशा और वर्तमान धूम्रवर्ण निश्चितिके बीच झूलता रहा है। किंतु यह धूम्रवर्ण निश्चिति उतनी निश्चित है नहीं जितनी वह दिखाई देती है, और यह भी आवश्यक नहीं कि पार्थिव प्रकृतिमें दिव्य जीवनका क्रमविकास या तैयारी मरीचिका हो। अपनी पराजय या अपने परिसीमनकी हमारी सारी स्वीकृतियोंका आरंभ पहले इस अव्यक्त अथवा स्पष्ट मान्यतासे होता है कि एक सारगत द्वैत है, और फिर इससे कि उन द्वैत तत्त्वोंके बीच, चेतन और निश्चेतनके बीच, स्वर्ग और पृथ्वीके बीच, ईश्वर और जगत्के बीच, असीम 'एक' और

सीमित 'वह'के बीच, ज्ञान और अज्ञानके बीच असमाधेय विरोध हैं। अपनी युक्तिधारामें बढ़ते हुए हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि इस द्वैत विरोधका किसी आंशिक अनुभवपर आधारित इन्द्रिय-मन और तार्किक मनोबुद्धिकी भूलसे अधिक कुछ होना आवश्यक नहीं। हम देख चुके हैं कि हमारी विजयकी आशाके लिये एक पूर्णतः युक्तियुक्त आधार हो सकता है और है; कारण, सत्ताके जिस निम्नतर प्रांतमें हम अभी रह रहे हैं उसने अपने ही अंदर अपनेसे परेके प्रांतके तत्त्व और अभिप्रायको अंतर्विष्ट रखा है और निजत्वसे ऊपर उठकर और उस स्वोत्तर तत्त्वमें अपने रूपांतरसे ही वह सत्ता अपने निजके सच्चे सारको प्राप्त और संपूर्णतः विकसित कर सकती है।

परंतु हमारी युक्तिधारामें एक स्थल अभीतक कुछ अस्पष्ट छोड़ दिया गया है, और वह ठीक ज्ञान और अज्ञानके सह-अस्तित्वके इस विषयमें ही है। निस्संदेह, हम यहाँ वैसी अवस्थाओंसे आरंभ करते हैं जो आदर्श-स्वरूप दिव्य सत्यके विपरीत हैं और उस विरोधकी सारी परिस्थितियाँ जीवके आत्म-विषयक और सर्वात्मा-विषयक अज्ञानपर आश्रित हैं, यह एक आद्य विश्वव्यापी अज्ञानका परिणाम है जिसका फल है आत्म-परिसीमन और जीवनका विभाजनपर स्थापन। यह विभाजन होता है सत्तामें, चेतनामें, इच्छा और शक्तिमें, प्रकाशमें; यह विभाजन और परिसीमन होता है ज्ञान, बल और प्रेममें। इसके परिणाममें अहंकार, अंधकारावरण और असामर्थ्यका, ज्ञान तथा इच्छाके दुरुपयोगका, असामंजस्य, दुर्बलता और कष्टका सरासर विपरीत व्यापार आता है। हम देख चुके हैं कि यद्यपि जड़ और प्राण भी इस अज्ञानके भागीदार हैं, इसकी जड़ें मनः-प्रकृतिमें हैं, कारण, मनका तो धर्म ही है मापना, सीमित करना, विशिष्ट करना और इस तरह विभक्त कर देना। परंतु मन भी एक विश्वतत्त्व है, अद्वय है, ब्रह्म है; अतः विभेदकारी और वैशिष्ट्यकारी ज्ञानकी ओर प्रवृत्तिके साथ-साथ उसमें एकत्वकारी और सर्वसामान्यकारी ज्ञानकी ओर भी प्रवृत्ति है। मनकी वैशिष्ट्यकारिणी शक्ति केवल तब अज्ञान बन जाती है जब मन अपने-आपको उन उच्चतर तत्त्वोंसे पृथक् कर लेता है जिनकी वह एक शक्ति है और केवल अपनी विशिष्ट प्रवृत्तिसे ही नहीं, अपितु शेष ज्ञानका बहिष्कार करनेकी प्रवृत्तिसे भी क्रिया करता है; इस प्रवृत्तिमें वह प्रथमतः, प्रधानतः और सर्वदा विशिष्ट करना और एकत्वको एक ऐसी अस्पष्ट धारणाके रूपमें छोड़ देना चाहता है जिसकी ओर केवल बादमें, विशेषीकरणके संपूर्ण हो जानेपर और फिर भी विशेषोंके समुच्चयके द्वारा ही जाना है। यह अनन्यता अज्ञानका प्राण ही है।

अतः, हमें चेतनाकी इस विलक्षण शक्तिको पकड़ना होगा जो हमारे रोगोंकी जड़ है, उसके चालनके विधानकी संवीक्षा करनी होगी और केवल उसके सार स्वभाव और मूलका पता न लगाकर उसके चालनकी शक्ति और प्रक्रिया, उसके अंतिम स्थल और उसे हटानेके उपायका भी पता लगाना होगा। अज्ञानका अस्तित्व किस कारण है? ऐसा कैसे हुआ कि अनंत आत्म-संवित्में कोई तत्त्व अथवा शक्ति आत्मज्ञानको पीछेकी ओर हटा सकी और अपनी निजी विशिष्ट सीमित क्रियाके अतिरिक्त शेष सब कुछका बहिष्कार कर सकी? कुछ मनीषियोंने[2] यह घोषित किया है कि यह समस्या असमाधेय है, यह एक आद्य रहस्य है, आंतरिक स्वरूपमें ही अव्याख्येय है, बस वस्तुस्थिति और प्रक्रियाका कथन किया जा सकता है। या, परम आद्य सत् या असत्के स्वरूपके प्रश्नको या तो यह कहकर अलग हटा दिया जाता है कि उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता या यह कहकर कि उसका उत्तर देना आवश्यक नहीं। कहा जा सकता है कि अज्ञान या भ्रम जिसका मूलभूत धर्म है, वह माया बस है ही, और ब्रह्मकी इस शक्तिके अंदर ज्ञान और अज्ञानकी द्विविध शक्ति अंतर्निहित रूपसे संभाव्य है; हमें इससे अधिक कुछ नहीं करना है कि इस तथ्यको स्वीकार करें और जीवनसे संन्यास लेते हुए, वस्तुओंकी सार्वभौम अचिरता और विश्व-जीवनकी व्यर्थताको मानते हुए, अज्ञानमेंसे ज्ञानके द्वारा, परंतु जो ज्ञान और अज्ञान दोनोंसे परे है उसमें निष्कृतिका उपाय पा लें।

परंतु, सारे प्रश्नके मूलको ही इस प्रकार टाल देनेसे हमारा मन संतुष्ट नहीं रह सकता; स्वयं बौद्ध दार्शनिकोंका मन भी इससे संतुष्ट नहीं रहा। पहली बात तो यह है कि ये दर्शनशास्त्र मूल प्रश्नसे इस तरह अलग हटकर भी, वास्तवमें दूरतक पहुँचनेवाले ऐसे प्रतिपादन करते हैं जो अज्ञानकी केवल किसी विशेष क्रिया और लक्षणोंको नहीं, अपितु अज्ञानके एक विशेष मूलभूत स्वभावको भी मान लेते हैं और उसीके आधारपर उनका उपचारोंका

---

2. बुद्धने इस दार्शनिक समस्यापर विचार करनेसे इनकार कर दिया। उन्होंने कहा कि हमारी मिथ्या वैयक्तिकताका निर्माण किस विधिसे हुआ, दुःखमय जगत्का अस्तित्व कैसे कायम रखा जाता है और उससे बच निकलनेका उपाय क्या है, केवल इन बातोंका महत्व है। कर्म एक तथ्य है; ऐसी वस्तुओंका निर्माण, ऐसी वैयक्तिकताका निर्माण जो सत्यतः अस्तित्ववान् नहीं, यही दुःखका कारण है। कर्म, वैयक्तिकता और दुःखसे छुटकारा ही हमारा एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये; उसका विलोपन करके हम ऐसी किसी भी अवस्थामें पहुँच जायँगे जो इन सबसे मुक्त है, चिरस्थायी और सत्य है: एकमात्र मुक्तिका मार्ग महत्व रखता है।

नुस्खा तैयार होता है; और यह स्पष्ट है कि रोगके ऐसे आमूल निदानके बिना उपचारका जो भी नुस्खा होगा कुवैद्यका नुस्खा ही होगा। परंतु हम यदि मूल प्रश्नको टाल देते हैं तो हमें यह निर्णय करनेका साधन नहीं रह जाता कि उपस्थित प्रतिपादन सही हैं या नहीं, या नुस्खेमें दिये गये उपचार ठीक हैं या नहीं, या ऐसे अन्य प्रतिपादन या उपचार हैं या नहीं जो इतने उग्र, आमूल विनाशकारी, या अंगभंग करनेवाली शल्यक्रिया-जैसे या रोगीका अंत कर देनेवाले-जैसे न हों और फिर भी एक अधिक सर्वांगीण तथा स्वाभाविक नैरोग्य प्रदान कर सकें। दूसरे, मनुष्य विचारधर्मी है, अतः ज्ञान प्राप्त करना सदा ही उसका काम है। संभव है कि वह मनके साधनोंसे अज्ञानके अथवा विश्वकी किसी भी वस्तुके सारको उसकी विशिष्टताके निरूपणके अर्थमें न जान सके, कारण, वस्तुओंको मन उस अर्थमें केवल उनके चिह्न, लक्षण, रूप, गुण, धर्म, कर्म और अन्य वस्तुओंके संबंधके द्वारा ही जान सकता है, उनके गुह्य आत्म-सत्त्व और सारतत्त्वमें नहीं। परंतु हम अज्ञानके दृश्य रूप और क्रिया-व्यापारके अपने निरीक्षणको तबतक अधिकाधिक आगे बढ़ाते जा सकते हैं, अधिकाधिक स्पष्ट करते जा सकते हैं, जबतक कि हमें ठीक उद्भासक शब्द न मिल जाय, उस वस्तुका ठीक संकेतकारक बोध न मिल जाय, और इस प्रकार हमें उसका ज्ञान बुद्धि द्वारा नहीं, अपितु सत्यके दर्शन और अनुभव द्वारा, अपनी निजी सत्तामें सत्यकी उपलब्धि द्वारा न हो जाय। मनुष्यके उच्चतम बौद्धिक ज्ञानकी सारी प्रक्रिया इस मानसिक क्रिया-कौशल और विवेकके द्वारा उस बिंदुतक जानेकी है जहाँ पर्दा फट जाता और मनुष्य देख पाता है। अंतमें प्रवेश करता है आध्यात्मिक ज्ञान, वह हमें सहायता देनेको आता है ताकि हम जिसे देखते हों वही हो जायँ, उस ज्योतिमें प्रवेश कर जायँ जिसमें अज्ञान नहीं।

यह सच है कि जबतक हम मनोमय जीव हैं, अज्ञानका प्रथम मूल हमसे परे रहता है; कारण, हमारी बुद्धि अज्ञानके अंतर्गत ही रहती और विचरण करती है; वह उस बिन्दुतक नहीं पहुँचती, उस स्तरतक नहीं चढ़ती जहाँ वह पार्थक्य घटित हुआ जिसका परिणाम वैयक्तिक मन है। किंतु यह बात सभी वस्तुओंके प्रथम मूल और उनके मूलभूत सत्यके संबंधमें सच्ची है, और इस नियमके अनुसार हमें एक सामान्य अज्ञेयवादसे संतुष्ट रह जाना चाहिये। मनुष्यको अज्ञानमें कार्य करना है, उसकी अवस्थाओंके तले सीखना है, उसे उसके दूरतम बिंदुतक जानना है जिससे वह उसके सीमांतोंपर पहुँच सके जहाँ अज्ञान सत्यसे मिलता है और उसके ज्योतिर्मय तमसावरणके

अंतिम ढक्कनका स्पर्श कर सके और उन क्षमताओंका विकास कर सके जो उसे उस शक्तिशाली किंतु वस्तुतः निःसत्त्व अवरोधके पार जानेमें समर्थ बनाती हैं।

अतः हमने अज्ञानके इस तत्त्व या इस शक्तिकी प्रकृति और क्रियाकी अबतक जितनी संवीक्षा की है, उसकी अपेक्षा अधिक गहराईसे करनी होगी और उसकी प्रकृति तथा मूलका अधिक स्पष्ट प्रत्यय प्राप्त करना होगा और पहले हमें अपने मनमें दृढ़तासे यह जमा लेना होगा कि स्वयं इस शब्दसे हमारा क्या अर्थ है। ज्ञान और अज्ञानके भेदका आरंभ ऋग्वेदकी ऋचाओंमें है। वहाँ ज्ञानका अर्थ प्रतीत होता है सत्यकी, ऋतकी चेतना, सत्यं ऋतम्, और जो कुछ भी सत्य और ऋतकी श्रेणीका है वह सब; और अज्ञान है सत्य और ऋतके प्रति अचेतना, अचित्ति, सत्यं ऋतम्की क्रियाओंसे विरोध और मिथ्या अथवा प्रतिकूल क्रियाओंकी सृष्टि। अज्ञान है हमें अतिमानसिक सत्यका दर्शन करानेवाले दिव्य प्रत्यक्षण-चक्षुका अभाव; अज्ञान है हमारी चेतनामें सत्य-द्रष्टा सचेतन दर्शन और ज्ञान है "चित्ति"के विरोधमें न-द्रष्टा तत्त्व, "अचित्ति"। अपने वास्तविक चालनमें यह न-द्रष्टापन कोई सम्पूर्ण निश्चेतना नहीं, जिस निश्चेतन समुद्र "अप्रकेतं सलिलं" से यह जगत् उद्भूत हुआ है वह भी नहीं, अपितु यह या तो सीमित ज्ञान है या मिथ्या ज्ञान, अविभक्त सत्ताके विभाजनपर आधारित, वस्तुओंकी समृद्ध, विशाल और ज्योतिर्मयी सम्पूर्णताके विपक्षमें खंडपर, लघुपर अधिष्ठित ज्ञान, यह ऐसा ज्ञान है जो अपनी सीमाओंके अवसरके कारण मिथ्यात्वमें परिणत हो जाता है, और उस रूपमें इसका समर्थन करते हैं वृत्रपुत्र, दस्युगण, अंधकार और विभाजनके पुत्र, मनुष्यमें अंतःस्थ दिव्य प्रयासके शत्रु, उसके ज्ञानके प्रकाशपर आक्रमण करनेवाले, उसे आवृत करनेवाले। अतः उसे एक अदिव्य माया, 'अदेवी माया', वह माया माना गया जो मिथ्या मानस-रूपों और प्रतीतियोंका सर्जन करती है,—और इसीसे इस शब्दका बादके युगका अर्थ आया, क्योंकि जब कि मायाका आद्य अर्थ ज्ञानकी एक रचयित्री शक्ति, परम ऐंद्रजालिकका, दिव्य ऐंद्रजालिकका सच्चा इंद्रजाल रहा जान पड़ता है, उस शब्दका व्यवहार एक निम्नतर ज्ञानकी प्रतिकूल रचयित्री शक्तिके अर्थमें, राक्षसके छल, भ्रमकारिता और प्रवंचक इंद्रजालके अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ। दिव्य माया वस्तुओंके सत्यका, उस सत्यके सार, विधान, और क्रियाका ज्ञान है जो देवताओंको प्राप्त है और जिसपर वे अपनी निजी शाश्वत क्रिया और सृष्टिको[3] और मानव-

3. देवानाम् अदब्धा व्रतानि

प्राणीमें अपनी शक्तियोंके अपने निर्माणको अधिष्ठित करते हैं। वैदिक रहस्य-ज्ञानियोंका यह भाव एक अधिक तत्त्व-मीमांसीय विचार और भाषामें इस प्रत्ययमें व्यक्त किया जा सकता है कि अज्ञान अपने मूलमें एक विभाजनकारी मानसिक ज्ञान है जो वस्तुओंके एकत्व, सार और स्वधर्मको उनके अद्वय मूल और उनकी विश्वात्मकताके भावमें ग्रहण नहीं करता, अपितु, बल्कि, विभक्त विशेषों, पृथक् व्यापारों, आंशिक संबंधोंके आधारसे क्रिया करता है, मानों वे ही वह सत्य हों जिसका हमें अभिग्रहण करना है या मानों विभाजनके पीछे एकत्वकी ओर, छितरावके पीछे विश्वात्मकताकी ओर वापस गये बिना ही उन्हें यथार्थतः समझा जा सकता हो। ज्ञान वह है जिसकी प्रवृत्ति एकत्वकी ओर होती है और जो अतिमानसिक क्षमताको प्राप्त कर अस्तित्वके एकत्व, सार और स्वधर्मको ग्रहण करता और वस्तुओंके बहुत्वके साथ उसी प्रकाश और पूर्णतामेंसे व्यवहार करता है, कुछ इस भाँति जैसे कि स्वयं भगवान् उस अनुत्तर ऊँचाईसे करते हैं जहाँसे वह जगत्का आलिंगन करते हैं। तथापि यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि अज्ञान-विषयक इस धारणाके अनुसार अज्ञान फिर भी एक प्रकारका ज्ञान है, परंतु चूँकि वह परिसीमित है, अतएव वह किसी भी बिंदुपर मिथ्यात्व और भूलके अनाहूत आगमनके लिये खुला रहता है; वह वस्तुओंकी गलत धारणामें मुड़ जाता है जो सच्चे ज्ञानके विपरीत रूपमें खड़ी होती है।

उपनिषद्की वेदांती विचारधारामें हम वेदोंके मूल शब्दों 'चित्ति, अचित्ति'के स्थानपर विद्या-अविद्याके सुपरिचित विरोधको स्थान लेते पाते हैं। और, शब्दोंके परिवर्तनके साथ-साथ अर्थमें भी एक परिवर्तन आ गया है: कारण, चूँकि ज्ञानका स्वभाव है सत्यकी एषणा और मूलगत सत्य वह 'एकं' है,—जिसे वेद बार-बार "तत्सत्यम्" और "तदेकम्", "वह सत्य" और "वह एकं" कहता है,—अतः विद्याका अर्थ, उसके उच्चतम आध्यात्मिक भावमें, विशुद्ध और तीक्ष्ण रूपसे उस 'एकं'का ज्ञान किया जाने लगा और अविद्याका अर्थ शुद्ध और तीक्ष्ण रूपसे किया जाने लगा विभक्त बहुका ज्ञान, 'अद्वय सद्वस्तु'की एकत्वकारिणी चेतनासे विच्छिन्न, जैसा कि वह इस जगत्में विच्छिन्न है। वैदिक शब्दोंकी धारणामें जो विविध और उपलक्षित भावों और अर्थवंत रूपकोंके बहुमुखी संयोग थे, उनकी समृद्ध अंतर्वस्तुएँ, ज्योतिर्मयी उपच्छायाएँ थीं, उनका बड़ा भाग एक अधिक सुनिश्चित और दार्शनिक, किंतु कम अन्तर्मर्मी और कम लचीली भाषामें खो गया। परंतु फिर भी, आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके सच्चे सत्यसे पूर्णतया पृथक्त्वका,

एक आद्य भ्रमका, स्वप्न या विभ्रमके साथ समीकृत की जा सकनेवाली चेतनाका जो अतिरंजित विचार बादमें आया, वह वेदांतकी अज्ञान-विषयक धारणामें पहले प्रविष्ट नहीं हुआ था। उपनिषदोंमें यदि यह घोषणा की गयी है कि जो 'अविद्या'में रहता और विचरण करता है वह अंधेके द्वारा ले जाये जाते अंधेके समान ठोकरें खाता हुआ इधर-उधर भटकता रहता है और सदा अपने लिये खुले विस्तृत मृत्यु-जालमें वापस चला जाता है, तो उपनिषदोंमें अन्यत्र यह भी कहा गया है कि जो केवल विद्याका अनुसरण करता है वह मानों अविद्याका अनुसरण करनेवालेकी अपेक्षा अधिक घने अंधकारमें प्रवेश करता है और जो मनुष्य ब्रह्मको विद्या और अविद्या, एक और बहु, संभूति और असंभूति दोनों रूपोंमें जानता है, वह अविद्याके द्वारा, बहुत्वके अनुभवके द्वारा मृत्युको पार कर जाता और विद्याके द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति करता है। कारण, यथार्थमें वह स्वयंभू ही ये समस्त भूत हो गया है; किसीको भ्रमित करनेकी भावनाके बिना, पूरी सच्चाई और गंभीरतासे, उपनिषदें दिव्य पुरुषको संबोधन करती हुई कह सकती हैं, "यह वृद्ध मनुष्य जो छड़ीके सहारे चल रहा है तुम्हीं हो; वहाँ जो वह कुमार और कुमारी हैं तुम्हीं हो; यह नील-पंखोंवाला पक्षी, वह लाल आँखोंवाला पक्षी तुम्हीं हो;" वे यह नहीं कहतीं कि अज्ञानके आत्म-वंचनाकारी मनको "तुम ये वस्तुएँ प्रतीत होते हो।" संभूतिकी स्थिति सत्-पुरुषकी स्थितिकी अपेक्षा निस्संदेह निम्नतर है, किन्तु फिर भी, विश्वमें जो कुछ है यह सत्-पुरुष ही वह सब हो जाता है।

परंतु पृथगात्मक विभेदकी प्रगति यहीं नहीं रुक जा सकती थी; उसे अपनी तर्कसंगत चरम सीमातक जाना था। चूंकि उस 'एक'का ज्ञान ज्ञान है और बहुका ज्ञान अज्ञान, अतएव, अनम्य रूपसे विश्लेषणात्मक और तार्किक दृष्टिके लिये, इन दो शब्दों द्वारा निर्देशित वस्तुओंके बीच शुद्ध विरोधके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता; उनके बीच कोई मूलस्थ एकता नहीं, उनके बीच मेल बैठाना संभव नहीं। अतएव, एकमात्र विद्या ज्ञान है, अविद्या है शुद्ध अज्ञान; और यदि शुद्ध अज्ञान भावात्मक रूप ग्रहण करता है तो इस कारण कि वह सत्यको न जानना ही नहीं, अपितु भ्रमों और भ्रान्तियोंका, वास्तव प्रतीत होनेवाली अवास्तवताओंका, कुछ समयके लिये मान्य मिथ्यात्वोंका सर्जन है। तब तो यह स्पष्ट है कि अविद्याकी विषय-वस्तुका कोई सच्चा और स्थायी अस्तित्व नहीं हो सकता; 'वह' भ्रम हैं, जगत्‌की कोई वास्तव सत्ता नहीं। निस्संदेह, जगत् जबतक है तबतक उसका एक प्रकारका अस्तित्व होता है, जैसे कि स्वप्नका अस्तित्व

होता है अथवा उन्मत्त या विक्षिप्त मस्तिष्कके दीर्घकालतक टिके विभ्रमका अस्तित्व होता है, परंतु इससे अधिक कुछ नहीं। वह 'एकं' न तो 'बहु' हुआ है, न कभी हो ही सकता है; आत्मा न तो ये सारे भूत हो गया है, न हो ही सकता है; ब्रह्मने न तो अपने अंदर किसी वास्तव जगत्को अभिव्यक्त किया है, न कर ही सकता है। यह तो मन ही है या वह तत्त्व ही है जिसका एक परिणाम मन है, जो निर्गुण तथा अलक्षण एकत्वपर नाम और रूपोंको आरोपित करता है; परंतु यह अलक्षण एकत्व ही एकमात्र सत्य है, और चूंकि वह एकत्व स्वरूपतः अलक्षण है अतः वह वास्तव लक्षण और विविधताकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। या फिर, वह यदि इन वस्तुओंको अभिव्यक्त करता भी है, तो इनकी वास्तवता कालिक और क्षणिक ही है; वह सच्चे ज्ञानका प्रकाश होनेपर लुप्त हो जाती और अवास्तव प्रमाणित होती है।

अंतिम सद्वस्तु-विषयक और मायाके सच्चे स्वरूप-विषयक हमारी दृष्टिने हमें तार्किक बुद्धिकी इन उत्तरकालीन पैनी अतिशयताओंका परित्याग करने और आदि वेदांती धारणाकी ओर पुनः लौटनेको बाध्य किया है। इन चरम निष्कर्षोंकी तेजस्वी निर्भयताकी, इन सिद्धांतोंकी असुलहकारी तार्किक शक्ति और तीक्ष्णताकी हम हर प्रकारसे प्रशंसा करते हैं, और जबतक हम इनके आधारगत अभ्युपगमोंको मानते हैं ये निष्कर्ष अखंडनीय रहते हैं। हम इनके मुख्य दावोंमेंसे दोके सत्यको भी मानते हैं, यह कि ब्रह्म एकमात्र सच्ची सद्वस्तु है और यह तथ्य कि स्वयं अपने और विश्व-सत्ताके विषयकी हमारी सामान्य धारणाएँ अज्ञानकी छाप लिये हैं, अपूर्ण हैं, भ्रान्तिजनक हैं। तो भी, हम बुद्धिपर मायाकी इस धारणाके इतने सबल रूपसे जमे अधिकारसे अलग हट जानेको बाध्य होते हैं। परंतु जबतक हम अज्ञानके सच्चे स्वरूप और ज्ञानके सच्चे और समग्र स्वरूपकी थाह नहीं लगा लेते, तबतक दीर्घ कालसे प्रतिष्ठित इस दृष्टिके संस्कारको पूरी तरह नहीं हटाया जा सकता। कारण, ये दोनों यदि चेतनाकी स्वतंत्र, समान और आद्या शक्तियाँ हों तो विश्वभ्रमकी संभावना हमारा पीछा करती है। अज्ञान यदि विश्वजीवनका स्वधर्म ही हो तो यदि विश्व नहीं भी, तो हमारा विश्वानुभव तो अवश्य ही एक भ्रम हो जाता है। या अज्ञान यदि हमारी प्रकृतिका स्वयं स्वधर्म तो न हो परंतु फिर भी 'चेतना'की एक आदि और सनातन शक्ति हो, तब यह संभव है कि विश्वका तो कोई सत्य हो, परंतु विश्वमें अस्तित्व रखनेवाले जीवके लिये, जबतक वह विश्वमें रहता है, उसके सत्यको जानना असंभव हो: यथार्थ ज्ञानतक

वह केवल तब पहुँच सकता है जब कि वह मन और विचारसे परे चला जाय, इस जगत्-रूपणसे परे चला जाय और समस्त वस्तुओंको ऊपरसे किसी विश्वातीत अथवा विश्वोत्तर चेतनासे उन लोगोंकी भाँति देखने लग जाय जो शाश्वत पुरुषसे साधर्म्य प्राप्त कर चुके हैं और उसीमें निवास करते हैं, सृष्टिमें जन्म नहीं लेते और अपनेसे नीचेके लोकोंके प्रलयसे व्यथित नहीं होते[4]। परंतु इस समस्याके संतोषप्रद समाधानकी ओर हम शब्दों और विचारोंकी जाँच या तार्किक विवादके आधारपर संतोषप्रद रूपसे नहीं बढ़ सकते, वह समाधान इस तरह नहीं मिल सकता ; वह समाधान चेतनाके संबंधित तथ्यों, सतहके और साथ ही हमारे सतही स्तरसे नीचे या ऊपरके या हमारी सामनेकी सतहसे पीछेके तथ्योंके समग्र अवलोकन और उनमें अंतर्वेधनका और उनकी अर्थवत्ताकी थाह लेनेमें सफलताका ही परिणाम होगा।

कारण, तार्किक बुद्धि सार सत्यों अथवा आध्यात्मिक सत्योंकी पर्याप्त निर्णायिका नहीं। इसके अतिरिक्त, बहुत प्रायः, चूंकि उसमें शब्दों और अमूर्त विचारोंके साथ इस तरह व्यवहार करनेकी प्रवृत्ति रहती है मानों वे अवश्य-मान्य वास्तवताएँ हों, अतः उसके लिये उनकी बेड़ियाँ बन जाती हैं और वह उनसे परे, हमारे जीवनके मूल और समग्र तथ्योंकी ओर निर्बाध होकर नहीं देखती। वस्तुओंको हम जैसे देखते हैं वह देखना हमारे मन या स्वभावके किसी विशेष प्रकारके झुकाव या हमारी प्रकृतिकी किसी विशेष प्रवृत्तिमें पूर्वविद्यमान रहता और गुप्त रूपसे उस तर्कणाको ही पूर्वनिर्धारित करता है जो उस दृष्टितक ले जानेका दावा करती है ; बौद्धिक वक्तव्य हमारी बुद्धिके सामने उसी पूर्वविद्यमान दृष्टिका विवरण और तर्कणाके द्वारा समर्थन है। स्वयं वह तर्कणा केवल तव निर्णयकारी हो सकती है जव कि वस्तुओंके जिस प्रत्यक्षणपर वह आधारित होती है वह देखना सच्चा हो और समग्र भी। यहाँ हमें सत्यतः और सर्वांगीणतः देखना है अपनी चेतनाके स्वरूप और प्रामाण्यको, अपनी मानसताके मूल और क्षेत्रको, कारण, तभी हम अपनी सत्ता और प्रकृतिका, जगत्-सत्ता और जगत्-प्रकृतिका सत्य जान सकते हैं। ऐसे अनुसंधानमें हमारा नियम देखना और जानना ही होना चाहिये ; तार्किक बुद्धिका केवल वहाँतक व्यवहार करना चाहिये जहाँतक वह हमारे दर्शन और ज्ञानकी व्यंजना और विन्यासको स्पष्ट करती और उसका औचित्य प्रमाणित करती है, परंतु उसे

4. गीता

हमारी धारणाओंको शासित करने और जो सत्य उसकी तार्किकताके अनम्य ढाँचेके अंदर नहीं आता उसका बहिष्कार करने नहीं दिया जा सकता। भ्रम (माया), ज्ञान और अज्ञान हमारी चेतनाकी अभिधाएँ या परिणाम हैं, और अपनी चेतनाके अंदर गहराईसे देखकर ही हम ज्ञान और अज्ञानके और, यदि माया है तो, माया और 'सद्वस्तु'के स्वरूप और संबंधोंका संधान पा सकते और उन्हें निर्धारित कर सकते हैं। हमारे अनुसंधानका मूलभूत विषय, निस्संदेह, 'सत्ता' है, यह है कि वस्तुएँ अपने-आपमें, अपने स्वभावमें कैसी हैं ; किंतु 'सत्ता'तक हम चेतनाके द्वारा ही पहुँच सकते हैं। अथवा यदि यह बात कायम रखी जाय कि चूँकि 'सत्ता' या 'सत्' अतिचेतन है, अतः हम चेतनाका विलोपन या अतिक्रमण करके ही अथवा उसके आत्मातिक्रमण और आत्म-रूपांतर द्वारा ही 'सत्ता'तक जा सकते, 'सत्'में प्रवेश कर सकते हैं, तो भी इस आवश्यकताका ज्ञान और इस विलोपन या इस आत्मातिक्रमण, इस रूपांतरके संपादनकी प्रक्रिया या शक्तिका ज्ञान चेतनाके द्वारा ही होता है। अतएव, अतिमानसिक सत्यको चेतना द्वारा जानना परमावश्यक हो जाता है और जिस शक्ति तथा प्रक्रिया द्वारा चेतना अतिचेतनामें चली जा सकती है उसका आविष्कार हो जाता है परमाविष्कार।

परंतु हमारे अपने अंदर चेतना मनसे अभिन्न लगती है। जो कुछ भी हो, मन हमारी सत्ताका इतना प्रधान तत्त्व तो है ही कि उसकी मूलभूत गतिविधिका निरीक्षण पहली आवश्यकता है। तथापि, वास्तवमें, मन हमारा संपूर्णत्व नहीं ; हमारी सत्तामें एक प्राण है और एक शरीर भी, एक अवचेतना है और एक निश्चेतना भी ; एक आध्यात्मिक सत्ता भी है जिसका मूल और जिसका गुप्त रहस्य हमें एक गुह्य अंतर्मुखी चेतना और एक अतिचेतनामें ले जाते हैं। यदि मन ही सब कुछ होता या वस्तुओंके अंदरकी आद्या चेतनाका स्वरूप मनके स्वरूप-जैसा होता तो यह धारणा संभव थी कि माया या अविद्या हमारे प्राकृत जीवनका उत्स हो : कारण, मानस-प्रकृति द्वारा ज्ञानका जो परिसीमन और ज्ञानका जो तमसावृतीकरण होते हैं, वे भूल और भ्रमकी रचना करते हैं ; मनकी क्रिया द्वारा सृष्ट भ्रम हमारी चेतनाके प्राथमिक तथ्योंमेंसे हैं। अतः यह मान्यता धारणागम्य हो जाती है कि मन अज्ञानकी जननी है और वह अज्ञान हमसे एक मिथ्या जगत्का, चेतनाके विषयिनिष्ठ निर्माणसे अधिक और कुछ न होनेवाले जगत्का सृजन या प्रत्युपस्थापन कराता है। या, नहीं तो, मन वह गर्भाशय हो सकता है जिसमें किसी आद्या माया या अविद्याने एक

मिथ्या और अचिर विश्वका बीज डाल दिया हो ; मन फिर भी जननी होगा,—यद्यपि "वंध्या जननी" ही, कारण उसकी संतान अवास्तव होगी,—और माया या अविद्याको विश्वकी मातामही कहा जा सकेगा ; कारण, स्वयं मन मायाका उत्पादन या प्रत्युत्पादन होगा। परंतु इस अस्पष्ट और रहस्यमयी मातामहीकी मुखाकृतिको देखना कठिन है ; कारण, तब हमें शाश्वत 'सद्वस्तु'पर एक विश्व-विकल्पना या मायिक चेतनाका आरोप करना होगा ; तब सद्वस्तु-स्वरूप ब्रह्म या तो स्वयं ही निर्माता 'मन' होगा या कोई 'मन'से महत्तर निर्माणकारी, परंतु सदृशधर्मी चेतना होगा, या वह 'मन' या चेतना उसीकी होगी, या उन्हें वह अवलंब देता होगा ; वह अवश्य ही निजकी क्रिया या निजके अनुमोदन द्वारा अपने निजके भ्रम और भूलभ्रांतिका स्रष्टा होगा, और शायद 'मन'की भाँति, उनमें किसी प्रकारका भाग लेते रहनेके कारण उनका शिकार भी हुआ होगा। यदि 'मन' एक माध्यम या दर्पण मात्र हो जिसमें किसी आदि भ्रमका प्रतिविंब या 'सद्वस्तु'का कोई मिथ्या प्रतिबिंब या छाया पड़ती हो तो भी जटिलता कम नहीं होती। कारण, प्रतिबिंबके इस माध्यमका मूल अव्याख्येय होगा और उसपर पड़नेवाले मिथ्या प्रतिबिंबका मूल भी। अनिर्देश्य ब्रह्म अनिर्देश्य-जैसा कुछ ही प्रतिबिंबित होगा, न कि बहुविध विश्व-जैसा। अथवा, यदि प्रतिबिंबकारी माध्यमकी असाम्यताके कारण ही, उसका स्वरूप तरंगित और चंचल जल-जैसा होनेके कारण ही 'सद्वस्तु'के खंडित प्रतिबिंबोंकी सृष्टि होती है, तो भी, वहाँ व्यक्त होनेवाले प्रतिबिंब सत्यके ही खंडित और विकृत रूप होंगे, न कि वस्तुओंके मिथ्या नामों और रूपोंका अँखुआना जिनके अस्तित्वका कोई मूल या आधार 'सद्वस्तु'में न हो। मनके विश्वके बहुविध प्रतिरूपोंमें अद्वय 'सद्वस्तु'का कोई बहुविध सत्य ही प्रतिबिंबित हुआ होना चाहिये, चाहे कितने ही मिथ्या अथवा अपूर्ण रूपसे क्यों न हो। अतः, ऐसा भली-भाँति हो सकता है कि जगत् तो सत्य हो, परंतु मनके हाथों उसका जो निर्माण या चित्रण होता है वही सभूल अथवा सदोष हो। किंतु इसका अर्थ यह होगा कि हमारा मानसिक विचार और प्रत्यक्षण ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न मात्र है ; एक उससे भिन्न ज्ञान है, एक सच्ची प्रज्ञा है जिसे 'सद्वस्तु'की संवित् है और उसके अंदर एक वास्तव विश्वके सत्यकी संवित् भी।

कारण, यदि हम यह पाते हों कि एकमात्र उच्चतम 'सद्वस्तु' और अज्ञ मनका अस्तित्व है, तो हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि अज्ञान ब्रह्मकी एक आद्या शक्ति है, यह मानना ही होगा कि अविद्या या माया

सकल वस्तुओंका मूल है। तब माया स्वयं-प्रज्ञ ब्रह्मकी एक सनातन शक्ति होगी जिसके द्वारा ब्रह्म अपने-आपको, या बल्कि ब्रह्म प्रतीत होनेवाली किसी वस्तुको, माया द्वारा सृष्ट किसी वस्तुको मोहित करता है; मन मायाके अंश-रूपमें ही अस्तित्व रखनेवाले जीवकी एक अज्ञानमयी चेतना होगा। माया ब्रह्मकी वह शक्ति होगी जिससे वह अपने-आपपर नाम और रूप आरोपित करता है, मन उसकी वह शक्ति होगा जिससे वह उन्हें ग्रहण करता और सत्य मानने लगता है। या, माया ब्रह्मकी वह शक्ति होगी जिससे वह भ्रमोंको भ्रम जानता हुआ उनकी सृष्टि करता है; मन उसकी वह शक्ति होगा जिसके द्वारा वह यह भूलकर उन्हें ग्रहण करता है कि वे भ्रम हैं। परंतु ब्रह्म यदि आत्म-संवित्‌में स्वरूपतः और नित्य एक हो तो यह प्रवंचना संभव न होगी। यदि ब्रह्म अपने-आपको इस प्रकार विभक्त कर सकता हो, एक साथ ही जानता भी हो और नहीं भी जानता हो, या उसका एक अंग जानता हो और दूसरा अंग न जानता हो तो, या यदि वह निजका कोई अंश मायामें डाल सकता हो, तो भी, ब्रह्मको चेतनाकी एक द्विविध अथवा बहुविध क्रियाके लिये समर्थ रहना ही चाहिये,—एक चेतना 'सद्वस्तु'की, दूसरी भ्रमकी, अथवा एक चेतना अज्ञ, दूसरी अतिचेतना। यह द्विविधता अथवा बहुविधता प्रथम दृष्टिमें तर्कसे असंभव लगती है, परंतु इस प्राक्कल्पनाके आधारपर इसे ही सत्ताका निर्णायक तथ्य, एक आध्यात्मिक रहस्य, एक तर्कातीत विरोधाभास होना चाहिये। किंतु एक बार जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि वस्तुओंका मूल तर्कातीत रहस्य है, तो हम समान या बेहतर रूपसे इस दूसरे निर्णायक तथ्यको भी स्वीकार कर सकते हैं कि वह 'एक' ही बहु हो जाता है या सर्वदा बहु है, और 'बहु' भी 'एक' हैं या 'एक' हो जाते हैं; प्रथम दृष्टिमें यह भी तर्कसे असंभव है, तर्कातीत विरोधाभास है, फिर भी वह हमारे सामने सत्ताके एक सनातन तथ्य और विधान-रूपमें उपस्थित होता है। परंतु, यदि इसे स्वीकार कर लिया जाता है तो भ्रमात्मिका मायाको बीचमें डालनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। या, समान रूपसे हम इस धारणाको स्वीकार कर सकते हैं, जैसा हमने किया है, कि एक अनंत एवं शाश्वत है जो अपनी चेतनाकी अनंत शक्ति द्वारा, अपनी सत्ताके अगाध तथा असीम्य सत्यको बहुत सारे पहलुओं और प्रक्रियाओंमें, असंख्य व्यंजक रूपों और गतिधाराओंमें अभिव्यक्त करनेमें समर्थ है; इन पहलुओं, प्रक्रियाओं, रूपों और गतिधाराओंको हम उसकी अनंत 'सद्वस्तु'की वास्तव अभिव्यंजनाओं, वास्तव परिणामोंके रूपमें देख सकते हैं; तब तो निश्चेतना

और अविद्याको भी इनके बीच विपरीत पहलुओंकी तरह, एक संवृत चेतना और एक आत्म-सीमित ज्ञानकी शक्तियोंकी तरह स्वीकार किया जा सकता है, जिन्हें सामने लानेका कारण यह है कि कालमें एक विशिष्ट गतिधाराके लिये, 'सद्वस्तु'के निवर्तन और विवर्तनकी गतिधाराके लिये उनकी आवश्यकता थी। इस समग्र धारणाका आधार युक्तिसे अतीत हो सकता है, परंतु यह सर्वथा विरोधाभास नहीं; यह तो बस अनंतके संबंधमें हमारी धारणाओंमें परिवर्तनकी, उनके विस्तारणकी माँग करती है।

परंतु, हम यदि एकमात्र मनको या मनकी अज्ञानार्थ शक्तिको ही ध्यानमें रखें, तो न तो जगत्का सच्चा स्वरूप जाना जा सकता, न इन संभावनाओंमेंसे किसीकी भी जाँच की जा सकती है। सत्यके लिये भी मनमें एक शक्ति है; वह जैसे अविद्याके लिये, वैसे ही विद्याके लिये भी अपना विचार-कक्ष खोल देता है, और उसका आरंभ-बिंदु यदि अज्ञान है, उसकी यात्रा यदि भूल-भ्रांतिके टेढ़े-मेढ़े रास्तोंसे होकर है, तो भी उसका लक्ष्य तो सर्वदा ज्ञान ही है: उसमें सत्यकी खोजका एक अंतर्वेग है, सत्य-प्राप्ति और सत्य-सृष्टिकी एक शक्ति है, भले ही वह गौण और सीमित क्यों न हो। यदि वह हमें सत्यके प्रतिबिंब या प्रतिरूप या अमूर्त व्यंजनाएँ ही दिखला सकता हो, तो भी वे निजकी रीतिसे सत्य-प्रतिबिंब अथवा सत्य-रूपायण ही हैं, और वे जिन सत्य वस्तुओंके रूप हैं, वे हमारी चेतनाकी शक्तिकी किसी अधिक गहरी गहराईमें या उसके किसी उच्चतर स्तरपर अपने अधिक मूर्त सत्यमें विद्यमान हैं। संभव है कि जड़ और प्राण उन सत्य वस्तुओंके रूप हों जिनकी किसी अधूरी आकृतिको ही मन स्पर्श करता हो, आत्माकी गुप्त और शाश्वत सत्य वस्तुएँ हों जिनका एक आंशिक और प्राथमिक गृहीता, प्रतिलिपिक अथवा प्रेषित्र ही मन हो। अतः हम चेतनाकी उच्चतर एवं गंभीरतर मानसिक शक्तियों और साथ ही अतिमानसिक तथा अवमानसिक शक्तियोंकी समीक्षा करते हुए ही संपूर्ण सद्वस्तुतक पहुँच सकते हैं। और अंतमें सब कुछ निर्भर करता है सर्वोच्च 'सद्वस्तु'की परा चेतना—या अति-चेतना—के सत्यपर और उस चेतनाके साथ मानस, अतिमानस, अवमानस तथा निश्चेतनाके संबंधपर।

जब हम चेतनाकी निम्नतर तथा उच्चतर गहराइयोंमें वेधन करते और उन्हें उस एक सर्वगत 'सद्वस्तु'में संयुक्त कर देते हैं तो वास्तवमें सब कुछ बदल जाता है। यदि हम आत्म-सत्ता और जगत्-सत्ताके तथ्योंको लें तो देखते हैं कि अस्तित्व सर्वदा एक ही है,—उसकी चरम बहुकताको भी एक एकत्व ही शासित करता है; परंतु वस्तुओंके प्रत्यक्ष रूपको देखते

हुए बहुकता भी अस्वीकार नहीं की जा सकती। हम एकत्वको सर्वत्र हमारा पीछा करते देख चुके हैं : सतहसे नीचे जानेपर हम यह भी पाते हैं कि कोई आवद्धकारी द्वैत नहीं है ; बुद्धि जिन विपरीतताओं और विरोधोंकी सृष्टि करती है उनका अस्तित्व उस आद्य सत्यके पहलुओंके रूपमें ही है ; एकत्व और बहुत्व एक ही 'सद्वस्तु'के सिरे हैं ; हमारी चेतनाको परेशान करनेवाले द्वैत-द्वंद्व सत्ताके एक ही और अभिन्न सत्यके व्यतिरेकी सत्य हैं। समस्त बहुत्व उस एक ही 'सत्'की बहुविधता, 'सत्'की उस एक ही चेतनाकी बहुविधता, 'सत्'के उस एक ही आनंदकी बहुविधतामें पर्यवसित हो जाता है। इस भाँति, सुख और कष्टके द्वंद्वके संबंधमें हम देख चुके हैं कि अस्तित्वके उस अद्वय आनंदका एक विपरीत प्रभाव ही कष्ट है, और वह विपरीत प्रभाव ग्रहणकर्त्ताकी दुर्बलताका, उससे मिलने आनेवाली शक्तिको आत्मसात् करनेमें उसके असामर्थ्यका, उसके अंदर आनंदका जो स्पर्श उसे अन्यथा अनुभूत होता उसे सहनेमें उसके असामर्थ्यका परिणाम है ; स्वयं वह आनंदका कोई मूलभूत विरोधी तत्त्व नहीं, अपितु आनंदके प्रति चेतनाकी एक विकृत प्रतिक्रिया है। यह बात इस अर्थपूर्ण तथ्यसे दिखाई देती है कि कष्ट सुखमें और सुख कष्टमें परिवर्तित हो सकता और दोनों मूल आनंदमें पर्यवसित हो सकते हैं। इसी भाँति दुर्बलताका प्रत्येक रूप भी वस्तुतः उस एक दिव्य 'इच्छाशक्ति' या उस एक 'वैश्व ऊर्जा'की कोई विशेष क्रिया है ; उस शक्तिमें दुर्बलताका अर्थ उसका यह सामर्थ्य है कि वह अपनी शक्तिकी क्रियाको पीछेकी ओर रोके रख सके, मर्यादित कर सके, किसी विशेष रीतिसे विन्यस्त कर सके ; दुर्बलता या असमर्थता शक्तिका कोई मूलभूत विरोधी तत्त्व नहीं, अपितु आत्माका अपनी शक्ति-संपूर्णताको रोके रखना अथवा शक्तिकी एक अपर्याप्त प्रतिक्रिया है। यदि ऐसा है तो यह भी हो सकता है और वस्तु-स्थितिके अनुसार होना भी चाहिये कि हम जिसे अज्ञान कहते हैं वह वस्तुतः उस अद्वय दिव्य ज्ञान-ऋतु अथवा मायाकी एक शक्ति ही है, अन्य कुछ नहीं ; उसी प्रकार अज्ञान उस अद्वय चेतनाका सामर्थ्य है कि वह अपने ज्ञानकी क्रियाको नियंत्रित कर सके, पीछेकी ओर रोके रख सके, मर्यादित कर सके, किसी विशेष रीतिसे विन्यस्त कर सके। तब ज्ञान और अज्ञान ऐसे दो तत्त्व नहीं होंगे जिनके बीच मेल नहीं बैठाया जा सके, जिनमेंसे एक तो जागतिक जीवनका स्रष्टा हो, दूसरा उसके प्रति असहिष्णु और उसका विनाशक, अपितु वे दो सह-अस्तित्ववान् शक्तियाँ होंगे ; दोनों ही स्वयं विश्वमें विद्यमान होंगे, उसकी प्रक्रियाओंके संचालनमें वे क्रिया भिन्न रूपसे कर रहे होंगे, परंतु अपने सारमें एक होंगे और एक

स्वाभाविक रूपांतरसे एक-दूसरेमें घुलमिल जा सकेंगे। परंतु इन्हें इनके मूलगत संबंधमें देखें तो अज्ञान ज्ञानका सहवर्ती होते हुए भी उसके समकक्ष नहीं होगा, अपितु ज्ञानपर आश्रित होगा, ज्ञानका सीमायन या उसकी विपरीत क्रिया होगा।

ज्ञान-प्राप्तिके लिये हमें सदा ही अज्ञ और स्वैरी बुद्धिके अनमनीय निर्माणोंका विघटन और जीवनके तथ्योंका अबाध और नमनीय भावसे अवलोकन करना होगा। जीवनका मूलभूत तथ्य है चेतना जो शक्ति है, और हम वस्तुतः देखते हैं कि यह शक्ति तीन प्रकारसे क्रिया करती है। प्रथमतः हम यह देखते हैं कि एक चेतना है जो सबके पीछे है, सबका आलिंगन करती है, सबके अंदर है, सर्वत्र, पूर्णतः, नित्य आत्म-प्रज्ञ है, वह चाहे एकत्वमें हो, या बहुत्वमें, या दोनोंमें एक साथ, या दोनोंसे परे अपने विशुद्ध परम पदमें। यह परम दिव्य ज्ञानकी पूर्णता है; यह दिव्य सर्वज्ञानकी पूर्णता भी है। फिर, वस्तुओंके दूसरे सिरेपर हम इस चेतनाको अपने-आपके अंदर प्रतीयमान विरोधोंमें अभिनिविष्ट पाते हैं, और सबसे अधिक चरम विरोध अपनी पराकाष्ठा उस अवस्थामें प्राप्त करता है जो हमें उसकी अपने-आपकी संपूर्ण अचित्तिकी अवस्था, एक प्रभावी, क्रियात्मक, सर्जनात्मक निश्चेतना प्रतीत होती है; परंतु हम जानते हैं कि यह बहिस्तलकी ही प्रतीति है और निश्चेतनकी क्रियाओंके अंदर दिव्य ज्ञान परम सुरक्षितता और निश्चितताके साथ क्रिया कर रहा है। हम इन दो विरोधोंके बीच और मध्यवर्ती भूमिकाके रूपमें चेतनाको एक आंशिक, सीमित आत्म-संवित्के साथ क्रिया करते देखते हैं; वह सीमित आत्म-संवित् समान रूपसे बहिस्तलीय है, कारण, उसके पीछे है दिव्य सर्वज्ञान जो उसके द्वारा क्रिया करता रहता है। यहाँ, अपनी मध्यवर्ती स्थितिमें, वह चेतना पराचेतना और अचित्ति, इन दो विरोधियोंके बीच एक स्थायी समझौता प्रतीत होती है, परंतु अपनी प्राप्त सामग्रीको हम विशालतर दृष्टिसे देखें तो बल्कि यह सिद्ध हो सकता है कि वह ज्ञानका सतहपर एक अधूरा उन्मज्जन है। इस समझौते या अपूर्ण उन्मज्जनको ही हम, अपने निजी दृष्टिकोणसे, अज्ञान कहते हैं, कारण, संपूर्ण आत्म-ज्ञानकी ओरसे जीवके आत्म-प्रत्याहारकी हमारी अपनी स्वाभाविक विधि है अज्ञान। चेतनाकी शक्तिकी इन तीनों अवस्थाओंके मूल और उनके ठीक-ठीक संबंधको खोज निकालना यदि संभव हो तो यही हमें करना है।

यदि हमारा अनुसंधान यह पाता हो कि अज्ञान और ज्ञान चेतनाकी दो स्वतंत्र शक्तियाँ हैं, तो हो सकता है कि हमें उनके भेदका अनुसरण चेतनाके उस उच्चतम बिंदुतक करना होगा जहाँ उनका अवसान केवल एक

ऐसे 'निर्विशेष'में होगा जहाँसे वे दोनों एक साथ उद्गत हुए थे[5]। तव यह निष्कर्ष निकाला जा सकेगा कि अतिचेतन 'निर्विशेष'का सत्य ही एकमात्र यथार्थ ज्ञान है और चेतनाका सत्य, विश्वका सत्य, विश्वमें हमारे अपने-आपका सत्य, अपने श्रेष्ठ रूपमें भी एक आंशिक आकृति ही होगा, सदा ही अज्ञानकी सहवर्तिनी विद्यमानताका भार उसके साथ रहेगा, अज्ञानकी उपच्छाया उसे घेरे रहेगी, अज्ञानकी छाया उसका पीछा किया करेगी। यह भी हो सकता है कि सत्य, सामंजस्य और व्यवस्थाकी स्थापना करता एक परम ज्ञान, और स्वैर कल्पना, असामंजस्य और अव्यवस्थाकी क्रीड़ाको आधार देती, अपनी मिथ्यात्व, प्रमाद और दुःखकी चरमताका अडिगताके साथ पोषण करती एक परमा निश्चेतना, मैनिकीवादके जैसे इन परस्पर संघर्ष करते और परस्पर मिश्रित होते प्रकाश और अंधकार, शुभ और अशुभके द्विविध तत्त्व विश्व-जीवनके मूलमें अवस्थित हों। तव कुछ मनीषियोंका यह विचार कि एक निर्विशेष शुभ है, परंतु एक निर्विशेष अशुभ भी है, और दोनों ही परम निर्विशेषकी ओर ले जानेवाले साधन हैं, संगत हो जा सकता है। परंतु हम यदि यह देख लें कि ज्ञान और अज्ञान एक ही चेतनाके प्रकाश और छाया हैं, ज्ञानका परिसीमन अज्ञानका आरंभ है, वह परिसीमन आंशिक भ्रम और भूल-भ्रांतिकी गौण संभावनाका द्वार खोल देता है और यह संभावना पूरा आकार लेती है भौतिक निश्चेतनामें ज्ञानके सोद्देश्य निमज्जनके वाद, किंतु वह ज्ञान भी निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित होनेवाली चेतनाके साथ-साथ उन्मज्जित होता है, तो हमें यह निश्चय हो सकता है कि अज्ञानकी यह परिपूर्णता अपने निजके क्रमविकास द्वारा पुनः एक सीमित ज्ञानमें परिणत हो रही है और हम यह आश्वासन अनुभव कर सकते हैं कि स्वयं वह परिसीमन भी दूर कर दिया जायगा और वस्तुओंका संपूर्ण सत्य प्रत्यक्ष हो जायगा, वैश्व सत्य अपने-आपको वैश्व अज्ञानमेंसे मुक्त कर लेगा। वास्तवमें हो यह रहा है कि अपने अंधकारके प्रगतिशील आलोकीकरण द्वारा अज्ञान अपने अंतरमें प्रच्छन्न-विद्यमान ज्ञानमें अपने रूपांतरकी चाह और तैयारी कर रहा है; अपने सच्चे सार और आकृतिमें अभिव्यक्त वैश्व सत्य उस रूपांतरसे अपने-आपको परम सर्वगत

---

5. उपनिषदोंमें कहा गया है कि विद्या और अविद्या परब्रह्ममें शाश्वत हैं; परंतु इस कथनको इस अर्थमें स्वीकार किया जा सकता है कि इनमें एक तो एकत्वकी चेतना है और दूसरी वहुत्वकी चेतना, जो परम आत्म-संवितमें सहअस्तित्ववान् रहकर 'सृष्टि'का आधार वन गयीं; वहाँ वे एक ही नित्य आत्मज्ञानके दो पार्श्व होंगी।

'सद्वस्तु'के सार और आकृतिके रूपमें प्रकट करेगा। हमने जीवनकी इसी व्याख्याको लेकर आरंभ किया है, परंतु इसकी सत्यताकी जाँचके लिये हमें अपनी बहिस्तलीय चेतनाकी संरचना और उसके अंदर, उसके ऊपर और नीचे जो है उसके साथके उसके संबंधका अवलोकन करना होगा ; कारण, ऐसा करके ही हम अज्ञानके स्वरूप और क्षेत्रको सबसे अच्छी तरह जान सकेंगे। जिस तत्त्वका परिसीमन और विकार अज्ञान है उसका, अर्थात् ज्ञानका स्वरूप और क्षेत्र भी उस प्रक्रियामें हमारे सामने प्रकट हो जायँगे ; वह ज्ञान अपने पूर्ण रूपमें आध्यात्मिक सत्ताका स्थायी आत्मज्ञान एवं विश्वज्ञान है।

अध्याय आठ

स्मृति, आत्म-चेतना और अज्ञान

स्वभावमेके.......वदन्ति, कालं तथान्ये।

कुछ लोग स्वभावकी बात कहते हैं, दूसरे कहते हैं कि यह काल है।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्
6. 1

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्च॥

ब्रह्मके दो रूप हैं, काल और अकाल।

—मैत्र्युपनिषद्
6. 15

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
......विश्वस्य मिषतो वशी॥

रात्रि उत्पन्न हुई और रात्रिसे सत्ताका प्रवहमान समुद्र उत्पन्न हुआ और उस समुद्रपर काल उत्पन्न हुआ जिसके वशमें प्रत्येक दृष्टिवान् जीव है।

—ऋग्वेद
10. 190.1, 2

स्मरो......भूयः...; अस्मरन्तो नैव ते कञ्चन...
मन्वीरन्न विजानीरन्......। यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य
यथाकामचारो भवति॥

स्मृति उससे भी बड़ी है: स्मृतिके बिना मनुष्य न तो कुछ विचार कर सकता, न कुछ जान ही सकता है।....जहाँतक स्मृतिकी गति होती है वहाँतक वह कामचारी है।

—छान्दोग्योपनिषद्
7. 13.1, 2

एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता,
मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः ॥

हमारे अन्दर यही है द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, चिन्मय पुरुष, विज्ञानात्मा।

—प्रश्नोपनिषद्
4. 9

अपनी चेतनाकी द्विविध प्रकृतिके किसी भी सर्वेक्षणमें हमें पहले अज्ञानका अवलोकन करना होगा, कारण, ज्ञानमें परिणत होनेका प्रयास करता अज्ञान ही हमारी प्राकृत अवस्था है। आत्मा और जगत्की यह आंशिक संवित् हमारे अन्दर सम्पूर्ण आत्मज्ञान एवं सर्वज्ञान और सम्पूर्ण निश्चेतनाके बीच मध्यवर्तीकी तरह कार्य करती है और आरम्भ करनेके लिये यह आवश्यक है कि हम उस संवित्की कुछ मूलभूत गतियोंपर विचार कर लें और उस आरम्भबिंदुसे चलकर यह पता लगायें कि हमारी सतहके नीचेकी महत्तर चेतनाके साथ उसका क्या सम्बन्ध है। एक विचारधारा है जिसमें स्मृतिकी क्रियापर बहुत बल दिया जाता है : यहाँतक भी कहा गया है कि स्मृति ही मनुष्य है,—हमारा व्यक्तित्व स्मृतिसे ही निर्मित होता और स्मृति ही हमारी मनोमय सत्ताकी नींवको जोड़े रखती है; कारण, वह हमारे अनुभवोंको संयुक्त करती और एक ही और अभिन्न वैयक्तिक सत्तासे उनका संबंध जोड़ती है। यह एक ऐसा भाव है जो हमारे कालानुक्रमगत अस्तित्वको आधार बनाकर खड़ा होता और प्रक्रियाको मूलस्थ सत्यकी कुंजीके रूपमें मानता है, तब भी मानता है जब कि वह समूची सत्ताको प्रक्रियाके रूपमें या किसी प्रकारकी आत्म-विनियामिका 'ऊर्जा'के विकासमें कार्य-कारणके रूपमें, 'कर्म'के रूपमें नहीं देखता हो। परन्तु प्रक्रिया एक उपयोगिता मात्र है; वह कुछ प्रभावकारी संबंधोंका अभ्यासगत अंगीकार है जो वस्तुओंकी अनंत संभावनामें अन्य रूपसे आयोजित किये जा सकते थे, जिनसे ऐसे परिणाम उत्पन्न किये जा सकते थे जो समान रूपसे सर्वथा भिन्न होते। वस्तुओंका यथार्थ सत्य उनकी प्रक्रियामें नहीं, अपितु उसके पीछे, जो कुछ भी प्रक्रियाको निर्धारित, संपन्न या शासित करता है उसमें रहता है; फिर, वह कार्यान्वयनमें उतना नहीं रहता जितना कार्यान्वयन करनेवाली 'इच्छा' या 'शक्ति'में, और 'इच्छा' या 'शक्ति'में उतना नहीं जितना उस 'चेतना'में जिसका क्रियात्मक रूप वह इच्छा होती है और उस

'सत्ता'में जिसका क्रियात्मक गुण वह शक्ति होती है। परन्तु स्मृति चेतनाकी एक प्रक्रिया, एक उपयोगिता मात्र है; वह सत्ताका मूल उपादान या हमारा संपूर्ण व्यक्तित्व नहीं हो सकती: वह तो बस चेतनाकी क्रियाओंमेंसे एक है, जैसे विकिरण प्रकाशकी क्रियाओंमेंसे एक है। 'आत्मा' ही मनुष्य है: या हम यदि केवल अपनी सामान्य बहिश्चर सत्ताको देखें तो 'मन' ही मनुष्य है, कारण, मनुष्य मनोमय पुरुष है। आत्मा, जगत् और प्रकृतिके साथ हमारे व्यवहारोंमें वर्तमानमें चित्-शक्तिकी प्रधान क्रिया है मन, और स्मृति मनकी अनेक शक्तियों और प्रक्रियाओंमेंसे बस एक है।

तथापि, हम जिस अज्ञानमें निवास करते हैं उसपर विचार करनेमें स्मृतिके व्यापारसे आरंभ करना भी अच्छा है; कारण इससे हमें अपने चेतन अस्तित्वके कुछ महत्वपूर्ण पहलुओंकी कुंजी मिल सकती है। हम देखते हैं कि मन अपनी स्मृति-क्षमता अथवा स्मृति-प्रक्रियाके दो विनियोग करता है, आत्म-स्मृति और अनुभव-स्मृति। प्रथमतः और मूलतः स्मृतिको मन हमारी चित्-सत्ताके तथ्यपर प्रयुक्त करता और उसे कालसे संबंधित करता है। वह कहता है, "मैं अभी हूँ, मैं भूतकालमें था, अतएव, मैं भविष्यमें होऊँगा, कालके इन तीन सदा-अस्थायी विभाजनोंके बीच वह "मैं" एक ही है।" इस तरह वह अपने-आपको कालकी अभिधाओंमें विवरण देना चाहता है चित्-सत्ताकी सनातनताका, जिसके वारेमें वह यह अनुभव तो करता है कि वह एक तथ्य है, परन्तु जिसे वह इस रूपमें ज्ञात या प्रमाणित नहीं कर पाता कि वह सत्य है। मन स्मृतिसे अपने अतीत अस्तित्वके वारेमें ही जान सकता है, अपरोक्ष आत्म-संवित्से अपने वर्तमान क्षणके अस्तित्वके ही वारेमें जान सकता है, और केवल इस आत्म-संवित्का विस्तार करके और इस आत्म-संवित् और उस स्मृतिसे अनुमान करके ही जो हमें यह कहती है कि कुछ समयसे यह संवित् अविच्छिन्न रूपसे अस्तित्ववान् रही है, मन भविष्यमें निजके होनेकी धारणा वना सकता है। वह भूत और भविष्यका विस्तार नियत नहीं कर सकता; वह तो बस भूतको अपनी स्मृतिकी सीमातक वापस ले जा सकता और दूसरोंके साक्ष्य और अपने चारों ओर दिखाई देनेवाले जीवनके तथ्योंसे यह अनुमान कर सकता है कि चित्-सत्ता उन दिनों भी थी ही जिनका अव उसे स्मरण नहीं। वह जानता है कि मनकी जिस शैशव युक्तिबुद्धिहीन अवस्थाके साथ स्मृतिकी कड़ी खो गयी है उसमें वह विद्यमान था; परंतु उसका अस्तित्व शारीरिक जन्मके पूर्व भी था, इसका निर्धारण मर्त्य मन स्मृतिके व्यवधानके कारण नहीं कर सकता। भविष्यके वारेमें

वह कुछ भी नहीं जानता ; उसका अस्तित्व अगले क्षण रहेगा, इसकी उसे एक नैतिक निश्चितता ही हो सकती है जिसे उस क्षणकी कोई घटना भूल प्रमाणित कर सकती है, क्योंकि उसने जो देखा था वह एक प्रमुख संभावनासे अधिक कुछ नहीं था ; शारीरिक विघटनसे चित्-सत्ताका अंत होता है या नहीं, यह तो वह और भी कम जान सकता है। फिर भी, उसे एक अविच्छेद नैरंतर्यका यह भाव रहता है जो सरलतासे विस्तृत होकर सनातनताकी निःसंशयता बन जाता है।

यह निःसंशयता या तो मनमें उस अंतहीन अतीतका प्रतिबिंब हो सकती है जिसे वह भूल गया है, परंतु जिसके निराकार संस्कारको मनके अंदर कोई चीज बनाये रखती है, अथवा वह आत्मज्ञानकी छाया हो सकती है जिसका आगमन हमारी सत्ताके किसी ऐसे उच्चतर या गंभीरतर स्तरसे होता है जहाँ हम अपनी सनातन स्वयम्भू सत्ताके प्रति यथार्थतः संविद् हैं। अथवा, यह सोचा जा सकता है कि यह एक विभ्रम हो ; जैसे हम अपनी पूर्वदर्शी चेतनामें मृत्युके तथ्यका संवेद या अनुभव नहीं पा सकते और निरवच्छिन्न अस्तित्वकी भावनामें ही जी सकते हैं, और अस्तित्वका अवसान हमारे लिये एक बौद्धिक धारणा होता है जिसे हम निश्चितिसे स्वीकृत रख सकते हैं, जिसकी कल्पना भी स्पष्टतासे कर सकते हैं, परंतु जिसे कभी भी वस्तुतः अनुभूत नहीं कर सकते, कारण, हम केवल वर्तमानमें निवास करते हैं, फिर भी, मृत्यु, अवसान, या कम-से-कम, हमारी सत्ताकी वर्तमान विधिमें व्यवच्छेद एक तथ्य है और भविष्यमें भौतिक शरीरमें अस्तित्वकी अविच्छिन्नताका संवेद या पूर्वाभास एक सीमासे आगे,—जिस सीमाको हम अभी निर्धारित नहीं कर सकते,—एक विभ्रम हो जाता है, चित्-सत्ता-विषयक हमारी वर्तमान मानसिक भावनाका मिथ्या विस्तारण अथवा भ्रांत प्रयोग हो जाता है,—वैसी ही बात सचेतन नित्यताके इस मानसिक विचार या भावनाके संबंधमें हो, ऐसा सोचा जा सकता है। या, हो सकता है कि यह हमसे भिन्न किसी सचेतन या अचेतन, किंतु यथार्थ नित्यताके बोधका, विश्वकी या विश्वसे परेके 'कुछ'की नित्यताके बोधका हमारे अपने लिये मिथ्यांतरण किया जाना हो। नित्यताके इस तथ्यको हस्तगत कर मन उसका हमारी अपनी चित्-सत्तापर मिथ्यांतरण कर दे सकता है, जब कि हो सकता है कि वह सत्ता उस एकमात्र सच्चे शाश्वतके एक क्षणिक व्यापारके अतिरिक्त और कुछ न हो।

इन प्रश्नोंको अकेले हल कर सकनेका साधन हमारे बहिस्तलीय मनके पास नहीं ; वह तो अंतहीन रूपसे उनके बारेमें परिकल्पनाएँ ही कर सकता

और ऐसे मतोंपर पहुँच सकता है जो कम या अधिक भली-भाँति तर्क-विवेचित हों। हम अमर हैं यह मान्यता एक विश्वास मात्र है, हम मर्त्य हैं यह मान्यता एक विश्वास मात्र है। भौतिकवादीके लिये यह प्रमाणित करना असंभव है कि शरीरकी मृत्युके साथ हमारी चेतनाका अंत हो जाता है; कारण, वह निस्संदेह यह तो दिखा सकता है कि अवतक इसका कोई निश्चायक प्रमाण नहीं कि मृत्युके बाद हमारे अंदरका कोई भी अंश सचेतन रूपमें उत्तरजीवी रहता हो, परंतु समान रूपसे, इसका भी कोई प्रमाण नहीं,—और वस्तु-स्थितिको देखते हुए कोई प्रमाण हो भी नहीं सकता,—कि शारीरिक विघटनके बाद हमारे चेतन आत्माका अस्तित्व नहीं रहता। शरीरके अंतके बाद भी मानव-व्यक्तित्व टिका रहता है, यह हम बादमें संशयात्माके लिये भी संतोषप्रद रूपमें प्रमाणित कर सकते हैं, परंतु तव भी चित्-सत्ताकी नित्यता नहीं, अपितु एक अधिक दीर्घकालीन अविच्छिन्नता ही प्रस्थापित होगी।

वास्तवमें, यदि हम मनकी इस नित्यता-विषयक धारणापर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि उस नित्यताका अर्थ अंतमें एक शाश्वत कालमें सत्ताके क्षणोंका अविच्छिन्न अनुक्रम ही होता है। अतः काल ही नित्य है, न कि अविच्छिन्न रूपसे क्षणिक रहती चित्-सत्ता। परंतु, दूसरी ओर, मनके प्रमाणोंमें ऐसा कुछ भी नहीं जो यह दिखलाता हो कि शाश्वत काल वस्तुतः है, या कि स्वयं काल भी चित्-सत्ताकी उस दृष्टि-विधिके अतिरिक्त और कुछ भी है जिससे चित्-सत्ता अस्तित्वकी किसी अविच्छिन्न निरंतरताको, या हो सकता है, उसकी सनातनताको, एक अविभाज्य प्रवाहके रूपमें देखती है, जिसे वह अपनी धारणामें अनुभवोंके अनुक्रमों और यौगपद्योंसे ही मापती है, एकमात्र जिनके द्वारा वह अस्तित्व उसके सामने प्रत्युपस्थित होता है। यदि कोई शाश्वत 'सत्' हो जो कि चित्-सत्ता है, तो वह अवश्य ही कालसे परे होगा, कालको उसने अपने अंदर समाये रखा होगा; वह, जैसा हम कहते हैं, कालातीत होगा। उसे अवश्य ही वेदांतका 'शाश्वत', 'नित्यो नित्यानाम्' होना चाहिये जो, हम अब यह अनुमान लगा सकते हैं, अपनी स्वाभिव्यक्तिके स्वावलोकनके लिये 'काल'का उपयोग एक धारणात्मक दृश्य भूमिका मात्रके रूपमें करता है। परंतु इस 'शाश्वत'का कालातीत आत्मज्ञान मनसे परे है; यह अतिमानसिक ज्ञान है, हमारे लिये अतिचेतन है, और केवल तब प्राप्य है यदि हम अपने चेतन मनकी कालगत क्रिया-शीलताको शांत कर दें या उसका अतिक्रमण कर जायें, 'नीरवता'में या 'नीरवता'से होते हुए शाश्वतताकी चेतनामें प्रविष्ट हो जायें।

इन सबसे एक यह बड़ा तथ्य प्रकट होता है कि हमारे मनका स्वभाव ही अज्ञान है; नितांत निर्ज्ञान नहीं, अपितु सत्ताका सीमित और प्रतिबंधित ज्ञान,—अपने वर्तमानकी उपलब्धि, अपने अतीतकी स्मृति, और अपने भविष्यके अनुमानसे सीमित, अतः अपने-आपके तथा अपने अनुभवोंके संबंधमें अपनी कालावच्छिन्न और आनुक्रमिक दृष्टिसे प्रतिबंधित। यदि यथार्थ अस्तित्व कालिक नित्यता हो तो मनको यथार्थ सत्ताका ज्ञान नहीं, कारण, स्मृति जो स्वल्पांश रखे रहती है उसके अतिरिक्त अपने निजके अतीतको भी वह विस्मृतिकी अस्पष्टतामें खो देता है; उसे अपना भविष्य भी उपलब्ध नहीं, वह भविष्य अज्ञानकी एक महा रिक्ततामें मनसे हटाया रखा रहता है; उसे तो बस अपने वर्तमानका ज्ञान है जो नाम, रूप और घटनाके असहाय अनुक्रममें क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है और यह अनुक्रम मनके अधिकार या मनकी अवधारणासे परे अति बृहत् विश्व-क्रियाशीलताका संचलन या प्रवाह होता है। दूसरी ओर, यदि यथार्थ अस्तित्व कालातिक्रमणकारी नित्यता हो, तो मन उसके संबंधमें और भी अज्ञ है; कारण, वह उसके उस स्वल्पांशको ही जानता है जिसे काल और देशमें सतहपर होनेवाली उसकी आत्माभिव्यक्तिके खंड अनुभवसे स्वयं वह क्षण-क्षण पकड़ पाता है।

सुतरां, यदि मन ही सब कुछ हो, या हममें हमारा प्रत्यक्ष मन ही हमारी सत्ताके स्वरूपका अभिसूचक हो, तो हम किसी ऐसे अज्ञानसे अधिक कुछ नहीं हो सकते जो कालके बीच तेजीसे भागता जा रहा है और ज्ञानको एक अति स्वल्प और खंड रूपमें ही पकड़ता है। किंतु, यदि आत्मज्ञानकी कोई ऐसी शक्ति है जो मनसे परे है, अपने सारस्वरूपमें कालातीत है और कालको निजकी कालातीत सत्ताकी एक परिस्थितिके रूपमें तो सदा ही देख सकती है, उसका अवलोकन शायद भूत, वर्तमान तथा भविष्यको एक साथ सर्वसंबद्धकारी दृष्टिसे देखती हुई भी कर सकती है, तो हमें चेतनाकी दो शक्तियाँ मिलती हैं, ज्ञान तथा अज्ञान, वेदांतकी विद्या तथा अविद्या। अतः ये दोनों या तो भिन्न-भिन्न और असंबद्ध शक्तियाँ होनी चाहिये, पृथक्-पृथक् उत्पन्न और अपनी क्रियामें भी भिन्न होनी चाहिये, एक सनातन द्वैत रूपमें पृथक्-पृथक् स्वयंभू होनी चाहिये, या नहीं तो, यदि उनके बीच कोई संबंध है तो वह यही होना चाहिये कि 'विद्या'-रूपमें चेतना अपने कालातीत आत्माको जानती और कालको अपने अन्दर देखती है, और अविद्या-रूपमें चेतना उसी विद्याकी एक आंशिक और वहिस्तलीय क्रिया है जब वह वल्कि अपने-आपको कालिक सत्ताकी अपनी निजी धारणामें

आवृत कर लेती हुई अपने-आपको कालमें देखती है, और उस आवरणको हटाकर ही शाश्वत आत्मज्ञानकी ओर लौट सकती है।

वस्तुतः यह मानना अयौक्तिक होगा कि अतिचेतन ज्ञान इतना दूर और पृथक् है कि वह काल, देश और कारणता और उनके कार्योंको जाननेमें असमर्थ हो; कारण, तब वह ज्ञान एक अन्य प्रकारका अज्ञान ही होगा, यह कालिक सत्ताकी अंधताकी समरूपिणी निर्विशेष सत्ताकी अंधता होगी, मानों ये एक ऐसे चिन्मय सत्के भावात्मक और अभावात्मक सिरे हों जो अपने समग्र स्वरूपको जाननेमें असमर्थ है, जो या तो केवल अपने-आपको जानता है, अपने कार्योंको नहीं, या केवल अपने कार्योंको जानता है, अपने-आपको नहीं,—यह पारस्परिक वहिष्करणका एक अयुक्त रूपसे सममित तुल्य-बल होता है। विशालतर दृष्टिकोणसे, जो प्राचीन वेदान्तका था, हमें अपने-आपको द्वैत सत्ता नहीं, अपितु एक ही चेतन अस्तित्व मानना होगा, जिसकी चेतनाकी दो कलाएँ हैं; उनमेंसे एक हमारे मनमें चेतन अथवा अंशतया चेतन है, दूसरी मनके लिये अतिचेतन है; उनमेंसे एक, जो कालावस्थित ज्ञान है, कालकी अवस्थाओंके अधीन कार्य करती है और उस हेतु अपने आत्मज्ञानको अपने पीछे रखती है, दूसरी, कालातीत, स्वयं ही कालकी अवस्थाओंको निर्धारित करती और उन्हें प्रभुता तथा ज्ञानसे कार्यान्वित करती है; एक अपने-आपको कालानुभवमें होते अपने विकाससे ही जानती है, दूसरी अपने कालातीत आत्माको जानती और अपने-आपको कालानुभवमें सचेतन रूपसे अभिव्यक्त करती है।

ब्रह्म विद्या एवं अविद्या, ज्ञान एवं अज्ञान दोनों है और दोनोंमें ही ब्रह्मका युगपत् ज्ञान होना अमृतत्वका मार्ग है, उपनिषद्के इस कथनका अर्थ हमें अब ज्ञात होता है। ज्ञान है कालातीत, देशातीत, निरुपाधिक 'आत्मा'की अंतर्निहित शक्ति जिसका सार स्वरूप सत्ताके एकत्वमें प्रकट होता है; एकमात्र यह चेतना वास्तव और संपूर्ण ज्ञान है, कारण, यह एक शाश्वत विश्वातीतता है जो आत्म-संविन्मय ही नहीं है, अपितु विश्वके कालिक सनातन अनुक्रमोंको अपने अंदर धारण करती है, उन्हें अभिव्यक्त और उत्पन्न करती, उनकी निर्देशना करती और उन्हें जानती है। अज्ञान है सत्ताकी कालानुक्रमगत चेतना, काल-क्षणमें निवासके कारण अपने ज्ञानमें विभक्त, देशके विभाजनों और परिस्थितिके संबंधोंमें निवासके कारण अपनी आत्म-सत्ताकी धारणामें विभक्त, एकत्वकी बहुत्वमयी क्रियामें स्वतः-वंदी। इसे अज्ञान कहा जाता है, कारण, इसने एकत्वके ज्ञानको अपने पीछे कर दिया है और स्वयं इसी कारण यह अपने-आपको या जगत्को, विश्वातीत

या विश्वक सत्यताको सच्चे या संपूर्ण रूपसे जाननेमें अक्षम है । अज्ञानके अंतर्गत रहनेवाला चेतन जीव क्षणसे क्षण, क्षेत्रसे क्षेत्र, संबंधसे संबंधमेंसे गुजरता हुआ, खंड ज्ञानकी भूलमें ठोकरें खाता चलता है[1] । यह निर्ज्ञानिता नहीं, अपितु सद्वस्तुके विषयमें ऐसी दृष्टि और ऐसा अनुभव है जो अंशतः सत्य और अंशतः मिथ्या है, जैसा कि वह सारा ज्ञान होगा जो सारकी उपेक्षा करता और विश्व-प्रपंचके केवल चंचल अंगोंको देखता है। दूसरी ओर, एकत्वकी अलक्षणा चेतनामें बंद हो जाना, अभिव्यक्त ब्रह्मके प्रति अज्ञ रहना भी एक अंध तम कहा गया है। सत्य यह है कि दोनोंमें कोई भी ठीक-ठीक अंधकार नहीं ; कारण, उनमेंसे एक तो है संकेन्द्रित ज्योतिसे उत्पन्न चकाचौंध, दूसरा है एक अवकीर्ण, धुंधले और खंडित प्रकाशमें वस्तुओंके भ्रमात्मक आकारोंको देखना, अर्ध कोहरा, अर्ध अवलोकन। दिव्य चेतना इनमेंसे किसीमें भी बंद नहीं होती, अपितु वह उस अक्षर एक और क्षर बहुको एक ही शाश्वत, सर्व-संबंधनकारी, सर्व-समन्वयकारी आत्मज्ञानमें धारण किये रहती है।

विभाजक चेतनामें स्मृति एक बैसाखी है जिसका अवलंब कालकी वेगवती गतिमें विराम या ठहरावकी संभावनाके विना, असहाय रूपमें चालित, ठोकर खाता चलता मन लेता है। सर्वांगीण अपरोक्ष स्थायी आत्मसंवित् और वस्तुओंके अपरोक्ष सर्वांगीण या विश्वमंडलीय प्रत्यक्षणके बदले स्मृति एक दारिद्रय-ग्रस्त स्थानापन्न है। मनको अपरोक्ष आत्म-चेतना केवल अपनी वर्तमान सत्ताके क्षणमें हो सकती है ; कालके वर्तमान क्षण और देशके अव्यवहित क्षेत्रमें वस्तुएँ जिस रूपमें मनके सामने उपस्थित और इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण की जाती हैं वैसा ही कोई अर्ध-अपरोक्ष प्रत्यक्षण मनको हो सकता है। वह अपनी न्यूनताकी पूर्ति स्मृति, कल्पना, विचार और विविध प्रकारके भाव-प्रतीकोंसे करता है। उसकी इन्द्रियाँ वे उपाय हैं जिनसे वह वर्तमान क्षण और अव्यवहित देशमें वस्तुओंके बाह्य रूपको पकड़ता है ; स्मृति, कल्पना और विचार वे उपाय हैं जिनसे वह वर्तमान क्षण और अव्यवहित देशसे परेकी वस्तुओंके बाह्य रूपको और भी कम अपरोक्ष रूपसे अपने सामने उपस्थित करता है। वर्तमान क्षणमें उसकी

---

1. अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः······जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमानाः यथाऽन्धाः ॥ अविद्यामें रहते और विचरते, वे मूढ़ मनुष्य, अंधेके निर्देशनमें चलते अंधेकी भांति, चकनाचूर और ठोकर खाते हुए, चक्करपर चक्कर काटते रहते हैं।
—मुंडक उपनिषद् (1. 2. 8)

अपरोक्ष आत्म-चेतना ही एकमात्र वह वस्तु है जो उपाय-स्वरूप नहीं। अतएव, इस आत्म-चेतनाके द्वारा उसे शाश्वत सत्ताका तथ्य, सद्वस्तु सबसे आसानीसे हाथ आ सकती है ; किंतु बाकी सबको, जब वह वस्तुओंपर संकीर्णतासे विचार करता है, केवल प्रतिभासकी नाईं नहीं, वरन् संभवतः भ्रान्ति, अज्ञान, भ्रमकी नाईं देखनेका प्रलोभन उसे रहता है, कारण, तब उसे वे चीजें अपरोक्ष रूपसे वास्तव नहीं दीखतीं। मायावादी इन्हें ऐसा ही मानता है ; एकमात्र जिसे वह सत्यतः वास्तव मानता है, वह है शाश्वत आत्मा जो मनकी वर्तमान अपरोक्ष आत्म-चेतनाके पीछे अधिष्ठित है। या, फिर, बौद्धोंकी भाँति हम उस शाश्वत आत्माको भी भ्रम, प्रतिरूप, मनोनिर्मित मूर्ति, कोरी कल्पना अथवा सत्ताका मिथ्या संवेदन और मिथ्या भाव मानने लग सकते हैं। मन अपनी ही दृष्टिमें एक विलक्षण जादूगर बन जाता है, ऐसा हो जाता है मानों उसके कार्य और स्वयं वह आश्चर्यकारी रूपसे एक ही साथ हों भी और नहीं भी, एक स्थायी वास्तवता और फिर भी एक पलायमान भूल हों जिसकी व्याख्या वह चाहे करे चाहे न करे, किंतु हर दशामें वह अपने-आपका और अपने कार्योंका वध और अंत कर देनेका निश्चय किये होता है ताकि वह बाह्य प्रतीतियोंके व्यर्थ चित्रणसे बचकर 'शाश्वत'की कालातीत विश्रांतिमें विश्राम कर सके, अवसान पा सके।

परंतु, बाह्य और अंतरके बीच, वर्तमान और भूतकी आत्म-चेतनाके बीच हम जो तीक्ष्ण भेद करते हैं वे, सत्यतः, मनकी सीमित अस्थिर क्रियाकी चतुराइयाँ हैं। मनके पीछे एक स्थिर चेतना है, जो मनको अपनी निजी सतही क्रियाशीलताके रूपमें व्यवहृत करती है और उस चेतनामें उसकी वर्तमान स्थिति और उसकी अतीत तथा भविष्यकी स्थितिके बीच कोई बाध्यकारी धारणात्मक विभाजन नहीं। फिर भी, वह अपने-आपको कालके मध्य, वर्तमान, भूत और भविष्यके मध्य भी जानती है, किंतु जानती है एक साथ, जानती है एक अविभक्त दृष्टिसे जो कालात्माके समस्त सचल अनुभवोंका परिग्रहण करती और उन्हें अचल कालातीत आत्माकी भित्तिपर धृत रखती है। इस चेतनाकी संवित् हमें तब हो सकती है जब हम मन और उसकी क्रियाशीलताओंसे प्रत्याहृत हो जायें अथवा जब वे शांत पड़ जायें। परंतु प्रथम हमें उसकी निश्चल स्थिति दिखाई देती है, और हम यदि आत्माकी निश्चलताको ही देखें तो उसके संबंधमें कह सकते हैं कि वह कालातीत ही नहीं, अपितु निष्क्रिय भी है, भाव, विचार, कल्पना, स्मृति, इच्छाके स्पंदनसे रहित है, आत्म-तृप्त, आत्म-लीन, अतएव विश्वके

सारे कर्मसे शून्य भी है। तब वही निश्चल स्थिति हमारे लिये एकमात्र सत्य हो जाती है और बाकी सब कुछ असत् रूपों अथवा किसी सच्चे सत्के प्रतिरूप न होनेवाले रूपोंमें व्यर्थ प्रतीक-निर्माण, अतएव एक स्वप्न हो जाता है। परंतु यह आत्म-लीनता हमारी चेतनाकी एक क्रिया और परिणामित अवस्था ही है, ठीक जैसे कि विचार, स्मृति तथा इच्छामें आत्म-अवकिरण था। वास्तविक आत्मा वह शाश्वत है जो कालके मध्य सचलता, और कालको आधार देती निश्चलता, दोनोंके लिये, और दोनों एक ही समय साथ-साथ होनेके लिये, स्पष्टतया समर्थ है, नहीं तो उन दोनोंका अस्तित्व नहीं हो सकता था; यह भी नहीं हो सकता था कि उनमेंसे एक तो अस्तित्ववान् रहे और दूसरी प्रतीतियोंकी सृष्टि करे। यह है गीताका 'पर पुरुष', 'परमात्मन्', 'परब्रह्मन्', जो सर्वभूतात्मा एवं सर्व-भूतेश्वर-रूपसे क्षर तथा अक्षर उभय पुरुषको धारण करता है।

मन और स्मृतिपर प्रमुखतः कालके मध्य मानसिक आत्म-चेतनाके प्राथमिक व्यापारके संबंधमें विचार करते हुए हम यहाँतक पहुँचे हैं। परंतु उनपर हम यदि चेतनाके साथ-साथ आत्मानुभवके संबंधमें और आत्मानुभवके साथ-साथ विषयानुभवके संबंधमें भी विचार करें तो देखेंगे कि हम उसी परिणामपर पहुचते हैं, किंतु तब हमें अधिक समृद्ध अंतर्वस्तुएँ प्राप्त हुई होती हैं और अज्ञानके स्वरूपपर एक और भी स्पष्टतर प्रकाश मिला होता है। अभी, हमने अबतक जो देखा है उसे इस तरह व्यक्त करें,—एक शाश्वत चिन्मय पुरुष है जो काल-क्रियासे मुक्त एक स्थिर अचल आत्म-चेतनापर मनकी सचल क्रियाको प्रतिष्ठित करता है; वह मनकी अपेक्षा एक श्रेष्ठतर ज्ञानसे युक्त रहकर कालकी समस्त गतिका परिग्रहण करता, साथ ही मनकी क्रिया द्वारा उस गतिमें निवास करता है। बहिस्तलीय मनोमयी सत्ताके रूपमें, क्षण-क्षणांतरमें गति करता हुआ, अपने सारभूत आत्माको न देखता हुआ, अपितु केवल अपने काल-गतिके अनुभवोंके साथ अपने संबंधका अवलोकन करता हुआ, उस गतिमें भविष्यको अपने-आपसे उसमें दूर रखता हुआ जो अज्ञान और असत्ताकी शून्यता प्रतीत होती है, किंतु है एक असंसिद्ध परिपूर्णता ही, वर्तमानमें होनेके ज्ञान और अनुभवको हस्तगत करता हुआ, उसे अतीतमें सँजोता हुआ,—जो फिर अज्ञान और असत्की शून्यता प्रतीत होता है, अंशतः प्रकाशित, और स्मृतिके द्वारा अंशतः संरक्षित और संचित,—वह ऐसी वस्तुका रूप धारण करता है जो चंचल और अनिश्चित है और चंचल और अनिश्चित वस्तुओंको अस्थायी रूपसे पकड़ती है। परंतु हम देखेंगे कि यथार्थमें वह सर्वदा वही शाश्वत पुरुष

है जो अपने अतिमानसिक ज्ञानमें स्थिर और आत्मप्रतिष्ठ है, और वह जिसे हस्तगत करता है वह भी चिर-स्थिर तथा शाश्वत है; कारण, कालानुक्रममें वह अपने-आपका ही मानसिक अनुभव कर रहा है।

काल अनुभव तथा कर्मकी पूंजीमें परिणत चेतन सत्ताका बड़ा बैंक है। बहिस्तलीय मनोमय पुरुष अतीतमेंसे (और भविष्यमेंसे भी) संपत्तिकी राशिको निकालता रहता है जिसे वह निरंतर वर्तमानकी मुद्रामें परिणत किया करता है; वह यह न जानते हुए कि अतीत हमारे अंदर सदैव कितना विद्यमान है, हम जिसे अतीत कहते हैं उसमें एकत्रित लाभोंका विवरण रखता और उन्हें संचित करता है; उसमेंसे उसे जितनी आवश्यकता होती है, ज्ञान और संसिद्ध सत्ताकी मुद्राओंके रूपमें व्यवहृत करता है और वर्तमानके व्यापारमें मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक कर्मकी मुद्राके रूपमें प्रदान करता है जिससे उसकी दृष्टिमें भविष्यकी नयी संपदाकी सृष्टि होती है। अज्ञान 'सत्-पुरुष'के आत्मज्ञानका ऐसा उपयोग करना है जो उसे कालानुभवके लिये मूल्यवान् और काल-क्रियाके लिये मान्य बना देता है; हम जिसे नहीं जानते, वह वही है जिसे हमने अभीतक मानसिक अनुभवमें नहीं लिया है, उस अनुभवकी मुद्रामें परिणत और व्यवहृत नहीं किया है, अथवा जिसकी मुद्रा बनाना या जिसका उपयोग करना बंद कर दिया है। नेपथ्यमें सब कुछ ज्ञात रहता और काल, देश तथा कारणताके साथ आत्माके व्यवहारोंमें आत्माकी इच्छाके अनुसार उपयोग किये जानेके लिये तैयार रहता है। लगभग ऐसा कहा जा सकता है कि हमारी बाह्य सत्ता हमारे अंदरका गंभीरतर शाश्वत 'आत्मा' ही है जो काल-क्षेत्रमें अभियानके लिये, अनंत संभावनाओंका जुआ और सट्टा खेलनेके लिये बाहर उत्क्षिप्त हो रहा है, अपने-आपको क्षणोंके अनुक्रमतक सीमित कर रहा है जिससे उसे उस अभियानका सारा कौतुक तथा आनंद मिल सके, और वह अपने आत्म-ज्ञान एवं संपूर्ण आत्म-सत्ताको पीछेकी ओर कर देता है ताकि युग-युगकी आकुलता और खोज और प्रयासके मिश्रित हर्ष और वेदनाके बीचमेंसे अपने संपूर्ण स्वरूपको पुनः अधिकृत करता हुआ वह फिरसे उसे जीत सके जो उससे खो गया प्रतीत होता है।

अध्याय नौ

स्मृति, अहं और आत्मानुभव

अत्रैष देवः स्वप्ने......प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति।

यहाँ यह मन-रूपी देव स्वप्नमें पुनः-पुनः उसका अनुभव करता है जिसका अनुभव पहले किया जा चुका है, जो देखा हुआ है और जो देखा हुआ नहीं है, जो सुना हुआ है और जो सुना हुआ नहीं है; जो अनुभूत है और जो अनुभूत नहीं है, जो है और जो नहीं है, सबको वह देखता है, वह सब कुछ है और देखता है।

—प्रश्नोपनिषद्
4.5

स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम्॥

मुक्ति है स्वरूपमें अवस्थिति; अहंभाव है स्वरूपसे च्युति।

—महोपनिषद्
5.2

एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद् हृदो भूरिजन्मा वि चष्टे॥

बहु जन्मोंमें अद्वय, सकल गतिधाराओंका धारयिता एकल समुद्र, वह हमारे हृदयोंको देखता है।

—ऋग्वेद
10.5.1

मनोमय पुरुषको अपरोक्ष आत्म-चेतना द्वारा ही अपने भेदयुक्त आत्मानुभवके प्रवाहके पीछे निजकी नामरूपहीन सत्ताकी, अपनी शाश्वत आंतरात्मिक धातुके मानसिक रूपायणोंके पीछे उस धातुकी, अहंके पीछे

अपने आत्माकी संवित् होती है; वह चेतना मानसताके पीछे, एक शाश्वत वर्तमानकी कालातीतताकी ओर जाती है। मनोमय पुरुषमें यह चेतना ही वह है जो नित्य एक-समान है, भूत, वर्तमान तथा भविष्यके मानसिक भेदोंसे अप्रभावित है। वह देश या परिस्थितिके विभेदोंसे भी अप्रभावित है; कारण, मनोमय पुरुष यद्यपि अपने बारेमें सामान्यतया कहता है, "मैं इस शरीरमें हूँ, मैं यहाँ हूँ, मैं वहाँ हूँ, मैं अन्यत्र होऊँगा", तदपि इस अपरोक्ष आत्म-चेतनामें अवस्थित होना सीख लेनेपर वह बहुत शीघ्र देख लेता है कि यह उसके परिवर्तनशील आत्मानुभवकी भाषा ही है जिसमें पर्यावरण और बाह्यताओंके साथके उसकी बहिश्चर चेतनाके संबंध ही व्यक्त होते हैं। इनका विभेद करता हुआ, अपने-आपको इनसे वियुक्त करता हुआ वह देखता है कि जिस आत्माकी उसे अपरोक्ष चेतना है, वह आत्मा इन बाह्य परिवर्तनोंसे किसी भी प्रकार परिवर्तित नहीं होता, अपितु सदा ही अभिन्न है, शरीर या मनके परिवर्तनों या उनकी गति-विधि और क्रियाके क्षेत्रके परिवर्तनोंसे अप्रभावित है। वह अपने सारमें अलक्षण है, अव्यवहार्य है; उसमें इसके अतिरिक्त और कोई गुण-धर्म नहीं कि वह शुद्ध चिन्मय सत् है, आत्मतृप्त, शुद्ध सत्तामें नित्य-तुष्ट एवं आत्मानंदमय। इस प्रकार हमें अनुभव होता है स्थाणु आत्माका, सनातन "अस्मि"का, या बल्कि व्यक्तित्व या कालकी सभी श्रेणियोंसे अतीत अक्षर "अस्ति"का।

परंतु, आत्माकी यह चेतना जैसे कालातीत है, वैसे ही कालको इस रूपमें स्वतंत्रतापूर्वक देखनेमें समर्थ है कि काल उसमें प्रतिबिंबित कोई वस्तु है और परिवर्तनशील अनुभवका कारण या विषयिपरक क्षेत्र है। अतएव यह चेतना वह सनातन "अहमस्मि", वह अपरिवर्तनशील चेतना है जिसके बाह्य तलपर सचेतन अनुभवके परिवर्तन कालकी प्रक्रियामें घटित होते हैं। बाह्यतलकी चेतना निरंतर अपने अनुभवमें वृद्धि करती या अपने अनुभवमेंसे कुछका परित्याग करती है, और उसमें प्रत्येक वृद्धिसे कुछ परिवर्तन हो जाता है और प्रत्येक परित्यागसे भी। यद्यपि वह गभीरतर आत्मा, जो इस परिवर्तनका भर्ता और आधार है, स्वयं अपरिवर्तित रहता है, तदपि बाहरी या उपरितलीय आत्मा अपने अनुभवका निरंतर विकास करता रहता है और फलस्वरूप अपने-आपके बारेमें कभी भी संपूर्ण रूपसे यह नहीं कह सकता, "मैं वही हूँ जो मैं एक क्षण पूर्व था।" जो इस बाह्य कालात्मामें रहते हैं और अपरिवर्तनीयकी ओर अंतरमें वापस पैठनेके अभ्यस्त नहीं, अथवा उसमें निवास करनेमें समर्थ नहीं, वे अपने-आपके

वारेमें इस सदा स्वतःपरिवर्तनशील मनोनुभवसे अलग किसी रूपमें सोचनेमें भी असमर्थ रहते हैं। उनके लिये वही उनका आत्मा है और यदि वे उसकी घटनाओंको अनासक्तिसे देखें तो उनके लिये बौद्ध शून्यवादियोंके इस निष्कर्षसे सहमत होना आसान है कि यह आत्मा वस्तुतः और कुछ नहीं, विचार, अनुभव तथा मनोक्रियाकी एक धारा है, एक दीपशिखा है जो अविच्छेद प्रतीत होती हुई भी कभी भी वही शिखा नहीं रहती। वे इस परिणामपर आसानीसे पहुँच सकते हैं कि यथार्थ आत्मा-जैसा कुछ नहीं, अपितु अनुभवका एक प्रवाहमात्र है और उसके पीछे है 'शून्य' : ज्ञानका अनुभव है, परंतु ज्ञाताके विना ; सत्ताका अनुभव है परंतु सत्के विना ; केवल वहुतेरे तत्त्व हैं जो प्रवाहके अवयव हैं, परंतु कोई यथार्थ अवयवी या संपूर्ण नहीं है ; ये सव सम्मिलित होकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके भ्रमकी, सत्, सत्ता और सत्तानुभवके भ्रमकी सृष्टि करते हैं। या, वे इस निष्कर्षपर पहुँच सकते हैं कि काल ही एकमात्र यथार्थ अस्तित्व है और वे स्वयं भी उसकी विसृष्टियाँ हैं। वास्तव या अवास्तव जगत्में एक भ्रमात्मक सत् है, यह इस प्रकारके प्रत्याहारके लिये वैसे ही अनिवार्य निष्कर्ष होता है जैसे कि यह विपरीत निष्कर्ष कि एक सच्चा सन्मात्र है परंतु जगत् मिथ्या है, उस मनीषीके लिये अनिवार्य होता है जो, निश्चल आत्मापर एकाग्र रहता हुआ, अन्य प्रत्येक वस्तुको परिवर्तनशील अनात्मा-रूपमें देखता और अंतमें निश्चल आत्माके अतिरिक्त अन्य सब कुछको चेतनाकी एक छलनाकारी वंचनाका परिणाम माननेपर आ जाता है।

किंतु अव हम मतवादको छोड़कर, इस सतही चेतनाको केवल उसके तथ्योंका अध्ययन करते हुए कुछ देखें। प्रथम हम उसे एक शुद्ध विषयिगत व्यापारके रूपमें देखते हैं। काल-विंदुका एक द्रुत परिवर्तन सतत चलता रहता है, जिसे एक क्षणके लिये भी रोकना असंभव है। एक सतत परिवर्तन चलता है ; जव 'देश'-परिस्थितिका कोई स्थानांतरण नहीं होता तव भी यह परिवर्तन होता है ; यह परिवर्तन चेतनाके अपने शरीर या रूपमें होता है जिसमें वह प्रत्यक्ष रूपसे निवास करती है और वस्तुओंके पर्यावारिक शरीर या रूपमें भी जिसमें उसका निवास कम अपरोक्ष रूपसे होता है। वह दोनोंसे समान रूपसे प्रभावित होती है, परंतु विशालतर आवासकी अपेक्षा लघु आवास द्वारा, जगत्की देहकी अपेक्षा अपनी देह द्वारा अधिक स्पष्टतासे, कारण, वह प्रभाव अपरोक्ष रूपसे पड़ता है, क्योंकि वह अपनी स्वकीय देहमें होनेवाले परिवर्तनोंके प्रति ही अपरोक्ष रूपसे चेतन है और जगत्की देहके प्रति वह केवल इंद्रियों द्वारा और अणुविश्वपर पड़नेवाले

विराट् विश्वके प्रभाव द्वारा परोक्ष रूपसे ही चेतन है। शरीर और परिपार्श्वका यह परिवर्तन कालकी द्रुत परिवर्तनशीलताके जितना प्रभावशाली रूपसे स्पष्ट या उतने स्पष्ट रूपसे द्रुत नहीं होता ; फिर भी वह क्षण-क्षणांतरमें समान रूपसे वास्तविक है और उसे रोकना भी समान रूपसे असंभव। परंतु हम देखते हैं कि इस सारे परिवर्तनको मनोमय जीव उतनी ही दूरीतक देखता है जितनीतक वह उसकी निजकी मनश्चेतनापर प्रभाव उत्पन्न करता, उसके मानस-अनुभव और मानस-शरीरमें छाप डालता और परिवर्तन उत्पन्न करता है, कारण, उसे मन द्वारा ही अपने बदलते दैहिक आवास और अपने बदलते जागतिक अनुभवकी संवित् हो सकती है। अतएव, काल-बिंदु और देश-क्षेत्रके परिवर्तन अथवा स्थानांतरणके साथ-साथ काल और देशमें अनुभूत परिस्थितियोंके समुच्चयमें निरंतर एक संशोधनकारी परिवर्तन होता है, और इसके परिणामस्वरूप, इस मनोमय व्यक्तित्वमें भी, जो हमारे बहिस्तलीय या प्रतीयमान आत्माका रूप है, एक सतत संशोधन होता रहता है। परिस्थितिके इस सारे परिवर्तनको दार्शनिक भाषामें संक्षेपमें कारणता कहा जाता है ; क्योंकि, विश्व-गतिकी इस धारामें पूर्ववर्ती अवस्था एक परवर्ती अवस्थाका कारण जान पड़ती है, या फिर यह परवर्ती अवस्था लोगों, वस्तुओं और शक्तियोंके किसी पूर्ववर्ती कार्यका परिणाम जान पड़ती है : तो भी यह खूब संभव है कि हम जिसे कारण कहते हैं वह, वास्तवमें, एक परिस्थितिमात्र हो। इस प्रकार मनको अपनी अपरोक्ष आत्म-चेतनाके अतिरिक्त एक कम या अधिक परोक्ष परिवर्तनशील आत्मानुभव होता है। इसे वह दो भागोंमें विभक्त करता है, एक तो उसका अपने व्यक्तित्वकी सदा-संशोधित मानसिक अवस्थाओंका विषयिनिष्ठ अनुभव और दूसरे, उसका उस सदा-परिवर्तमान पर्यावरणका विषयिनिष्ठ अनुभव जो उस व्यक्तित्वकी क्रियाओंका आंशिक या संपूर्ण कारण लगता और, फिर भी, साथ ही उनके द्वारा स्वयं भी प्रभावित होता है। परंतु यह सारा अनुभव मूलतः विषयिगत है ; कारण, जो विषयरूप और बाह्य है वह भी मनको विषयिगत छापोंके ही रूपमें ज्ञात होता है।

यहाँ स्मृतिकी संपादित भूमिकाका महत्व बहुत बढ़ जाता है ; कारण, जब कि स्मृति मनकी अपरोक्ष आत्म-चेतनाके संबंधमें मनको यह स्मरण करानेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती कि उसका अस्तित्व भूतकालमें था और भूतकालमें भी वह वैसा ही था जैसा वर्तमानमें है, हमारे विभेदित या सतही आत्मानुभवमें वह एक महत्वपूर्ण शक्ति बन जाती है जो अव्यवस्था

और विच्छिन्नताको रोकती हुई और सतही मनमें धारा-प्रवाहकी अविच्छिन्नताको सुरक्षित रखती हुई, भूत और वर्तमानके अनुभवोंको, भूत और वर्तमानके व्यक्तित्वको साथ संबद्ध करती है। परंतु यहाँ भी हमें न तो स्मृतिकी क्रियाकी अतिरंजना करनी चाहिये, न उसपर चेतनाकी क्रियाओंके उस भागका आरोपण ही करना चाहिये जो वस्तुतः मनोमय प्राणीके अन्य सामर्थ्योंका है। अकेली स्मृतिसे अहं-भावका निर्माण नहीं होता; स्मृति तो इंद्रिय-मन और सहयोजिका बुद्धिके बीच केवल एक मध्यस्थ है: वह बुद्धिको अनुभवकी भूतकालकी सामग्री देती है जिसे मन अंदर तो कहींपर धारण किये रहता है, परंतु बहिस्तलपर अपनी क्षण-क्षणकी दौड़में साथ नहीं लिये चल सकता।

थोड़ेसे विश्लेषणसे ही यह स्पष्ट हो जायगा। मानसताकी सारी क्रियाओंमें हमें चार तत्त्व मिलते हैं,—मनश्चेतनाका विषय, मनश्चेतनाकी क्रिया, निमित्त या अवसर और विषयी। आत्मावलोकन करती आंतरिक सत्ताके आत्मानुभवमें, विषय सदा ही चेतन सत्ताकी कोई अवस्था या वृत्ति या तरंग होता है, जैसे क्रोध, शोक या अन्य भावावेग, क्षुधा या अन्य प्राणिक लालसा, अंतर्वेग या आंतरिक प्राणकी प्रतिक्रिया, या किसी प्रकारका संवेदन या इन्द्रिय-ज्ञान या किसी प्रकारकी विचार-क्रिया। मनश्चेतनाकी क्रिया इस वृत्ति या तरंगका किसी प्रकारका मानसिक पर्यवेक्षण और धारणात्मक मूल्यांकन, या नहीं तो, उस वृत्ति या लहरका मानसिक संवेदन होती है जिसमें पर्यवेक्षण और मूल्यांकन अंतर्वलित हो जा सकते और खो भी जा सकते हैं,—इस भाँति इस क्रियामें मनोमय पुरुष या तो क्रिया और विषयको एक वैशिष्ट्यावगाही बोधसे पृथक्-पृथक् कर दे सकता है, या उन्हें पहचानमें न आनेवाले रूपमें एक साथ मिला डाल सकता है। अर्थात्, या तो ऐसा हो सकता है कि वह बस वह वृत्ति ही बन जाय,—उदाहरणके लिये क्रोधमयी चेतनाकी वृत्तिको लें तो वह उसी चेतनाकी वृत्ति बन जाय, उस क्रियाशीलतासे लेशमात्र भी पीछे हटकर खड़ा न हो, अपने-आपपर मनन या अपना अवलोकन न करे, भावनाको या उसके साथ आनेवाली क्रियाको वशमें न करे, या, ऐसा हो सकता है कि मनमें यह दृष्टि या बोध रखते हुए कि "मैं क्रुद्ध हूं", वह यह अवलोकन करे कि वह क्या हो गया है और उसपर मनन करे। पहली अवस्थामें विषयी या मानस-पुरुष, सचेतन आत्मानुभवकी क्रिया, और मनोधातुका क्रोधमय हो जाना जो कि आत्मानुभवका विषय है,—ये सब चित्-शक्तिकी एक ही गतिमान् तरंगमें घुलमिल जाते हैं; परंतु दूसरी

अवस्थामें उसके घटकोंका एक विशेप द्रुत विश्लेषण होता और आत्मानुभवकी क्रिया अपने-आपको विपयसे अंशतः वियुक्त करती है। इस भाँति, आंशिक तटस्थताकी इस क्रियासे हम अपने-आपको संभूतिमें, स्वयं चित्-शक्तिके स्पंदकी प्रक्रियामें क्रियात्मक रूपसे अनुभव करनेमें ही नहीं, अपितु पीछे हटने, अपने-आपका ईक्षण और प्रेक्षण करने, और यदि तटस्थता पर्याप्त हो तो अपनी भावना और अपने कर्मको नियंत्रित करने, अपनी संभूतिको कुछ परिमाणमें नियंत्रित करनेमें भी समर्थ होते हैं।

तथापि, आत्म-पर्यवेक्षणकी इस क्रियामें भी सामान्यतः एक त्रुटि रहती है ; कारण, क्रियाकी तो विषयसे निस्संदेह एक आंशिक वियुक्ति होती है, परंतु मानस-पुरुष मानस-क्रियासे वियुक्त नहीं होता : मानस-पुरुप और मानस-क्रिया एक दूसरेमें अंतर्वलित हो जाते या घुलमिल जाते हैं ; और मानस-पुरुष भावावेगमय रूपणसे भी पर्याप्त वियुक्त या पृथक् नहीं हुआ होता। हमें अपनी सत्ताके सचेतन उपादानके क्रोधमय रूपण और इस रूपणके विचार-प्रत्यक्षणमें अपनी संवित् होती है : परंतु समस्त विचार-प्रत्यक्षण भी एक रूपण ही है, वह हमारा स्वरूप नहीं, और इसे हम अभीतक पर्याप्त रूपसे अनुभव नहीं करते ; हम अपनी मानस-क्रियाओंसे एकाकार अथवा उनमें अंतर्वलित रहते हैं, स्वतंत्र और पृथक् नहीं। हम जो वन जाते हैं, और हमें उनका जो प्रत्यक्षण होता है, अपनी मनोमय और प्राणमय प्रकृतिकी उपादान-रूपिणी चित्-शक्तिके समुद्रकी तरंगोंमें हम सक्रिय चेतनाके जिन रूपोंको धारण करते हैं उनसे अलग अपने-आपकी अपरोक्ष संवित् हमें अभी भी नहीं होती। जव हम मानस-पुरुपको उसकी आत्मानुभवकी क्रियासे संपूर्णतया वियुक्त कर देते हैं, तभी हमें प्रथम तो शुद्ध अहंकी, और अंतमें उस साक्षी आत्मा अथवा विचारक मानस-'पुरुष'की, उस कुछ या किसीकी संवित् होती है जो क्रुद्ध हो जाता और क्रोधका अवलोकन करता है, परंतु अपनी सत्तामें वह उस क्रोध या उसके अवलोकनसे सीमित अथवा निर्धारित नहीं होता। इसके विपरीत, वह एक नित्य तत्त्व है, जिसे चेतन गतिधाराओंकी और गतिधाराओंके सचेतन अनुभवोंके सीमा-रहित अनुक्रमकी संवित् है और उस अनुक्रमके वीच अपनी निजी सत्ताकी संवित् भी ; परंतु उसे यह संवित् भी हो सकती है कि वह उस अनुक्रमके पीछे है, उसका आश्रय है, उसका आधान है, सत्ताकी स्थितिमें और सत्ताकी शक्तिमें अपनी चित्-शक्तिके वदलते रूपों या आयोजनोंसे परे है। इस प्रकार वह वह आत्मा है जो अक्षर है और साथ ही वह आत्मा भी जो कालानुक्रममें नित्य संभूत होता है।

यह स्पष्ट है कि वस्तुतः दो आत्मा नहीं हैं, अपितु एक ही चित्-सत्ता है जो अपने-आपको चित्-शक्तिकी तरंगोंमें उत्क्षिप्त करती है जिससे वह निजका अनुभव निजकी बदलती गतिधाराओंके अनुक्रममें कर सके; किंतु इससे वह वस्तुतः परिवर्तित, वर्द्धित या क्षीण नहीं होती,—यह वैसे ही है जैसे कि भौतिक जगत्में 'जड़' अथवा 'ऊर्जा'का आद्य उपादान तत्त्वोंके सदा बदलते रहते सम्मिलनोंसे परिवर्तित या क्षीण नहीं होता,—भले ही, जबतक अनुभवकारी चेतना प्रतिभासके ज्ञानमें ही निवास करती है और आद्या सत्ता, उपादान या शक्तिके ज्ञानतक वापस नहीं जाती तबतक उसे उसमें परिवर्तन हुआ क्यों न लगता हो। और जब वह उस गभीरतर ज्ञानतक वापस पहुँच जाती है तब दृष्ट प्रतिभासको अवास्तव कहकर तिरस्कृत नहीं करती, अपितु एक अपरिवर्तनशील सत्ता, ऊर्जा या सच्चे उपादानको देख सकती है जो प्रातिभासिक नहीं, अपने-आपमें इंद्रियोंके अधीन नहीं; साथ ही, वह उस सत्ता, ऊर्जा या उपादानकी संभूतिको या उसके वास्तव नाम-रूपको देखती है। इस संभूति या परिणतिको ही हम प्रतिभास या प्रपंच कहते हैं; कारण, वास्तवमें, हमारी जैसी वस्तु-स्थिति है, वह संभूति अपने-आपको चेतनाके समक्ष ऐंद्रिय प्रत्यक्षण और ऐंद्रिय संबंधकी अवस्थाओंके तले अभिव्यक्त करती है,—जो चेतना अपने शुद्ध एवं अनुपहित, सर्वालिंगनकारी तथा सर्वाविधारक ज्ञान-स्वरूपमें स्थित है, स्वयं उस चेतनाके समक्ष प्रत्यक्ष रूपसे नहीं। यही बात आत्माकी है: हमारी अपरोक्ष आत्म-चेतनाके लिये वह है और अक्षर है, किंतु मानस-बोध और मानस-अनुभवके सामने वह विभिन्न संभूतियोंमें क्षर रूपमें अभिव्यक्त होता है; अतः, वस्तु-स्थिति जैसी है, वह चेतनाके शुद्ध अनुपहित ज्ञानके सम्मुख अपरोक्ष रूपसे नहीं, अपितु हमारी मानसताकी अवस्थाओंके तले अभिव्यक्त होता है।

अनुभवोंका यह अनुक्रम और हमारी मानसताकी अवस्थाओंके तले अनुभवकारिणी चेतनाकी परोक्ष अथवा गौण क्रियाका यह तथ्य ही स्मृति-रूपी साधनका प्रवेश कराते हैं। कारण, हमारी मानसताकी एक पहली शर्त है कालके क्षणों द्वारा विभाजन; वहाँ कालके क्षणों द्वारा इस आत्म-विभाजनकी अवस्थाको छोड़कर अन्य किसी अवस्थामें अपना अनुभव प्राप्त करने अथवा अपने अनुभवोंको साथ-साथ धृत रखनेकी अक्षमता है। संभूतिकी किसी तरंगके, सत्ताकी किसी सचेतन गतिके अव्यवहित मानस-अनुभवमें स्मृतिकी कोई क्रिया या आवश्यकता नहीं; हम क्रोधित हो जाते हैं,—यह कार्य संवेदनका है, स्मृतिका नहीं; हम देखते हैं कि हम क्रोधित हो गये हैं,—यह कार्य बोधका है, स्मृतिका नहीं। स्मृतिका प्रवेश केवल

तब होता है जब हम अपने अनुभवको कालानुक्रमोंके साथ संबंधित करना आरंभ करते हैं, जब हम अपनी संभूतिको भूत, वर्तमान और भविष्यमें विभाजित करते हैं, जब हम कहते हैं, "मैं एक क्षण पूर्व क्रोधित था", या, "मैं क्रोधित हो गया हूँ और अभी भी क्रोधमें हूँ", या, "मैं एक समय क्रोधित था और यदि वही अवसर आया तो फिर क्रोधित होऊँगा।" निस्संदेह, यदि चेतनाकी क्रिया का अवसर ही संपूर्ण या आंशिक रूपसे अतीतकी वस्तु हो तो स्मृति संभूतिमें तत्काल और सीधे भी आ सकती है; उदाहरण-स्वरूप, यदि शोक, क्रोध आदि जैसे भावावेगकी प्रत्यावृत्ति वर्तमानके किसी तात्कालिक कारणसे नहीं, वरन् किसी भूतकालके अन्याय या कष्टकी स्मृतिसे उत्पन्न हो, या फिर किसी ऐसे तात्कालिक कारणसे हुई हो जो किसी विगत अवसरकी स्मृतिको पुनरुज्जीवित करता हो। यद्यपि हमारा अतीत पीछेकी ओर, अंदर, अवगूढ़ रूपसे सदा ही विद्यमान और प्रायः सक्रिय भी है, तथापि चूँकि हम उसे अपने अंदर चेतनाकी सतहपर नहीं रखे रह सकते, अतएव, हमें उसे किसी ऐसी वस्तुके रूपमें पुनः प्राप्त करना होता है जो खो गयी है या जिसका अस्तित्व नहीं रह गया है, और यह हम विचारात्मक मनकी उस पुनरावृत्तिकारी और संयोजनकारी क्रिया द्वारा करते हैं जिसे हम स्मृति कहते हैं। यह वैसे ही है जैसे कि जो वस्तुएँ हमारे सीमित बहिस्तलीय मानस-अनुभवके वास्तविक क्षेत्रके अंतर्गत नहीं, उनका आह्वान हम विचारात्मक मनकी उस क्रियाके द्वारा करते हैं जिसे हम कल्पना कहते हैं और जो हमारे अंदर एक महत्तर शक्ति है और समस्त संभावनाओंको, चाहे वे साध्य हों चाहे असाध्य, हमारे अज्ञानके क्षेत्रमें ले आनेवाली महान् आह्वानकर्त्री है।

परंतु, कालानुक्रममें भी स्थायी या अविच्छिन्न अनुभवका मूल उपादान स्मृति नहीं, और यदि हमारी चेतनाकी गतिधारा अविभक्त हो, यदि उसे क्षण-क्षण इस भाँति न दौड़ना पड़े कि पूर्वगामी तो सीधी पकड़मेंसे छूट जाय और आगामी पूरा अज्ञात या अनुपलब्ध रहे, तो स्मृति आवश्यक ही नहीं होगी। कालके क्षेत्रमें संभूतिका सकल अनुभव या उपादान एक प्रवहमान धारा या समुद्र है, जो स्वयं तो विभक्त नहीं, किंतु देखनेवाली चेतनामें अज्ञानकी सीमित वृत्तिके कारण विभक्त है, उस चेतनाको क्षण-क्षण इस प्रकार कूद लगाते रहना होता है जैसे व्याध-पतंग जल-धाराकी सतहपर तेजीसे भागता जाता है। उसी तरह देशमें भी सत्ताका संपूर्ण उपादान एक प्रवहमान समुद्र है, जो अपने-आपमें तो विभक्त नहीं, किंतु देखनेवाली चेतनामें ही विभक्त है; कारण, हमारी इंद्रिय-शक्तिकी

पकड़नेकी क्षमता सीमित है, वह अंशको ही देख सकती है और इस कारण उपादान-धातुके रूपोंको इस प्रकार देखनेको आबद्ध रहती है मानों वे अपने-आपमें पृथक् वस्तुएँ हों, उस एक मूल उपादानसे स्वतंत्र हों। निस्संदेह देश और कालमें वस्तुओंका एक विन्यास है, परंतु उनके बीच अंतराल या विभाजन केवल हमारे अज्ञानको जान पड़ता है, वस्तुतः नहीं है, और मनके अज्ञान द्वारा सृष्ट अंतरालोंपर सेतु बाँधने और अज्ञान द्वारा सृष्ट विभाजनोंको संबद्ध करनेके लिये ही हमें मनश्चेतनाके विभिन्न उपायोंकी सहायता लेनी होती है जिनमेंसे केवल एक है स्मृति।

अतः, हममें जगत्-समुद्रकी यह प्रवहमान धारा है और क्रोध या शोक या अन्य कोई भी आंतरिक वृत्ति उस अविच्छिन्न प्रवाहकी लंबे समयतक अविरल चलनेवाली तरंगके रूपमें घटित हो सकती है। यह अविच्छिन्नता तो स्मृतिकी शक्तिसे नहीं बनी है, परंतु स्मृति उस तरंगके लंबे समयतक टिकने या पुनरावर्तनमें सहायता दे सकती है, जब कि इसके बिना तो उस तरंगका प्रवाहके अंदर अवसान हो गया होता ; तरंग तो बस हमारी सत्ताकी चित्-शक्तिकी एक वृत्तिकी तरह घटित होती और अपने ही विक्षोभके मूल प्रेरण द्वारा आगे ले जायी जाती हुई टिकी रहती है। स्मृतिका प्रवेश उस विक्षोभको लंबे समयतक टिकाये रखनेके लिये होता है और स्मृति यह काम क्रोधके प्रसंगकी ओर विचारशील मनका या क्रोधके प्रथम अंतर्वेगकी ओर भावुक मनका पुनरावर्तन करके करती है, ऐसा करके वह विक्षोभकी पुनरावृत्तिसे अपना औचित्य सिद्ध करती है, नहीं तो वह विक्षोभ व्यय हो जाता और पुनः केवल तव घटित होता जब कि स्वयं वह प्रसंग वस्तुतः दुहराया जाता। उस तरंगका स्वाभाविक पुनरावर्तन, उसी या सदृश प्रसंगसे उसी विक्षोभकी उत्पत्ति, यह भी स्मृतिका परिणाम वैसे ही नहीं है, जैसेकि उसका एकाकी घटन स्मृतिका परिणाम नहीं था, यद्यपि यह तो है कि स्मृति उसे और भी सशक्त करनेमें सहायक हो सकती और मनको उसके अधिक अधीन कर दे सकती है। वल्कि, भौतिक जगत्की ऊर्जा और उपादान-धातुकी कम परिवर्तनशील प्रक्रियाओंमें हम उसी कारण और प्रभावकी पुनरावृत्तिके जिस संवंधको यांत्रिक रूपसे उपस्थित किया गया पाते हैं, वही संवंध मनकी अधिक तरल ऊर्जा और परिवर्तनशील उपादान-धातुके पुनरावृत्त प्रसंग और पुनरावृत्त परिणाम तथा गतिधारामें है। चाहें तो कह सकते हैं कि प्रकृतिकी समस्त ऊर्जामें एक अवचेतन स्मृति है जो ऊर्जा और परिणामके उसी संवंधकी पुनरावृत्ति अपरिवर्तनीय रूपसे करती रहती है ; परंतु यदि हम ऐसा कहते हैं तो स्मृति शब्दका अर्थ

असीम्य रूपसे विस्तृत कर देते हैं। यथार्थमें हम केवल यह कह सकते हैं कि चित्-शक्तिकी तरंगोंकी क्रियामें पुनरावृत्तिका एक नियम है जिससे वह अपने निजके उपादानकी वृत्तियों या स्पंदोंको नियमित करती है। ठीक-ठीक कहा जाय तो स्मृति केवल वह साधन है जिससे साक्षी मन इन स्पंदों या वृत्तियोंको और कालानुक्रमोंमें उनकी उत्पत्ति और पुनरावृत्तिको कालानुभवके लिये, एक अधिकाधिक सहयोजनकारी इच्छाके द्वारा उनके अधिकाधिक उपयोगके लिये और अधिकाधिक सहयोजनकारी बुद्धिके द्वारा उनके निरंतर उपचीयमान मूल्यांकनके लिये संबद्ध करनेमें सहायता लेता है। जिस निश्चेतनासे हम प्रारंभ करते हैं वह जिस प्रक्रियासे परिपूर्ण आत्म-चेतनामें विकसित होती है, और जिस प्रक्रियासे मनोमय जीवका अज्ञान अपनी संभूतियोंमें अपने-आपका चेतन ज्ञान विकसित करता है, उसमें स्मृति एक बड़ा, एक अपरिहार्य तत्त्व है, परंतु एकमात्र तत्त्व नहीं। यह विकास तब तक चलता रहता है जब तक सहयोजनकारी ज्ञानमय मन और इच्छामय मन आत्मानुभवकी समस्त सामग्रीको अधिकृत करने और उपयोगमें लानेमें संपूर्णतया सक्षम न हो जायँ। अंततः, क्रमविकासकी वह प्रक्रिया तो ऐसी है ही जिसके अनुसार हम मनको भौतिक जगत्की आत्मलीन और प्रतीयमानतः मनहीन ऊर्जामेंसे विकसित होते देखते हैं।

अहं-बोध मनोमयी अविद्याका एक और साधन है जिससे मनोमय जीवको अपने-आपकी संवित् होती है,—केवल अपनी क्रियाशीलताके विषयों, अवसरों और कार्योंकी संवित् नहीं, अपितु उसकी भी जो कि उनका अनुभव करता है। प्रथमतः ऐसा लग सकता है कि अहं-बोध वस्तुतः स्मृतिसे बना है, मानों स्मृति ही हमें कहती है, "जो मैं कुछ समय पूर्व क्रोधित था वही मैं फिर या अभीतक क्रोधित हूँ।" परंतु, सत्यतः, स्मृति अपने ही बलके सहारे तो केवल इतना कह सकती है कि चेतन क्रियाशीलताके उसी सीमित क्षेत्रमें वही व्यापार घटित हुआ है। होता यह है कि उसी मानस-व्यापारकी पुनरावृत्ति होती है, मनोधातुमें संभूतिकी उस तरंगकी पुनरावृत्ति होती है जिसका मानस-बोधको प्रत्यक्ष अनुभव होता है, स्मृतिका प्रवेश इन पुनरावृत्तियोंको साथ-साथ संबद्ध करनेके लिये होता है और वह मानस-बोधको यह अनुभव करनेमें सक्षम करती है कि यह वही मनोधातु है जो वही क्रियात्मक रूप ले रही है और वही मानस-बोध है जो उसका अनुभव कर रहा है। अहं-बोध स्मृतिका परिणाम नहीं, स्मृतिकी कृति भी नहीं, अपितु वह एक निर्देश-बिंदुके रूपमें अथवा ऐसे कुछके रूपमें पहलेसे

और सदा ही रहता है जिसमें मानस-बोध अपने-आपको संकेंद्रित कर देता है, ताकि उसे अनुभव-क्षेत्रमें सर्वत्र असंबद्ध रूपसे बिखर जानेके स्थानपर एक सहयोजनकारी केन्द्र प्राप्त रहे; अहं-स्मृति इस संकेंद्रणको और भी सबल बनाती है, उसे टिकाये रखनेमें सहायता भी देती है, परंतु उसका उपादान तो नहीं होती। निम्नतर प्राणीमें अहं-बोधका, वैयक्तिकताके बोधका विश्लेषण यदि किया जाय, तो संभवतया, वह बोध कालके क्षणोंमें अविच्छिन्नता, आत्म-सारूप्य और दूसरोंसे पृथक्त्वके एक अस्पष्ट या कम स्पष्ट, संवेदनात्मक अनुभवसे बहुत आगे नहीं जाता। परंतु मनुष्यमें इसके अतिरिक्त एक सहयोजनकारी ज्ञानमय मन है; वह मानस-बोध तथा स्मृतिकी संयुक्त क्रियापर आधारित होता हुआ, साथ ही संबोधिसे प्राप्त प्रथम स्थिर अनुभवको भी संरक्षित रखता हुआ, ऐसे अहंके स्पष्ट भावपर पहुँचता है जिसे इंद्रिय-बोध है और जो अनुभव करता, स्मरण रखता, विचार करता है और बराबर वही है, उसे चाहे स्मृति हो या न हो। वह यह कहता है कि यह सचेतन मनोधातु सदैव उसी एक चेतन पुरुषकी वस्तु है जो अनुभव करता है और अनुभव करना छोड़ देता है, स्मरण रखता और भूल जाता है, बहिश्चर रूपसे सचेतन होता और बहिश्चर चेतनासे गिरकर निद्रामें चला जाता है; स्मृतिके संगठनके पूर्व और उसके पश्चात्, बालकमें और वृद्धमें, निद्रामें और जाग्रतावस्थामें, प्रतीयमान चेतनतामें और प्रतीयमान अचेतनतामें वह वही है; जिन कार्योंको वह स्मरण रखता है उनका और जिन्हें वह भूल जाता है उनका भी कर्त्ता वही था, अन्य कोई नहीं; अपनी संभूति अथवा अपने व्यक्तित्वके सारे परिवर्तनोंके पीछे वह वही-का-वही बना रहता है। मनुष्यमें ज्ञानकी यह क्रिया, यह सहयोजनकारी बुद्धि, आत्म-चेतना तथा आत्मानुभवका यह निरूपण पशुके स्मृति-आश्रित अहं और इंद्रियाश्रित अहंसे उच्चतर है, अतः हम मान सकते हैं कि यथार्थ आत्म-ज्ञानके समीपतर है। हम यदि प्रकृतिकी आवृत और अनावृत दोनों क्रियाओंका अध्ययन करें तो इस अनुभवपर भी पहुँच सकते हैं कि समस्त अहं-भावके पीछे, समस्त अहं-स्मृतिके पीछे ज्ञानके एक गुप्त सहयोजनकारी बल या मनकी एक व्यावहारिक जुगत है,—या वस्तुतः यह अहं-भाव, अहं-स्मृति स्वयं ही वह जुगत है,—वह बल या मन वैश्व चित्-शक्तिमें वर्तमान है, मनुष्यकी बुद्धि उसीका वह प्रकट रूप है जहाँतक हमारा क्रमविकास पहुँचा है, इस रूपकी क्रियाविधियाँ और वह जिस तत्त्वसे गठित है दोनों अभीतक सीमित और अपूर्ण हैं। निश्चेतनमें भी एक अवचेतन ज्ञान है, वस्तुओंमें एक महत्तर

अंतर्निहित प्रज्ञा है। ये विश्व-संभूतिकी प्रमत्ततम गतियोंपर भी एक सहयोजन, अर्थात् किसी प्रकारकी बौद्धिक युक्ति आरोपित करती हैं।

मनुष्यका द्विविध व्यक्तित्व या उसका अपने व्यक्तित्वसे वियुक्त हो जाना भली-भाँति देखा हुआ व्यापार है और यहाँ स्मृतिका महत्व स्पष्ट हो जाता है। इस व्यापारमें मनुष्यके मनकी दो आनुक्रमिक या बारी-बारीसे आनेवाली अवस्थाएँ होती हैं, इनमेंसे प्रत्येक अवस्थामें वह केवल उसे पूर्णतया स्मरण रखता और सहयोजित करता है जो वह मनकी उस अवस्थामें था या जो उसने उस अवस्थामें किया था, न कि जो वह मनकी अन्य अवस्थामें था या जो उसने दूसरी अवस्थामें किया था। इसे भिन्न व्यक्तित्वके संगठित भावके साथ संयुक्त किया जा सकता है, कारण, एक अवस्थामें वह यह सोचता है कि वह एक व्यक्ति है, और दूसरीमें यह कि वह भिन्न नाम, जीवन और भावनाओंवाला सर्वथा दूसरा व्यक्ति है। यहाँ ऐसा लगेगा कि स्मृति ही व्यक्तित्वका संपूर्ण उपादान है। परंतु, दूसरी ओर, हमें यह भी देखना चाहिये कि व्यक्तित्वसे वियुक्ति हुए बिना भी स्मृतिसे वियुक्ति हो जाती है, जैसे कि सम्मोहनकी अवस्थामें मनुष्य ऐसी स्मृतियों और अनुभवोंके क्षेत्रको लेता है जिनसे उसका जागृत मन अपरिचित है, परंतु इस कारण वह अपने-आपको एक भिन्न व्यक्ति नहीं मानता, या जैसे कि जब कोई अपने जीवनकी विगत घटनाएँ और शायद अपना नाम भी भूल जाता है उसके लिये तब भी उसके अहं-बोध और व्यक्तित्वमें परिवर्तन नहीं होता। और चेतनाकी ऐसी अवस्था भी संभव है जिसमें यद्यपि स्मृतिमें कोई अंतराल नहीं आता, तथापि संपूर्ण सत्ता एक द्रुत विकासके द्वारा अपने-आपको प्रत्येक मानसिक परिस्थितिमें परिवर्तित पाती है और मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसने एक नये व्यक्तित्वमें जन्म लिया है; इससे ऐसा होता है कि यदि सहयोजनकारी मन न होता तो वह यह स्वीकार ही नहीं करता कि उसका अतीत उस व्यक्तिका है जो वह अभी है, यद्यपि वह यह बिलकुल अच्छी तरह स्मरण रखता है कि वह अतीत शरीरकी उसी आकृति और मनो-धातुके उसी क्षेत्रमें घटित हुआ था। स्वानुभवकारी मन मानस-बोधको आधार और स्मृतिको धागा बनाकर अनुभवोंका गुंथन करता है: परंतु यह तो मनकी सहयोजनकारी वृत्ति ही है जो स्मृति-प्रदत्त सारी सामग्री और उसके भूत, वर्तमान तथा भविष्यके सारे जोड़ोंको साथ-साथ संबद्ध करती हुई उन्हें उस "मैं" के साथ भी संबंधित करती है जो कालके सारे क्षणोंमें और अनुभव तथा व्यक्तित्वके सारे परिवर्तनोंके होते हुए भी वहीका वही है।

अहं-बोध मनोमय जीवमें यथार्थ आत्मज्ञानके विकासके लिये एक प्रारंभिक साधन और एक प्रथम आधार मात्र है। निश्चेतनासे आत्म-चेतनाकी ओर, आत्म-अज्ञान एवं विश्व-अज्ञानसे आत्म-ज्ञान एवं विश्व-ज्ञानकी ओर विकसित होता हुआ, रूपोंमें स्थित 'मन' इतनी दूरीतक जा पहुँचता है कि उसे अपनी बाह्यतया सचेतन सारी संभूतिका बोध इस भाँति होता है कि वह एक "मैं"से संबंधित है जो वह स्वयं सर्वदा है। उस "मैं"को वह अंशतः वह सचेतन संभूति ही मानता है, अंशतः यह सोचता है कि वह उस संभूतिसे भिन्न और श्रेष्ठतर कुछ है, शायद शाश्वत और अपरिवर्तनशील भी। अंतमें, अपनी बुद्धिके सहारे, जो सहयोजनके लिये भेद करती है, वह अपने स्वानुभवको संभूतिपर ही, सतत परिवर्तनशील आत्मापर ही स्थिर कर दे सकता और उससे भिन्न कुछ होनेके विचारको मनका गल्प कहकर अस्वीकार कर सकता है; इस दशामें कोई 'अस्ति' या सत्ता नहीं, केवल 'भवति' या संभूति है। अथवा, वह अपने स्वानुभवको निजकी शाश्वत सत्ताकी प्रत्यक्ष चेतनामें ही स्थिर कर दे सकता और संभूतिको, उसे जाननेको विवश होनेपर भी, मन और इंद्रियोंका गल्प या अस्थायी अवर सत्ताकी निःसारता कहकर अस्वीकार कर सकता है।

परंतु यह स्पष्ट है कि पृथगात्मक अहं-बोधपर आधारित आत्मज्ञान अपूर्ण होता है और एकमात्र या प्रधानतया उसपर या उसके विरुद्ध किसी प्रतिक्रियापर प्रतिष्ठित कोई भी ज्ञान सुरक्षित नहीं हो सकता, उसका संपूर्ण होना निश्चित नहीं हो सकता। सबसे पहले, यह हमारी बाह्य मानस-क्रियाशीलता और उसके अनुभवोंका ही ज्ञान है, और हमारी संभूतिका जो इतना बड़ा बाकी क्षेत्र पीछेकी ओर है उस समूचेके संबंधमें वह ज्ञान अज्ञान है। दूसरे, वह वैयक्तिक आत्मा और उसके अनुभवोंतक ही सीमित सत्ता तथा संभूतिका ज्ञान है; जगत्का बाकी भाग साराका सारा उसके लिये अनात्मा है, अर्थात् ऐसा कुछ है जिसे वह अपनी निजकी सत्ताके अंग-रूपमें नहीं, अपितु अपनी पृथक् चेतनाके सम्मुख उपस्थित होनेवाले किसी बाहरके अस्तित्वके रूपमें अनुभव करता है। ऐसा इसलिये होता है कि व्यक्तिको इस विशालतर अस्तित्व और प्रकृतिका कोई वैसा अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता जैसा उसे अपनी निजकी सत्ता और संभूतिका होता है। यहाँ भी एक सीमित ज्ञान ही है जो अपने-आपको एक विशाल अज्ञानके बीच प्रतिष्ठित कर रहा है। तीसरे, सत् और संभूतिके बीचका संबंध पूर्ण आत्मज्ञानके आधारपर नहीं, बल्कि अज्ञान द्वारा, एक आंशिक ज्ञान द्वारा बना है। परिणाम-स्वरूप, एक अंतिम ज्ञानकी ओर प्रवृत्त होता मन हमारे वर्तमान

अनुभव और संभावनाओंके आधारपर सहयोजनकारी और वियोजनकारी संकल्प तथा बुद्धि द्वारा तीक्ष्ण धारवाले निष्कर्षपर पहुँचनेका प्रयत्न करता है जो अस्तित्वके किसी एक पार्श्वको काट कर अलग करता है। अभीतक इतना ही प्रस्थापित हुआ है कि मनोमय जीव एक ओर तो समस्त संभूतिका प्रतीयमान वर्जन करता हुआ प्रत्यक्ष आत्म-चेतनामें लीन हो जा सकता, और दूसरी ओर, समस्त स्थाणु आत्म-चेतनाका प्रतीयमान वर्जन करता हुआ संभूतिमें लीन हो जा सकता है। मनके दोनों पार्श्व, एक दूसरेके विरोधी-रूपमें पृथक् होते हुए, जिसे परित्यक्त करते हैं उसे अवास्तव होने, या नहीं तो सचेतन मनकी क्रीड़ामात्र होनेका दोषी ठहराते हैं; उनमेंसे एकके लिये भगवान् या आत्मा, और एकके लिये जगत् केवल तबतक सापेक्षतया वास्तव हैं जबतक मन उनकी सृष्टि करनेमें डटा रहे; एकके लिये जगत् आत्माका एक प्रभावी स्वप्न है, एकके लिये ईश्वर और आत्मा मानसिक निर्मिति या प्रभावी विभ्रम हैं। इनमें सच्चा संबंध पकड़में नहीं आया है; कारण, ज्ञान जबतक आंशिक रहेगा, तबतक सत्ताके ये दोनों पार्श्व हमारी बुद्धिको सर्वदा विसंगत और बेमेल लगेंगे ही। सचेतन क्रम-विकासका लक्ष्य है सर्वांगीण ज्ञान। चेतनाका कोई ऐसा साफ काट, जो एक पार्श्वको विच्छिन्न कर देता और दूसरेको छोड़ देता हो, आत्मा और जगत्का संपूर्ण सत्य नहीं हो सकता। कारण, यदि कोई निश्चल आत्मा ही सब कुछ होता तो संसारके अस्तित्वकी कोई संभावना नहीं हो सकती थी; यदि सचल प्रकृति ही सब कुछ होती तो विश्व-संभूतिका कोई चक्र तो चल सकता था, परंतु तब कोई ऐसी आध्यात्मिक भित्ति नहीं हो सकती थी जिस पर 'निश्चेतन'मेंसे 'चेतन'का विवर्तन हो सके और हमारी आंशिक चेतना या अज्ञानमें निजके अतिक्रमण, निजकी सत्ताके समग्र चेतन सत्य और सर्व-सत्ताके पूर्ण चेतन ज्ञानकी प्राप्तिकी स्थायी अभीप्सा हो सके।

हमारी बाह्य सत्ता एक बहिस्तल मात्र है और वहीं अज्ञानका संपूर्ण राज्य है। जाननेके लिये हमें निजके अंदर जाना होगा और एक आंतरिक ज्ञानसे देखना होगा। सतहपर होनेवाला सारा रूपायण हमारी गुप्त महत्तर सत्ताका एक छोटा और क्षीण प्रतिरूप है। हमारे अंदरका निश्चल आत्मा बाह्य मन और प्राणकी क्रियाओंके उपशमित हो जाने पर ही ज्ञात होता है; कारण, चूँकि वह हमारे अंदर गहराईमें आसीन है और बाह्य तलपर आत्म-सत्ताके संबोधिमूलक बोध द्वारा ही प्रत्युपस्थित किया जाता और मन, प्राण तथा शरीरके अहं-भाव द्वारा भ्रांत रूपमें प्रत्युपस्थित किया जाता है, अतः उसके सत्यको मनकी नीरवतामें ही अनुभव करना होगा। परंतु

हमारी बाह्य सत्ताके क्रियात्मक अंग भी उसी तरह हमारी गुप्त प्रकृतिकी गहराइयोंमें रहनेवाली महत्तर वस्तुओंके क्षीण रूप ही हैं। बाह्य तलकी स्मृति भी एक आंशिक और अप्रभावी क्रिया है जो आंतरिक अवगूढ़ स्मृतिमेंसे ब्योरोंको बाहर खींचा करती है। वह अवगूढ़ स्मृति हमारे समस्त जगत्-अनुभवको ग्रहण और अंकित करती है; जिसे हमारे मनने देखा नहीं है, समझा नहीं है, जो उसकी दृष्टिमें नहीं आया है, उसे भी वह ग्रहण और अंकित करती है। हमारी बाह्य तलकी कल्पना चेतनाकी एक बृहत्तर, अधिक सृजनात्मिका और प्रभाविणी, अवगूढ़ मूर्ति-निर्मात्री शक्तिमेंसे एक चयन है। एक अपरिमेय रूपसे व्यापकतर और अधिक सूक्ष्म प्रत्यक्षणोंवाला मन, एक महत्तर क्रियाबल-संपन्न प्राण-शक्ति, एक विशालतर और सूक्ष्मतर ग्रहणशीलता-संपन्न सूक्ष्म-भौतिक धातु हमारे बाह्य तलके क्रमविकासका अपने-आपमेंसे निर्माण कर रही हैं। इन गुह्य क्रियाओंके पीछे एक चैत्य सत्ता विद्यमान है जो हमारे व्यक्तीयनका सच्चा अवलंब है; अहं उसका केवल एक बाह्य मिथ्या स्थानापन्न है: कारण, यह गुप्त अंतरात्मा ही हमारे स्वानुभव तथा जागतिक अनुभवको धारण करता और संयुक्त रखता है; मानसिक, प्राणिक, शारीरिक, बाह्य अहं प्रकृतिकी एक बाह्य निर्मिति है। अपने आत्मा और अपनी प्रकृति, दोनोंको समग्र रूपमें, बाह्य तलपर भी और गहराईमें भी देख लेनेपर ही हमें ज्ञानका एक सच्चा आधार प्राप्त हो सकता है।

अध्याय दस

तादात्म्य-ज्ञान और भेदात्मक ज्ञान

आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि।

वे आत्माको आत्मामें आत्माके द्वारा देखते हैं।

—गीता
6. 20

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति ; ....तदितर इतरं श‍ृणोति, तदितर इतरं मनुते, इतरं स्पृशति, इतरं विजानाति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं.......विजानीयात्, येनेदं सर्वं विजानाति॥
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद ; इदं ब्रह्म,...... इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा॥

जहाँ द्वैत है वहाँ अन्य अन्यको देखता, अन्य अन्यको सुनता, अन्यको स्पर्श करता, अन्यके बारेमें सोचता, अन्यको जानता है। परंतु जिसके लिये सब कुछ आत्मा ही है, वह उसे किसके द्वारा जानेगा? यह जो कुछ है इस सबको वह आत्माके द्वारा ही जानता है।...जो सबको आत्मामें न देख अन्यत्र देखता है, उसे सब कुछ छलता है ; कारण, यह सब जो भी है ब्रह्म है ; समस्त भूत और यह सब जो है, यह आत्मा ही है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
4. 5. 15, 7

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षु-रमृतत्वमिच्छन्॥

स्वयंभूने इंद्रियोंके द्वार बाहरकी ओर खुलनेवाले बनाये हैं, इसलिये मनुष्य वस्तुओंको बाहरकी ओर देखता है और अपने अंतरात्मामें

नहीं देखता। अमृतत्वका इच्छुक, अपनी दृष्टिको अंतर्मुखी रखनेवाला धीर (ज्ञानी) पुरुष, जो आत्माका साक्षात्कार करता है, दुर्लभ है।

—कठोपनिषद्
4. 1

न हि द्रष्टुर्दृष्टेः. . . वक्तुर्वक्तेः. . . श्रोतुः श्रुतेः. . . विज्ञातुर्विज्ञाते-र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्, यद्वदेत्, यच्छृणुयात्, यद्विजानीयात्॥

द्रष्टाकी दृष्टिका, वक्ताके कथनका,. . .श्रोताके श्रवणका. . . ज्ञाताके ज्ञानका लोप नहीं होता; कारण, ये सभी अविनाशी हैं; किंतु जो कुछ वह देखता है, जिससे वह बोलता है, जिसे वह सुनता है, जिसे वह जानता है, वह सब स्वयं उससे कोई दूसरा या अन्य और पृथक् नहीं है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
4. 3. 23-30

हमारे बहिश्चर प्रत्ययकी, हमारी निजको, अपनी आंतरिक गतिविधिको और अपनेसे बाहरके जगत् और उसके विषयों और व्यापारोंको देखनेकी सीमित और प्रतिबंधित मानसी रीतिकी रचना इस प्रकार की गयी है कि उसका ज्ञानकी चतुर्विध कोटियोंसे भिन्न-भिन्न मात्राओंमें उद्भव होता है। जाननेकी आद्या और मूलभूत विधि है तादात्म्यके द्वारा ज्ञान, यह सबमें अंतर्गूढ़ आत्माके लिये नैसर्गिक है। दूसरी विधि मूलभूत नहीं, व्युत्पत्तिक है; वह है अपरोक्ष संपर्कके द्वारा ज्ञान; उसका मूल एक तादात्म्य-जनित गुप्त ज्ञानसे संबंधित है या वहाँसे उसका आरंभ है, परंतु वस्तुतः उसका अपने मूल स्रोतसे वियोजन हो गया है और अतः उसका प्रत्यय सशक्त परंतु असंपूर्ण होता है। तीसरी विधि है प्रेक्षणके विषयसे वियुक्तिके द्वारा ज्ञान, परंतु फिर भी उसे अवलंब-रूपमें एक अपरोक्ष संपर्क अथवा एक आंशिक तादात्म्य भी प्राप्त रहता है। चौथी विधि है संपूर्णतया भेदात्मक ज्ञान, यह ज्ञान परोक्ष संपर्कके तंत्रपर निर्भर है, उपार्जित ज्ञान है जो फिर भी, ऐसा होनेकी सचेतनता न रखता हुआ भी, एक पूर्व-विद्यमान आंतरिक संवित् और ज्ञानकी अंतर्वस्तुओंका अनुवाद या बाहर

ले आना ही है। तादात्म्यके द्वारा ज्ञान, अंतरंग अपरोक्ष संपर्कके द्वारा ज्ञान, भेदात्मक अपरोक्ष संपर्कके द्वारा ज्ञान, परोक्ष संपर्कके द्वारा संपूर्णतया भेदात्मक ज्ञान, ये प्रकृतिकी चार ज्ञान-विधियाँ हैं।

वाह्य तलके मनमें ज्ञानकी प्रथम विधिके विशुद्धतम रूपका उदाहरण केवल हमारी अपनी मूलसत्ताकी अपरोक्ष संवित्‌में मिलता है: आत्मा और सत्ताके शुद्ध तथ्यके अतिरिक्त कुछ भी उस ज्ञानमें नहीं रहता; हमारे वहिस्तलीय मनको उसी प्रकारकी संवित् जगत्‌की अन्य किसी भी वस्तुकी नहीं होती। परंतु हमारी आत्मगत चेतनाकी वनावट और वृत्तियोंके ज्ञानमें तादात्म्य-जनित संवित्‌का कोई अंश अवश्य ही प्रवेश कर जाता है; कारण, हम अपने-आपको इन वृत्तियोंके अंदर एक विशेष तादात्म्यके साथ प्रक्षिप्त कर सकते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि क्रोधके उद्भावनमें ऐसा कैसे हो जाया करता है जव कि वह हमें निगल जाता है और फलस्वरूप उस क्षणके लिये हमारी समूची चेतना क्रोधकी एक तरंग लगने लगती है। प्रेम, शोक, हर्ष आदि अन्य आवेशोंमें भी हमें पकड़ने और आविष्ट करनेका वैसा ही वल है; विचार भी हमें निमग्न और आविष्ट कर लेता है, विचारक हमारी दृष्टिसे ओझल हो जाता है और हम विचार और विचारणा हो जाते हैं। परंतु वहुत सामान्यतया एक द्विविध गति होती है; हमारे स्वका एक भाग विचार या आवेश हो जाता है, हमारा दूसरा भाग या तो एक संसक्ति-भावसे उसके साथ हो लेता या उसका अनुसरण निकटतासे करता और उसे एक ऐसे अंतरंग अपरोक्ष संपर्क द्वारा जानता है जो उस वृत्तिके साथ तादात्म्य या उसके अंदर संपूर्ण आत्म-विस्मृतिकी स्थितिसे कम रह जाता है।

यह तादात्म्य संभव है, और यह युगपत् पार्थक्य और आंशिक तादात्म्य भी; कारण, ये हमारी सत्ताकी संभूतियाँ हैं, हमारी मानस-धातु और मानस-ऊर्जा, हमारी प्राण-धातु और प्राण-ऊर्जाके निर्धारण हैं, परंतु चूंकि वे हमारा एक स्वल्पांश ही हैं, हम उनके साथ तदात्म और उनसे ग्रस्त होनेको वाध्य नहीं है, हम तटस्थ हो सकते, सत्ताको उसकी अस्थायी संभूतिसे अलग कर सकते, उसका अवलोकन कर सकते, उसे अधिकारमें कर सकते, उसकी अभिव्यक्तिको अनुमति दे सकते या रोक सकते हैं: हम, इस भाँति, एक आंतरिक तटस्थता द्वारा, मानसिक या आध्यात्मिक वियुक्ति द्वारा, अपने-आपको अंशतः, या मूलतः भी, सत्तापर मानस-प्रकृति अथवा प्राण-प्रकृतिके अधिकारसे मुक्त कर सकते और साक्षी, ज्ञाता तथा शासककी स्थिति धारण कर सकते हैं। इस भाँति हमें आंतरिक वृत्तिका एक

द्विविध ज्ञान होता है: एक है तादात्म्य द्वारा उसके उपादान और उसकी क्रिया-शक्तिका अंतरंग ज्ञान, किसी भी उस ज्ञानसे अधिक अंतरंग जो हमें संपूर्णतया भेदात्मिका और विषय-वृत्त रीतिसे मिलता है, जैसा कि हमें अपनेसे बाहरकी वस्तुओंका, हमारे लिये सर्वथा अनात्मा रहनेवाली वस्तुओंका मिलता है; साथ ही, एक ज्ञान तटस्थ प्रेक्षण द्वारा होता है, जो तटस्थ रहते हुए भी अपरोक्ष संपर्कके सामर्थ्यसे युक्त है,—वह हमें प्रकृति-ऊर्जाके एकाधिकारसे मुक्त करता और हमें उस वृत्तिको हमारी अपनी सत्ता और जागतिक सत्ताके बाकी भागसे संबंधित करनेमें समर्थ बनाता है। यदि हममें यह तटस्थता न हो तो हम अपनी स्वरूप-स्थिति और प्रभुताशाली ज्ञानके आत्माको संभूति, गति-धारा तथा क्रियाके प्राकृत आत्मामें खो देते हैं, और तब, यद्यपि हम गतिधाराको अंतरंगतासे तो जानते हैं, तथापि आधिपत्यशाली और संपूर्ण रूपसे नहीं। ऐसा तब नहीं होगा यदि हम गतिधाराके साथ अपने तादात्म्यमें अपनी आंतरिक सत्ताके शेष भागके साथके अपने तादात्म्यको भी लिये रहें, अर्थात्, यदि हम संभूतिकी तरंगमें पूरे डूब सकें और साथ ही, उस अवस्था अथवा कार्यमें स्वयं तल्लीनताके बीच मनोमय साक्षी, प्रेक्षक, नियंता रह सकें। परंतु ऐसा हम आसानीसे नहीं कर सकते, कारण, हम विभाजित चेतनामें निवास करते हैं जिसमें हमारा प्राणिक अंग,—शक्ति, कामना, आवेश और कर्मकी हमारी प्राण-प्रकृतिवाला भाग,—मनको नियंत्रित करने या निगल जानेको प्रवण रहता है, और मनको इस अधीनतासे बचना और प्राणको वशमें करना होता है, परंतु मन इस प्रयासमें सफल केवल तब हो सकता है जब कि वह अपने-आपको पृथक् रख सके; कारण, यदि वह उसके साथ एकात्म हो जाता है तो प्राणकी गति-धारामें खो जाता है और वह गति-धारा उसे बहा ले जाती है। तथापि, विभाजनसे एक प्रकारका संतुलित द्विविध तादात्म्य संभव होता है, भले ही उस संतुलनको बनाये रखना आसान नहीं हो; एक विचारात्मा है जो भाव-संवेग या आवेशका प्रेक्षण करता और अनुभवके लिये उसे अनुमति देता अथवा यह अनुमति देनेको किसी प्राणिक चापसे बाध्य होता है; और एक प्राणात्मा है जो अपने-आपको प्रकृतिकी गति-धारामें बहा ले जाये जाने देता है। तो यहाँ, अपने आंतर अनुभवमें हम चेतनाकी क्रियाका ऐसा क्षेत्र देखते हैं जिसमें ज्ञानकी तीन धाराएँ साथ मिल जा सकती हैं: तादात्म्य द्वारा एक विशेष प्रकारका ज्ञान, अपरोक्ष संपर्क द्वारा ज्ञान और, उनपर निर्भर, एक भेदात्मक ज्ञान।

विचारक्रममें विचारक और विचार-क्रियाके बीच पृथक्करण अविक

कठिन होता है। विचारक विचारमें डूब जाता और खो जाता या विचार-धारामें बह जाता है, उससे तदात्म हो जाता है, अपने विचारोंका अवलोकन अथवा पुनर्विलोकन वह सामान्यतया विचार-क्रियाके साथ-साथ या ठीक उस क्रियाके बीच नहीं कर सकता,—यह तो उसे सिंहावलोकन करते हुए और स्मृतिकी सहायतासे या आगे बढ़नेसे पहले संशोधक निर्णयके लिये समालोचनाके विराममें करना होता है: परंतु फिर भी, विचार करना और मनकी क्रियाका सचेतन निर्देशन देना, दोनों साथ-साथ हो सकते हैं; अंशतः तब, जब विचारक विचारमें तल्लीन नहीं हो, संपूर्णतः तब, जब विचारकको पीछे हटकर मनोमय आत्मामें प्रवेश करने और वहाँ मानस-ऊर्जासे अलग खड़े होनेका सामर्थ्य प्राप्त हो जाय। विचारमें इस प्रकार निमग्न होनेके बदले कि हमें, अधिक-से-अधिक, विचारकी प्रक्रियाका एक अस्पष्ट अनुभव ही हो, हम उस प्रक्रियाको बल्कि मानस-चक्षुसे देख सकते हैं, अपने विचारोंकी उत्पत्ति और गति-धाराका निरीक्षण कर सकते, और अंशतया एक नीरव अंतर्दृष्टिसे, अंशतया विचार-पर-विचारकी प्रक्रियासे उनका निर्णय और मूल्यांकन कर सकते हैं। परंतु जिस किसी भी प्रकारका तादात्म्य हो, यह ध्यानमें रखना चाहिये कि हमारी अंतर्वृत्तियोंके ज्ञानकी प्रकृति द्विविध है, पार्थक्य और अपरोक्ष संपर्क; कारण, जब हम तटस्थ हो जाते हैं तब भी यह घनिष्ठ संपर्क बना रहता है, हमारा ज्ञान सर्वदा एक अपरोक्ष स्पर्शपर, तादात्म्यके एक विशेष तत्त्वको अपने अंदर वहन करनेवाली अपरोक्ष संवित्से प्राप्त संबोधपर आधारित होता है। अधिक भेदात्मिका अभिवृत्ति सामान्यतया हमारी बुद्धिकी विधि होती है जब वह हमारी अंतर्वृत्तियोंका प्रेक्षण करने और उनको जाननेमें प्रवृत्त होती है; अधिक अंतरंग अभिवृत्ति हमारे मनके क्रियात्मक भागकी विधि होती है जब वह अपने-आपको हमारे संवेदनों, भावनाओं और कामनाओंसे संयुक्त करता है, परंतु इस संयोगमें भी विचारक मन हस्तक्षेप कर सकता और मनके क्रियात्मक आत्म-संयुक्तकारी भाग और प्राणिक या शारीरिक गतिविधि दोनोंपर एक भेदात्मक और वियुक्त प्रेक्षण तथा नियंत्रण प्रयुक्त कर सकता है। हमारी दैहिक सत्ताकी जितनी भी गतियाँ दृष्टिमें आ सकती हैं, वे भी हमारे द्वारा भेदात्मक और अंतरंग, इन दोनों विधियोंसे जानी जातीं और नियंत्रित होती हैं; शरीर और उसकी क्रियाओंको हम अपने अंग-रूपमें अनुभव करते हैं, परंतु मन उससे पृथक् है और उसकी वृत्तियों पर एक तटस्थ नियंत्रण प्रयुक्त कर सकता है। हमारा अपनी आंतर-सत्ता और प्रकृतिका सामान्य ज्ञान यद्यपि तब भी असंपूर्ण और अधिकांशमें

वहिस्तलीय रहता है, तथापि जहाँतक वह जाता है उसे इससे एक विशेष अंतरंगता, निकटता और अपरोक्षता प्राप्त होती है। हमसे बाहरके जगत्, उसकी गतिविधि और उसके विषयों-संबंधी हमारे ज्ञानमें यह बात नहीं होती : कारण, वहाँ, चूँकि दृष्ट या अनुभूत वस्तु अनात्मा है और वह हमारे अंग-रूपमें अनुभूत नहीं होती, इसलिये उस विषयके साथ चेतनाका संपूर्णतया अपरोक्ष संपर्क संभव नहीं ; इन्द्रियका उपयोग उपकरण-रूपमें करना होता है, इससे हमें उसका अपरोक्ष और अंतरंग ज्ञान नहीं, अपितु ज्ञानकी प्रथम सामग्रीके रूपमें उसकी कोई आकृति ही मिलती है।

बाह्य वस्तुओंके प्रत्ययमें हमारे ज्ञानका आधार पूरा-पूरा भेदात्मक होता है, उसकी सारी प्रणाली और प्रक्रियाकी प्रकारता परोक्ष बोधकी होती है। हम अपने-आपको बाह्य पदार्थोंके साथ, हमारी अपनी प्रकृतिके ही जीव अन्य मनुष्योंके साथ भी एकात्म अनुभव नहीं करते ; हम उनकी सत्ताके भीतर इस भाँति प्रवेश नहीं कर पाते मानों वह हमारी निजकी सत्ता हो, हम उन्हें और उनकी गतिविधिको उतने अपरोक्ष, अव्यवहित, अंतरंग रूपसे नहीं जान सकते जितना हम अपने-आपको और अपनी गतिविधिको, असंपूर्णतया ही सही, जानते हैं। परंतु तादात्म्यका ही अभाव नहीं रहता, अपरोक्ष संपर्क भी अनुपस्थित रहता है ; हमारी चेतना और उनकी चेतना, हमारी धातु और उनकी धातु, हमारी आत्म-सत्ता और उनकी आत्म-सत्ताके बीच कोई अपरोक्ष स्पर्श नहीं रहता। उनके साथ हमारा जो एकमात्र अपरोक्ष संपर्क होता लगता है, या उनका जो एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण हमें मिलता लगता है, वह इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है ; दृष्टि, श्रवण और स्पर्श ज्ञानके विषयके साथ एक प्रकारकी अपरोक्ष अंतरंगताका आरंभ करते लगते हैं : परंतु, यथार्थमें ऐसा है नहीं, यह यथार्थ अपरोक्षता नहीं, यथार्थ अंतरंगता नहीं ; कारण, अपने इंद्रिय-बोधसे हमें जो कुछ प्राप्त होता है वह स्वयं उस वस्तुका आंतरिक अथवा अंतरंग स्पर्श नहीं, अपितु हमारे अंदर उसका कोई प्रतिरूप या कम्पन या स्नायविक संदेश होता है जिसके द्वारा हमें उसे सीखना या जानना है। ये साधन इतने निष्प्रभाव, इतने दीन-हीन हैं कि यदि यही समूचा साधन-यंत्र होता तो हम थोड़ा-सा ही जान पाते या कुछ भी नहीं जान पाते या हमें संभ्रमका बड़ा धुंधलापन मात्र प्राप्त होता। परंतु एक इंद्रिय-मनकी संबोधिका हस्तक्षेप होता है, वह उस प्रतिरूप अथवा कम्पनका संकेत पकड़ती और उसे विषय-स्वरूप मान लेती है; एक प्राणिक संबोधिका हस्तक्षेप होता है, वह ऐंद्रिय संपर्कके रचित एक अन्य प्रकारके कम्पनके द्वारा उस विषयकी

ऊर्जा या उसकी शक्तिकी आकृतिको पकड़ती है; और एक प्रत्यक्षणकारी मनकी संवोधिका हस्तक्षेप होता है, वह उस विपयका सही विचार इस सारे साक्ष्यसे तुरंत वना लेती है। इस भाँति निर्मित प्रतिरूपके अर्थ-वोधमें जो कुछ भी कमी रहती है उसकी पूर्ति युक्ति या समग्र अववोधयुक्त बुद्धिके प्रवेशसे होती है। यदि प्रथम संमिश्र संवोधि अपरोक्ष संपर्कका परिणाम, या अपने प्रत्यक्षणोंकी स्वामिनी समग्र संवोधिमूलक मानसताकी क्रियाका संक्षिप्त विवरण होती, तो वुद्धिके प्रवेशकी आवश्यकता इंद्रिय और उसके संकेतोंके द्वारा सूचित नहीं किये गये ज्ञानकी अन्वेपिका या संगठिका होनेके अतिरिक्त और किसी रूपमें नहीं रह जाती। इसके विपरीत, यह किसी प्रतिरूप, किसी ऐंद्रिय प्रलेख, किसी परोक्ष साक्ष्यके आधारपर क्रिया करनेवाली संवोधि है, न कि विपयके साथ किसी अपरोक्ष संपर्कके आधारपर करनेवाली। परंतु, चूँकि प्रतिरूप या कम्पन एक सदोप और संक्षिप्त प्रलेख है और स्वयं वह संवोधि सीमित है, उसका संचार एक धुँधले माध्यमके द्वारा होता है और वह एक अंधे प्रकाशमें क्रिया करती है, अतः उस विपयका जो व्याख्यात्मक रूप हम उस संवोधिके द्वारा घड़ते हैं उसकी परिशुद्धता संदिग्ध हो जाती, या कम-से-कम, उसके अधूरे होनेकी संभावना रहती है। मनुष्यके ऐंद्रिय करणोंमें त्रुटियाँ हैं, उसके स्थूल मनके प्रत्यक्षणमें भूल होती है और वह मन अपनी प्राप्त सामग्रीका जो अर्थ लगाता है उसमें कमी रहती है; इन सवको पूरा करनेके लिये मनुष्यको वाध्य होकर अपनी विचार-वुद्धिका विकास करना पड़ता है।

अतः हमारा जगत्का ज्ञान एक कठिन निर्मिति है जिसकी रचनामें ऐंद्रिय प्रतिरूपका अपूर्ण प्रलेख रहता है, प्रत्यक्षणकारी मन, प्राणिक मन और ऐंद्रिय मनके द्वारा उसकी संवोधिमूलक व्याख्या रहती है, और बुद्धिके द्वारा उसकी अनुपूरिका पूर्ति, उसका संशोधन, उसमें अनुपूरक ज्ञानका जोड़ और उसका सहयोजन रहते हैं। ऐसा होनेपर भी, हम जिस जगत्में रहते हैं, उसके संवंधमें हमारा ज्ञान संकीर्ण और अपूर्ण होता है, हमारी उसकी सार्थकताओंकी व्याख्याएँ संदिग्ध होती हैं: इस असंपूर्णताकी पूर्तिके लिये कल्पना, परिकल्पना, चिंतन, निष्पक्ष विवेचन और तर्कणा, अनुमान, मापन, परीक्षण, और विज्ञानके द्वारा ऐंद्रिय साक्ष्यका और भी संशोधन और परिवर्द्धन,—इस सारे यंत्र-समूहकी सहायता लेनी पड़ी है। इन सवके वाद भी, परिणाममें, अर्जित परोक्ष ज्ञानका एक अर्ध-निश्चित, अर्ध-संदिग्ध संचय ही, अर्थसूचक प्रतिविंवों और विचारात्मक प्रतिरूपों, अमूर्त विचार-प्रतीकों, प्राक्कल्पनाओं, सिद्धांतों और सामान्यीकरणोंका पुंज ही

रहता है, और फिर, इन सबके साथ संदेहों और कभी भी अंत न होनेवाले वितर्क और प्रश्नका पुंज भी रहता है। ज्ञानके साथ शक्ति आयी है, परंतु अपने ज्ञानकी अपूर्णताके कारण शक्तिका सच्चा उपयोग हमारे लिये अज्ञात रह जाता है, हमें इसका भी ज्ञान नहीं होता कि हमें ज्ञान और शक्तिके उपयोगको किस लक्ष्यकी ओर मोड़ना और कारगर बनाना चाहिये। यह अवस्था हमारे आत्म-ज्ञानकी अपूर्णताके कारण और भी बिगड़ जाती है ; कारण, हमारा वर्तमान आत्म-ज्ञान स्वल्प है, दयनीय रूपसे अपर्याप्त है, केवल हमारे बहिस्तलका है, हमारे प्रत्यक्ष प्रातिभासिक आत्मा और प्रकृतिका है, हमारे सच्चे आत्मा और हमारे जीवनके सच्चे अर्थका नहीं। उपयोक्तामें आत्म-ज्ञान और आत्माधिकारका अभाव है, उसके जगत्-शक्ति तथा जगत्-ज्ञानके उपयोगमें बुद्धिमत्ता और सम्यक् इच्छाका अभाव है।

यह स्पष्ट है कि बहिस्तलपर हमारी अवस्था, निस्संदेह, एक ज्ञानकी अवस्था है, परंतु वहींतक जहाँतक कि वह ज्ञान जाता है ; यह सीमित ज्ञान है, अज्ञानसे आच्छादित और आक्रांत है और, अपने परिसीमनके कारण, बहुत बड़ी दूरीतक, स्वयं एक प्रकारका अज्ञान, अधिक-से-अधिक, एक मिश्रित ज्ञान-अज्ञान है। इससे भिन्न कुछ हो भी नहीं सकता था, क्योंकि हमारी जगत्की संवित् एक भेदात्मक और बाह्य अवलोकनसे उत्पन्न है, ज्ञानका परोक्ष साधन ही उसके हाथमें है और, हमारा अपने-आपका ज्ञान, यद्यपि वह अधिक अपरोक्ष होता है, तथापि हमारी सत्ताके बाह्य तलतक प्रतिबंधित रहनेके कारण, हमारे सच्चे आत्मा, हमारी प्रकृतिके सच्चे मूलों, हमारे कर्मकी सच्ची चालक शक्तियोंके प्रति अज्ञ रहनेके कारण, निष्प्रभाव हो जाता है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि हम अपने-आपको केवल एक बहिस्तलीय ज्ञानसे जानते हैं,—हमारे लिये हमारी चेतना और विचारके उत्स रहस्य हैं, हमारे मन, भावोच्छ्वास और संवेदनका सच्चा स्वरूप रहस्य है, हमारे जन्मका कारण, और उसका उद्देश्य, हमारे जीवन और उसके क्रिया-कलापोंका तात्पर्य रहस्य है : यदि हमें यथार्थ आत्म-ज्ञान और यथार्थ जगत्-ज्ञान होता तो ऐसी बात न होती।

यदि हम इस परिसीमन और अपूर्णताके कारणकी खोज करें तो प्रथम यह पायेंगे कि यह इसलिये है कि हम अपने बहिस्तलपर संकेंद्रित हैं, हमारे आत्माकी गहराइयाँ, हमारी समग्र प्रकृतिके रहस्य एक दीवारके पीछे हमसे छिपे हैं,—वह दीवार हमारी बहिर्वर्ती चेतनाके द्वारा बनायी हुई है, या उसके लिये बनायी गई है ताकि वह मन, प्राण और शरीरके अहंकेंद्रिक व्यक्तीयनके क्रिया-कलापका अनुसरण हमारी बृहत्तर सत्ताके गभीरतर और

विशालतर सत्यके हमलेसे वची रहती हुई कर सके। इस दीवारके रहते हम अपने आंतर आत्मा और प्रकृत स्वरूपकी झाँकी कुछ तरेड़ों और झरोखोंमेंसे ही पा सकते हैं और वहाँ हमें एक रहस्यमय धुँधलेपनसे अधिक कुछ शायद ही दिखाई देता है। साथ ही, हमारी चेतनाको अपने अहंकेंद्रिक व्यक्तीयनका बचाव अपने निजके एकत्वमय और आनंत्यमय गभीरतर आत्माकी ओरसे ही नहीं, अपितु वैश्व अनंतकी ओरसे भी करना होता है; वह यहाँ भी विभाजनकी एक दीवार वना लेती और जो कुछ उसके अहंके चारों ओर केंद्रित नहीं, उसे अनात्मा कह कर वहिष्कृत करती है। परंतु, चूंकि उसे इस अनात्माके साथ रहना पड़ता है, कारण, वह उसीकी वस्तु है, उसपर निर्भर है, उसके अंदर निवासिनी है, अतः उसे उसके साथ संसर्गका कोई साधन वनाये रखना ही होता है; उसे अपने अहंकी दीवार और शरीरके अंदर आत्म-प्रतिवंधकी दीवारसे वाहर भी जाना होता है, ताकि वह उन आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सके जिन्हें वह अनात्मा उसे दे सकता हो: उसे, उसके चारों ओर जो कुछ है, उसको किसी-न-किसी प्रकार जानना होगा ही, ताकि वह उसपर अधिकार कर सके और उसको, जहाँतक संभव हो, मानवके वैयक्तिक और सामूहिक जीवन तथा अहंका सेवक वना सके। शरीर हमारी चेतनाको इंद्रियोंके द्वार प्रदान करता है; इनके द्वारा वह जगत्के साथ, अपनेसे वाहरके अनात्माके साथ आवश्यक संसर्ग स्थापित कर सकती है, उनका अवलोकन और उनपर क्रिया करनेके साधन स्थापित कर सकती है। मन इन साधनोंका उपयोग और दूसरोंका आविष्कार करता है जो उनकी अनुपूर्ति करते हैं, और वह कोई निर्माण, ज्ञानका कोई तंत्र स्थापित करनेमें सफल होता है जो उसके तात्कालिक प्रयोजन या उसकी उस सामान्य इच्छाके काम आता है जो इस विशाल परकीय पर्यावारिक सत्ताको अंशतः अधिगत करने, और जहाँ वह उसे अधिगत नहीं कर सकती, वहाँ उसके साथ व्यवहार करनेकी होती है। परंतु हमारी चेतनाको जो यह ज्ञान प्राप्त होता है विषयगत होता है, प्रमुखतः वस्तुओंकी सतहका, या सतहसे जो ठीक नीचे है, उसका होता है, व्यावहारिक, सीमित और अविश्वसनीय होता है। उसकी विश्व-ऊर्जाकी ओरसे वचाव-व्यवस्था भी समान रूपसे अविश्वसनीय और आंशिक होती है: उसके यह सूचना लगा देनेके वावजूद भी कि अनुमतिके विना प्रवेश निषिद्ध है, उसपर जगत्का हमला सूक्ष्म और अदृश्य रूपसे होता है, वह अनात्माके द्वारा आच्छादित होती और उसके द्वारा गढ़ी जाती है; उसके विचार, उसकी इच्छा, उसकी भावुक

और प्राणिक ऊर्जामें दूसरों और विश्व-प्रकृतिके सब प्रकारके विचारों, इच्छाओं, आवेशों, प्राणिक आघातों, शक्तियोंकी लहरों और तरंगोंका अनुप्रवेश होता है। उसकी बचावकी दीवार तमसाच्छादनकी दीवार हो जाती है और उसे यह सारी अन्योन्य क्रिया ज्ञात नहीं होने देती ; वह केवल उसे जानती है जो उसके पास इंद्रियोंके द्वारसे या मनके प्रत्यक्षणके द्वारा आता है, किंतु इसके प्रति वह सुनिश्चित नहीं रह सकती, या वह अपनी एकत्रित ऐंद्रिय तथ्य-सामग्रीसे जो अनुमान या निर्माण कर सकती है उसके द्वारा जो आता है उसे जानती है ; बाकी सब कुछ उसके लिये निर्ज्ञानका शून्य है।

अतएव, हमारे आत्म-बंदीकरणकी यह दोहरी दीवार, अहंकी सीमाओंके अंतर्गत हमारी आत्म-किलाबंदी ही हमारे सीमित ज्ञान अथवा अज्ञानका कारण है, और यदि यह आत्म-बंदीकरण ही हमारा सारा जीवन-धर्म हो तो अज्ञानका उपचार नहीं किया जा सकता। परंतु, वास्तवमें, यह सतत बाह्य अहं-निर्माण विश्वगत चित्-शक्तिका एक स्वल्पकालीन उपाय मात्र है ताकि अंदरका गुप्त व्यक्ति, अंदरका अध्यात्म-पुरुष भौतिक प्रकृतिमें भी अपने-आपका एक प्रातिनिधिक और उपकरणात्मक रूपायण, अज्ञानकी प्रकृतिमें एक स्वल्पकालीन व्यष्टिरूपण स्थापित कर सके, क्योंकि सार्वभौम निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित होते जगत्में आरंभमें इतना ही किया जा सकता है। हमारा आत्म-अज्ञान और हमारा विश्व-अज्ञान समग्र आत्म-ज्ञान और समग्र विश्व-ज्ञानकी ओर केवल उसी आयामके अनुपातमें बढ़ सकते हैं जिसमें हमारा सीमित अहं और उसकी अर्ध-अंध चेतना एक महत्तर आंतरिक जीवन तथा चेतना और एक सच्ची आत्म-सत्ताकी ओर उन्मीलित होते और अपनेसे बाहरके अनात्माको भी आत्मवत् जानते हैं,—एक ओर एक विश्व प्रकृति, जो हमारी अपनी प्रकृतिका उपादान-तत्त्व है, दूसरी ओर, एक सत्स्वरूप, जो हमारी अपनी आत्म-सत्ताका एक असीम संप्रसारण है। हमारी सत्ताको अपनी बनायी अहं-चेतनाकी दीवारें तोड़नी है, अपने शरीरसे परे विस्तृत होना और विश्वके शरीरमें निवास करना है। परोक्ष संपर्कसे प्राप्त अपने ज्ञानके स्थानपर, या उसके अतिरिक्त, उसे अपरोक्ष संपर्कसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानतक पहुँचना और फिर तादात्म्यसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानकी ओर अग्रसर होना है। उसकी सत्ताके सीमित सांतको एक असीम सांत और एक अनंत बन जाना है।

परंतु इन दोनों क्रियाओंमें जो पहली है, अपनी आंतरिक सत्यताओंके प्रति हमारी जागृति, यह पूर्ववर्ती आवश्यकताके रूपमें खड़ी होती है ; कारण, इस अंतर्मुखी आत्म-प्राप्तिके द्वारा ही दूसरी, विश्वीय आत्म-प्राप्ति,

संपूर्णतया संभव हो सकती है। हमें अपनी आंतरिक सत्ताके अंदर जाना होगा, उसमें और उसीके आधारपर रहना सीखना होगा ; बाह्य मन, प्राण और शरीरको हमारे लिये एक उपकक्ष ही बन जाना होगा। हम बाहरी भागमें जो कुछ भी हैं उसका नियामक, निस्संदेह, वह है जो हमारे अंदर है, गुह्य है, हममें "गहने गभीरे" है। वहींसे गुप्त प्रवर्तन आते हैं, स्वतः-क्रिय रूपायण आते हैं; हमारी प्रेरणाएँ, हमारे संबोधि-स्फुरण, हमारे प्राणिक उद्देश्य, हमारे मनकी अभिरुचियाँ और हमारी इच्छाके चुनाव वहींसे प्रेरित होते हैं,—किंतु वहींतक, जहाँतक वे वैश्व आघातोंके हिल्लोलके उतने ही प्रच्छन्न दबावसे गठित या प्रभावित न हों। परंतु हमारा इन उन्मज्जित होनेवाली शक्तियों और इन प्रभावोंका उपयोग हमारी बाह्यतम प्रकृतिसे अनुबंधित, विस्तीर्ण रूपसे निर्धारित, और सबसे बड़ी बात यह है कि बहुत अधिक सीमित होता है। अतएव, हमें इस आंतरिक प्रवर्तक आत्माके ज्ञानके साथ-साथ बाह्य उपकरणस्वरूप आत्माका और हमारे निर्माणमें उन दोनोंके द्वारा संपादित भूमिकाका यथातथ्य परिचय खोज निकालना है।

बहिस्तलपर हमें आत्म-स्वरूपके उतने ही भागका ज्ञान प्राप्त होता है जितना वहाँ रूपायित है, बल्कि उसके भी एक अंशका ही ; कारण, हम अपनी समग्र बाह्य सत्ताको एक सामान्य अस्पष्टतासे देखते हैं जिसमें स्पष्टताके कुछ बिंदुओं या आकारोंके चिह्न और रेखाएँ होती हैं, यहाँतक कि मानसिक अंतर्निरीक्षणसे भी हम खंडोंके किसी समूहका ही आविष्कार करते हैं, हमारी वैयक्तिक रचनाका संपूर्ण आकार और बोध हमारी दृष्टिमें नहीं आ पाते। परंतु एक विकृतिकारी क्रिया भी है जो इस सीमित आत्म-ज्ञानको भी तमोवृत और विकृत कर देती है ; हमारा आत्म-दर्शन हमारे बाह्य प्राणात्मा, हमारे प्राण-पुरुषके सतत आघात और अनाहूत प्रवेशसे दूषित होता है ; कारण, हमारा प्राण-पुरुष विचारक मनको सर्वदा अपना यंत्र और दास बनाना चाहता है : क्योंकि हमारा प्राण-पुरुष आत्म-ज्ञानसे नहीं, अपितु आत्म-प्रतिष्ठापन, कामना और अहंसे संबंध रखता है। अतः वह अपने लिये इन उद्देश्योंके अनुकूल प्रतीयमान आत्माकी एक मानसिक रचना बनानेके लिये मनपर सतत क्रिया करता रहता है, हमारा मन उसके फुसलानेमें आकर हमारे और औरोंके सामने हमारे अपने-आपकी एक अंशतः मिथ्या प्रतिनिधि-आकृति उपस्थित करता है जो हमारे आत्म-प्रतिष्ठापनका समर्थन करती, हमारी कामनाओं और क्रियाओंको न्याय्य सिद्ध करती, हमारे अहंका पोषण करती है। निस्संदेह, यह प्राणिक हस्तक्षेप सदा ही आत्म-समर्थन और आत्म-प्रतिष्ठापनकी दिशामें नहीं होता, कभी-कभी वह आत्म-

अवमानना और अस्वस्थ तथा अतिरंजित आत्म-आलोचनाकी ओर भी मुड़ता है: परंतु यह भी एक अहं-रचना, एक विपरीत या निषेधात्मिका अहंता, प्राणिक अहंकी एक स्थिति या भंगिमा ही है। कारण, इस प्राणिक अहंमें प्रायः प्रतारक और दम्भीका, दिखावा और अभिनय करनेवालेका मिश्रण हो जाता है; वह सदा ही कोई-न-कोई भूमिका ग्रहण कर लेता और उसे अपने सामने और औरोंको दर्शकके रूपमें रखकर उनके सामने खेलता है। इस भाँति, एक संगठित आत्म-अज्ञानके साथ एक संगठित आत्म-वंचना जुड़ जाती है। यदि हम अंदर जायँ और इन वस्तुओंको उनके उद्गम-स्थलमें देखें, तभी हम इस अंधकार और जालमेंसे निकल सकते हैं।

वस्तुतः, हमारे अंदर एक विशालतर मनोमय पुरुष है, एक विशालतर आंतरिक प्राणिक पुरुष है, हमारी बाह्य शारीरिक चेतनासे भिन्न एक विशालतर आंतरिक सूक्ष्म-शारीरिक पुरुष भी है; और उसमें प्रविष्ट हो कर या वही हो जाकर, उसके साथ एकात्म होकर, हम अपने विचारों और भावनाओंके मूल स्रोतों, अपने कर्मके मूल और हेतुओं, हमारे बहिस्तलीय व्यक्तित्वका निर्माण करनेवाली क्रियमाण ऊर्जाओंका प्रेक्षण कर सकते हैं। कारण, जो आंतरिक पुरुष हमारे अंदर गुप्त रूपसे विचार करता और देखता है, जो प्राण-पुरुष हमारे द्वारा गुप्त रूपसे अनुभव करता और प्राण-सत्तापर क्रिया करता हैं, जो सूक्ष्म शारीरिक पुरुष हमारे शरीर और उसके अवयवोंके द्वारा वस्तुओंके संपर्कको ग्रहण करता और प्रत्युत्तर देता है, उनका हमें पता चलता है और उन्हें हम जान सकते हैं। हमारे बाह्य तलके विचार, भावना और भावोच्छ्वास हमारे अंदरके आवेगों और हमसे बाहरसे आनेवाले आघातोंकी गुत्थी और संभ्रमकारी मिलावट होते हैं; हमारी बुद्धि-युक्ति, हमारी संगठनकारिणी बुद्धि उनपर एक अपूर्ण व्यवस्था ही थोप सकती है। किंतु यहाँ, अंतरमें, हमें अपनी मानसिक, अपनी प्राणिक और अपनी शारीरिक ऊर्जाओंके पृथक्-पृथक् मूल स्रोतोंका पता चलता है और आत्म-दर्शनके स्पष्ट प्रकाशमें हम प्रत्येककी शुद्ध क्रियाओं, विविक्त शक्तियों, घटक तत्त्वों और उनकी अन्योन्यक्रियाको स्पष्ट देख सकते हैं। हमें पता चलता है कि हमारी बाह्य चेतनाके विरोधों और संघर्षोंका प्रधान कारण हमारे मानसिक, प्राणिक और शरीरिक अंगोंकी विपरीत या परस्पर विसंगत प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें परस्पर विरोध रहता है और मेल नहीं होता, और फिर, इन प्रवृत्तियोंके ऐसी होनेका कारण हमारी सत्ताकी बहुत सारी भिन्न-भिन्न आंतरिक संभावनाओंकी विसंगति और हमारी बाह्य प्रकृतिके अंतर्मिश्रित विन्यास और भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंके पीछे हमारे अंदर प्रत्येक

स्तरपर विभिन्न व्यक्तित्वोंकी भी विसंगति है। परंतु, जबकि वहिस्तलपर उनका क्रियाकलाप सम्मिश्र, विश्रृंखल और द्वन्द्वरत है, यहाँ, हमारी गहराइयोंमें, उन्हें उनकी स्वतंत्र और पृथक् प्रकृति तथा क्रियामें देखा जा सकता और उनपर क्रिया की जा सकती है, और हमारे अंदर जो मनोमय पुरुष है, "मनोमयः प्राणशरीरनेता",[1] उसके द्वारा, या इससे अधिक अच्छी तरह केंद्रीय चैत्य पुरुषके द्वारा, उनमें सामंजस्यका स्थापन इतना कठिन नहीं; किंतु शर्त यह है कि हमारे प्रयासमें सम्यक् चैत्य और मनोमय इच्छा सम्मिलित हो, क्योंकि हम यदि प्राणिक अहंका उद्देश्य लेकर ही अवगूढ़ सत्तामें प्रवेश करें तो इसका परिणाम गंभीर संकट और अनर्थ या, कमसे कम, अहं, आत्म-प्रतिष्ठापन और कामनाका असाधारण उपचय, परिवर्द्धित और अधिक सशक्त ज्ञानके बदले परिवर्द्धित और अधिक सशक्त अज्ञान हो सकता है। इसके अतिरिक्त, इस आंतरिक या अवगूढ़ सत्तामें हमें अपरोक्ष रूपसे यह विवेक करनेका साधन मिलता है कि अंदरसे क्या उद्भूत होकर आ रहा है और वाहरसे, दूसरों या विश्वप्रकृतिसे हमारे पास क्या आ रहा है, और यह संभव हो जाता है कि हम एक नियंत्रण, एक वरण, इच्छानुसार ग्रहण, परित्याग तथा निर्वाचनकी एक शक्ति, आत्म-निर्माण और सामंजस्य-स्थापनकी एक स्पष्ट शक्ति प्रयुक्त करें। यह शक्ति हमें अपने मिश्र वाह्य व्यक्तित्वमें अधिगत नहीं, वहाँ हम इसे वहुत अपूर्ण रूपसे ही संचालित कर सकते हैं, परंतु वह आंतरिक 'पुरुष' का तो विशेषाधिकार है। कारण, गहराइयोंमें यह प्रवेश होनेसे अंतःपुरुष, सर्वथा आवृत न रह जाता हुआ, अपनी वाह्य उपकरणस्वरूप चेतनापर केवल आंशिक प्रभाव प्रयुक्त करनेको वाध्य न रह जाता हुआ, भौतिक विश्वमें हमारे जीवनमें अधिक ज्योतिर्मय रूपसे रूपायित होनेमें समर्थ हो जाता है।

अंतःपुरुषके ज्ञानके मूलमें भी वही तत्त्व होते हैं जो कि वाह्य मनके वहिस्तलीय ज्ञानमें, परंतु उनके बीच चेतना तथा दृष्टिकी एक अर्ध-अंधता और एक अधिक स्पष्टताके वीचका अंतर रहता है, क्योंकि अंतःपुरुषको अधिक अपरोक्ष और सशक्त साधनविनियोग प्राप्त है और वहाँ ज्ञानके तत्त्वोंका श्रेष्ठतर विन्यास है। तादात्म्य-ज्ञान, हमारा सतहपर आत्म-सत्ताका एक अस्पष्ट अंतर्निहित वोध और अपनी आंतरिक गतिविधिके साथ आंशिक तादात्म्य, यहाँ, अंतःपुरुषमें, उस अस्पष्ट सार-रूप दर्शन और सीमित संवेदनसे अधिक गहरा और परिवर्द्धित होता हुआ, अंतरकी समूची सत्ताकी एक स्पष्ट

1. मुंडक उपनिषद् 2. 2. 7

और अपरोक्ष संवित् हो जा सकता है : हम अपनी समूची सचेतन मनोमयी सत्ता और प्राण-सत्तापर अधिकार कर सकते और अपनी मानसिक तथा प्राणिक ऊर्जाकी समग्र गतिविधिके साथ उनमें सीधा अंतर्वेधन और उन्हें आच्छादित करनेवाले संपर्ककी घनिष्ठ अंतरंगताकी स्थितिमें पहुँच सकते हैं; हमारी जितनी भी संभूतियाँ हैं, हमारी प्रकृतिके वर्तमान स्तरोंपर 'पुरुष'की जो सारी आत्माभिव्यक्ति है, इन सबसे हम वहाँ अधिक स्पष्टता और निकटतासे,—परंतु साथ ही अधिक स्वतंत्रतासे और इन्हें अधिक समझते हुए,—मिलते हैं और हम ये सब हैं भी। परंतु ज्ञानकी इस घनिष्ठताके साथ-साथ पुरुषके द्वारा प्रकृतिके कार्योंका निःसंग भावसे अवलोकन भी होता या हो सकता है, और ज्ञानकी इस द्विविध अवस्थाके द्वारा एक संपूर्ण नियंत्रण और अवबोधकी महती संभावना भी रहती है। बाह्य सत्ताकी सारी गतिविधिको निःसंग भावसे देखा जा सकता है, परंतु साथ ही चेतनाकी अपरोक्ष दृष्टिसे भी, जिसके फलस्वरूप बाह्य चेतनामय पुरुषकी आत्मभ्रान्तियों और भूलोंका निवारण किया जा सकता है; हमारी आत्मगत संभूतिके प्रति मनकी अधिक तीक्ष्ण दृष्टि होती है, मनका अनुभव अधिक स्पष्ट और अधिक ठीक-ठीक होता है, यह दृष्टि समूची प्रकृतिको एक साथ जानती, आदेश देती और नियंत्रित करती है। यदि हमारे अंदर चैत्य और मनोमय पुरुष बलवान् हों तो प्राणपर इतना अधिकार और निर्देशन स्थापित किया जा सकता है जितना कि बाह्य मानसताके लिये शायद ही संभव हो; आंतरिक मन एवं इच्छा शरीर और शारीरिक ऊर्जाओंको भी उठा सकती और उन्हें अंतरात्माके, चैत्य पुरुषके अधिक नमनीय उपकरणके रूपमें परिणत कर सकती हैं। दूसरी ओर, यदि मनोमय और चैत्य पुरुष दुर्बल हों और प्राण सबल तथा असंयत, तो आंतरिक प्राणमें प्रवेश करनेसे शक्ति तो बढ़ जाती है परंतु विवेक तथा निःसंग दृष्टिकी कमी रहती है; यदि ज्ञानकी शक्ति और उसका परास बढ़ भी जाते हैं, तो भी ज्ञान आविल और विपथ-निर्देशक रह जाता है; बौद्धिक आत्म-संयमके स्थानपर एक विशाल अनुशासनहीन संवेग, या कठोरतः अनुशासित, परंतु भ्रांत-निर्देशित आहंकारिक कर्म चला आ सकता है। कारण, अवगूढ़ फिर भी ज्ञान-अज्ञानके मिश्रणकी वृत्ति है, उसमें विशालतर ज्ञान है, परंतु उसके अज्ञानके विशालतर होनेकी संभावना भी है, क्योंकि वह अधिक आत्म-प्रतिष्ठापनकारी होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि परिवर्द्धित आत्म-ज्ञान वहाँके लिये सामान्य धर्म है, वह साथ ही पूर्ण ज्ञान नहीं है। अवगूढ़की प्रमुख शक्ति अपरोक्ष संपर्कके द्वारा प्राप्त संवित् है, किंतु यह संवित् पूर्ण ज्ञानके लिये पर्याप्त नहीं; कारण, वह

संपर्क जैसे ज्ञानकी बृहत्तर संभूतियों और शक्तियोंके साथ हो सकता है, वैसे ही अज्ञानकी बृहत्तर संभूतियों और शक्तियोंके साथ भी।

परंतु, जगत्के साथ भी अवगूढ़ पुरुषका बृहत्तर अपरोक्ष संपर्क होता है। बहिस्तलीय मन ऐंद्रिय प्रतिरूपों और ऐंद्रिय कंपनोंकी व्याख्यातक सीमित है जिसकी अनुपूर्ति मनोमयी और प्राणमयी संबोधि और युक्ति-बुद्धिके द्वारा होती है, परंतु अवगूढ़ पुरुष इस तक सीमित नहीं। अवगूढ़ प्रकृतिमें निस्संदेह अन्तरिन्द्रिय है, दृष्टि, श्रवण, स्पर्श, घ्राण और रसकी सूक्ष्म इन्द्रिय है, परंतु ये इन्द्रियाँ भौतिक परिपार्श्वकी वस्तुओंके प्रतिरूपोंकी सृष्टि करनेतक सीमित नहीं, बल्कि, चेतनाके सम्मुख उन वस्तुओंके चाक्षुष, श्रावणिक, स्पार्शिक और अन्य प्रतिरूपों तथा कंपनोंको उपस्थापित कर सकती हैं जो शारीरिक इन्द्रियोंके सीमित क्षेत्रसे बाहर हैं या सत्ताके अन्य स्तरों या प्रदेशोंकी हैं। यह अन्तरिन्द्रिय ऐसे प्रतिरूपों, दृश्यों, ध्वनियोंको सृष्ट या उपस्थित कर सकती है जो वास्तविक न होकर बल्कि प्रतीकस्वरूप हैं, अथवा रची जा रही संभावनाओं, या अन्य सत्ताओंके सुझावों, विचारों, भावों, अभिप्रायों, या विश्वप्रकृतिमें रहती शक्तियों या शक्यताओंके प्रतिबिंब-रूपोंको भी प्रत्युपस्थित करती हैं। ऐसा कुछ भी नहीं जिसे वह चित्रित न कर सके, दृष्टिगोचर न बना सके, ऐन्द्रिय निरूपणोंमें न ढाल सके। वास्तवमें, बाहरी मनमें नहीं, अपितु अवगूढ़ मनमें ही टेलिपैथी, अतीन्द्रिय दृष्टि, द्वितीय दृष्टि और अन्य अधिसामान्य क्षमताओंकी समर्थता होती है, जो बाह्य चेतनामें तब प्रकट होती है जब कि हमारे बाह्य व्यक्तित्वने व्यक्तीयनके अपने अंधे श्रमके दौरानमें हमारी सत्ताके आंतरिक प्रदेश और बाह्य व्यक्तित्वके बीच जो दीवार बनाकर खड़ी कर रखी है उसमें छिद्र या दरारें पड़ जाती हैं। तथापि, यह ध्यानमें रखना चाहिए कि इस जटिलताके कारण अवगूढ़ इन्द्रियकी क्रिया संभ्रमकारी अथवा विपथ-निर्देशक हो सकती है, विशेषतः तब जब कि उसकी व्याख्या बाह्य मन करता हो, कारण, इस मनको उसकी क्रियाओंका रहस्य अज्ञात है और उसके चिह्न-निर्माण तथा प्रतीकात्मक रूपक-भाषाके सिद्धांतोंका परिचय नहीं रहता; वस्तुतः उसके रूपकों और अनुभवोंका ठीक-ठीक निर्णय करने और अर्थ जाननेके लिये संबोधि, कौशल और विवेककी एक महत्तर आंतरिक शक्ति आवश्यक है। फिर भी यह तथ्य रहता ही है कि इनसे हमारे ज्ञानका संभव विस्तार बहुत अधिक बढ़ जाता है और हमारी इन्द्रियबद्ध बाह्य स्थूल चेतना जिन संकीर्ण सीमाओंमें घिरी और बंदी है वे फैल जाती हैं।

परंतु, अवगूढ़ पुरुषका अधिक महत्वपूर्ण सामर्थ्य यह है कि वह अन्य

चेतना या अन्य विषयोंके साथ चेतनाका अपरोक्ष संपर्क कर सकता है, किसी अन्य साधनविनियोगके बिना क्रिया कर सकता है। और ऐसा वह करता है अपनी निजकी धातुमें अंतर्निहित मूल इन्द्रिय-बोधके द्वारा, अपरोक्ष मानसिक दृष्टिके द्वारा, वस्तुओंके अपरोक्ष अनुभवके द्वारा, यहाँतक कि सन्निकट परिवेष्टन और अंतरंग अनुप्रवेश द्वारा और जिसे परिवेष्टित किया हो या जिसमें अनुप्रविष्ट हुआ हो उसकी अंतर्वस्तुओंको साथ लेकर वापस आता हुआ, बाह्य चिह्नों या आकारोंके बदले स्वयं मनके सत्त्वको अपरोक्ष सूचना या उसपर सीधे आघात द्वारा—विचारों, अनुभवों, शक्तियोंके मर्मोद्भासक सूचन या स्वतः-संचारी आघात द्वारा। हमारे चारों ओरके लोग, वस्तुएँ, विश्वप्रकृतिकी गुह्य और हमारे लिये अगोचर ऊर्जाएँ, जिनकी हमारे अपने व्यक्तित्व, शरीर-सत्ता, मनः-शक्ति और प्राण-शक्तिसे टक्कर होती रहती है,—इनका अव्यवहित, अंतरंग और यथातथ्य स्वतःस्फूर्त ज्ञान आंतरिक पुरुषको इन्हीं साधनोंसे प्राप्त होता है। हमें अपनी बाह्य मानसतामें कभी-कभी ऐसी चेतनाका बोध होता है दूसरोंके विचारों और आंतरिक प्रतिक्रियाओंको अनुभव कर सकती या जान सकती है, अथवा किसी दृश्य ऐन्द्रिय हस्तक्षेपके बिना वस्तुओं या घटनाओंसे अवगत हो सकती है, या ऐसी शक्तियोंका उपयोग करती है जो हमारे साधारण सामर्थ्यके लिये अधिसामान्य हैं, परंतु ये सामर्थ्य यदा-कदा प्रकट होनेवाले, अविकसित, अस्पष्ट ही होते हैं। इन सामर्थ्योंपर अधिकार रखना प्रच्छन्न अवगूढ़ पुरुषके लिये स्वाभाविक होता है और जब उसकी शक्तियाँ या क्रियाएँ बहिस्तलपर आती हैं तभी वे उन्मज्जित होते हैं। अवगूढ़ पुरुषकी इन उन्मज्जनशील क्रियाओं या इनमेंसे कुछका अध्ययन अब आंशिक रूपमें चैत्य व्यापारके नामसे किया जाता है—किंतु सामान्यतः, इनका चैत्य पुरुषसे, अंतरात्मासे, हमारे अंतस्तमकी सत्तासे तो कोई संबंध नहीं होता, वरन् केवल हमारी अवगूढ़ सत्ताके आंतरिक मन, आंतरिक प्राण, सूक्ष्म-शारीरिक भागोंसे होता है। परंतु, इस अध्ययनके परिणाम निश्चयात्मक या पर्याप्त प्रचुर नहीं हो सकते; कारण, उनकी खोज अनुसंधान और परीक्षणकी ऐसी विधि और प्रमाणोंके ऐसे मापदंडोंसे की जाती है जो बाह्य मन और उसकी परोक्ष संपर्कसे ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रणालीके लिये उपयुक्त हैं। इन अवस्थाओंमें उनका अनुसंधान केवल वहींतक किया जा सकता है जहाँतक वे बहिस्तलके मनमें अभिव्यक्त हो पाती हैं जिसके लिये वे अपवादस्वरूप, असामान्य या अधिसामान्य हैं, और अतः उनका होना अपेक्षाकृत विरल, कठिन, अधूरा होता है। जिस आंतरिक चेतनाके लिये ये व्यापार सामान्य हैं, उसके और

बाह्य मनके बीचकी दीवारको यदि हम खोल दे सकें, यदि हम अंतरमें स्वतंत्रतासे प्रवेश कर सकें या वहाँ निवास कर सकें, तभी ज्ञानके इस प्रदेशकी व्याख्या हमारी समग्र चेतनाके समक्ष की जा सकती है, इस प्रदेशको उस चेतनाके साथ संयुक्त और हमारी प्रकृतिकी जागृत शक्तिके क्रिया-क्षेत्रके अंतर्गत किया जा सकता है।

अपने बहिस्तलीय मनमें तो हमें अन्य मनुष्योंको भी जाननेका कोई अपरोक्ष साधन नहीं, जब कि अन्य मनुष्य हमारी ही जातिके हैं, उनकी मानसता सदृश है और उनके प्राण तथा शरीर उसी प्रतिमानमें बने हैं। हम मानव-मन और मानव-शरीरका एक सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, मनुष्यकी आंतरिक वृत्तियोंके जिन बहुसंख्यक सतत और अभ्यस्त बाह्य चिह्नोंसे हम परिचित हैं उनकी सहायतासे उस ज्ञानका प्रयोग अन्य मनुष्योंको जाननेके लिये कर सकते हैं और इन संक्षिप्त निर्णयोंकी न्यूनताको पूरा करनेके लिये हम उनमें कई चीजें—हमारा व्यक्तिगत चरित्र और अभ्यासोंका अनुभव, हमें जो आत्म-ज्ञान प्राप्त है उसका दूसरोंको समझने और उनका निर्णय करनेके लिये सहज-प्रवृत्तिसे प्रयोग, वचन और आचरणसे किये गये अनुमान, प्रेक्षणकी अंतर्दृष्टि और सहानुभूतिकी अंतर्दृष्टि—जोड़ सकते हैं। परंतु परिणाम सदैव अधूरे और बहुत प्रायः धोखा देनेवाले होते हैं, हमारे अनुमान प्रायः ही भ्रांत निर्माण होते हैं, हमारा बाह्य चिह्नोंसे लगाया गया अर्थ भूलभरी अटकलबाजी होता है, हमारा अपने सामान्य ज्ञान या आत्म-ज्ञानका प्रयोग वैयक्तिक विभिन्नताके छली तत्त्वोंके कारण पराभूत होता है, हमारी तो अंतर्दृष्टि भी अनिश्चित और अविश्वसनीय होती है। अतएव मानव-प्राणी एक दूसरेके लिये अपरिचित बनकर रहते हैं, अधिकसे अधिक, एक बहुत ही आंशिक सहानुभूति और पारस्परिक अनुभवसे बंधे होते हैं; हम अपने निकटतम व्यक्तियोंको भी पर्याप्त नहीं जानते, हम अपने-आपको जितनी अच्छी तरह जानते हैं उस तरह उन्हें नहीं जानते, हालाँकि हमारा अपने-आपका भी ज्ञान अल्प ही होता है। परंतु, अवगूढ़ आंतरिक चेतनामें यह संभव है कि हम अपने चारों ओरके विचारों और भावनाओंकी अपरोक्ष संवित् प्राप्त करें, उनका आघात अनुभव करें, उनकी गतिविधिको देखें। तब किसीका मन और हृदय पढ़ना कम कठिन, कम अनिश्चित उद्योग हो जाता है। आपसमें मिलनेवालों या साथ रहनेवालेके बीच एक सतत मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म-शारीरिक आदान-प्रदान चलता रहता है; इसका बोध स्वयं उनको नहीं रहता, उन्हें इसके केवल उन आघातों और पारस्परिक अंतर्वेधनोंका बोध होता है जो उन्हें वचन, कर्म

और वाह्य संपर्कके इंद्रियगम्य परिणामोंके रूपमें स्पर्श करते हैं। यह आदान-प्रदान अधिकतर सूक्ष्म और अदृश्य रूपसे ही चलता है; कारण, यह तो अवगूढ़ भागोंको स्पर्श करता और वाह्य प्रकृतिको उनके द्वारा ही स्पर्श करता है, और इस तरह परोक्ष रूपसे क्रिया करता है। परंतु जव हम इन अवगूढ़ भागोंमें सचेतन हो जाते हैं तो साथ-साथ इस सारी अन्योन्य क्रिया और आंतरिक आदान-प्रदान तथा अंतर्मिश्रणके प्रति भी चेतनता होती है; फलस्वरूप यह अनिवार्य नहीं रह जाता कि हम उनके आघात और परिणामके अनैच्छिक दास रहें, वरन् हम उन्हें स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं, अपना वचाव कर सकते या उनसे अलग हट सकते हैं। साथ ही यह आवश्यक नहीं रह जाता कि दूसरोंपर हमारी क्रिया अज्ञानपूर्ण या अनैच्छिक, और प्रायः अनचाहे हानिकारक हो; वह एक सचेतन सहायता, एक प्रकाशमय आदान-प्रदान और फलदायी समायोजन हो सकती है, आंतरिक समझ या मिलनकी ओर एक गमन-मार्ग हो सकती है, न कि, जैसा अभी है, वह कोई पृथगात्मक साहचर्य ही रहे जिसमें वस सीमित घनिष्ठता या एकता हो और जो वड़ी नासमझीके कारण प्रतिवंधित, और प्रायः गलत-फहमी, पारस्परिक गलत अर्थ और भ्रांतिके समूहसे भाराक्रांत या विपन्न हो।

जगत्की जो निर्व्यक्तिक शक्तियाँ हमें घेरे हुए हैं, उनके साथ हमारे व्यवहारोंमें आनेवाला परिवर्तन भी समान रूपसे महत्वपूर्ण होगा। उन्हें हम केवल उनके परिणामोंसे जानते हैं, उनके दृश्यमान कार्य और परिणामका जो स्वल्पांश हम पकड़ पाते हैं उससे ही जानते हैं। उनमेंसे हमें मुख्यतः भौतिक जगत्-शक्तियोंका ही कुछ ज्ञान है, परंतु हम सदा जिन अदृश्य मानस-शक्तियों और प्राण-शक्तियोंके आवर्तके वीच रहते हैं, उनके वारेमें कुछ भी नहीं जानते, हमें उनके अस्तित्वका भी पता नहीं। अवगूढ़ आंतरिक चेतना हमारी संवित्-शक्तिको इस सारी अदृश्य गतिधारा और क्रियाकी ओर खोल दे सकती है, कारण, उसे उसका ज्ञान अपरोक्ष संपर्क द्वारा, आंतरिक दृष्टि द्वारा, एक चैत्य संवेदनशीलता द्वारा है; परंतु वर्तमानमें तो वह हमारे कुंठ छिछलेपन और वहिर्मुखताको अव्याख्यात चेतावनियों, पूर्वसूचनाओं, आकर्पणों-विकर्षणों, विचारों, सुझावों और अस्पष्ट संवोधि-स्फुरणों द्वारा, वहिस्तलतक वह अपूर्ण रूपसे जो कुछ ले आ पाती है उसके द्वारा ही दीप्त कर सकती है। आंतरिक पुरुष इन विश्व-शक्तियोंके तात्कालिक उद्देश्य और गतिविधिके साथ अपरोक्ष और ठोस संपर्क करता है और उनकी वर्तमान क्रियाके परिणामोंको अनुभव करता है, यही नहीं, वह कुछ हदतक उनकी और आगेकी क्रियाका पूर्वानुमान कर सकता या उसे पहलेसे देख भी सकता

है। कालके व्यवधानको जीतने, आनेवाली घटनाओं, दूरकी घटनाओंका भान पाने या उनके कंपनको अनुभव करने, भविष्यको देख सकनेकी भी एक महत्तर शक्ति अवगूढ़ भागोंमें है। यह सच है कि अवगूढ़ पुरुषका यह स्वभावज ज्ञान संपूर्ण नहीं होता; कारण, यह ज्ञान अज्ञानका मिश्रण है, और सच्चे प्रत्यक्षणके साथ-साथ भ्रांत प्रत्यक्षण भी उसके लिये संभव है, क्योंकि यह तादात्म्यसे प्राप्त ज्ञान द्वारा नहीं, वरन् अपरोक्ष संपर्कसे प्राप्त ज्ञान द्वारा क्रिया करता है, और यह अपरोक्ष संपर्कसे प्राप्त ज्ञान भी भेदात्मक ही होता है, भले ही भेदमें भी यह हमारी बहिस्तलीय प्रकृतिके अधिकारमें आनेवाले किसी भी ज्ञानकी अपेक्षा अधिक अंतरंग-क्यों न होता हो। परंतु, आंतरिक मनोमयी तथा प्राणमयी प्रकृतिमें विशालतर ज्ञानके साथ-साथ विशालतर अज्ञानके लिये जो मिश्रित क्षमता है उसका उपचार और भी गहरे, उसके पीछेकी ओर, उस चैत्य सत्तातक जानेसे किया जा सकता है जो हमारे वैयक्तिक प्राण तथा शरीरकी धारयित्री है। वास्तवमें, इस चैत्य-सत्ताके प्रतिनिधि-रूपमें एक आंतरात्मिक व्यक्तित्व हमारे अंदर पहलेसे निर्मित रहता है, वह हमारी प्राकृत सत्तामें एक सूक्ष्म चैत्य तत्त्वको आगे करता है: परंतु हमारे प्राकृत निर्माणमें यह सूक्ष्मतर अंग अबतक प्रभुता-संपन्न नहीं हुआ है और उसकी क्रिया सीमित ही है। हमारा अंतरात्मा हमारे विचार तथा कार्योंका प्रकट पथप्रदर्शक और स्वामी नहीं; उसे स्वाभिव्यक्तिके लिये मन, प्राण और शरीरके उपकरणोंपर निर्भर करना होता है और वह हमारे मन तथा प्राण-शक्तिसे निरंतर अभिभूत होता है। परंतु एक बार जब अंतरात्मा अपने-आपके विशालतर और गुह्य प्रकृत तत्त्वके साथ अविच्छिन्न संयोगमें रहनेमें सफल हो जाता है,—और ऐसा केवल तब घटित हो सकता है जब कि हम अपने अवगूढ़ भागोंके भीतर गहरे जायं,—तो वह पराश्रित नहीं रह जाता; तब वह वस्तुओंके सत्यके एक अंतरंग आध्यात्मिक प्रत्यक्षण और स्वतःस्फूर्त विवेकसे सज्जित होकर, जो सत्यको अज्ञान तथा निश्चेतनाके मिथ्यात्वसे वियुक्त करता और अभिव्यक्ति-क्षेत्रमें दिव्य और अदिव्यकी पहचान करता है, सशक्त और स्वामी बन सकता, और इस तरह हमारी प्रकृतिके अन्य अंगोंका द्युतिमान् नेता हो जा सकता है। वास्तवमें, ऐसा होने पर ही सर्वांगीण रूपांतर एवं पूर्ण ज्ञानकी ओर मोड़ आ सकता है।

ये अवगूढ़ प्रत्ययकी सबल क्रियाएँ और उसके व्यावहारिक मूल्य हैं, परंतु हमारी वर्तमान विवेचनामें हमारा प्रयोजन इस गभीरतर और विशालतर प्रत्ययकी क्रिया-विधिसे इसके ठीक-ठीक स्वरूप और सच्चे ज्ञानके साथके

इसके संवंधको जाननेसे है। इसका प्रधान गुण है अपने विषयके साथ या अन्य चेतनाके साथ चेतनाके अपरोक्ष संपर्क द्वारा ज्ञान; परंतु अंतमें हमें यह पता चलता है कि यह क्षमता तादात्म्य-जनित गुप्त ज्ञानका ही एक परिणाम, उसका वस्तुओंकी एक भेदात्मिका संवित्में अनुवाद ही है। कारण, जैसे हमारी सामान्य चेतना और बहिस्तलीय प्रत्ययके स्वभावसिद्ध परोक्ष संपर्कमें प्राणीका अपनेसे बाहरके अस्तित्वसे संगम या घर्षण ही सचेतन ज्ञानका स्फुलिंग जगाता है, वैसे ही, यहाँ भी, कोई संपर्क ही एक पूर्व-विद्यमान गुप्त ज्ञानको क्रियामें प्रवृत्त करता और सतहपर ले आता है। वस्तुतः, विषयी और विषय दोनोंमें चेतना एक ही है, और सत्ताका सत्तासे संपर्क होनेसे यह तादात्म्य विषयी आत्मामें उससे वाहरके इस अन्य आत्माके सुप्त ज्ञानको प्रकाशमें लाता या जागृत करता है। परंतु, जब कि यह पूर्व-विद्यमान ज्ञान बहिस्तलीय मनमें एक उपार्जित ज्ञानकी नाईं ऊपर आता है, अवगूढ़ मनमें वह एक देखी गयी, अंतरमेंसे पकड़ ली गयी, मानों किसी स्मरण की गयी वस्तुकी नाईं आता है, या जब वह ज्ञान पूरा संबोधिमूलक होता है तो आंतरिक संवित्के लिये स्वप्रकाश वस्तु लगता है; या वह, जिस विषयसे संपर्क किया जाता है, उससे लेकर अंदर कर लिया जाता है, परंतु साथ ही मानों किसी अंतरंग रूपसे पहचानमें आनेवाली वस्तुको अव्यवहित प्रत्युत्तर दिया जाता है। बाह्य चेतनामें ज्ञान इस प्रकार प्रत्युपस्थित होता है मानों वह कोई बाहरसे देखा गया, हमारे ऊपर उस विषयके द्वारा फेंका गया सत्य हो, या मानों इंद्रियपर उसका जो स्पर्श हुआ है उसको दिया गया प्रत्युत्तर हो, उसकी विषयगत वास्तविकताका बोधात्मक प्रतिरूप हो। हमारा बाह्य मन अपने-आपको अपने ज्ञानका यह विवरण देनेको बाध्य होता है; कारण उसके और बाह्य जगत्के बीचकी दीवारका भेदन उसके इंद्रिय-द्वार कर देते हैं, और वह इन द्वारोंसे, बाह्य विषयोंके अंदर जो है उसे तो नहीं, किंतु उनके बहिस्तलको पकड़ सकता है; परंतु, स्वयं उसके और उसकी अपनी आंतरिक सत्ताके बीच ऐसा कोई बना-बनाया द्वार नहीं होता: चूंकि उसके गभीरतर आत्माके अंदर क्या है उसे देखने या भीतरसे आते ज्ञानकी प्रक्रियाका प्रेक्षण करनेमें वह असमर्थ है, अतः उसे इसके सिवाय कोई चारा नहीं कि वह जिसे देखता है उसे ही, बाह्य विषयको ही, अपने ज्ञानका कारण स्वीकार कर ले। इस प्रकार हमारा वस्तुओंका सारा मानसिक ज्ञान हमारे सामने विषयगत-रूपमें, हमपर बाहरसे आरोपित सत्यके रूपमें प्रत्युपस्थित होता है; हमारा ज्ञान एक प्रतिबिंब या प्रतिक्रियात्मक निर्माण होता है जो हमारी अपनी सत्तामें न रहनेवाली

किसी वस्तुका कोई आकार या चित्र या मानसिक आयोजन हमारे अंदर प्रत्युपस्थित करता है। वास्तवमें यह उस संपर्कको दिया गया एक गुप्त और गभीरतर प्रत्युत्तर होता है जो भीतरसे आता और वहाँसे उस विषयके आंतरिक ज्ञानको उत्क्षिप्त करता है, और स्वयं वह विषय हमारे विशालतर आत्माका अंग होता है; परंतु इस दोहरे आवरणके कारण, एक तो हमारे आंतर आत्मा और हमारे अज्ञ बहिस्तलीय आत्माके बीच, और एक हमारे बहिस्तलीय आत्मा और उस विषयके बीच जिसके साथ संपर्क किया गया है, बहिस्तलपर तो आंतरिक ज्ञानका अपूर्ण आकार या प्रतिरूप ही बन पाता है।

हमारे ज्ञानका यह संबंध, उसकी यह गुप्त विधि, हमारी वर्तमान मानसताके लिये अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष है; यह तब स्पष्ट और प्रत्यक्ष हो जाती है जब अवगूढ़ आंतरिक पुरुष अपनी वैयक्तिकताके सीमांतोंको तोड़ देता और, हमारे बहिस्तलीय मनको साथ लिये, विश्व-चेतनामें प्रवेश कर जाता है। जैसे हमारी बाह्य प्रकृति स्थूल अन्नमय कोष, शरीरके कारण विश्वप्रकृतिसे पृथक् होती है, वैसे ही अवगूढ़ सत्ता भी हमारी सत्ताके सूक्ष्मतर कोषों, उसके मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म-शारीरिक कोषोंके कारण विश्व-सत्तासे पृथक् होती है; परंतु उसे घेरनेवाली दीवार अधिक पारदर्शक है और वास्तवमें, दीवारकी अपेक्षा बाड़ ही अधिक है। इसके अतिरिक्त, अवगूढ़ पुरुषका चेतनाका एक ऐसा रूपायण होता है जो इन सारे कोषोंसे परे प्रक्षिप्त होता है और अपने-आपका एक परिचेतन, एक पर्यावारिक भाग बना लेता है, जिसके द्वारा वह जगत्के संपर्कोंको ग्रहण करता और उनके प्रवेश करनेसे पहले ही उनके प्रति सचेतन हो सकता और उनसे व्यवहार कर सकता है। अवगूढ़ पुरुषमें इस परिचेतन आच्छादनको अनिश्चित दूरीतक विस्तृत करने और अपने चारों ओरकी विश्व-सत्तामें अपने आत्म-प्रक्षेपको अधिकाधिक वर्द्धित करनेकी क्षमता है। एक ऐसा बिंदु आता है जहाँ वह इस पार्थक्यको सर्वथा भंग कर दे सकता, विश्व-पुरुषके साथ संयुक्त, तदात्म हो सकता, अपने-आपको विश्वात्मक, सकल सत्ताके साथ एकात्म अनुभव कर सकता है। विश्वात्मा और विश्व-प्रकृतिके अंदर प्रविष्ट होनेकी इस स्वतन्त्रतामें व्यष्टि-जीवकी एक महान् मुक्ति है; वह एक विश्व-चेतना धारण कर लेता है, विश्वव्यक्ति बन जाता है। संपूर्ण होनेपर इसका पहला परिणाम होता है विश्वात्माकी, विश्वमें निवास करते अद्वय आत्माकी उपलब्धि, और इस ऐक्यसे वैयक्तिकताकी भावनाका विलोप भी, अहंका विश्वसत्तामें विलय भी हो जा सकता है।

एक दूसरा सामान्य परिणाम विश्व-ऊर्जाकी ओर एक पूरा उन्मेष होता है, जिससे यह अनुभव होता है कि मन, प्राण तथा शरीरके द्वारा वही 'ऊर्जा' कार्य कर रही है और वैयक्तिक क्रियाके भावका अंत हो जाता है। परंतु अधिक सामान्यतया कम विस्तारवाले परिणाम घटित होते हैं; विश्वसत्ता एवं विश्वप्रकृतिकी एक अपरोक्ष संवित् होती है, विश्वमन और उसकी ऊर्जाओंकी ओर, विश्व-प्राण और उसकी ऊर्जाओंकी ओर, वैश्व जड़तत्त्व और उसकी ऊर्जाओंकी ओर मन अधिक उन्मीलित होता है। विश्वके साथ व्यक्तिके एकत्वका एक निश्चित बोध, जगत्को अपनी निजकी चेतनाके अंदर धारित देखना और अपनी निजकी चेतनाको भी विश्व-चेतनामें अंतरंग रूपसे सम्मिलित देखना इस उन्मीलनमें प्रायिक या सतत हो जा सकता है; अन्य सत्ताओंके साथ एकत्वकी अधिक अनुभूति इसका स्वाभाविक परिणाम है। तभी विश्व-पुरुषका अस्तित्व केवल भावमूलक अनुभव न ,रहकर निश्चित और वास्तव हो जाता है।

परंतु, विश्वचेतना तादात्म्य-ज्ञानपर प्रतिष्ठित है; कारण, विश्वात्मा अपने-आपको सर्वात्मा-रूपमें जानता है, सबको आत्मवत् और अपने अंदर स्थित जानता है, सारी प्रकृतिको अपनी प्रकृतिका अंश जानता है। उसने अपने अंदर जो कुछ धारण कर रखा है उसके साथ वह एक है और उसे वह उसी तादात्म्य द्वारा और अंतर्वेशनकी निकटता द्वारा जानता है; कारण, एक तादात्म्य और एक अतिक्रमण साथ-साथ रहते हैं, और जैसे तादात्म्यकी ओरसे एकत्व और संपूर्ण ज्ञान है, वैसे ही अतिक्रमणकी ओरसे एक समावेशन और एक अनुप्रवेश, प्रत्येक वस्तु और समस्त वस्तुओंका एक आच्छादक संबोध, प्रत्येक वस्तु और सारी वस्तुओंका अंतर्वेधी बोध और दर्शन है। कारण, विश्वात्मा व्यष्टि और समष्टिमें निवास करता है, परंतु सबकी अपेक्षा अधिक कुछ भी है; अतः उसके आत्म-दर्शन और विश्व-दर्शनमें एक भेदात्मिका शक्ति है जो विश्व-चेतनाको उन वस्तुओं और सत्ताओंमें बंदी हो जानेसे रोकती है जिनमें वह निवास करती है: उनमें उसका वास सर्वव्यापिनी चिन्मयी सत्ता तथा शक्तिकी तरह है; जो कुछ भी व्यष्टिरूपण संपादित हुआ होता है, वह उस व्यक्ति या पदार्थका गुण-धर्म होता है, विश्व-पुरुषके लिये बंधनकारी नहीं। विश्वात्मा प्रत्येक वस्तु बन जाता है, परंतु वह अपनी सर्वाधार-सत्तासे च्युत भी नहीं होता। सुतरां, यहाँ एक विशाल सार्वभौम तादात्म्य है जिसमें लघुतर तादात्म्य समाये हुए हैं; कारण, विश्व-चेतनामें जिस किसी भी भेदात्मक प्रत्ययका अस्तित्व या प्रवेश होता है उसे इस द्विविध तादात्म्यपर ही आधारित होना

चाहिये और वह इसका खंडन नहीं करता। यदि पीछे हटनेकी और भेदकरण तथा संपर्कसे प्राप्त ज्ञानकी कोई आवश्यकता हो, तो भी वह भेद तादात्म्यमें ही होता है, वह संपर्क तादात्म्यमें ही होता है ; कारण, वहाँ आधेय विषय अपने आधारके आत्माका अंश है। जब एक अधिक मूलगत भेदभावका प्रवेश होता है, तभी तादात्म्य आवरणमें चला जाता और एक न्यूनतर ज्ञानको उत्क्षिप्त करता है जिसे, वह अपरोक्ष हो या परोक्ष, अपने मूलका पता नहीं रहता। तथापि, ज्ञान अपरोक्ष हो या परोक्ष, उसकी तरंगों या फुहारोंको बहिस्तलपर उत्क्षिप्त करनेवाला, सर्वदा, वह तादात्म्य-सागर ही होता है।

यह बात चेतनाकी ओरकी हुई ; हम क्रियाकी ओर, विश्व ऊर्जाओंकी ओर देखें तो पाते हैं कि वे पुंजों, तरंगों, धाराओंके रूपोंमें गतिशील होती हैं, सत्त्वों और पदार्थों, गतियों और घटनाओंका निर्माण और पुनर्निर्माण निरंतर करती रहती हैं, उनमें प्रवेश करतीं, उनमेंसे होकर निकलतीं, अपने-आपको उनके अंदर रूपायित करतीं, अपने-आपको उनमेंसे अन्य सत्त्वों और पदार्थोंपर प्रक्षिप्त करती हैं। प्रत्येक प्राकृत व्यक्ति इन विश्व-शक्तियोंका गृहीता पात्र और उनके संचरणके लिये डाइनेमो है ; मानसिक और प्राणिक ऊर्जाओंकी एक सतत धारा प्रत्येकसे प्रत्येकमें जाती है, और ये ऊर्जाएँ भी वैश्व लहरों और तरंगोंके रूपमें दौड़ा करनेमें भौतिक प्रकृतिकी शक्तियोंसे कम नहीं होतीं। यह सारी क्रिया हमारे बहिस्तलीय मनके प्रत्यक्ष बोध और ज्ञानकी पहुँचके बाहर छिपी रह जाती है, परंतु आंतरिक पुरुष उसे जानता और अनुभव करता है, यद्यपि अपरोक्ष संपर्क द्वारा ही। वह पुरुष जब विश्व-चेतनामें प्रवेश करता है तब उसे विश्व-शक्तियोंकी इस क्रीड़ाका बोध और भी अधिक विस्तृत, समावेशकारी, अंतरंग रूपसे होता है। परंतु यद्यपि ज्ञान तब अधिक संपूर्ण होता है, उस ज्ञानका सक्रियकरण तो आंशिक ही हो पाता है ; कारण, जब कि विश्वात्माके साथ मूलगत अथवा स्थैतिक-निष्क्रिय एकीकरण संभव है, विश्व-प्रकृतिके साथ सक्रिय और सचल एकीकरण असंपूर्ण ही रहेगा। मन और प्राणके स्तरपर, पृथक् आत्म-सत्ताके बोधके चले जानेपर भी, ऊर्जा-धाराएँ स्वरूपतया ही वैयक्तिकीकरणके द्वारा होनेवाला चयन होंगी ; क्रिया तो विश्व-ऊर्जाकी होती है, परंतु उसका सजीव डाइनेमोमें वैयक्तिक रूपायण ही उसकी क्रिया-विधि है। कारण, वैयक्तिकताके डाइनेमोका उपयोग ही है चयन करना, चुनी हुई ऊर्जाओंको संकेंद्रित और रूपायित करना और उन्हें निर्मित तथा सरणीबद्ध धाराओंमें डाल बहाना : एक समग्र

ऊर्जाके प्रवाहका अर्थ यह होगा कि डाइनेमोका उपयोग नहीं रह गया है, उसे नष्ट या कार्यसे अलग कर दिया जा सकता है; वैयक्तिक मन, प्राण और शरीरकी क्रियाशीलताके स्थानपर एक वैयक्तिक, परंतु साथ ही निर्व्यक्तिक, केन्द्र या माध्यम होगा जिसके द्वारा विश्व-शक्तियाँ विना वाधाके और चयनशील न रहकर प्रवाहित होंगी। ऐसा हो तो सकता है, परंतु इसके लिये सामान्य मनोमय स्तरका वहुत अतिक्रमण करनेवाला एक उच्चतर अध्यात्मीकरण अपेक्षित है। तादात्म्य द्वारा वैश्व ज्ञानके स्थैतिक ग्रहणमें, विश्वभावापन्न अवगूढ़ पुरुष अपने-आपको विश्वात्माके साथ और अन्य सवोंके गुप्त आत्माके साथ एक अनुभव कर सकता है; परंतु उस ज्ञानका सक्रियकरण वस इतनी ही दूरीतक जायगा कि यह तादात्म्य-वोध चेतनाके सवके साथ अपरोक्ष संपर्ककी एक महत्तर शक्ति और अंतरंगतामें, वस्तुओं और लोगोंपर चेतनाकी शक्तिके एक महत्तर, अधिक अंतरंग, अधिक सशक्त और समर्थ आघातमें अनूदित होगा, प्रभावी समावेशन और अंतः-प्रवेशनकी समर्थता, सक्रिय अंतरंग दृष्टि और अनुभवकी समर्थता और इस विशालतर प्रकृतिकी ज्ञान और कर्मकी अन्य विशिष्ट शक्तियोंकी समर्थता भी उसे होगी।

सुतरां, अवगूढ़में, उसके विश्वचेतनामें परिवर्द्धित हो जानेपर भी, हमें जो ज्ञान मिलता है वह महत्तर तो होता है, परंतु संपूर्ण और मूल ज्ञान नहीं। और भी आगे जाने और यह देखनेके लिये कि तादात्म्य-ज्ञान अपने शुद्ध स्वरूपमें क्या है और वह किस भाँति और किस दूरीतक ज्ञानकी अन्य शक्तियोंको उत्पन्न करता, प्रवेश देता या व्यवहृत करता है, हमें आंतरिक मन, प्राण और सूक्ष्म-शारीरिक प्रांतसे भी और आगे, अवगूढ़के अन्य दोनों सिरोंतक जाना होगा, अवचेतनसे पूछताछ करनी होगी और अतिचेतनसे संपर्क या उसमें प्रवेश करना होगा। परंतु अवचेतनमें सव कुछ तमोमय है, गण-चेतनामें दिखाई देनेवाली जैसी तमसावृत विश्वभावना है, एक तमसावृत व्यष्टि-भावना भी है जो हमारे लिये या तो असामान्य होती है या अधूरी-निर्मित और सहज-प्रवृत्तिमूलक। वहाँ, अवचेतनमें, तादात्म्यके द्वारा एक अँधियाला ज्ञान ही, जैसा कि हम निश्चेतनमें पहलेसे पाते हैं, आधार है, परंतु वह अपने-आपको और अपने रहस्यको प्रकट नहीं करता। श्रेष्ठतर अतिचेतन स्तर मुक्त एवं ज्योतिर्मयी आध्यात्मिक चेतनापर आधारित हैं; वहीं हम ज्ञानकी मूला शक्तिका संधान पा सकते और तादात्म्य-ज्ञान तथा भेदात्मक ज्ञान, इन दोनों स्पष्ट कोटियोंके उद्गम और अंतरको देख सकते हैं।

परम कालातीत सत्‌को, आध्यात्मिक अनुभवमें प्रतिबिंबके द्वारा हम जितना जानते हैं, उसमें सत्ता एवं चेतना एक हैं। हम चेतनाको मानसता और इंद्रियकी कुछ विशेष क्रियाएँ ही माननेके आदी हैं, और जहाँ ये क्रियाएँ नहीं हैं या निष्क्रिय हैं, सत्ताकी उस स्थितिको अचेतन कहते हैं। परंतु, चेतना तो वहाँ भी हो सकती है जहाँ उसे प्रकट करनेवाली कोई प्रत्यक्ष क्रियाएँ, कोई चिह्न न हों; वह वहाँ भी हो सकती है जहाँ वह विषयोंसे उपरत और शुद्ध सत्तामें समाहित अथवा प्रतीयमान असत्‌में संवृत हो। वह सत्तामें अंतर्भूत है, स्वयम्भू है; वह उपशम, अक्रिया, आवरण या आच्छादनसे, निःस्पंद लीनता अथवा संवरणसे विनष्ट नहीं होती; वह सत्तामें तब भी विद्यमान है जब उसकी अवस्था स्वप्नरहित सुषुप्ति या दृष्टिहीन समाधि या संवित्‌के लोप अथवा अभावकी प्रतीत होती है। परम कालातीत स्थितिमें, जहाँ चेतना सत्ताके साथ एक है और निश्चल है, चेतना कोई पृथक् वास्तवता नहीं, अपितु सहज और शुद्ध रूपसे सत्तामें अंतर्निहित आत्म-संवित् ही है। वहाँ न तो ज्ञानकी आवश्यकता है, न ज्ञानकी कोई वृत्ति ही। 'सत्ता' अपने-आपके लिये स्वयं-प्रकाश है; वह है, यह जाननेके लिये, या अपने-आपको जाननेके लिये, उसे अपने-आपका अवलोकन करनेकी आवश्यकता नहीं। परंतु यह यदि विशुद्ध सन्मात्रके संबंधमें स्पष्टतया सत्य है तो आद्य 'सर्व-सत्'के संबंधमें भी सत्य है; कारण, जैसे आध्यात्मिक 'स्वयम्भू-सत्ता'की आत्म-संवित् अंतर्भूत है, उसी भाँति, उसे अपनी सत्तामें रहनेवाले सब कुछकी संवित् अंतर्भूत रूपसे होती है: यह संवित् आत्मावलोकन, आत्म-प्रेक्षणमें रूपायित होनेवाली किसी ज्ञान-क्रिया द्वारा नहीं, वरन् उसी अंतर्निहित संवित् द्वारा होती है; जो कुछ है सबके प्रति वह इस कारण ही अंतर्भूत रूपसे सर्व-चेतन है कि सब कुछ वह स्वयं ही है। अपनी कालातीत स्वयम्भू सत्ताके प्रति इस भाँति सचेतन रहते 'आत्मा'को, 'सत्'को, 'काल-सत्ता'की, और जो कुछ 'काल'में है उस सबकी, उसी भाँति, अंतर्भूत, पूर्ण, समग्र, संवित् है—उसे अवलोकन अथवा ज्ञान-क्रियाकी आवश्यकता नहीं, कारण, वही सब कुछ है। यह तादात्म्यसे प्राप्त स्वरूपगत संवित् है, यदि इसे विश्वसत्तापर लागू किया जाय तो इसका अर्थ होगा आत्मामें विश्वके प्रति स्वरूपगत, स्वतःप्रकाश एवं स्वयंक्रिय चेतना, क्योंकि वह आत्मा प्रत्येक वस्तु है और प्रत्येक वस्तु उसकी सत्ता है।

परंतु, आध्यात्मिक संवित्‌की एक अन्य स्थिति है जो हमें शुद्ध आत्म-चेतनाकी इस अवस्था और शक्तिसे विकसित लगती है, शायद वहाँसे प्रथम

विचलन भी लगती है, परंतु वास्तवमें, उसके लिये सामान्य और अंतरंग है ; कारण, तादात्म्य-जनित संवित् सर्वदा 'अध्यात्म-पुरुष'के सारे आत्म-ज्ञानका धातु-तत्त्व ही होती है, किन्तु अपने सनातन स्वरूपमें कोई परिवर्तन या संशोधन किये बिना, अंतर्वेशन और अंतर्वाससे जनित एक गौण और युगपत् संवित्को भी अपने अंदर प्रवेश देती है। सत्, स्वयंभू, सकल भूतोंकी सत्ताको अपनी अद्वय सत्ताके अंदर देखता, उन सबको धारण किये रहता और उन्हें अपनी सत्ताकी सत्ता, अपनी चेतनाकी चेतना, अपनी शक्तिकी शक्ति, अपने आनंदके आनंदके रूपमें जानता है ; वह, साथ ही, अवश्यतः, उनके अंदरका आत्मा भी है और उनके अंदरके सब कुछको अपनी व्यापक अंतर्निवासिनी आत्मताके द्वारा जानता है। किंतु, साथ ही, यह सारी संवित् अंतर्भूत, स्वतः-प्रकाश, स्वयंवह रूपसे अस्तित्ववान् होती है, इसे ज्ञानकी किसी क्रिया, दृष्टि या वृत्तिकी आवश्यकता नहीं ; कारण, वहाँ ज्ञान कोई क्रिया नहीं, अपितु एक अवस्था है, शुद्ध, नित्य-विद्यमान और स्वरूपभूत अवस्था। समस्त आध्यात्मिक ज्ञानके आधारमें यही तादात्म्यकी और तादात्म्य-जनित चेतना होती है ; वह यह जानती है या उसे यह सरल संवित् रहती है कि सब कुछ वह स्वयं है। हमारे चेतना-पर्यायमें इसके अनुवादसे यह त्रिविध ज्ञान होता है जो उपनिषद्में इस भाँति व्यक्त हुआ, "वह जो समस्त भूतोंको आत्मामें देखता है", "वह जो आत्माको समस्त भूतोंमें देखता है", "वह जिसमें आत्मा समस्त भूत हो गया है",— यह है अंतर्वेशन, अंतर्वास और तादात्म्य : परंतु, मूलभूत चेतनामें यह "देखना" आध्यात्मिक आत्मानुभव है, ऐसा देखना है जो सत्ताका आत्म-प्रकाश है, न कि कोई भेदात्मक अवलोकन, न कि आत्मापर कोई ऐसा दृष्टिपात जो उस आत्माको विषयमें परिणत कर दे। परंतु, इस मूलभूत आत्मानुभवमें चेतनाकी ऐसी दृष्टि अभिव्यक्त हो सकती है जो अंतर्निहित रूपसे संभव रहती हुई भी, अध्यात्म-सत्ताकी एक अनिवार्य रूपसे आत्म-पूर्ण शक्ति रहती हुई भी, परमा चेतनाकी आत्म-समाहित अंतर्भूत आत्मज्योति एवं आत्मप्रकाशका प्रथम सक्रिय तत्त्व नहीं। यह दृष्टि परमा आध्यात्मिक चेतनाकी एक अन्य स्थितिकी, जिस स्थितिमें हमारे सामान्य-परिचित ज्ञानका आरंभ होता है उसकी होती है अथवा उस स्थितिको लाती है ; चेतनाकी एक स्थिति होती है और उसमें जाननेकी एक क्रिया होती है जो उससे अंतरंग रहती है : 'अध्यात्म-पुरुष' अपने-आपको देखता है, वह ज्ञाता और ज्ञेय हो जाता है, एक प्रकारसे अपने ही आत्म-ज्ञानका विषयी और विषय— या बल्कि, एकमें ही विषयी-विषय—हो जाता है। परंतु यह अवलोकन,

यह ज्ञान तब भी अंतर्भूत, स्वयंप्रकाश, तादात्म्य-क्रिया ही रहता है; हम जिसे भेदात्मक ज्ञानके रूपमें अनुभव करते हैं उसका आरंभ नहीं हुआ है।

परंतु, जब विषयी अपने-आपको विषय मानता हुआ अपने-आपसे कुछ पीछे हट जाता है, तब आध्यात्मिक ज्ञानकी, तादात्म्य-ज्ञानकी कुछ तृतीय श्रेणीकी शक्तियोंका प्रथम सूत्रपात होता है। एक आध्यात्मिक अंतरंग दर्शन होता है, एक आध्यात्मिक व्यापक प्रवेश और अनुप्रवेश होता है, एक आध्यात्मिक अनुभव होता है जिसमें सकल भूतोंका आत्मवत् दर्शन, सकल भूतोंका आत्मवत् अनुभव, सकल भूतोंसे आत्मवत् संपर्क होता है। विषय, उसके अंदर जो कुछ समाया है और वह जो कुछ भी है, इस सबके आध्यात्मिक प्रत्यक्षणकी शक्ति होती है; यह एक आच्छादक और व्यापक तादात्म्यमें किया गया प्रत्यक्षण होता है, स्वयं तादात्म्य ही उस प्रत्यक्षणका उपादान होता है। एक आध्यात्मिक सामान्य प्रत्यय होता है जो विचारका आद्य उपादान होता है; उस विचारका नहीं, जो अज्ञातका आविष्कार करता हो, अपितु उसका जो कि, जो अंतर्भूत रूपसे ज्ञात है, उसे आत्म-सत्तामेंसे बाहर लाता और चिदाकाशमें, आत्म-संवित्की विस्तारित सत्तामें, धारणात्मक आत्म-ज्ञानके विषय-रूपमें रखता है। एक आध्यात्मिक भावोच्छ्वास होता है, एक आध्यात्मिक संवेद होता है, एकत्वके साथ एकत्वका, सत्ताके साथ सत्ताका, चेतनाके साथ चेतनाका, आत्मानंदके साथ आत्मानंदका अंतर्मिश्रण होता है। तादात्म्यमें अंतरंग भेदका हर्ष होता है, एक परम एकत्वमें प्रेमके साथ संयुक्त प्रेमके संबंधोंका हर्ष होता है, सनातन एकत्वकी बहुल शक्तियों, सत्यों और सत्ताओंका, निराकारके आकारोंका एक आनंद होता है, सत्तामें संभूतिकी सारी लीला अपनी स्वाभिव्यक्तिको अध्यात्म-चेतनाकी इन्हीं शक्तियोंपर प्रतिष्ठित करती है। परंतु ये सारी शक्तियाँ अपने आध्यात्मिक मूलमें सारभूत हैं, उपकरणस्वरूप नहीं, संगठित, प्रकल्पित अथवा सृष्ट नहीं; ये शक्तियाँ अपने-आपपर और अपने-आपमें क्रिया करते 'अभिन्न आत्मा'की प्रभास्वर आत्म-संविन्मय स्वरूप-धातु हैं, वह आत्मा ही दृष्टि हो जाता है, आत्मा ही अनुभव-रूपमें स्पंदित होता है, आत्मा ही प्रत्यक्ष बोध एवं धारणाके रूपमें स्वयं-ज्योति होता है। वास्तवमें, सब कुछ तादात्म्य-ज्ञान है, आत्म-शक्तिमान्, अपनी एकत्वमयी संवित्की बहुमयी आत्मतामें स्वतः-गतिमान्। 'अध्यात्म-पुरुष'का अनंत स्वानुभव शुद्ध तादात्म्य और बहुविध तादात्म्यके बीच, आत्म-समाहित आत्मानंद और अंतरंग रूपसे विभेदित एकत्वके आनंदके बीच विहार करता है।

जब विभेद-भाव अभेद-भावको अभिभूत कर देता है, तब भेदात्मक ज्ञानका उद्भव होता है। आत्मा तब भी विषयके साथ अपने तादात्म्यका ज्ञान रखता है, परंतु अंतरंग भेद-भावकी क्रीड़ाको उसकी चरम सीमातक ले जाता है। आरंभमें, आत्मा और अनात्माका नहीं, अपितु केवल आत्मा और अन्य आत्माका बोध होता है। तादात्म्यका और तादात्म्यके द्वारा एक विशेष ज्ञान वहाँ फिर भी है; परंतु, आदान-प्रदान तथा संपर्क द्वारा होनेवाला ज्ञान पहले तो उस ज्ञानपर अत्यधिक निर्माण खड़े करने लग जाता, बादमें उसे अपने नीचे डुबा देता, तदनंतर उसका स्थान ही ग्रहण कर लेता है; इससे वह तादात्म्य-ज्ञान एक अप्रधान संवित्का रूप ले लेता है, मानों वह पृथक् आत्माओंके पारस्परिक संपर्क, उनके तब भी व्यापक और आच्छादक रहते स्पर्श, उनकी अंतर्वेधी अंतरंगताका कारण नहीं, परिणाम हो। अंतमें, तादात्म्य पर्देके पीछे विलुप्त हो जाता है और सत्ताकी अन्य सत्ताओंके साथ, चेतनाकी अन्य चेतनाओंके साथ क्रीड़ा होती है: एक आधारभूत तादात्म्य वहाँ तब भी है, परंतु अनुभूत नहीं होता, उसका स्थान- एक सीधी पकड़ और अंतर्वेधी संपर्क, अंतर्मिश्रण, आदान-प्रदान ले लेते हैं। इस अन्योन्य-क्रियाके द्वारा ही न्यूनाधिक अंतरंग ज्ञान, पारस्परिक संवित् या विषयकी संवित् संभव रहती है। वहाँ यह भाव नहीं होता कि आत्मा आत्मासे मिल रहा है, वरन् एक पारस्परिकता होती है; वहाँ तबतक संपूर्ण पार्थक्य, संपूर्ण अन्यपन और अज्ञान नहीं हुआ रहता। यह ह्रसित चेतना है, परंतु मूल ज्ञानकी कुछ शक्ति उसमें बनी रहती है, जब कि वह ज्ञान, विभाजनके कारण, अपनी मूलभूत और सारभूत संपूर्णता खो देनेके कारण खंडित है, विभाजन द्वारा क्रिया करता है, सामीप्य तो संपादित करता है, परंतु एकत्व नहीं। विषयको चेतनामें अंतर्विष्ट करनेकी शक्ति, आवेष्टक ज्ञान तथा संवित्की शक्ति वहाँ है, परंतु यह ऐसी सत्ताका अंतर्वेशन है जो अभी हमारे आत्माके लिये बहिर्भूत है और जिसे हमें एक विशेष ज्ञानके अर्जन या पुनरुद्धारसे, चेतनाको विषयपर एकाग्र करते हुए, उसे सत्ताके अंग-रूपमें अधिकृत, संकेंद्रित करते हुए, अपने आत्माका एक तत्त्व बना लेना होगा। अंतर्वेधनकी शक्ति वहाँ है, परंतु उसमें कोई स्वाभाविक व्यापकता नहीं और वह तादात्म्यतक नहीं ले जाती; वह जो कुछ एकत्र कर सकती है, करती है, इस भाँति जो अर्जित होता है उसे लेती और ज्ञानके विषयकी अंतर्वस्तुओंको विषयीके पास ले जाती है। वहाँ चेतनाका चेतनाके साथ एक अपरोक्ष और अंतर्वेधी संपर्क फिर भी हो सकता है जो एक स्पष्ट तथा अंतरंग ज्ञानकी उत्पत्ति करे, परंतु वह

संपर्कके विंदुओं या विस्तारतक ही सीमित रहता है। वहाँ फिर भी एक अपरोक्ष बोध, चिन्मयी दृष्टि, चिन्मयी अनुभूति है जो विषयके बाह्य भाग और सतहको, और जो अंदर है उसे भी, देख सकती और अनुभव कर सकती है। वहाँ फिर भी सत्ता और सत्ताके बीच, चेतना और चेतनाके बीच, सब प्रकारके विचारों, अनुभवों, ऊर्जाओंकी तरंगोंके बीच, पारस्परिक अंतःप्रवेश और आदान-प्रदान है जो सहानुभूति और मिलनकी गतिधारा हो सकता है या विरोध और संघर्षकी। वहाँ दूसरोंपर अधिकार करते हुए या अन्य चेतना या अन्य सत्ताके द्वारा अपने-आपका अधिकृत हो जाना स्वीकार करते हुए एकीकरणके लिये प्रयत्न हो सकता है; या, पारस्परिक अंतर्वेशन, व्याप्ति तथा पारस्परिक अधिकारके द्वारा ऐक्यकी ओर आगे बढ़ना हो सकता है। अपरोक्ष संपर्कसे ज्ञान प्राप्त करनेवालेको इस सारी क्रिया और पारस्परिक क्रियाका बोध होता है और वह इसी आधारपर अपने चारों ओरके जगत्के साथ अपने संबंधोंको आयोजित करता है। विषयके साथ चेतनाके अपरोक्ष संपर्क द्वारा ज्ञानका मूल यही है; यह हमारे आंतरिक पुरुषके लिये तो स्वाभाविक, परंतु हमारी बहिस्तलीय प्रकृतिके लिये अपरिचित है या अपूर्णतया ही ज्ञात है।

स्पष्ट है कि यह प्रथम भेदात्मक ज्ञान फिर भी ज्ञानकी क्रीड़ा है, परंतु एक सीमित भेदात्मक ज्ञानकी ही; वह क्रीड़ा है विभक्त सत्ताकी, जो एक आधारभूत एकत्वकी सत्यताके आधारसे क्रिया करती और प्रच्छन्न एकत्वके किसी अपूर्ण परिणाम या फलतक ही पहुँचती है। तादात्म्यकी संपूर्ण अंतर्भूत संवित् और तादात्म्य-जनित ज्ञानकी क्रिया सत्ताके परार्द्ध-लोककी वस्तुएँ हैं: अपरोक्ष संपर्कसे होनेवाला यह ज्ञान चेतनाके उन उच्चतम अतिभौतिक मनोमय स्तरोंका प्रमुख वैशिष्टय है जो अज्ञानकी दीवारके कारण हमारी बहिस्तलीय सत्ताके लिये बंद हैं; ह्रसित और अधिक भेदात्मक रूपमें यह मनके कम अतिभौतिक स्तरोंका गुण-धर्म है; जो कुछ भी अतिभौतिक है उस सबमें यह एक तत्त्व है या हो सकता है। यह हमारे अवगूढ़ पुरुषका प्रमुख उपकरण, उसकी संवित् का केन्द्रीय साधन है, कारण, अवगूढ़ पुरुष अथवा आंतरिक पुरुष अवचेतनासे भेंट करनेके लिये इन उच्चतर लोकोंसे आया प्रक्षेप है और अपने उत्सके लोकोंकी चेतनाका वैशिष्टय उसने उत्तराधिकारमें पाया है, इन लोकोंके साथ, सगोत्रताके नाते, उसका अंतरंग साहचर्य और संपर्क है। अपनी बाह्य सत्तामें हम निश्चेतनाकी संतान हैं; हमारी आंतरिक सत्ता हमें मन, प्राण तथा आत्माकी उच्चतर चोटियोंके उत्तराधिकारी बनाती है: हम जितना अंतरकी ओर

खुलते, अंतरकी ओर जाते, अंतर्मुख होकर रहते, अंतरसे ग्रहण करते हैं, उतना ही हम अपने निश्चेतन मूलकी अधीनतासे अलग हटते और जो सब हमारे अज्ञानके लिये अभी अतिचेतन है उसकी ओर आगे बढ़ते हैं।

सत्ताका सत्तासे संपूर्ण विच्छेद होनेसे अज्ञान संपूर्ण हो जाता है: तब चेतनाका चेतनाके साथ अपरोक्ष संपर्क पूरा ही आवरणमें चला जाता या उसपर भारी प्रलेप पड़ जाता है, भले ही हमारे अवगूढ़ भागोंमें वह फिर भी चलता रहता हो, जैसे कि आधार में स्थित गुप्त तादात्म्य और एकत्व भी रहता ही है, परंतु संपूर्णतया गुप्त रहता है और अपरोक्ष क्रिया नहीं करता। बहिस्तलपर एक पूरा विच्छेद होता है, आत्मा और अनात्माके बीच विभाजन होता है; अनात्माके साथ व्यवहार करनेकी आवश्यकता होती है, परंतु उसे जानने या उसपर प्रभुता प्राप्त करनेका कोई अपरोक्ष साधन नहीं होता। तब प्रकृति परोक्ष साधनोंकी रचना करती है,—स्थूल इन्द्रियोंका संपर्क, स्नायविक तरंगोंके द्वारा बाह्य आघातोंका अंत:प्रवेशन, मनकी प्रतिक्रिया और उसका सहयोजन जो स्थूल अंगोंकी क्रियाके लिये सहायक और अनुपूरक रूपमें कार्य करते हैं। ये सब परोक्ष ज्ञानके साधन हैं, कारण, चेतना इन उपकरणोंपर निर्भर करनेको विवश होती है और वह विषयपर अपरोक्ष क्रिया नहीं कर सकती। इन साधनोंमें जुड़ती हैं युक्ति, बुद्धि और संबोधि; वे अपने पास इस तरह परोक्ष रूपसे लाये गये संदेशोंको पकड़ लेती हैं, सबको व्यवस्थित करती हैं, और उनकी दत्त सामग्रीका उपयोग इस हेतु करती हैं कि अनात्माका उतना ज्ञान, उसपर उतना अधिकार और प्रभुत्व, अथवा उसके साथ उतना आंशिक एकत्व प्राप्त किया जाय जिसका अवकाश वियुक्त सत्ताको आद्य विभाजन देता हो। ये साधन स्पष्ट रूपसे अपर्याप्त हैं और प्राय: अयोग्य भी, और मनकी क्रियाओंका आधार परोक्ष होनेके कारण ज्ञानमें एक मूलभूत अनिश्चिति आ जाती है; परंतु यह आरंभिक अपर्याप्तता स्वयं हमारी भौतिक सत्ताके स्वभाव और उस सारी सत्ताके स्वभावमें अंतर्निहित है जो अभीतक उन्मुक्त नहीं हुई है और निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित हो रही है।

निश्चेतना है परा अतिचेतनाकी विपरीत प्रतिकृति: उसकी सत्ता तथा स्वचल क्रिया भी उसी भाँति 'परमे पदे' है, परंतु है एक विशाल अंतर्लीन जड़ समाधिमें; वह अपने-आपके अंदर खोयी सत्ता है, अपनी ही अनंतताकी अतलतामें निमग्न। स्वयंभू सत्तामें ज्योतिर्मयी अंतर्लीनता होनेके स्थानपर उसमें एक अंधकारपूर्ण संवृति है, जैसा ऋग्वेदमें कहा है अंधकार अंधकारमें आवृत है, तम आसीत् तमसा गूढ़म्, जिससे वह 'असत्'—जैसी दिखाई देती

है ; चेतना ज्योतिर्मयी अंतर्निहित आत्म-संवित्के स्थानपर आत्म-विस्मृतिकी अतलतामें निमग्न है, सत्तामें अंतर्निहित तो अवश्य, किंतु उसमें जाग्रत् नहीं। यह संवृत चेतना तब भी तादात्म्य-जनित प्रच्छन्न ज्ञान ही है ; यह अस्तित्वके समस्त सत्योंकी संवित्को अपने अंधकारमय अनंतमें छिपाये रखती है और जब क्रिया और सृजन करती है---किंतु प्रथम वह 'ऊर्जा'-रूपमें क्रिया करती है, न कि 'चेतना'-रूपमें---तब प्रत्येक वस्तु एक अंतर्भूत ज्ञानकी सूक्ष्मता तथा पूर्णतासे आयोजित की जाती है। सारी भौतिक वस्तुओंमें एक मूक और संवृत 'सत्-भाव' है, एक सद्वस्तुमयी और आत्म-क्रिय संबोधि है, एक चक्षुहीन यथातथ्य प्रत्यक्षण है, एक स्वतःस्फूर्त बुद्धि है जो अपनी अव्यक्त और अविचारित धारणाओंको कार्यान्वित करती है, ऐसी दृष्टि है जो अंधतः देखती हुई भी निर्भ्रान्त है, असंवेदनशीलताका लेप लगाये निरुद्ध संवेदनाकी मूक और अचूक सुनिश्चिति है ; ये, जिसे कार्यान्वित करना है, उस सबको कार्यान्वित करती हैं। निश्चेतनकी यह सारी स्थिति और क्रिया, बहुत स्पष्ट रूपसे, शुद्ध अतिचेतनाकी उसी स्थिति और क्रियाके अनुरूप होती है, परंतु मूल आत्म-ज्योतिके स्थानपर आत्म-अंधकारके पदोंमें अनूदित हुई होती है। भौतिक आकारमें अंतर्भूत होनेपर भी ये शक्तियाँ उस आकारके द्वारा अधिकृत नहीं रहतीं, किंतु, फिर भी, उसकी मूक निश्चेतनामें क्रिया करती हैं।

संवृत अवस्थामेंसे अपने विवर्तित प्राकट्यकी ओर चेतनाके उन्मज्जनके संबंधमें एक सामान्य धारणा बनानेका प्रयत्न हम कर चुके हैं ; उसकी यात्रामें आनेवाली भूमिकाओंको अब हम इस ज्ञान द्वारा अधिक स्पष्टतासे समझ सकते हैं। भौतिक सत्ताकी केवल एक स्थूल वैयक्तिकता होती है, मनोमय नहीं ; परंतु उसके अंदर एक अवगूढ़ 'कोई' है, अचेतन वस्तुओंके अंदर अद्वय 'चेतन', जो भौतिक सत्ताकी अंतर्वासिनी ऊर्जाओंकी निर्देशना करता है। यदि, जैसा कि प्रतिपादित किया गया है, भौतिक पदार्थ अपने चारों ओरकी वस्तुओंके संपर्कोंकी छाप ग्रहण करता और बनायी रखता है और उसमेंसे ऊर्जाएँ निकलती हैं, जिसके फलस्वरूप गुह्यविद्या उसके अतीतको जान सकती और हमें इन निर्गत होते प्रभावोंके प्रति सचेतन कर सकती है, तो इस ग्रहणशक्ति और इन सामर्थ्योंका कारण वह अंतर्भूत असंगठित 'संवित्' ही होगी जो रूपमें व्याप्त तो है, किंतु उसे तबतक दीप्त नहीं कर रही है। बाहरसे हम इतना ही देखते हैं कि वनस्पति और खनिज जैसे भौतिक पदार्थोंकी अपनी शक्तियाँ, गुण और सहज प्रभाव-कारिता हैं, परंतु चूंकि वहाँ संचारका कोई बल या साधन नहीं, अतः उनके

प्रभाव केवल तब सक्रिय हो सकते हैं जब व्यक्ति या पदार्थके साथ उनका संपर्क घटित हो या जब सजीव प्राणी उनका सचेतन उपयोग करें,—इस प्रकारका उपयोग एकसे अधिक मानव-विज्ञानोंका व्यावहारिक पक्ष है। परंतु ये शक्तियाँ और प्रभाव फिर भी मात्र अनिर्दिष्ट उपादानके नहीं, वरन् 'सत्-पुरुष'के धर्म हैं, वे हैं 'आत्मा'की शक्तियाँ जो 'ऊर्जा'के द्वारा उसकी आत्म-समाहित निश्चेतनामेंसे उन्मज्जित होती हैं। अंतर्निहित समाहित चेतन ऊर्जाकी यह प्रथम स्थूल यांत्रिक क्रिया जीवनके प्राथमिक रूपोंमें अवमानसिक प्राण-स्पंदनोंमें उन्मीलित होती है जिनका अर्थ यह होता है कि एक संवृत संवेदनशीलता है ; वर्द्धन, प्रकाश, वायु, जीवन-स्थानके लिये एक चाह होती है, एक अंध-टोह होती है, जो तब भी आंतरिक ही और निश्चल सत्तामें परिसीमित होती है और जिसमें अपनी सहजप्रवृत्तियोंको साकार करने, संबंध स्थापित करने, अपने-आपको बहिर्वर्ती करनेकी क्षमता नहीं होती। वह ऐसी अचलता है जो सजीव संबंधोंकी प्रस्थापनाके लिये संगठित नहीं, वह संपर्कोंको सहती और आत्मसात् कर लेती है, अनैच्छिक रूपसे उनका आघात पहुँचाती है, परंतु उन्हें ऐच्छिक रूपसे आरोपित नहीं कर सकती ; निश्चेतना तब भी प्रधान है, वह तब भी प्रत्येक वस्तुको तादात्म्यसे प्राप्त गुप्त संवृत ज्ञान द्वारा कार्यान्वित करती है, उसने तबतक भी सचेतन ज्ञानका बहिस्तलीय सांपर्किक साधन विकसित नहीं किया है। आगेका यह विकास प्रकट रूपसे सचेतन प्राणसे आरंभ होता है ; इसमें हम बहिस्तलपर आनेका संघर्ष करती बंदी चेतनाको ही देखते हैं : विविक्त सजीव प्राणी इस संघर्षसे बाध्य होकर ही अपनेसे बाहरकी शेष जगत्-सत्ताके साथ सचेतन संबंध प्रारंभ करनेका उद्योग करता है, आरंभमें चाहे कितनी ही अंधतासे और कितनी ही संकीर्ण सीमाओंमें क्यों न करे। सजीव जड़तत्त्वसे बना विग्रह जिन संपर्कोंको ग्रहण कर सकता और प्रत्युत्तर दे सकता है उनके बढ़ते परिमाणके द्वारा, और अपनी आवश्यकताओं और आंतरिक संवेगोंको संतुष्ट करनेके लिये वह जिन संपर्कोंको अपने-आपमेंसे स्फुरित या आरोपित कर सकता है उनके बढ़ते परिमाणके द्वारा ही, वह अपनी चेतनाका विकास करता है, निश्चेतना अथवा अवचेतनामेंसे निकलकर एक सीमित भेदात्मक ज्ञानकी ओर बढ़ता है।

अतः हम आद्या स्वयंभू आध्यात्मिक 'संवित्'की सारी अंतर्निहित शक्तियोंको इस वर्द्धमान भेदात्मिका चेतनामें धीमे-धीमे बाहर लायी जाती और अभिव्यक्ति की जाती देखते हैं; वे अवदमित क्रियाएँ हैं, परंतु तादात्म्यसे होनेवाले गुप्त और संवृत ज्ञानके लिये नैसर्गिक, और अब वे एक विलक्षणतया

ह्रसित और प्रयोगात्मक रूपमें क्रमशः उन्मज्जित होती हैं। प्रथमतः एक स्थूल अथवा आवृत इंद्रियबोध प्रकट होता है जो प्राणिक सहज-प्रवृत्ति अथवा प्रच्छन्न संवोधिकी सहायतासे सुव्यक्त संवेदनोंमें विकसित हो जाता है; तव एक प्राणमय मनकी संवित् प्रकट होती है और उसकी पीठपर विषयोंकी एक अस्पष्ट चित्-दृष्टि और अनुभूति; भावावेग स्पंदित हो वाहर आता है और दूसरोंके साथ आदान-प्रदान खोजता है; अंतमें वाहरी तलपर उठ आती है धारणा, विचारणा, युक्ति-वुद्धि, जो अपनी प्राप्त ज्ञान-सामग्रीको एकत्र करती हुई विषयके अवधारण और प्रज्ञानकी ओर प्रवृत्त होती है। परंतु वे सभी असंपूर्ण हैं, उन्हें भेदात्मक अज्ञान और प्रथम तमोवृतकारी निश्चेतनाने तव भी विकलांग कर रखा है; वे सभी वाह्य साधनपर निर्भर हैं, उन्हें अपने स्वाधिकारसे क्रिया करनेका वल नहीं: चेतना चेतनापर सीधी क्रिया नहीं कर सकती; मनश्चेतनाका वस्तुओंपर निर्माणात्मक आच्छादन और अंतर्वेधन तो होता है, परंतु यथार्थ अधिकार नहीं; वहाँ तादात्म्य-जनित ज्ञान नहीं। जव अवगूढ़ पुरुष अपनी गुप्त क्रियाओंमेंसे कुछको, मानसिक वुद्धिके सामान्य रूपोंमें अनूदित हुए विना और शुद्ध रूपमें, पुरोभागके मन तथा इंद्रियोंपर वलपूर्वक आरोपित करनेमें समर्थ होता है, तभी गभीरतर साधनोंकी प्राथमिक क्रिया सतहपर उठकर आती है; परंतु ऐसे उन्मज्जन फिर भी अपवाद ही होते हैं, वे हमारे अर्जित और सीखे ज्ञानकी सामान्यताके बीच अस्वाभाविक और अतिप्राकृतका पुट लिये ही देखनेमें आते हैं। अपनी आंतरिक सत्ताकी ओर उन्मीलन या उसके अंदर प्रवेशसे ही हम वाह्य परोक्ष संवित्में अपरोक्ष अंतरंग संवित्को जोड़ सकते हैं। अपने अंतरतम आत्मा अथवा अतिचेतन आत्माके प्रति हमारा जागरण होनेसे ही उस आध्यात्मिक ज्ञानका आरंभ हो सकता है जिसका आधार, जिसकी घटक शक्ति, जिसकी स्वरूप-धातु तादात्म्य हो।

अध्याय ग्यारह

अज्ञानके सीमांत

अयं लोको नास्ति पर इति मानी...॥

जो यह सोचता है कि यह लोक ही है, अन्य कोई लोक नहीं।

—कठोपनिषद्
2.6

अनन्ते अन्तः परिवीतः......॥
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता......॥

अनंतके अंदर विस्तृत,...अशीर्ष, अपाद, अपने दो छोरोंको[1] छिपाए हुए।

—ऋग्वेद
4.1.7, 11

य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति...।
अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद ॥

जो यह जानता है "मैं ब्रह्म हूँ", वह, यह सब जो भी है वह सब हो जाता है; परन्तु जो अद्वय आत्माको छोड़ अन्य देवताकी उपासना करता है और सोचता है, "वह अन्य है और मैं अन्य", वह जानता नहीं।

—बृहदारण्यकोपनिषद
1.4.10

सोऽयमात्मा चतुष्पात्। जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः... स्थूलभुक्...प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः... प्रविविक्तभुक्...द्वितीयः पादः। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्...तृतीयः पादः।

---

1. शीर्ष और पाद, अतिचेतन और निश्चेतन।

एव सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तयामी...। अदृष्टम्... अलक्षणम्...एकात्मप्रत्ययसारम्...चतुर्थम्, स आत्मा स विज्ञेयः ।।

यह आत्मा चतुष्पाद है—जागरित स्थानका आत्मा, जो वहिःप्रज्ञ है और वाह्य वस्तुओंका भोग करता है, उसका प्रथम पाद है; स्वप्न स्थानका आत्मा, जो अंतःप्रज्ञ है और सूक्ष्म वस्तुओंका भोग करता है, द्वितीय पाद है; सुषुप्त स्थानका आत्मा, जो एकीभूत, प्रज्ञानघन, आनन्दमय है और आनंदका भोग करता है, तृतीय पाद है...सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अंतर्यामी। वह, जो अदृष्ट, अलक्षण, एकात्मप्रत्ययसार[2] है, चतुर्थ पाद है: वही आत्मा है, वही वह है जिसे जानना है।

—मांडूक्योपनिषद्
2.7

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य......स एवाद्य स उ श्वः...।।

हमारे आत्माके मध्यमें एक पुरुष है, उसका आकार मनुष्यके अँगूठेसे वड़ा नहीं; वह भूतका और वर्तमानका ईश है,... वही आज है और वही कल भी होगा।

—कठोपनिषद्
4.12.13

यह अज्ञान, या तादात्म्य-ज्ञानकी ओर उद्यमशील यह भेदात्मक ज्ञान हमारी मानवीय मानसताका, और अधिक आच्छन्न रूपमें, उस सारी चेतनाका भी उपादान है जो हमारे स्तरसे नीचे विकसित हुई है; इसकी प्रमुख रूपरेखाका विवेचन अव संभव है। हम देखते हैं कि हममें यह सत्ता तथा शक्तिकी तरंगोंके अनुक्रमसे वनता है; वे तरंगें वाहरसे दवाव डालतीं और अन्दरसे उठती हैं, चेतनाकी उपादान-धातु हो जाती हैं और काल तथा देशमें आत्मा और विषयोंके मानसिक प्रत्यय और मनोभावापन्न इन्द्रिय-संवेदनमें रूपायित होती हैं। काल हमारे सम्मुख क्रियात्मक गति-

2. अपनी एकात्मतामें स्वयम्प्रकाश।

धाराके प्रवाह-रूपमें उपस्थित होता है, और देश इस अपूर्ण तथा विकासमान संवित्‌के अनुभवके लिये वस्तुओंसे भरे विषयभूत क्षेत्रके रूपमें। कालमें सचल रहनेवाला मनोमय जीव अपरोक्ष संवित्‌के द्वारा वर्तमानमें चिर रूपसे रहता है; स्मृतिके द्वारा वह अपने और विषयोंके स्वानुभवके एक विशेष भागको उससे हटकर सम्पूर्णतया अतीतमें बह जानेसे बचाता है; विचार, संकल्प और कर्मके द्वारा, मानस-ऊर्जा, प्राण-ऊर्जा और देह-ऊर्जाके द्वारा वह उसका उपयोग उसके लिये करता है जो वह वर्तमानमें हो जाता है और जो उसे भविष्यमें होना बाकी है; उसके भीतर सत्ताकी जिस शक्तिने उसे वैसा बनाया है जैसा वह अभी है, वही शक्ति भविष्यमें उसकी संभूतिके नैरंतर्य, विकसन और प्रवर्द्धनके लिये कार्य करती है। स्वाभिव्यक्ति और विषयानुभवकी इस अरक्षित रूपसे धारित सामग्रीको, कालानुक्रममें संचित इस आंशिक ज्ञानको मनोमय जीवके लिये प्रत्यक्ष बोध, स्मृति, बुद्धि और इच्छा-शक्ति एक चिर-नवीन या चिर-पुनरावर्तित संभूतिके लिये, और मनोमय जीवको जैसा होना है उसकी ओर विकसित होनेमें उसे सहायता देने और वह जैसा हो चुका है उसे व्यक्त करनेके हेतु उपयोगमें लानेके लिये सहयोजित करती हैं। चेतनाके इस सारे अनुभव और ऊर्जाके उत्पादनकी वर्तमान समष्टिको उसकी सत्ताके साथ संबंधित किये जानेके लिये सहयोजित किया जाता है, एक ऐसे अहं-बोधके चारों ओर संगत रूपमें एकत्र किया जाता है जो प्रकृतिके सम्पर्कोंको पुरुषके किसी स्थायी सीमित क्षेत्रमें स्वानुभवका प्रत्युत्तर देते रहनेका अभ्यास बना लेता है। यदि ऐसा न होता तो जो बहती जाती छापोंका प्रवाह या समूह ही होता, उसे यह अहं-बोध ही संबद्धताका प्रथम आधार देता है: इस भाँति जो कुछ भी अनुभूत हुआ रहता है, उसे मानस-चेतनाका उसके अनुरूप जो कृत्रिम केन्द्र अवबोधमें होता है, उसके सामने, अर्थात् अहं-भावके सामने उपस्थापित किया जाता है। प्राण-धातुमें रहनेवाला यह अहं-बोध और मनमें रहनेवाला यह अहं-भाव आत्माके एक निर्मित प्रतीक, भेदात्मक अहंको बनाये रहते हैं, जो कि प्रच्छन्न यथार्थ पुरुष, आत्मा या सच्ची सत्ताके स्थानपर कार्य करता है। परिणामतः, बहिस्तलीय मानस-वैयक्तिकता सर्वदा अहं-केन्द्रिक होती है; उसकी परहितकारिता भी उसके अहंकी स्फीति होती है: अहं वह आवारकीलक है जिसका आविष्कार हमारे प्रकृति-चक्रके चलनेकी व्यवस्थाके लिये किया गया है। अहंके चारों ओर केन्द्रीकरणकी आवश्यकता तबतक रहती है जबतक कि ऐसे साधन या उपायकी आवश्यकता समाप्त न हो जाय, और यह आवश्यकता तब समाप्त

होती है जब सच्चा आत्मा, अध्यात्म-पुरुष उन्मज्जित हो जाता है जो एक साथ ही चक्र और गति है और उन्हें धारण करनेवाला भी, केन्द्र है और साथ ही परिधि भी।

परंतु, अपने-आपका अध्ययन करते ही हम पाते हैं कि जिस स्वानुभवको हम इस भाँति जीवनके लिये सहयोजित करते और सचेतन रूपसे उपयोगमें लाते हैं वह हमारी जागृत वैयक्तिक चेतनाका भी एक छोटा-सा भाग ही है। हमारे अविच्छिन्न वर्तमानमें अपने और विषयोंके सम्बन्धमें जो मानसिक संवेदन और प्रत्यक्षण हमारी बहिश्चर चेतनामें होते हैं उनमेंसे बहुत सीमित संख्याको ही हम पकड़ रखते हैं: फिर, स्मृति इनमेंसे इनके एक अल्प अंशको ही अतीतकी विस्मरणशील खाईमेंसे बचा रखती है; और स्मृति जो कुछ संचित रखती है, उसमेंसे एक अल्प भागको ही हमारी बुद्धि सहयोजित ज्ञानके लिये उपयोगमें लेती है और हमारी संकल्प-शक्ति कर्मके लिये तो और भी अल्पतर भागको उपयोगमें लेती है। भौतिक विश्वके क्षेत्रमें हम देखते हैं कि प्रकृति स्वल्प सामग्रीका निर्वाचन करती है, बहुतको छोड़ देती या आरक्षित रखती है, कृपण-मितव्ययीकी रीति बरतती है जिसमें सामग्री बरबाद होती है, साधनका उपयोग नहीं होता, उपादेय व्यय और उपादेय अवशिष्ट सामग्रीकी राशि अव्यवस्थित और अल्प होती है; हमारी सचेतन संभूतिमें भी हमें प्रकृतिकी यही पद्धति जान पड़ती है। परंतु यह प्रतीयमान रूप ही होता है; कारण, यह विवरण पूरा असत्य होगा कि इस क्रियामें जो कुछ भी बचाकर नहीं रखा जाता और उपयोगमें नहीं लिया जाता, वह नष्ट कर दिया जाता, शून्य हो जाता, प्रभावहीन और व्यर्थ चला जाता है। परंतु वास्तवमें, इसके एक बड़े भागको स्वयं प्रकृति हमारे निर्माणके लिये चुपचाप काममें ले लेती है और वह भाग हमारे वर्द्धन और संभूति और कर्मके उस पर्याप्त बड़े पुंजका प्रवर्तन करता है जिसके लिये हमारी सचेतन स्मृति, इच्छा और बुद्धि उत्तरदायी नहीं होतीं। इसके और भी बड़े भागको प्रकृति भण्डार बनाकर रखती है, वह उस भण्डारमेंसे सामग्री निकालती और उसका उपयोग करती रहती है, जब कि स्वयं हम इस सामग्रीके मूल और उद्भव-स्थलको बिलकुल ही भूल गये हैं और इस सामग्रीका उपयोग इस भ्रांतिजनक भावनासे करते हैं कि इसकी सृष्टि हमने ही की है; कारण, हम यह समझते हैं कि हम अपने कार्यकी इस नयी सामग्रीकी सृष्टि कर रहे हैं, जब कि वास्तवमें हम केवल उस संचयमेंसे परिणामोंका सम्मिलन करते हैं जिसे हम तो भूल चुके हैं, परंतु हमारे अन्दर प्रकृतिने फिर भी याद रखा है।

हम यदि पुनर्जन्मको प्रकृतिकी पद्धतिका अंग स्वीकार करें तो पायेंगे कि सभी अनुभवोंका अपना उपयोग है; कारण, इस दीर्घकालीन निर्माणमें सभी अनुभवोंका स्थान होता है और जिसकी उपादेयता शेष हो चुकी है और जो भविष्यके लिये भार हो जायगा, केवल उसे परित्यक्त किया जाता है, अन्य किसीको नहीं। हमारे सचेतन बहिस्तलपर अभी जो उपस्थित होता है, उससे निर्णय करना सदोष होता है: कारण, जब हम अध्ययन करते और समझने लगते हैं तो देखते हैं कि हमारे अन्दर प्रकृतिके कार्य और विकासका स्वल्पांश ही सचेतन है; उसका अधिकांश भाग उसके शेष भौतिक जीवनकी भाँति अवचेतन रूपसे ही चलता है। हम केवल वही नहीं हैं जैसा कि हम अपने-आपको जानते हैं, वरन् उससे भी अधिक बहुत कुछ हैं, और इस स्वरूपको हम जानते नहीं; वस्तुतः हमारा क्षणिक व्यक्तित्व हमारी सत्ताके समुद्रपर एक बुलबुलामात्र है।

हम अपनी जागृत चेतनाको ऊपर ऊपरसे ही देखें तो भी पता लग जाता है कि हम अपनी वैयक्तिक सत्ता और संभूतिके एक बड़े भागके प्रति बिल्कुल अज्ञ हैं; हमारे लिये वह भी निश्चेतन है, जैसे कि वनस्पतिका जीवन है, धातु, मिट्टी और भूत-तत्त्व हैं। परंतु, हम यदि अपने ज्ञानको और आगे ले जाते हैं, मनोवैज्ञानिक परीक्षण तथा प्रेक्षणको उनकी सामान्य सीमाओंसे आगे खींच ले जाते हैं, तो हमें पता चलता है कि हमारी समग्र सत्तामें इस अनुमानित निश्चेतन अथवा इस अवचेतनका प्रदेश कितना विशाल है,—अवचेतन, जो हमें इसलिये अवचेतन लगता है और जिसे हम इसलिये अवचेतन कहते हैं कि वह प्रच्छन्न चेतना है,—और यह भी पता चलता है कि हमारी सत्ताका कितना छोटा और खंडित अंश ही हमारी जागृत आत्म-संवित्के अन्दर आता है। हम इस ज्ञानपर पहुँचते हैं कि हमारा जागृत मन और अहं हमारे अन्दर एक निमज्जित, एक अवगूढ़ पुरुषपर अध्यारोप ही है,—वह पुरुष हमें निमज्जित, अवगूढ़ ही लगता है,—या अधिक ठीक-ठीक कहें तो वह आंतरिक पुरुष है जिसकी अनुभवकी समर्थता बहुत विशालतर है; हमारा मन और अहं मंदिरके उन शिखर और कलशकी नाईं है जो लहरोंमेंसे बाहर निकले हुए हैं जब कि मंदिरके भवनकी विशाल काया जलराशिकी सतहके नीचे डूबी हुई है।

यह प्रच्छन्न पुरुष और चेतना ही हमारी सच्ची या समूची सत्ता है, बाह्य पुरुष और चेतना तो उसका एक अंग और दृश्य, एक बाहरी उपयोगके लिये चुनीं हुई रचना है। हमपर वस्तुओंके जो सम्पर्क आघात करते हैं उनमेंसे एक छोटी-सी संख्याको ही हम जानते हैं, किन्तु आंतरिक पुरुष

उस सभीको जानता है जो हममें और हमारे पर्यावरणमें प्रवेश करता या उन्हें स्पर्श करता है। हम अपने जीवन और सत्ताकी क्रियाओंके किसी अंगको ही देखते हैं, किन्तु आंतरिक पुरुष इतने सारेको देखता है कि हम लगभग यह अनुमान भी कर ले सकते हैं कि उसकी दृष्टिसे कुछ भी नहीं बचता। अपने प्रत्यक्षोंमेंसे एक छोटे-से निर्वाचित भागको ही हम याद रखते हैं, और इनमेंसे भी एक बड़े भागको हम ऐसे भण्डार-कक्षमें रखते हैं जहाँ हमारा हाथ हमारी आवश्यकताकी वस्तुपर सदा नहीं पड़ पाता, किन्तु आंतरिक पुरुषने जो कोई भी वस्तु कभी पायी है, उस प्रत्येक वस्तुको वह संचित रखता है और वे सारी वस्तुएँ उसके हाथ-तले रहती हैं। अपने प्रत्यक्षों और स्मृतिमेंसे हम केवल उतनों ही को सहयोजित अवबोध और ज्ञानमें धारण कर सकते हैं जितनोंका अर्थ हमारी प्रशासित बुद्धि और मनकी समर्थता पकड़ सकतीं और जिनके संबंधोंको वे आँक सकती हैं; किन्तु आंतरिक पुरुषकी बुद्धिको प्रशिक्षणकी आवश्यकता नहीं होती, अपितु वह उसके समस्त प्रत्यक्षों और स्मृतियोंके ठीक-ठीक रूपों और संबंधोंको परिरक्षित रखती है और,—यद्यपि इस कथनको संदिग्ध माना जा सकता है या इसे इसके सम्पूर्ण रूपमें स्वीकार करना कठिन हो सकता है,—उसे उनका तात्पर्य यदि पहलेसे प्राप्त नहीं भी हो, तो वह उसे तुरंत ही पकड़ ले सकती है। जागृत मनके प्रत्यक्षण सामान्यतया स्थूल इन्द्रियोंकी अल्प उंछतक ही सीमित हैं, किन्तु आंतरिक पुरुषके प्रत्यक्षणोंकी वह सीमा नहीं, अपितु वे उससे बहुत आगे जाते हैं और, जैसा कि टेलिपैथीके बहुत प्रकारके व्यापारोंसे प्रमाण मिलता है, एक सूक्ष्म इन्द्रियका उपयोग करते हैं, जिसकी सीमाएँ इतनी विस्तृत हैं कि आसानीसे निर्धारित नहीं की जा सकतीं। एक ओर बहिस्तलीय इच्छा या प्रवृत्ति, और दूसरी ओर अवगूढ़ प्रेरणा जिसे भूलसे अचेतन या अवचेतन कहा जाता है, इनके बीचके संबंधोंका अध्ययन उचित रूपसे नहीं किया गया है, केवल कुछ असाधारण और असंगठित अभिव्यक्तियों और मनुष्यके मनकी रोगावस्थाके कुछ अस्वस्थ और अपसामान्य व्यापारोंके विषयमें अध्ययन किया गया है; परन्तु हम यदि अपने प्रेक्षणको पर्याप्त दूरीतक ले जायँ तो देखेंगे कि वास्तवमें, समूची सचेतन संभूतिके पीछे आंतरिक पुरुषका ज्ञान और उसकी इच्छा या प्रेरणा-शक्ति हैं; सचेतन संभूति आंतरिक पुरुषके गुप्त प्रयास और सिद्धिके केवल उस भागका प्रतिनिधित्व करती है जो हमारे जीवनकी सतहपर उठ आनेमें सफल हुआ है। अपने आंतरिक पुरुषको जानना यथार्थ आत्मज्ञानकी ओर पहला डग है।

हम यदि इस आत्म-आविष्कारको हाथमें लें और अवगूढ़ पुरुषके विषयमें अपने ज्ञानको वर्द्धित करें, उसकी धारणा इस भाँति करें कि उसमें हमारे निम्नतर अवचेतन और ऊर्ध्वतर अतिचेतन छोर भी सम्मिलित हो जायँ, तो हम यह आविष्कार करेंगे कि यथार्थमें यही वह है जो हमारी प्रतीयमान सत्ताकी समस्त सामग्री प्रदान करता है और हमारे प्रत्यक्ष, हमारी स्मृतियाँ, हमारे संकल्प और बुद्धिके कार्यान्वयन उसीके प्रत्यक्षों, स्मृतियों, संकल्प और बुद्धिकी क्रियाओं और संबंधोंमेंसे किये गये निर्वाचनमात्र हैं; स्वयं हमारा अहं उसीकी आत्म-चेतना तथा आत्मानुभूतिका एक गौण और बाह्य रूपायणमात्र है। यह मानों वह उत्ताल समुद्र है जिसमेंसे हमारी सचेतन संभूतिकी तरंगें उद्भूत होती हैं। परंतु उसके सीमांत क्या हैं? उसकी व्याप्ति कहाँतक है? उसका मूलभूत स्वरूप क्या है? सामान्यतया हम एक अवचेतन सत्ताकी बात कहते हैं और जो कुछ जागृत सतहपर नहीं उस सबको इस विशेषणके अंतर्गत कर देते हैं। परन्तु आंतरिक या अवगूढ़ सत्ताका सम्पूर्ण अथवा महत्तर भाग इस विशेषणसे कदाचित् ही चित्रित हो सकता है; कारण, अवचेतन कहते ही हम एक धूमिल अचेतना या अर्ध-चेतना या नहीं तो, नीचे निमज्जित चेतनाकी बात सोच लेते हैं जो हमारी संगठित जागृत संवित्की अपेक्षा किसी प्रकार निम्नतर और न्यूनतर है या जिसे, कम-से-कम, उसकी अपेक्षा अपने-आपपर कम अधिकार है। परन्तु, अंदर जानेसे हम पाते हैं कि हमारे समूचे अवगूढ़ भागमें तो नहीं, क्योंकि उसमें भी तमोवृत और अज्ञानमय प्रदेश हैं, किन्तु उसमें कहींपर ऐसी चेतना है जो हमारे बहिस्तलपर जगनेवाली और हमारी दैनिक घड़ियोंकी प्रेक्षिका चेतनाकी अपेक्षा बहुत विशाल, अधिक आलोकमयी है, अपने-आपपर और वस्तुओंपर अधिक अधिकार रखती है; वही हमारी आंतरिक सत्ता है, हमें उसे ही अपना अवगूढ़ आत्मा मानना चाहिये और अवचेतनको अपनी प्रकृतिका एक निकृष्ट, एक निम्नतम गुह्य प्रदेश कहकर अलग कर देना चाहिये। उसी भाँति, हमारी समग्र सत्ताका एक अतिचेतन भाग है जिसमें वह है जिसे हम अपना उच्चतम आत्मा पाते हैं, और उसे भी हम अपनी प्रकृतिका एक उच्चतर गुह्य प्रदेश कहकर अलग कर दे सकते हैं।

परन्तु तब, अवचेतन क्या है? उसका प्रारंभ कहाँ होता है? उसका हमारी बाह्य सत्ताके साथ क्या संबंध है? या उस अवगूढ़ सत्ताके ही साथ क्या संबंध है जिसका कि एक प्रदेश ही वह अधिक ठीक जान पड़ता है? हमें अपने शरीरका बोध रहता है, हम जानते हैं कि हमारा एक दैहिक अस्तित्व है, बहुत दूरतक हम उसे अपना आपा भी समझते हैं, और तब

भी उसकी अधिकांश क्रियाएँ हमारी मनोसत्ताके लिये वस्तुतः अवचेतन हैं ; केवल यही नहीं कि मन उनमें कोई भाग नहीं लेता, प्रत्युत, जैसा हमारा अनुमान है, हमारी स्थूलतम सत्ताको भी अपने-आपकी प्रच्छन्न क्रियाओंका भान नहीं होता, उसे अपनी निजी सत्ताका भान अपने-आपसे नहीं होता ; वह अपने-आपके बारेमें केवल उतना ही जानती या बल्कि अनुभव करती है जितना मानस-बोधके द्वारा दीप्त होता और बुद्धिके देखनेमें आता है। जैसे वनस्पति या निम्नतर प्राणीमें, वैसे ही इस दैहिक रूप और संरचनामें एक प्राण-शक्ति क्रिया कर रही है, इसका बोध हमें होता है ; यह प्राणिक सत्ता भी हमारे लिये अधिकांशमें अवचेतन है, कारण, उसकी कुछ ही गतियाँ और प्रतिक्रियाएँ हमारे देखनेमें आती हैं। हमें उसकी क्रियाओंका आंशिक बोध होता है, परंतु उन सारी ही क्रियाओं या उनमेंसे अधिकांशका कदापि नहीं, बल्कि जो क्रियाएँ सामान्य हैं उनकी अपेक्षा असामान्य क्रियाओंका होता है ; उसकी संतुष्टियोंकी अपेक्षा उसकी बुभुक्षाका अनुभव, उसके स्वास्थ्य और उसके नियमित छन्दकी अपेक्षा उसके रोग और क्रमभंगका अनुभव हमें अधिक तीव्रतासे होता है ; उसका जीवन जितनी स्पष्टतासे अनुभूत होता है उसकी अपेक्षा उसकी मृत्यु हमारे मर्मको अधिक गहराईसे स्पर्श करती है : हम उसके बारेमें उतना तो जानते हैं जितना हम सचेतन रूपसे देख पाते और उपयोग कर पाते हैं या जितना कि कष्ट और सुख और अन्य संवेदनोंके द्वारा अथवा स्नायविक या दैहिक प्रतिक्रिया और विक्षोभका कारण होकर हमपर बलात् आ पड़ता है, परंतु इससे अधिक कुछ नहीं जानते। तदनुसार, हमारा यह अनुमान होता है कि हमारा यह प्राणिक-शारीरिक भाग भी अपने-आपकी क्रियाओंके प्रति सचेतन नहीं है, अथवा उसमें वनस्पतिकी भाँति अवरुद्ध चेतना या अ-चेतना है, अथवा आदिकालीन जंतुकी भाँति अविकसित चेतना है ; वह वहींतक सचेतन बनता है जहाँतक वह मनके द्वारा दीप्त और बुद्धिके द्वारा अवेक्षण-गम्य है।

परन्तु यह एक अतिरंजना है, एक संभ्रान्ति है ; इसकी उत्पत्ति इस कारण है कि हम चेतनाको मानसता और मानस-संवित् ही मान लेते हैं। स्थूल प्राण और शरीरकी स्वाभाविक वृत्तियोंके साथ मन कुछ दूरीतक एकात्म हो जाता और उन्हें अपनी मानसताके साथ संयुक्त कर लेता है, अतः हमें सारी चेतना मनोमयी लगती है। परंतु, हम यदि पीछेकी ओर हटें, मनको साक्षी-रूपमें इन अंगोंसे अलग करें, तो हम यह आविष्कार कर सकते हैं कि प्राण और शरीरकी, प्राणके स्थूलतम भागोंकी भी, एक

अपनी स्वीय चेतना है; वह चेतना अधिक तमोवृत प्राणिक सत्ताकी और दैहिक सत्ताकी निजी है, एक नैसर्गिक संवित् जैसी भी है जो आदिम जांतव रूपोंमें हो सकती है, परंतु हममें मन उसे अंशतः अपने हाथमें ले लेता है और उस दूरीतक वह मनोधर्मी हो जाती है। तो भी, उसकी स्वतंत्र चाल्को लें तो उसे वह मनोमय संवित् नहीं होती जिसका उपभोग हम करते हैं; यदि उसमें मन है भी तो वह देह और दैह्य प्राणमें संवृत और निहित है: वहाँ कोई संगठित आत्म-चेतना नहीं है, अपितु क्रिया-प्रतिक्रिया, स्पंद, अंतर्वेग, कामना, आवश्यकता, प्रकृतिद्वारा आरोपित आवश्यक क्रियाओं, क्षुधा, सहजप्रवृत्ति, कष्ट, असंवेदनशीलता और सुखका ही बोध है। वह यद्यपि इस भाँति निम्नतर स्तरकी है, उसमें यह अंधकाराच्छन्न, सीमित और स्वतःस्फूर्त संवित् तो विद्यमान है ही; परन्तु चूंकि उसे अपने-आपपर कम अधिकार है और हमारे लिये जो मानसताकी छाप है उससे वह रहित है, अतएव हमारा उसे अवमानसिक कहना न्याय्य हो सकता है, परंतु उसे हमारी सत्ताका अवचेतन भाग कहना उतना न्याय्य नहीं। कारण, जब हम उससे पीछे हटकर खड़े होते हैं, जब हम अपने मनको उसके संवेदनोंसे अलग कर पाते हैं, तब हम देखते हैं कि यह चेतनाकी एक स्नायविक, संवेदनात्मक और अपने-आपसे क्रिया करनेवाली विधि है, मनसे भिन्न श्रेणीकी संवित् है: सम्पर्कोंके प्रति उसकी अपनी निजी पृथक् प्रतिक्रियाएँ हैं और उनका अनुभव करनेकी उसकी स्वीय शक्ति है, उसीके अनुसार वह संवेदनशील है; इसके लिये वह मनके प्रत्यक्षण और प्रत्युत्तरपर निर्भर नहीं। सच्चा अवचेतन इस प्राणिक या शारीरिक अधोस्तरसे भिन्न है; वह है चेतनाके सीमांतोंपर स्पंदित हो रहा निश्चेतन, जो अपने स्पंदनोंको सचेतन सत्त्वमें परिणत होनेके लिये ऊपर भेजता है, अतीतके अनुभवके संस्कारोंको अपनी गहराइयोंमें अचेतन अभ्यासके बीजोंके रूपमें गवलित करता और उन्हें निरंतर, यद्यपि प्रायः अव्यवस्थित रूपमें ही, सतहकी चेतनापर वापस भेजता है, ऐसी बहुत-सी व्यर्थकी और संकटजनक सामग्रीको, जिसका मूल हमारे लिये निभृत रहता है, स्वप्नमें, सब प्रकारकी यांत्रिक पुनरावृत्तियोंमें, अज्ञात उत्सके प्रेरणों और प्ररोचनोंके रूपमें, मनोमय, प्राणिक, शारीरिक उद्वेलनों और विक्षोभोंके रूपमें, हमारी प्रकृतिके अधिकतम अंधकारावृत भागोंकी मूक स्वतःस्फूर्त आवश्यकताओंके रूपमें ऊपरकी ओर भेजता रहता है।

परंतु, अवगूढ़ आत्माकी ऐसी अवचेतन प्रकृति बिल्कुल ही नहीं होती: एक मन, एक प्राण-शक्ति, वस्तुओंका एक स्पष्ट सूक्ष्म-दैहिक बोध उसके पूरे अधिकारमें रहते हैं। हमारी जागृत सत्तामें जो क्षमताएँ हैं, सूक्ष्म

संवेद और प्रत्यक्षण, व्यापक विस्तृत स्मृति और प्रगाढ़ वरणक्षम बुद्धि, संकल्प, आत्मचेतना, ये उसमें भी हैं: परंतु उनकी जाति वही रहनेपर भी वहाँ वे अधिक विस्तृत, अधिक विकसित, अधिक प्रभुताशालिनी होती हैं। फिर, उसमें अन्य क्षमताएँ भी हैं जो हमारे मर्त्य मनकी क्षमताओंसे परे हैं; इसका कारण यह है कि उसमें सत्ताकी अपरोक्ष संवित्‌की शक्ति है जो, वह चाहे अपने निजके अन्दर क्रिया कर रही हो, चाहे अपने किसी विषयकी ओर अभिमुख हो, ज्ञानतक अधिक क्षिप्रतासे पहुँचती, इच्छा-शक्तिके कार्यान्वियनतक अधिक क्षिप्रतासे पहुँचती, अंतर्वेगको अधिक गहराईसे समझती और संतुष्ट करती है। हमारा वहिस्तलीय मन शरीर तथा शारीरिक जीवनसे और स्नायु-तंत्र तथा शारीरिक अवयवोंकी सीमाओंसे इतना आवेष्टित, आबद्ध, अवरुद्ध, प्रतिबंधित है कि वह कदाचित् ही सच्ची मानसता होता है। परंतु अवगूढ़ पुरुषमें एक सच्चा मन है जो इन सीमाओंसे ऊपर है; वह स्थूल मन और स्थूल अवयवोंसे आगे बढ़ा हुआ होता है, साथ ही उसे उनकी और उनके कार्योंकी संवित् होती है, और वह वस्तुतः बड़ी मात्रामें उनका कारण या स्रष्टा है। अवगूढ़ केवल इस अर्थमें अवचेतन है कि वह अपने समूचे या अधिकांश रूपको सतहपर नहीं लाता, सदा पर्देके पीछे कार्य करता है: वह अवचेतन होनेकी अपेक्षा वल्कि निगूढ़ अंतश्चेतन और परिचेतन है; कारण, जितना वह वाह्य प्रकृतिको अवलंव देता है उतना ही उसे परिवेष्टित भी करता है। निस्संदेह, यह वर्णन अवगूढ़के गभीरतर भागोंके संबंधमें अधिकतम सत्य है; उसकी जो अन्य परतें हमारे वाह्य तलके समीपतर हैं उनमें अधिक अज्ञानमयी क्रिया होती है, और जो लोग, अंतरमें प्रविष्ट होते हुए, अवगूढ़ और वाह्य तलके बीचके कम संवद्धतावाले क्षेत्रों या लावारिस भूमिमें ठहर जाते हैं, वे वहुत भ्रान्ति और संभ्रममें पड़ जा सकते हैं: परंतु वह यद्यपि अज्ञानमय तो है, किंतु उसकी भी प्रकृति अवचेतनकी नहीं; इन मध्यवर्ती प्रदेशोंके संभ्रमका निश्चेतनासे सादृश्य नहीं होता।

अतएव, हम कह सकते हैं कि हमारी सत्ताकी समग्रतामें तीन तत्त्व हैं: अवमानसिक और अवचेतन, जो हमें ऐसा प्रतीत होता है मानों निश्चेतन हो, यह हमारा भौतिक आधार और हमारे प्राण तथा शरीरका प्रचुर भाग है; अवगूढ़, जिसके अंतर्गत वह सारी आंतरिक सत्ता है जिसमें आंतरिक मन, आंतरिक प्राण, आंतरिक शरीर और उनका धारयिता अंतरात्मा अथवा चैत्य पुरुष सम्मिलित हैं; तीसरे, यह जागृत चेतना, जिसे अवगूढ़ तथा अवचेतनने सतहपर उत्क्षिप्त किया है, यह उनकी गुप्त हिलोरकी लहर है।

परंतु हम जो कुछ हैं उसका पर्याप्त विवरण यह भी नहीं; कारण, हमारी सामान्य आत्म-संवित्के पीछे, गहराईमें ही कोई वस्तु रहती हो ऐसा नहीं है, वरन् उससे बहुत ऊपर, ऊँचाईपर भी कोई वस्तु है : वह भी हमारा स्वरूप है, वह हमारे बहिस्तलीय मनोमय व्यक्तित्वसे भिन्न है, परंतु हमारे सच्चे आत्म-स्वरूपसे बाहर नहीं; वह भी हमारी अध्यात्म-सत्ताका एक देश है। कारण, वास्तविक अवगूढ़ पुरुष ज्ञान-अज्ञानके स्तरपर आंतरिक पुरुष होनेकी अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है; वह ज्योतिर्मय है, सशक्त है, और निस्संदेह, हमारे जागृत मनकी दरिद्र धारणासे परे विस्तृत भी, परंतु फिर भी वह न तो हमारी सत्ताका परम या सम्पूर्ण अर्थ है, न उसका अंतिम रहस्य ही। एक अनुभूति होती है जिसमें हमें सत्ताके ऐसे विस्तारकी संवित् होती है जो इन तीनोंके लिये अतिचेतन है, किसी ऐसी वस्तुकी, एक परम उच्चतम सद्वस्तुकी भी संवित् होती है जो उन सबकी धारयित्री है और उनसे अतीत भी, जिसके लिये मानव-जाति अस्पष्ट रूपसे कहती है कि वह ब्रह्म है, ईश्वर है, अधि-आत्मा है। इन अतिचेतन प्रदेशोंसे हमारे यहाँ अवतरण होते हैं और अपनी सत्ताके उच्चतम भागमें हमारी प्रवृत्ति उन प्रदेशोंकी ओर और उस परम 'आत्मा'की ओर होती है। अतः हमारी सत्ताके सम्पूर्ण परिमंडलमें अवचेतना और निश्चेतना है, और एक अतिचेतना भी है, जो हमारी अवगूढ़ और जाग्रत् सत्ताओंपर मेहराबकी भाँति फैली हुई है और शायद उन्हें आच्छादित भी करती है, परंतु हमारे लिये अज्ञात है, वह हमें अप्राप्य और अव्यवहार्य प्रतीत होती है।

तथापि, हमारे ज्ञानका प्रसार होनेसे हमें ज्ञात होता है कि यह ब्रह्म या अधि-आत्मा क्या है : अंतमें वह हमारा अपना ही उच्चतम गभीरतम बृहत्तम 'आत्मा' है, वह अपने शिखरोंपर या हमारे अन्दर प्रतिबिंबित होता हुआ, सच्चिदानन्दके रूपमें प्रत्यक्ष होता है, जो हमें और जगत्को अपनी दिव्य, आध्यात्मिक, अतिमानसिक, ऋत-चिन्मय, अनंत 'ज्ञानात्मिका-इच्छा'की शक्तिसे सृष्ट करता है। वही सच्चा सत्-पुरुष, प्रभु और स्रष्टा है, जो, जिसे हम निश्चेतन कहते हैं उसके अंदर, मन, प्राण और जड़में आवृत विश्वात्माके रूपमें अवतरित हुआ है और अपनी अतिमानसिक इच्छा तथा ज्ञानसे उसकी अवचेतन सत्ताका उपादान और निर्माता और निर्देशक है। वही विश्वात्मा-रूपमें निश्चेतनमेंसे ऊपर आरोहण कर गया है और आंतरिक सत्तामें निवास करता है और उसी इच्छा तथा ज्ञानसे उसकी अवगूढ़ सत्ताका उपादान और निर्माता और निर्देशक है, उसीने हमारी बाह्य सत्ताको अवगूढ़ सत्तामेंसे उत्क्षिप्त किया है और वही उसकी लड़खड़ाती और टटोलती

गतियोंका ईक्षण उसी परम प्रकाश और प्रभुत्वसे करता हुआ उसके अन्दर गुप्त रूपसे निवास करता है। यदि अवगूढ़ और अवचेतनाकी तुलना एक समुद्रसे की जाय जो हमारी वहिस्तलीय सत्ताकी लहरोंको ऊपर फेंकता है, तो अतिचेतनाकी तुलना ऐसे आकाशसे की जा सकती है जो उस समुद्र और उसकी लहरोंकी गतियोंका उपादान और निर्माता है, उन्हें समाए रखता, उनपर छाया रहता, उनमें निवास और उनकी निर्देशना करता है। वहाँ, इस उच्चतर आकाशमें ही, हम आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके प्रति अन्तर्निहित और अन्तर्भुक्त रूपसे सचेतन होते हैं, यहाँ नीचेकी भाँति नहीं, जहाँ हम नीरव मनमें आते प्रतिविंवसे अथवा अपने अन्दरके एक प्रच्छन्न 'सत्-पुरुष'के ज्ञानके अर्जनसे आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके प्रति सचेतन होते हैं ; इसी आकाशमेंसे होकर, अतिचेतनाके उस आकाशमेंसे होकर, हम एक परम स्थिति, ज्ञान, अनुभवतक जा सकते हैं। यह जो अतिचेतन सत्ता है जिसमेंसे होकर हम अपने सच्चे, अपने उच्चतम 'आत्मा'तक पहुँच सकते हैं, उसके प्रति हम सामान्यतया अपनी शेष सत्ताकी अपेक्षा और भी अधिक अज्ञ रहते हैं ; फिर भी, निश्चेतनामें संवृत रहनेकी अवस्थामेंसे उन्मज्जित होती हमारी सत्ता उस अतिचेतनाके ज्ञानकी ओर क्रमविकसित होनेका संघर्ष कर रही है। हमारी वहिस्तलीय सत्ताका यह परिसीमन, जैसे अपने अंतरतम आत्माके प्रति वैसे ही अपने उच्चतम आत्माके प्रति यह अचेतनता, हमारा प्रथम, हमारा प्रधान अज्ञान है।

कालमें संभूति द्वारा हम सतही रूपसे जीते हैं, परंतु फिर यहाँ भी, वहिस्तलीय मनको, जिसे हम अपना स्वरूप कहते हैं, उस कालगत संभूतिके सारे लम्बे अतीत और लम्बे भविष्यका ज्ञान नहीं, वह केवल उस छोटेसे जीवनसे अवगत है जिसकी उसे स्मृति रहती है और उससे भी सम्पूर्णतया अवगत नहीं ; कारण, उसमेंसे एक बड़ा अंश उसके प्रेक्षणमें नहीं आता, एक बड़ा अंश उसकी स्मृतिसे खो जाता है। हम तत्परतासे विश्वास कर लेते हैं कि इस जीवनमें हमारे शरीरका जन्म ही हमारा अस्तित्वमें प्रथम आगमन है और जब इस शरीरकी मृत्यु हो जायगी और इस स्वल्पकालीन दैहिक क्रियाशीलताका अंत हो जायगा तव हमारा अस्तित्व भी समाप्त हो जायगा ; इस विश्वासका सरल और वाध्यकारी परंतु अपर्याप्त कारण यह है कि और कुछ हमें याद नहीं, और कुछ हमने देखा नहीं, और कुछ हम जानते नहीं। परंतु जब कि यह बात हमारी स्थूल मानसता और स्थूल प्राण-शक्तिके लिये, हमारे कायिक चोलेके लिये ठीक है, कारण, उनका घटन हमारे जन्मके समय हुआ है और मृत्युके साथ उनका विघटन हो

जायगा, यह हमारी कालमें होनेवाली वास्तविक संभूतिके लिये सत्य नहीं। कारण, अतिचेतन ही विश्वमें हमारा वास्तविक आत्मा है जो अवगूढ़ पुरुष हो जाता और प्रकट बाह्य आत्माको इसलिये उत्क्षिप्त करता है कि निश्चेतन प्रकृतिके जगत्के उपादानमें सत्ताके वर्तमान सजीव और सचेतन आत्म-रूपायणके रूपमें उसे जो संक्षिप्त और सीमित भाग जन्म और मृत्युके बीचकी अवधिमें अभिनयके लिये दिया गया है उसे वह सम्पन्न करे। जिस प्रकार जब अभिनेता अपनी कोई भूमिका पूरी कर लेता है तो उसके अस्तित्वका अंत नहीं हो जाता, जिस प्रकार जब कवि अपनी किसी कवितामें अपने-आपका कोई अंश उँड़ेल देता है तो उसके अस्तित्वका अंत नहीं हो जाता, उसी प्रकार सच्चा पुरुष भी, जो कि हम हैं, किसी एक जीवनके अवसानसे मृत्युको प्राप्त नहीं होता; हमारा मर्त्य व्यक्तित्व भी एक ऐसी ही भूमिका या एक ऐसी ही सृजनकारिणी आत्माभिव्यक्ति है। इस पृथ्वीपर नाना मानव-देहोंमें उसी अंतरात्मा अथवा चैत्य पुरुषके बहुत सारे जन्म होते हैं, इस सिद्धांतको स्वीकार करें या न करें, यह तो निश्चित है कि कालमें हमारी संभूति भूतमें दूरतक पीछे जाती और भविष्यमें दूरतक आगे चलती रहती है। कारण, न तो अतिचेतन् और न अवगूढ़ ही कालके थोड़ेसे क्षणोंसे सीमित हो सकता है: उनमेंसे एक तो शाश्वत है और काल उसकी अनेक विधियोंमेंसे एक विधि ही है; दूसरेके लिये, अवगूढ़के लिये काल विविध प्रकारके अनुभवोंका अनंत क्षेत्र है और सत्ताका अस्तित्व ही यह सूचित कर देता है कि उसका अपना सारा अतीत है और समान रूपसे उसका अपना सारा भविष्य है। तदपि, यह जो अतीत है, एकमात्र जिससे हमारी वर्तमान सत्ताकी व्याख्या होती है, मनको उसके केवल इस वर्तमान दैहिक जीवन और उसकी स्मृतियोंका ही ज्ञान होता है, यदि इसे ज्ञान कहा ही जा सके। और भविष्य, एकमात्र जिससे हमारी संभूतिकी सतत धाराकी व्याख्या होती है, उसके बारेमें मन कुछ भी नहीं जानता। अपने अज्ञानानुभवमें हम इतने अधिक बद्ध हो गये हैं कि हम यह हठ भी करते हैं कि अतीतको हम उसके लुप्त अवशेषोंके द्वारा ही जान सकते हैं, कारण, वह अब अस्तित्वमें नहीं रह गया है, और भविष्यको हम जान नहीं सकते, कारण, वह अभीतक आया नहीं है। किन्तु वस्तुतः वे दोनों यहाँ, हमारे अन्दर हैं; अतीत है संवृत और सक्रिय, भविष्य है निगूढ़ आत्माकी अविच्छिन्नतामें विवर्तनोन्मुख। इस विषयका अज्ञान एक अन्य सीमाकारी और विफलकारी अज्ञान है।

परंतु, मनुष्यके आत्म-अज्ञानका अंत यहाँ भी नहीं होता; कारण, वह

अपने अतिचेतन 'आत्मा', अपने अवगूढ़ आत्मा, अपने अवचेतन आत्माके प्रति ही अज्ञ नहीं, अपितु वह जिस जगत्में अभी रह रहा है, जो जगत् उसपर और उसके द्वारा सतत क्रिया करता है और जिसपर और जिसके द्वारा उसे क्रिया करनी होती है, अपने इस जगत्के प्रति भी अज्ञ है। और, उसके अज्ञानकी छाप यह है कि वह उसे अपनेसे सर्वथा पृथक् वस्तुके रूपमें, अनात्माके रूपमें देखता है, कारण, वह उसकी वैयक्तिक प्रकृति-रचना तथा अहं-रचनासे भिन्न है। इसी भाँति, जब उसका सामना अपने अतिचेतन 'आत्मा'से होता है, तो उसके बारेमें प्रथम वह यह सोचता है कि वह उससे सर्वथा भिन्न कुछ है, एक बाह्य, यहाँतक कि विश्व-बहिर्भूत ईश्वर है; जब उसका अपने अवगूढ़ आत्मासे सामना होता है और उसे उसका बोध होता है, तो उसे प्रथम ऐसा लगता है कि वह उससे महत्तर पुरुष या उसकी चेतनासे भिन्न चेतना है और वह उसका आश्रय और पथप्रदर्शक हो सकता है। जहाँ तक जगत्की बात है, उसके एक फेन-बुलबुले, अपने प्राण और शरीरको ही वह स्व-व्यक्तित्व मानता है। परन्तु जब हम अपनी अवगूढ़ चेतनामें प्रवेश करते हैं तो पाते हैं कि उसका प्रसार अपने जगत्से समानुपातिक है; जब हम अपने अतिचेतन 'आत्मा'में प्रवेश करते हैं तो पाते हैं कि जगत् उसकी अभिव्यक्ति मात्र है और उसके अन्दर सब कुछ वह 'एक' है, उसके अन्दर सब कुछ हमारा आत्मा है। हम देखते हैं कि एक अविभाज्य जड़तत्त्व है जिसकी एक ग्रंथि ही हमारा शरीर है; एक अविभाज्य प्राण है, जिसका एक आवर्त ही हमारा प्राण है; एक अविभाज्य मन है जिसका एक ग्रहण और अभिलेखन करनेवाला, रूपायण या अनुवाद और संचार करनेवाला केन्द्र ही हमारा मन है; एक अविभाज्य 'अध्यात्म-सत्ता' है जिसका एक अंश या जिसकी एक अभिव्यक्ति ही हमारा अंतरात्मा और वैयक्तिक सत्ता हैं। यह तो अहं-भाव ही है जो विभाजनको दृढ़ करता है, और अज्ञानको, जो कि हम बहिस्तलमें हैं, अहं-भावमें ही अपनी शक्ति मिलती है जिससे वह अपने-आपके लिये निजसे रचित बंदीगृहकी दीवारोंको सुदृढ़ बनाये रखता है, यद्यपि उन दीवारोंका भेदन सर्वदा संभव है। अज्ञानके साथ हमें बाँध रखनेवाली ग्रन्थियोंमेंसे सबसे अधिक दुर्मोचन ग्रंथि अहं ही है।

जिस प्रकार, जो अल्प घड़ी हमें स्मरण रहती है, उसे छोड़ अपने शेष कालगत जीवनके प्रति हम अज्ञ हैं, वैसे ही हम देशमें भी, केवल वह जो छोटासा विस्तार है जिसके प्रति हम मनसे और संवेदन द्वारा सचेतन हैं, वहाँ जो एकमात्र शरीर गतिमान् है और उससे एकात्म जो मन और प्राण

हैं, इनके अतिरिक्त अपने शेष स्वरूपके प्रति अज्ञ हैं, और पर्यावरणको हम अनात्मा मानते हैं जिसके साथ हमें व्यवहार करना और जिसका हमें उपयोग करना है : इस तादात्म्य और इस धारणासे ही अहंके जीवनकी रचना है। एक दृष्टिके अनुसार, देश वस्तुओं या जीवोंका सह-अस्तित्व मात्र है; सांख्यमें प्रतिपादित किया गया है कि पुरुष बहु-संख्यक हैं और उनका स्वतंत्र अस्तित्व है, और तब उनका सह-अस्तित्व संभव होता है प्रकृति-शक्तिके एकत्वमें, उस प्रकृतिके एकत्वमें जो उनके अनुभवका क्षेत्र है : परन्तु यह मान लेनेपर भी, सह-अस्तित्व तो है ही और यह सह-अस्तित्व अंततया अद्वय 'सत्' में है। देश उसी एक 'सत्'का आत्म-धारणात्मक विस्तार है; वह वही अद्वय आध्यात्मिक सत् है जो अपनी चित्-शक्तिकी गतिके क्षेत्रको अपनी ही सत्तामें देश-रूपमें प्रदर्शित करता है। चूँकि वह चित्-शक्ति देह, प्राण और मनकी बहुलता में संकेन्द्रित होती है और जीवात्मा उनमेंसे एककी अध्यक्षता करता है, अतः हमारी मानसता इस एकमें वैसे ही एकाग्र होती और इसे ही अपना स्वरूप और सारे शेषको अनात्मा मानती है, जैसे कि वह सदृश अज्ञानके अपने एक ही जीवनपर केन्द्रित होती हुई, उसे भूत और भविष्यसे विच्छिन्न करती हुई, उसे ही अपनी सत्ताका सम्पूर्ण विस्तार मानती है। तो भी, उस एक 'मन'को जाने बिना हम अपनी स्वीय मानसताको नहीं जान सकते, उस एक 'प्राण'को जाने बिना हम अपनी स्वीय प्राण-सत्ताको नहीं जान सकते, उस एक 'जड़तत्त्व'को जाने बिना अपने स्वीय शरीरको नहीं जान सकते; कारण, इनका स्वरूप उनके स्वरूपसे निर्धारित होता हो, इतना ही नहीं है, वरन् उनसे इनकी क्रियाशीलताएँ प्रति क्षण प्रभावित तथा निर्धारित होती रहती हैं। परंतु यद्यपि सत्ताका यह सारा समुद्र हमें प्लावित करता हुआ हमपर बहता है, तथापि हम उसकी चेतनामें भाग नहीं बँटाते, वरन् उसके उतने ही अंशको जानते हैं जिसे हमारे मनकी सतहमें ले आया जा सकता और वहाँ सहयोजित किया जा सकता है। जगत् ही हममें जीता, हममें विचार करता, हममें रूप लेता है; परन्तु हम यह मान लेते हैं कि हम ही अपने-आपसे और अपने-आपके लिये पृथक्तः जीते, विचार करते, रूप लेते हैं। जैसे हम अपने कालातीत, अपने अतिचेतन, अपने अवगूढ़ तथा अवचेतन आत्माओंके विषयमें अज्ञ हैं, वैसे ही अपने विश्वव्यापी आत्माके विषयमें भी। हमारी रक्षा केवल इससे होती है कि हमारा अज्ञान आत्मवत्ता एवं आत्मज्ञानकी उपलब्धिके अन्तर्वेगसे भरा है और उसकी ओर अदम्य रूपसे, चिररूपसे, स्वधर्मवश ही उद्योगशील है। सर्वग्राही ज्ञान हो जानेके लिये उद्योग करता हुआ बहुमुख अज्ञान, यही मनुष्य-

रूपी मनोमय जीवकी चेतनाका परिचय है,—या, उसे दूसरी ओरसे देखें, तो समान रूपसे कह सकते हैं कि वह विषयोंका सीमित भेदात्मक बोध है जो पूर्ण चेतना एवं पूर्ण ज्ञान हो जानेका उद्योग कर रहा है।

अध्याय बारह

अज्ञानका मूल

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः......लोकाः.. ॥

तपस्से ब्रह्म घनीभूत होता है, उससे अन्न और अन्नसे प्राण, मन तथा लोकसमूह उत्पन्न होते हैं।

—मुण्डकोपनिषद्
1.1.8

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतञ्च। सत्यमभवत् यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते॥

उसने कामना की, "मैं बहु हो जाऊँ", वह तपस्में एकाग्र हुआ, उसने तपस्से जगत्की सृष्टि की; सृष्टि कर कर वह उसमें अनुप्रविष्ट हो गया; अनुप्रविष्ट हो कर वह सत् एवं त्यत् हो गया, वह व्यक्त और अव्यक्त हो गया, वह ज्ञान और अज्ञान हो गया, वह सत्य और अनृत हो गया; वह सत्य हो गया, यह जो कुछ भी है, वह सब भी हो गया। उसे "तत् सत्यम्", "वह सत्य" कहते हैं।

—तैत्तिरीयोपनिपद्
2.6

तपो ब्रह्मेति।

तपस् ही ब्रह्म है।

—तैत्तिरीयोपनिपद्
3.2.5

इतना सब निर्णीत हो जानेपर अब अज्ञानकी समस्यापर उसके व्यावहारिक उद्‌गमके दृष्टिकोणसे, उसे उद्‌भूत करनेवाली चेतनाकी प्रक्रियाके दृष्टिकोणसे निकटसे विचार करना आवश्यक है और संभव भी। एक अखंड 'अद्वय तत्त्व' सत्ताका सत्य है, हमें इसी आधारसे समस्यापर विचार करना है और देखना है कि विभिन्न संभव समाधान इस आधारपर कहाँतक लागू होते हैं। चरम एवं परम सत्स्वरूप अवश्य ही चरम एवं परम चेतना भी है, अतएव वह अज्ञानके अधीन नहीं हो सकता; तब उसमें इस बहुविध अज्ञान अथवा इस संकीर्णतः आत्म-संकोचक तथा भेदात्मक ज्ञानका उद्‌भव कैसे हुआ? यह कैसे क्रियमाण हो सका या क्रियमाण बना रह सका? अविभाज्यके अंदर कोई प्रतीयमान विभाजन भी कारगर रूपसे कैसे प्रचालित किया जाता और जारी रखा जाता है? अखंड अद्वय सत्-पुरुष अपने-आपके प्रति अज्ञ नहीं हो सकता; और चूँकि सब वस्तुएँ स्वयं वही हैं, उसीकी सत्ताके चेतन परिवर्तन, निर्धारण हैं, अतएव, यह भी नहीं हो सकता कि वह उनको, उनके सच्चे स्वरूपको, उनकी सच्ची क्रियाको न जाने। परंतु, यद्यपि हम कहते हैं कि हम 'तत्' हैं, जीवात्मा या व्यष्टि-आत्मा परमात्मा ही है, वह परम सत्स्वरूप ही है, तो भी हम आत्मा और जगत् दोनोंके प्रति अज्ञ हैं, यह निश्चित है। इसके परिणामस्वरूप यह विरोध उत्पन्न होता है कि जो अज्ञ होने में स्वरूपतया ही असमर्थ है वह फिर भी वैसा होनेमें समर्थ है और अपनी सत्ताकी किसी इच्छा या अपने स्वभावकी किसी आवश्यकता अथवा संभावना-से उसमें निमज्जित हो गया है। यदि हम यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि अज्ञानका आश्रय-स्वरूप मन मायाकी वस्तु है, असत् है, अ-ब्रह्म है, और ब्रह्म, जो निर्विशेष है, अद्वितीय सत् है, मनके अज्ञान द्वारा, जो कि भ्रमात्मक सत्ताका, असत्का अंग है, किसी भी भाँति स्पृष्ट नहीं हो सकता, तो इससे कठिनाई कम नहीं होती। यह बच निकलनेकी एक राह तो है, परंतु यदि हमने एक अखंड 'अद्वय तत्त्व' को मान लिया है तो यह राह हमारे लिये खुली नहीं है; कारण, तब यह स्पष्ट है कि जब हम ऐसा आमूल भेद करते और साथ ही उसे भ्रमात्मक कहकर रद्द भी कर देते हैं, तब हम विचार और शब्दके इंद्रजाल या मायाका व्यवहार अपने-आपसे इस तथ्यको छिपानेके लिये करते हैं कि हम ब्रह्मके एकत्वका विभाजन और निषेध कर रहे हैं; कारण, तब हमने भ्रमके लिये असमर्थ ब्रह्म और आत्म-भ्रमोत्पादिका माया, ये दो विरोधी शक्तियाँ खड़ी कर दी हैं और इन्हें किसी प्रकार एक असंभव एकत्वमें डाल दिया है। यदि ब्रह्म एकमात्र सत् है, तो माया ब्रह्मकी शक्ति,

उसकी चेतनाकी शक्ति या उसकी सत्ताका परिणाम होनेके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकती ; और यदि ब्रह्मके साथ एकीभूत जीवात्मा अपनी ही मायाके अधीन है तो उसके अंदर ब्रह्म भी मायाके अधीन है। परंतु यह अंतर्भूत अथवा मूलभूत रूपमें संभव नहीं : अधीनता तो केवल प्रकृतिकी किसी क्रियाके प्रति प्रकृतिमें किसी वस्तुकी ही वश्यता-स्वीकृति हो सकती है, और यह प्रकृति-क्रिया वस्तुओंमें अंतःस्थ 'आत्मा'की चेतन तथा स्वतंत्र क्रियाका अंग, उसकी अपनी स्वाभिव्यक्तिकारिणी सर्वज्ञताकी एक क्रीड़ा होगी। अज्ञान-को उस 'अद्वय'की गति-धाराका अंग ही होना चाहिये, उसकी चेतनाका कोई विशेष विकास ही होना चाहिये जिसे उसने जानकर अंगीकार किया हो, जिसके नीचे वह बलात् अधीन नहीं किया गया हो, अपितु जिसे वह अपने वैश्व उद्देश्यके लिये व्यवहृत करता हो।

हमारे लिये यह भी संभव नहीं कि हम यह कहकर सारी कठिनाईसे छुटकारा पा लें कि जीवात्मा और परमात्मा एक नहीं हैं, अपितु दोनोंके बीच सनातन भेद है, उनमें एक तो अज्ञानके अधीन है, और दूसरा सत्ता एवं चेतनामें पूर्ण है, अतएव ज्ञानमें भी पूर्ण है; कारण, इससे इस परमानुभूति और समग्रानुभूतिका खंडन होता है कि प्रकृतिकी क्रियामें जो कोई भी भेद क्यों न हो, समस्त सत्ता एक ही है। बल्कि, विभिन्नताके मध्य एकत्वका तथ्य विश्वके सकल निर्माणमें बहुत ही स्पष्ट और व्यापक है और हमारे लिये उसे स्वीकार करना और इस कथनसे संतुष्ट होना अधिक आसान है कि हम एक हैं, परंतु भिन्न भी ; मूल सत्तामें एक, अतः मूल प्रकृतिमें एक, परंतु आत्मा-रूपणमें भिन्न, अतः सक्रिय प्रकृतिमें भिन्न। किंतु ऐसा कह कर हम वस्तुस्थितिका वर्णन मात्र कर रहे हैं, उस वस्तुस्थितिने जो कठिनाई उपस्थित की है उसे अनसुलझी छोड़ रहे हैं। वह कठिनाई यह है कि जो अपनी सत्ताके मूल तत्त्वमें 'निर्विशेष'के एकत्वकी वस्तु है और, फलतः, जिसकी चेतना 'निर्विशेष'के साथ और सबके साथ एक होनी चाहिये, वही अपने क्रियात्मक स्वरूप और अपनी क्रियाशीलतामें विभक्त और अज्ञानाधीन कैसे हो जाता है ? यह भी ध्यानमें रखना है कि यह कथन संपूर्णतया सत्य भी नहीं होगा ; कारण, जीवात्माके लिये उस 'एक' के साथ केवल निष्क्रिय सारभूत एकत्वमें नहीं, अपितु उसके सक्रिय स्वरूपके साथ भी एकत्वमें प्रविष्ट होना संभव है। या, हम यह कहते हुए कठिनाईसे बच सकते हैं कि विश्वसत्ता और उसकी समस्याओंसे परे या ऊपर वह 'अज्ञेय' है जो हमारे अनुभवसे परे या ऊपर है, और मायाकी क्रिया तो जगत्का आरंभ होनेसे पूर्व ही उस अज्ञेयमें आरंभ हो चुकी थी, अतः स्वयं मायाका कारण

और मूल भी अज्ञेय तथा अव्याख्येय हैं। यह जड़वस्तुमूलक या भौतिकवादी 'अज्ञेयवाद'का विरोधी एक प्रकारका भावमूलक या आध्यात्मिक अज्ञेयवाद होगा। परंतु समस्त 'अज्ञेयवाद'पर यह आपत्ति की जा सकती है कि वह संभवतः इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि हम जानना नहीं चाहते हों, चेतनाके प्रतीयमान और वर्तमान अनुबंध या संकुचनको अंगीकार करनेको अत्यधिक प्रस्तुत हों, हममें अशक्तताकी भावना हो जो मनकी आशु-सीमाओंके लिये तो स्वीकार की जा सकती है परंतु परमात्माके साथ एकीभूत जीवात्माके लिये नहीं। परमात्मा अपने-आपको और अज्ञानके कारणको अवश्यमेव जानता है, अतएव कोई कारण नहीं रह जाता कि जीवात्मा अपने लिये किसी भी ज्ञान-प्राप्तिको अशक्य माने या अखंड परमात्माको और अपने निजके वर्तमान अज्ञानके मूल कारणको जाननेमें अपने सामर्थ्यको नहीं माने।

यदि 'अज्ञेय' है भी, तो हो सकता है कि वह हमारी सत्, चित् एवं आनंदकी सर्वोच्च धारणाओंसे अतीत सच्चिदानन्दकी कोई परमावस्था हो। तैत्तिरीय उपनिषद्ने जिस असत्के बारेमें कहा है कि आरंभमें एकमात्र असत् था और उसीसे सत्की उत्पत्ति हुई, उससे स्पष्टतया यही आशय था। यह संभावना भी है कि बुद्धके निर्वाणका अतंरतम अर्थ यही हो: कारण, निर्वाणसे हमारी वर्तमान अवस्थाका विलय किसी ऐसी उच्चतम स्थितिमें पहुँचना हो सकता है जो हमारे आत्मा-संबंधी सकल भाव या अनुभवसे भी परे हो, यहाँ तक कि हमारे अस्ति-बोधसे भी एक अनिर्वचनीय मुक्ति हो। या, यह उपनिषदका परम और निरपेक्ष आनंद हो सकता है जो वचनसे अतीत और समझसे परे है, क्योंकि हम चेतना तथा सत्ताकी जो कोई भी कल्पना करें, उसका जो कोई भी वर्णन करें, उस सबसे वह अतीत है। हम अज्ञेयको इसी अर्थमें स्वीकार कर चुके हैं; कारण, इस स्वीकृतिसे हम इतना ही बँधते हैं कि हमने 'अनंत'के आरोहणकी सीमा अंकित करनेसे इनकार किया है। या, अज्ञेय यदि ऐसा नहीं है, वह यदि सत्से सर्वथा भिन्न कुछ है, निरुपाधिक सत्तासे भी भिन्न है, तो वह शून्यवादी विचारकका शुद्ध 'असत' ही हो सकता है।

परंतु शुद्ध 'शून्य'मेंसे तो कुछ भी नहीं आ सकता, जो प्रतीयमान मात्र है वह भी नहीं, कोई भ्रम भी नहीं। और यदि शुद्ध 'असत्' यह शून्य नहीं है, तो वह नित्य असंसिद्ध रहनेवाली एक निर्विशेष 'शक्यता' ही हो सकता है, 'अनंत'का एक पहेलिकामय शून्य ही हो सकता है, जिसमेंसे आपेक्षिक शक्यताएँ किसी भी समय उन्मज्जित हो सकती हैं, परंतु दृश्य

जगतमें उन्मज्जित होनेमें उनमेंसे कुछ ही वस्तुतः सफल होती हैं। इस 'असत्'मेंसे कोई भी वस्तु उद्गत हो सकती है, और कौन या क्यों उद्गत होगी, यह कहनेकी कोई संभावना नहीं होती ; वस्तुतः यह शुद्ध विशृंखलताका बीज है जिसमेंसे किसी शुभ—या वल्कि अशुभ—आकस्मिक संयोगसे एक विश्वकी व्यवस्था प्रकट हो गयी है। या, हम यह कह सकते हैं कि विश्वकी कोई यथार्थ व्यवस्था नहीं ; हम जिसे विश्वकी व्यवस्था समझते हैं वह इंद्रिय तथा प्राणका दृढ़ संस्कार और मनकी कपोल-कल्पना ही है, विश्वका कोई अंतिम कारण खोजना व्यर्थ है। पूर्ण विशृंखलतामेंसे सब प्रकारके विरोधाभास और अनर्गलताकी उत्पत्ति हो सकती है, और जगत् ऐसा ही विरोधाभास है, विपरीतों और पहेलियोंका एक रहस्यमय संकलन-फल है या, जैसा कुछ लोगोंने अनुभव किया या सोचा है, वह वस्तुतः एक बड़ी भूल, एक विकट, एक अंतहीन प्रलाप हो सकता है। ऐसे विश्वका मूल कोई परमा चेतना एवं परम ज्ञान नहीं, अपितु परमा निश्चेतना तथा परम अज्ञान हो सकते हैं। ऐसे विश्वमें कोई भी चीज सच हो सकती है : 'कुछ भी नहीं'से किसी भी चीजकी उत्पत्ति हो गयी हो सकती है ; विचारकर्त्ता मन विचारशून्य शक्ति या निश्चेतन जड़का कोई रोगमात्र हो सकता है ; वह आधिपत्यशाली व्यवस्था, जिसे हम वस्तुओंके सत्यके अनुरूप विश्व-सत्ता मानते हैं, एक परमा स्व-शासिका चिन्मयी 'इच्छा'का आत्म-विकास न होकर, वस्तुतः एक चिर आत्म-अज्ञानका यांत्रिक विधान हो सकती है ; चिर भूति एक शाश्वत 'शून्य'का सतत प्रपंच हो सकती है। विश्वके मूलके विषयमें सारे मत समान रूपसे बलशाली हो जाते हैं, क्योंकि सब-के-सब समान रूपसे प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक हैं ; कारण, जहाँ संभूतिके चक्रोंका कोई निश्चित आरंभ-बिन्दु नहीं, कोई निर्देश्य लक्ष्य नहीं, वहाँ सब-के-सब समान रूपसे संभव हो जाते हैं। मानव-मानस इन सारे मतोंको मानता रहा है और हम उन्हें भूल मानें तो भी कुल मिलाकर लाभ रहा है ; कारण, मनको भूलोंकी अनुमति इस लिये दी जाती है कि भूलें, नकारात्मक रूपमें विरोधी भूलोंका विनाश करती हुई, सकारात्मक रूपमें किसी नवीन रचनात्मक प्राक्कल्पनामें किसी तत्त्वको प्रस्तुत करती हुई, सत्यकी ओर द्वार खोलती हैं। परंतु इस दृष्टिको अत्यधिक दूरीतक खींच ले जानेसे दर्शन-शास्त्रके सारे लक्ष्यका खंडन होने लगता है ; कारण, दर्शनशास्त्र ज्ञानकी खोज करता है, न कि विशृंखलताकी, और वह तबतक पूर्ति नहीं पा सकता जबतक कि अज्ञेय ही ज्ञानका अंतिम शब्द रहता हो, अपितु केवल तब संसिद्ध हो सकता है जब कि ज्ञानका अंतिम शब्द,

उपनिषदोंकी भाषामें, ऐसा 'कुछ' हो जिसे जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जाता है, यस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति। 'अज्ञेय'—जो विशुद्धतया अज्ञेय नहीं, अपितु मनके ज्ञानसे परे है—उसी 'कुछ'की सत्ताकी प्रगाढ़ताकी कोई उच्चतर कोटि ही, मनोमय जीवोंके लिये प्राप्य उच्चतम शिखरसे परेकी कोटि ही हो सकता है, और यदि वह उस रूपमें ज्ञात हो जाय जैसा उसे अपने-आपको ज्ञात होना ही चाहिये तो यह आविष्कार, हमें हमारे परम संभव ज्ञानसे जो कुछ मिला है, उसे संपूर्णतया विनष्ट नहीं करेगा, वरन् आत्म-दर्शन तथा आत्मानुभवसे वह जो कुछ प्राप्त कर चुका है उसकी उच्चतर पूर्ति एवं विशालतर सत्यकी ओर उसे ले जायगा। अतः यह 'कुछ' ही, एक 'निर्विशेष' ही, जिसे इस भाँति जाना जा सकता है कि उसके अंदर और उसके द्वारा सारे सत्य खड़े रह सकते और वहाँ अपनी संगति प्राप्त कर सकते हैं, वह है जिसे हमें अपने आरंभ-विंदुके रूपमें जान लेना और अपने विचारने और देखनेके सतत आधार-रूपमें रखना होगा और *समस्याका समाधान उसीके द्वारा पाना होगा ; कारण,* विश्वके विरोधाभासोंकी कुंजी एकमात्र 'तन्'में हो सकती है।

यह 'कुछ', जैसा कि वेदांत कहता रहा है और हम भी कहते रहे हैं, अपने व्यक्त स्वरूपमें सच्चिदानंद है, परम सत्ता, चेतना एवं आनंदकी त्रिपुटी है। हमें इसी आरंभिक सत्यसे आरंभ कर समस्याकी ओर बढ़ना होगा, और तब यह स्पष्ट है कि उसका समाधान चेतनाकी ऐसी क्रियामें प्राप्त होगा जिसमें वह ज्ञान-रूपमें अभिव्यक्त होती और, फिर भी, उस ज्ञानको इस प्रकार सीमित करती है कि अज्ञानके व्यापारकी सृष्टि हो जाती है,—और चूँकि अज्ञान चेतनाकी शक्तिकी सचल क्रियाका व्यापार है, उस क्रियाका स्वरूपभूत तथ्य नहीं, अपितु उसकी सृष्टि, उसका परिणाम है, अतएव चेतनाके इसी शक्ति-रूपपर विचार करना फलदायक होगा। पराचेतना स्वभावतः पराशक्ति है, चित्की प्रकृति ही शक्ति है। विश्वकी सृष्टि की है प्रभावशील या सृजनशील संसिद्धिकर सामर्थ्यमें ज्ञान या कर्मके लिये संकेंद्रित और ऊर्जायित शक्तिने, उस चिन्मय पुरुषकी शक्तिने जो आत्म-संकेंद्रित है और मानों आत्म-तपके ताप द्वारा,[1] अपने अंतरमें जो कुछ है

1. 'तपस्' का शाब्दिक अर्थ है ताप, तत्पश्चात् है हर प्रकारकी क्रियाशक्ति, तपस्या, अपने-आपपर या अपने विषयपर क्रिया करती चित्-शक्तिका तपोबल। प्राचीन ऋषियोंने रूपकमयी भाषामें कहा है कि तपस्से जगत् अंडेके रूपमें सृष्ट हुआ, फिर तपस्से ही, चित्-शक्तिके सेनेकी उष्णतासे ही, वह अंडा फूट पड़ा और अंडेसे निकलते पक्षीकी भाँति पुरुषका, प्रकृति-स्थ पुरुषका निर्गमन हुआ। यह ध्यान

उस सबके, या हमारे मानसकी सुविधाकी भाषामें कहें तो अपने सारे सत्यों और शक्यताओंके बीज और विकासको प्रकट कर रहा है। हम यदि स्वयं अपनी चेतनाकी परीक्षा करें तो देखेंगे कि उसकी ऊर्जाका अपने विषयपर प्रयुक्त होनेका यह सामर्थ्य ही वस्तुतः उसकी सबसे अधिक सुनिश्चित सक्रिय शक्ति है; उसीके द्वारा वह अपना सारा ज्ञान प्राप्त करती, अपना सारा कर्म और सृजन करती है। परंतु हमारे लिये दो विषय हैं जिनपर अंदरकी क्रियाशक्ति कार्य कर सकती है, स्वयं हम, आंतरिक जगत्, और अन्य, वे चाहे जीव हों या पदार्थ, हमारे चारों ओरका बाह्य जगत्। अपने प्रभावी और क्रियाशील परिणामको साथ लिये यह विभेद जिस रूपमें हमारे लिये प्रयुक्त होता है, उस रूपमें वह सच्चिदानंदके लिये लागू नहीं होता; कारण, सब कुछ स्वयं सच्चिदानंद है और उसके अंदर है, और जैसा विभाजन हम अपने मनकी सीमाओंसे निर्मित करते हैं वैसा वहाँ नहीं होता। द्वितीयतः, हममें, हमारी सत्ताकी शक्तिका कोई अंश ही हमारी स्वैच्छिक क्रियाके साथ, मानसिक या अन्य क्रियाशीलतामें व्यस्त हमारी इच्छा-शक्तिके साथ एकीभूत होता है, बाकी भाग हमारी बाह्य मानस-संवित्‌के लिये अपनी क्रियामें अ-स्वैच्छिक है या अवचेतन या अतिचेतन है और इस विभाजनसे भी महत्वपूर्ण व्यावहारिक परिणाम बड़ी संख्यामें उद्‌गत होते हैं: परंतु सच्चिदानंदके लिये यह विभाजन भी और इसके परिणाम भी लागू नहीं होते, क्योंकि सब कुछ उसका एक ही अविभाज्य आत्म-स्वरूप है और सकल कर्म तथा परिणाम उसकी एक ही अविभाज्य इच्छाकी, उसकी चित्-शक्तिके सक्रिय चालनकी गतिधाराएँ हैं। तपस् जैसे हमारी चेतनाकी क्रियाका स्वभाव है, वैसे ही सच्चिदानंदकी चेतनाकी क्रियाका भी, परंतु यह एक अविभाज्य सत्तामें एक अखंड चेतनाका अखंड तपस् है।

किंतु यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। चूँकि 'सत्'में और 'प्रकृति'में क्रियाशीलता है और निष्क्रियता भी, सचल क्रिया है और निश्चल स्थिति

देनेकी बात है कि अंगरेजी पुस्तकोंमें 'तपस्या' शब्दका अनुवाद सामान्यतया Penance 'पिनेंस' किया जाता है जो सर्वथा भ्रमोत्पादक है—भारतीय तपस्वियोंकी तपश्चर्यामें 'पिनेंस' (प्रायश्चितरूपी आत्मपीड़न) का भाव विरला ही प्रवेश करता था। यहाँतक कि अत्यंत कृच्छ्र और कष्टदायिनी तपस्याओंका भी मूलतत्त्व शरीरका उत्पीड़न नहीं था; बल्कि लक्ष्य था चेतनापर रहनेवाले शारीरिक प्रकृतिके अधिकारका अतिक्रमण अथवा किसी आध्यात्मिक या अन्य लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये चेतना और इच्छा-शक्तिका असामान्य ऊर्जन, तपस्।

भी, अतः जिस स्थितिमें ऊर्जाकी कोई क्रीड़ा नहीं, जहाँ सब कुछ अचल है, उसके संबंधमें इस शक्ति, इस सामर्थ्य और इसके संकेंद्रणका स्थान और अभिनेय भाग क्या है? स्वयं अपने अंदर, हम अपने तपस्को, अपनी चित्-शक्तिको, आदतन्, सक्रिय चेतनासे, क्रीड़ारत और आंतरिक अथवा बाह्य क्रिया और गतिरत ऊर्जासे संयुक्त करते हैं। हमारे अंदर जो निष्क्रिय है, वह कोई क्रिया उत्पन्न नहीं करता अथवा केवल कोई अ-स्वैच्छिक या यांत्रिक क्रिया उत्पन्न करता है, और उसे हम अपनी इच्छा अथवा सचेतन शक्तिसे संयुक्त नहीं करते ; तो भी, चूंकि वहाँ भी क्रियाकी या स्वचलित क्रियाशीलताके स्फुरणकी संभावना है, अतः उसके अंदर, कम-से-कम, कोई निष्क्रिय रूपसे प्रत्युत्तर देनेवाली या स्वचलित चेतन शक्ति होनी ही चाहियें ; या उसके अंदर कोई निगूढ़ रूपसे प्रवर्तक अथवा अ-प्रवर्तक और प्रतीप तपस् है। यह भी हो सकता है कि इस अनैच्छिक क्रियाशीलताके पीछे हमारी सत्ताके अंदर कोई विशालतर सचेतन शक्ति, सामर्थ्य अथवा इच्छा है, जो हमारे लिये अज्ञात हो,—यदि कोई इच्छा नहीं, तो कम-से-कम, किसी प्रकारकी शक्ति है जो स्वयं ही क्रियाका प्रवर्तन करती या विश्व-ऊर्जाके संपर्कों, सुझावों, उद्दीपनोंको उत्तर देती हो। हम जानते हैं कि प्रकृतिमें भी जो वस्तुएँ स्थाणु, जड़ या निष्क्रिय हैं, वे फिर भी किसी गूढ़ तथा अनवरत गति द्वारा अपनी ऊर्जामें बनी रहती हैं, एक क्रियारत ऊर्जा उनकी प्रतीयमान अचलताको अवलंब देती रहती है। सुतरां, यहाँ भी, सब कुछ शक्तिकी विद्यमानताके कारण, संकेंद्रणमें उसके बलकी क्रियाके कारण, उसके तपस्के कारण है। परंतु इससे परे, स्थिति एवं क्रियाके इस सापेक्ष रूपसे परे, हम पाते हैं कि हममें उसतक पहुँचनेका सामर्थ्य है जो हमें हमारी चेतनाकी पूर्ण निष्क्रियता या अचलता प्रतीत होती है जिसमें हम अपनी समस्त मनोमय तथा शारीरिक क्रियाशीलतासे विराम पा लेते हैं। अतः, ऐसा लगता है कि एक सक्रिय चेतना है जिसमें चेतना ऐसी ऊर्जाकी भाँति क्रिया करती है जो ज्ञान और क्रियाशीलताको अपने-आपमेंसे उत्क्षिप्त करती है और फलतः उस चेतनाका स्वभाव है तपस्, और एक निष्क्रिय चेतना है, जिसमें चेतना ऊर्जाकी भाँति क्रिया नहीं करती, अपितु स्थितिवत् ही रहती है और फलतः उसका स्वभाव है तपस्का, क्रियारत शक्तिका अभाव। क्या इस अवस्थामें तपस्का प्रतीयमान अभाव सचमुचमें है? या, क्या सच्चिदानंदमें ऐसा कोई सार्थक विभेद है? कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा है। ब्रह्मकी द्विविध स्थिति, शांत-निष्क्रिय और सर्जनशील-सक्रिय, निस्संदेह भारतीय दर्शन-शास्त्रके

सर्वाधिक महत्वपूर्ण और फलदायी विभेदोंमेंसे है; इसके अतिरिक्त यह आध्यात्मिक अनुभवका भी सत्य है।

यहां हमें पहले यह ध्यानमें ले लेना चाहिये कि अपने अंदर इस निष्क्रियता द्वारा हम विशिष्ट और खंडित ज्ञानसे चल एक महत्तर, अखंड और एकत्वविधायक ज्ञानपर पहुँचते हैं; दूसरे यह कि जो परे है, उसकी ओर यदि हम निष्क्रियताकी अवस्थामें अपने-आपको संपूर्णतया उन्मीलित करते हैं, तो हमें हमपर क्रिया करती एक ऐसी शक्तिकी संवित् हो सकती है जिसे हम सीमित अहमात्मक भावमें अपनी निजकी शक्ति नहीं, अपितु वैश्व अथवा विश्वातीत अनुभव करते हैं, और यह संवित् हो सकती है कि यह शक्ति ज्ञानकी एक महत्तर क्रीड़ा, ऊर्जा, कर्म तथा परिणामकी एक महत्तर क्रीड़ाके लिये हमारे द्वारा कार्य करती है, और उसका भी हमें यही अनुभव होता है कि वह हमारी अपनी निजकी नहीं, अपितु भगवान्‌की, सच्चिदानंदकी है, हम तो उसका क्षेत्र अथवा माध्यम मात्र हैं। यह परिणाम दोनों दशाओंमें होता है, क्योंकि हमारी वैयक्तिक चेतना अज्ञानपूर्ण सीमित क्रियासे विरत और परमावस्था या परमा क्रियाकी ओर उन्मीलित होती है। बादमें कहे गये उन्मीलनमें, जो अधिक क्रियात्मक है, ज्ञान तथा कर्मकी शक्ति और क्रीड़ा है, और यह तपस् है; परंतु पहले कहे गये उन्मीलनमें भी, निष्क्रिय-स्थितिकी चेतनामें भी, स्पष्टतया, ज्ञानके लिये एक शक्ति और ज्ञानका एक संकेंद्रण, या कम-से-कम, अचलतामें चेतनाका एक संकेंद्रण और एक आत्मोपलब्धि है, और वह भी तपस् है। अतएव, ऐसा प्रतीत होगा कि तपस्, चेतनाके बलका संकेंद्रण, ब्रह्मकी निष्क्रिय तथा सक्रिय उभयविध चेतनाका धर्म है, और हमारी अपनी निष्क्रियतामें भी एक अदृष्ट, अवलंबदायी या विनियोजक तपस्‌का गुण-धर्म है। चेतनाकी ऊर्जाका संकेंद्रण ही, जबतक वह कायम रहता है, समस्त सृजन, समस्त कर्म और क्रियाबलका भर्ता है; परंतु चेतनाके बलका संकेंद्रण ही समस्त स्थितिको, अचलसे अचल निष्क्रियताको भी, अनंत निस्तब्धता या शाश्वत नीरवताको भी अंदरसे आधार देता या अनुप्राणित करता है।

परंतु फिर भी यह कहा जा सकता है कि अंततः ये दो भिन्न वस्तुएं हैं और यह बात इनके विपरीत परिणामोंकी भिन्नतासे प्रकट हो जाती है; कारण, ब्रह्मकी निष्क्रियताका आश्रय लेनेसे इस विश्व-जीवनका अंत हो जाता और सक्रिय ब्रह्मका आश्रय लेनेसे यह चलता रहता है। परंतु यहां भी, हमें यह देख लेना चाहिये, यह विभेद व्यष्टि-जीवके एक स्थितिसे अन्य स्थितिकी ओर, जगत्‌से ब्रह्म-चेतनाकी स्थितिसे, जहां वह विश्व-क्रियाके

लिये आधार है, जगत्से परे ब्रह्म-चेतनाकी उस स्थितिकी ओर गतिमान् होनेके कारण ही उद्भूत होता है जहाँ वह चेतना ऊर्जाको विश्व-क्रियामें प्रवृत्त होनेसे रोके रखनेकी शक्ति है। इसके अतिरिक्त, यदि सत्ताकी शक्तिका जगत्-कर्ममें वितरण तपस्की ऊर्जा द्वारा ही संपन्न होता है, तो सत्ताकी उस शक्तिका जगत्-कर्मसे रोके रखे जाना भी, समान रूपसे, तपस्की ऊर्जा द्वारा ही संपन्न होता है। ब्रह्मकी निष्क्रिय चेतना और ब्रह्मकी सक्रिय चेतना दो भिन्न, विपरीत और विसंगत वस्तुएँ नहीं, अपितु एक ही चेतना, एक ही ऊर्जा हैं ; एक छोरपर आत्म-संहरणकी अवस्थामें, दूसरेपर आत्म-प्रदान और आत्म-विस्तरणकी अवस्थामें,—जैसे किसी जलागारकी निश्चलता और उससे उद्गत होते स्रोतोंकी प्रवाह-गति। वस्तुतः, प्रत्येक क्रियाशीलताके पीछे सत्ताकी एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति होती है और होनी ही चाहिये जिसमेंसे क्रियाशीलता उद्गत होती है, जिसके द्वारा क्रियाशीलता धारित है और जो, हम अंतमें यहाँतक देखते हैं, क्रिया-शीलताके साथ संपूर्णतः एकात्म हुए विना, कम-से-कम इस अर्थमें एकात्म हुए विना कि वह अपने-आपको उसमें संपूर्णतः उँड़ेल दे और उससे अविभेद्य हो जाय, उसे पीछेसे शासित भी करती है। वस्तुतः ऐसा आत्म-निःशेषकारी एकात्म्य असंभव है ; कारण, कोई भी क्रिया, वह चाहे कितनी ही विशाल क्यों न हो, जिस आद्या शक्तिसे उद्गत होती है उसे निःशेष नहीं करती, ऐसा नहीं हो सकता कि उस शक्तिका कोई भी अंश पीछे आरक्षित न रह जाय। हम जब अपनी स्वीय सचेतन सत्तामें वापस आते हैं, हम जब अपनी स्वीय क्रियासे पीछे हटकर खड़े होते और देखते हैं कि वह किस भाँति होती है, तब हमें यह पता चलता है कि हर विशिष्ट कार्यके पीछे या क्रियाओंकी हर राशिके पीछे हमारी समूची सत्ता खड़ी होती है, अपनी अखंड स्वरूप-स्थितिके शेष भागमें निष्क्रिय और अपने सीमित ऊर्जा-वितरणमें सक्रिय ; परंतु वह निष्क्रियता कोई असमर्थ तामसिकता नहीं, अपितु आत्म-संहृत ऊर्जाकी स्थिति है। अनंतकी चित्-सत्ताके लिये सदृश सत्य ही और भी संपूर्णतासे लागू होगा ; उसकी शक्ति जैसे सृजनमें, वैसे ही स्थितिकी नीरवतामें भी अनंत होगी ही।

अभी यह पूछना अनावश्यक है कि जिस निष्क्रियतामेंसे सब कुछ उन्मज्जित होता है क्या वह निरपेक्ष है, या जिस दृश्यमान क्रियाकी ओरसे वह निजको पीछे खींच रखती है उसके प्रसंगमें सापेक्ष है। यह ध्यानमें ले लेना पर्याप्त है कि यद्यपि हम यह भेद अपने मनकी सुविधाके लिये करते हैं, ऐसा नहीं है कि एक निष्क्रिय ब्रह्म है और एक सक्रिय ब्रह्म,

अपितु एक ही ब्रह्म है, एक ही सत् है जो, हम जिसे निष्क्रियता कहते हैं उसमें अपने तपस्को संहृत रखता और हम जिसे उसकी क्रियाशीलता कहते हैं उसमें अपने-आपको प्रदान करता है। कर्मके प्रयोजनोंके लिये, ये सृष्टिके लिये आवश्यक एक ही सत्ताके दो छोर या द्विविध शक्ति हैं; क्रिया-स्पंदन संहरण-आगारमेंसे उत्सारित हो अपनी कुंडलावर्ती यात्रामें चलता है और संभवतः, जो ऊर्जाएँ उसमेंसे ली थीं, उन्हें फिर एक नवीन कुंडलावर्तमें उत्सारित करने उस आगारमें वापस कर देता है। ब्रह्मकी निष्क्रियता है ब्रह्मकी सत्ताका तपस् या संकेंद्रण, जब वह अपनी निश्चल ऊर्जाके आत्मलीन संकेंद्रणमें अपने-आपपर निविष्ट है; सक्रियता है उसकी सत्ताका तपस् जो कि, उसने जिसे धारण कर रखा था, उसे उस तपमेंसे सचलतामें उन्मुक्त करता और क्रियाकी कोटि-कोटि तरंगोंमें यात्रा करता है, और यह यात्रा करते हुए भी प्रत्येकपर निविष्ट रहता और उनमें सत्ताके सत्यों और शक्यताओंको उन्मुक्त करता है। शक्तिका संकेंद्रण वहां भी है, परंतु बहुमुख संकेंद्रण है जो हमें विसरण प्रतीत होता है। परंतु यह वस्तुतः विसरण नहीं, अपितु प्रविस्तार है; ब्रह्म अपने-आपमेंसे अपनी ऊर्जाको किसी अवास्तव बाह्य शून्यमें खो जानेके लिये उत्क्षिप्त नहीं करता, अपितु उसे अपनी ही सत्तामें क्रियारत रखता है, उसके संपरिवर्तन और रूपांतरणकी सारी अनवरत प्रक्रियामें भी, उसे पूरे-के-पूरे और अह्रसित रूपमें संरक्षित रखता है। निष्क्रियता है शक्तिका, तपस्का महा संरक्षण जो गतिधाराके बहुविध प्रवर्तन और रूपों तथा घटनाओंमें रूपांतरणका आश्रय है; क्रियाशीलता है गतिधारा और रूपांतरणके मध्य शक्तिका, तपस्का संरक्षण। जैसे हममें, वैसे ही ब्रह्ममें भी दोनों एक दूसरेके लिये सापेक्ष हैं, दोनोंका युगपत् सह-अस्तित्व है, ये अद्वय सत्की क्रियामें दो मेरु ही हैं।

अतः, 'सद्वस्तु' न तो अचल 'सत्ता'की नित्य निष्क्रियता है, न गति धारामें 'सत्ता'की नित्य क्रियाशीलता ही; यह काल-क्षेत्रमें इन दोनों वस्तुओंका बारी-बारीसे आना भी नहीं। इन दोनोंमेंसे कोई भी सत्के तत्त्वका एकमात्र पूर्ण सत्य नहीं; उनका विरोध ब्रह्मकी चेतनाके क्रियाकलापके संबंधमें ही ब्रह्मके विषयमें सत्य है। जब हम ब्रह्मको अपनी सत्ताकी चिन्मयी ऊर्जाको विश्वक्रियामें प्रसारित करते देखते हैं, तो उसे चल और सक्रिय ब्रह्म, सगुण या क्षर ब्रह्म कहते हैं; जब हम साथ ही साथ उसे अपनी सत्ताकी ऊर्जाको धारण करनेमें स्थिर रहते देखते हैं, तब उसे अचल और निष्क्रिय ब्रह्म, निर्गुण या अक्षर ब्रह्म कहते हैं। ऐसा न हो

तो इन शब्दोंका कोई अर्थ नहीं होगा; कारण, सद्‌वस्तु एक ही है, कोई दो स्वतंत्र सद्‌वस्तुएँ नहीं, एक अचल, दूसरी सचल। प्रवृत्ति और निवृत्ति, जीवका कर्ममें विवर्तन, और उसका निष्क्रियतामें निवर्तन, इन्हें सामान्य दृष्टिसे देखते हुए यह अनुमान किया जाता है कि कर्ममें व्यष्टि-जीव अज्ञानी हो जाता है, उसे अपनी निष्क्रिय सत्ताका ज्ञान नहीं होता जो उसका सच्चा स्वरूप मानी जाती है, और निष्क्रियतामें वह सक्रिय सत्ताके प्रति अंतिम रूपसे अज्ञ हो जाता है जो कि उसका मिथ्या या केवल प्रतीयमान स्वरूप मानी जाती है। परंतु ऐसा माननेका कारण यह है कि ये दोनों गतियाँ हमारे सामने बारी-बारीसे आती हैं, जैसे हमारी निद्रित और जागृत अवस्थाओंमें होता है; जब हम जागते हैं तो अपनी निद्रावस्थाके प्रति और सोते है तो अपनी जागृत अवस्थाके प्रति अज्ञ हो जाते हैं। परंतु ऐसा इसलिए होता है कि हमारी सत्ताका कोई अंग ही इस बारी-बारीसे आती गतिधाराको संपन्न करता है और हम अपने-आपको केवल वही आंशिक सत्ता मान लेनेकी भूल करते हैं; परंतु एक गभीरतर अंतःकरणिक अनुभव द्वारा हम यह आविष्कार कर सकते हैं कि हमारी आंशिक और बाह्य चेतनाके लिये जो अवस्था अचेतनताकी है उसमें भी जो घटित होता है, उस सबकी भी पूर्ण संवित् हमारे अंदर विशालतर सत्ताको होती है; वह न तो निद्रासे सीमित है, और न जागरणसे। यही बात ब्रह्मके साथ हमारे संबंधोंकी है जो हमारी सच्ची एवं संपूर्ण सत्ता है। अज्ञानमें हम केवल किसी आंशिक चेतनासे एकीभूत हो जाते हैं जिसका स्वरूप मनोमय अथवा आध्यात्मिक-मनोमय होता है; वह आंशिक चेतना गतिधाराके कारण अपने स्थाणु आत्माके प्रति अज्ञ हो जाती है और, इसी भागमें, जब गतिधारा हमसे खो जाती है तो साथ ही निष्क्रियतामें प्रविष्ट हो जानेके परिणाम-स्वरूप अपने कर्त्तृ-आत्मापरसे हमारा हाथ छूट जाता है। संपूर्ण निष्क्रियताके द्वारा मन निद्रित हो जाता या समाधि में प्रविष्ट हो जाता या मुक्त हो कर एक आध्यात्मिक नीरवतामें चला जाता है; परंतु यह यद्यपि अपने कर्मके प्रवाहमें अवस्थित आंशिक सत्ताके अज्ञानसे मुक्ति है, यह मुक्ति सक्रिय 'सद्‌वस्तु' के संबंधमें ज्योतिर्मय निर्ज्ञान अंगीकार करके अथवा उससे ज्योतिर्मय पार्थक्य संपादित करके ही अर्जित होती है: आध्यात्मिक-मनोमय सत्ता अस्तित्वकी नीरव सारभूत स्थितिमें आत्मलीन रहती और या तो सक्रिय चेतनाके लिये अक्षम या समस्त क्रियाशीलतासे विरक्त हो जाती है; निश्चल-नीरवताकी यह मुक्ति जीवकी 'निर्विशेष'की ओर यात्रामें आनेवाली एक भूमिका है। परंतु हमारी सच्ची और संपूर्ण सत्ताकी एक महत्तर

संपूर्ति है ; वहाँ पुरुषके सक्रिय और निष्क्रिय दोनों पक्ष मुक्ति एवं पूर्ति पाते हैं 'तत्'में जो दोनोंका भर्ता है और कर्म या निश्चल-नीरवता किसीसे भी सीमित नहीं।

वस्तुतः, ब्रह्म कोई वारी-वारीसे निष्क्रियतामेंसे क्रियाशीलतामें और फिर अपनी सत्ताकी सक्रिय शक्तिका विराम कर वापस निष्क्रियतामें नहीं जाता। यदि अखंड 'सद्वस्तु'के संबंधमें यह बात वस्तुतः सत्य हो तो जब तक विश्वका अस्तित्व बना रहता है। तब तक निष्क्रिय ब्रह्मका अस्तित्व नहीं होगा, सब कुछ क्रिया ही होगा, और यदि हमारे विश्वका विलय हो जाय तो कोई सक्रिय ब्रह्म नहीं रह जायगा, सब कुछ विराम और निश्चल निस्तब्धता हो जायगा। परंतु ऐसा है नहीं ; कारण, हमें सारी विश्व-क्रियाशीलता और उसकी सारी बहुगुणक संकेंद्रित गतिधारामें अनुप्रविष्ट होती और उनको अवलंब देती एक शाश्वत निष्क्रियता तथा आत्म-संकेंद्रित प्रशांतिका बोध हो सकता है,—और ऐसा हो नहीं सकता था, यदि यह न हो कि जब तक कोई भी क्रियाशीलता चालू रहे तब तक सान्द्रित निष्क्रियता उसे अवलंब देती हो और उसके अंदर रहती हो। अखंड ब्रह्म निष्क्रियता और सक्रियताको युगपत् धारण किये रहता है, न कि निद्रामें से निकलकर जागृत अवस्थामें जानेकी भाँति एक स्थितिसे निकलकर दूसरीमें वारी-वारीसे जाता है: यह तो हमारे अंदर कोई आंशिक क्रियाशीलता ही है जो वैसा करती लगती है, और उस आंशिक क्रियाशीलतासे एकात्म होनेसे ही हम एक निर्ज्ञानसे दूसरे निर्ज्ञानमें इस बारी-वारीसे संचलनका रूप पाते हैं ; परंतु हमारी सच्ची सत्ता, हमारी अखंड सत्ता इन विरोधोंके अधीन नहीं, अपने नीरव आत्माको प्राप्त करनेके हेतु अपने सक्रिय आत्माकी संवित्का परित्याग उसके लिये आवश्यक नहीं। जब हमें संपूर्ण ज्ञान हो जाता है और सीमाबद्ध, अज्ञ तथा आंशिक सत्ताकी अक्षमताओंसे मुक्त पुरुष और प्रकृति, दोनोंकी संपूर्ण मुक्ति हो जाती है, तब निष्क्रियता और सक्रियता, दोनों ही हमारे भी युगपत् अधिकारमें हो सकती हैं, तब हम विश्वत्वके इन दोनों मेरुओंसे परे चले जाते हैं और प्रकृतिसे संबंधयुक्त या संबंधशून्य आत्माकी इन दोनों शक्तियोंमेंसे किसीसे भी हम सीमित नहीं होते।

गीतामें स्पष्ट कहा गया है कि पुरुषोत्तम अक्षर पुरुष और क्षर सत्ता दोनोंसे अतीत है ; ये दोनों एक साथ मिलकर भी उसका संपूर्ण स्वरूप नहीं। कारण, यह स्पष्ट है कि जब हम कहते हैं कि वह क्षर और अक्षर दोनोंको युगपत् अधिकृत रखता है तो हमारा अभिप्राय

यह नहीं होता कि वह एक निष्क्रियता और एक सक्रियताका योगफल है, इन दो भिन्नोंसे बनी एक पूर्ण संख्या है, अपने-आपके तीन-चौथाई भागसे निष्क्रिय है और अपनी सत्ताके चौथाई भागसे सक्रिय। यदि ऐसा होता तो ब्रह्म निर्ज्ञानोंका योगफल हो सकता था; सक्रियता जो कुछ कर रही है उसकी ओरसे तीन-चौथाई निष्क्रिय भाग उदासीन ही नहीं, अपितु सर्वथा अज्ञ रहता, सक्रिय चौथाई भाग निष्क्रियताके प्रति सर्वथा अज्ञ होता और कर्मसे विरत हुए बिना उसे प्राप्त करनेमें असमर्थ रहता। यह भी संभव है कि योगफल-रूपी ब्रह्म अपने दोनों भिन्नोंसे सर्वथा भिन्न मानों ऐसा कुछ हो जो ऊपर और पृथक् है, और कोई रहस्यमयी माया उसकी सत्ताके इन दो भिन्नोंमें जो कुछ हठपूर्वक करती रहती और जो कुछ करनेसे दृढ़तापूर्वक विरत रहती है, उन सबके प्रति अज्ञ और उनके लिये अनुत्तरदायी है। परंतु यह स्पष्ट है कि परम पुरुष ब्रह्मको निष्क्रियता तथा सक्रियता दोनोंके प्रति संविन्मय होना ही चाहिये और वह अवश्य ही उन्हें अपनी परमा सत्ताके रूपमें नहीं, वरन् अपने विश्वतत्त्वोंके परस्पर विरोधी और फिर भी परस्पर अनुपूरक प्रान्तोंके रूपमें देखेगा। यह सच नहीं हो सकता कि ब्रह्म, नित्य निष्क्रियताके कारण, अपनी स्वीय क्रियाओंसे संपूर्णतया पृथक् होकर उनके प्रति अज्ञ है; वरन् ब्रह्म स्वतंत्र है, क्रियाओंको अपने अंदर समाए रखता है, अपनी प्रशांतिकी शाश्वत शक्तिसे उन्हें अवलंब देता और अपनी ऊर्जाकी नित्य स्थितिसे उनका प्रवर्तन करता है। समान रूपसे यह भी सत्य नहीं हो सकता कि क्रियारत ब्रह्मको अपनी निष्क्रियताका ज्ञान नहीं या कि वह उससे पृथक् हुआ रहता है; वरन् ब्रह्म सर्वगत है, क्रियाको अवलंब देता हुआ विद्यमान रहता है, गतिधाराके अंतर्मर्ममें भी अपनी निष्क्रियताको सर्वदा धारण किये रहता और अपनी ऊर्जाओंके सारे भँवरके मध्य भी नित्य शांत, स्थिर, मुक्त एवं आनंदमय रहता है। यह भी नहीं हो सकता कि निश्चल-नीरवतामें या क्रियामें वह अपने परम स्वरूपके प्रति किंचित् भी संवित्-रहित हो, वरन् ब्रह्मको यह ज्ञात रहता है कि उनके द्वारा वह जो कुछ भी प्रकट करता है उस सबका मूल्य और बल उसी परमा सत्ताके बलमेंसे लिया हुआ है। यदि हमारे अनुभवको इससे भिन्नतया प्रतीत होता है तो इसका कारण यह है कि हम किसी एक पहलूके साथ एकात्म हो जाते और उस ऐकांतिकताके परिणाम-स्वरूप अखंड 'सद्वस्तु' की ओर उन्मीलित होनेमें विफल हो जाते हैं।

इसका एक महत्वपूर्ण पहला परिणाम अनिवार्य रूपसे यह निकलता है, जो अन्य दृष्टिकोणोंसे की गयी विवेचनाके द्वारा पहले ही प्राप्त हो चुका है,

कि अज्ञानके अस्तित्वका मूल अथवा उसकी विभाजनकारिणी क्रियाशीलताओंका आरंभ-विन्दु परब्रह्म या अखंड सच्चिदानंदमें नहीं हो सकता। अज्ञान है सत्ताकी किसी आंशिक क्रियाकी वस्तु जिसके साथ हम एकात्म हो जाते हैं, जैसे शरीरमें हम उस आंशिक और वहिस्तलीय चेतनाके साथ एकात्म हो जाते हैं जो निद्रा और जागरणके बीच आती जाती है: वास्तवमें, अपने पीछे स्थित 'सद्वस्तु' के शेष भागको अलग हटा करके यह एकात्मीकरण ही अज्ञानका उपादान-कारण है। और, यदि अज्ञान ब्रह्मकी परा प्रकृति अथवा ब्रह्मकी अखंडताका आत्म-तत्त्व या बल नहीं, तो कोई आद्य और मूल अज्ञान नहीं हो सकता। माया यदि 'शाश्वत' की चेतनाकी आद्या शक्ति है, तो स्वयं वह अज्ञान नहीं हो सकती, अज्ञानकी प्रकृतिसे किसी भाँति सजातीय नहीं हो सकती, अपितु आत्म-ज्ञान तथा सर्व-ज्ञानकी विश्वातीत और वैश्व शक्ति ही होगी; अज्ञान एक गौण और परवर्ती, आंशिक और सापेक्ष गति-धाराके रूपमें ही प्रवेश कर सकता है। तो क्या यह जीवों के वहुत्वमें अंतर्निहित ही कुछ है? ब्रह्म जव अपने-आपको वहुत्वके अंदर देखता है, तव क्या अज्ञान तुरंत ही अस्तित्वमें आ जाता है? और क्या वह बहुत्व ऐसे जीवोंका योगफल है जिनमें प्रत्येक स्वरूपतः ही अंश-अंश है, अन्य सभी जीवोंसे चेतनामें पृथक् है, उनके संबंधमें इससे भिन्न वोध प्राप्त करनेमें असमर्थ है कि वे उससे बाह्य कुछ हैं, उनके साथ अधिकसे अधिक, शरीरसे शरीर या मनसे मनके आदान-प्रदानसे ही संवद्ध होता है, परंतु एकत्वके लिये असमर्थ है? परंतु हम देख चुके हैं कि यह हमारा वह रूप ही है जो हमारी चेतनाकी सबसे बाहरी परतपर, बाह्य मन और स्थूल सत्तामें दिखाई देता है; जव हम अपनी चेतनाकी सूक्ष्मतर, गभीरतर, विशालतर क्रियामें वापस प्रविष्ट होते हैं तव विभाजनकी दीवारोंको पतली होती पाते हैं और अंतमें विभाजनकी कोई दीवार नहीं रह जाती, अज्ञान नहीं रह जाता।

शरीर है प्रतीयमान विभाजनका बाह्य चिह्न और सबसे नीचेका आधार जिसे अज्ञान और आत्म-निर्ज्ञानमें निमज्जित होती प्रकृति व्यष्टि-जीवके द्वारा एकत्वकी अपनी बहुविध चेतनाके सर्वाधिक अतिरंजित रूपोंके मध्य भी एकत्वकी पुनःप्राप्तिके लिये आरंभ-विन्दु बनाती है। एक शरीर दूसरोंसे वाह्य साधनसे और वाह्यताकी खाड़ीसे होकर ही संपर्क कर सकता है; कोई एक शरीर किसी दूसरे शरीरमें केवल तब अनुप्रविष्ट हो सकता है यदि अनुविद्ध शरीर विभक्त कर दिया जाय या उसमेंके किसी अपूरित स्थान, किसी पूर्वविद्यमान विभाजनका लाभ उठाया जाय; एक शरीर

दूसरेसे एकतावद्ध भी तभी हो सकता है यदि वह दूसरेको खंड-खंड करे, उसका भक्षण कर ले, उसे निगल जाय और आत्मसात् कर ले, और इस भाँति ऐसा स्वांगीकरण, या अधिकसे अधिक, ऐसा संलयन हो जाय जिसमें दोनों रूप विलीन हो जायँ। मन भी जव शरीरसे एकात्म होता है, उसकी सीमाओंसे वाधा पाता है; परंतु अपने-आपमें वह सूक्ष्मतर है और दो मन चोट या विभाजनके विना एक दूसरेमें अनुप्रविष्ट हो सकते हैं, अपनी धातुका आदान-प्रदान एक-दूसरेको क्षति पहुँचाये विना कर सकते हैं, एक प्रकारसे एक-दूसरेके अंग हो जा सकते हैं: फिर भी मनका एक अपना निजी रूप होता है जो अन्य मनोंसे उसे पृथक् करता है और उसमें इस पार्थक्यपर अवस्थित होनेकी प्रवृत्ति रहती है। जव हम आंतरात्मिक चेतनामें वापस चले जाते हैं तो एकत्वके मार्गमें आनेवाले विघ्न कम हो जाते हैं और अंतमें उनके अस्तित्वका सर्वथा अवसान हो जाता है। जीव अपनी चेतनामें अन्य जीवोंसे एकात्म हो सकता है, उन्हें अंतर्विष्ट कर सकता, उनके अंदर प्रविष्ट हो सकता और उनके द्वारा अंतर्विष्ट हो सकता है, उनके साथ अपना एकत्व उपलव्ध कर सकता है; और यह सव लक्षण और विविक्तताके वोधसे रहित किसी निद्रामें नहीं, किसी ऐसे निर्वाणमें नहीं, जहाँ अंतरात्मा, मन तथा प्राणके सारे भेद और वैशिष्टय खो जाते हों, वरन् पूर्ण जाग्रत् अवस्थामें हो सकता है जो सारे भेदोंका निरीक्षण करती और उन्हें ध्यानमें लेती, पर फिर भी उनका अतिक्रमण करती है।

अतएव, अज्ञान और आत्म-सीमाकारी विभाजन जीवोंके वहुत्वमें अंतर्निहित और अलंघ्य नहीं, ब्रह्मके वहुत्वका स्वयं स्वधर्म नहीं। ब्रह्म जैसे निष्क्रियता और सक्रियतासे अतीत है, वैसे ही एकत्व और वहुत्वसे भी। [वह अपने-आपमें एक है, परंतु उसका एकत्व कोई आत्म-सीमाकारी एकत्व नहीं जो वहुत्वके सामर्थ्यसे रहित हो, जैसा कि शरीर और मनका पृथक्कृत एकत्व है; वह वह गणितीय पूर्णांक एक नहीं जो सौको अपने अंदर समा लेनेमें असमर्थ और अतएव सौसे कम है। ब्रह्मने तो सौको समाये रखा है, और जितने भी सौ हैं वह उनमें, प्रत्येकमें एक है। अपने-आपमें एक, ब्रह्म वहुके अंदर एक है और वहु उसके अंदर एक हैं। अन्य शब्दोंमें, ब्रह्मको अपने आत्माके एकत्वमें अपने जीवोंके वहुत्व और अपने वहुल जीवोंकी चेतनामें सकल जीवोंके एकत्वकी संवित् है। वह, अंतःस्थ 'आत्मा', प्रत्येक हृदयमें स्थित ईश्वर, हर जीवमें अपने एकत्वके प्रति संविद् है। ब्रह्मसे द्योतित जीवात्माको उस 'एक'के साथ अपने एकत्वकी संवित् है और वहुके साथ अपने एकत्वकी भी। शरीर और विभक्त प्राण तथा विभाजक

मनसे एकात्म हुई हमारी बहिस्तलीय चेतना अज्ञ है, परंतु उसे भी द्योतित तथा संविन्मय किया जा सकता है। सुतरां बहुत्व अज्ञानका अनिवार्य कारण नहीं।

अज्ञान, जैसा हम कह चुके हैं, बादकी भूमिकामें, एक बादकी गति-धाराकी भाँति प्रवेश करता है, जब कि मन अपने आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक आधारसे वियुक्त हो जाता है। वह अपनी पराकाष्ठा प्राप्त करता है पार्थिव जीवनमें जहाँ बहुके अंदर वैयक्तिक चेतना विभाजक मन द्वारा रूपके साथ एकात्म होती है, जो विभाजनका एकमात्र सुरक्षित आधार है। परंतु रूप क्या है? वह, कमसे कम जैसा हमें वह यहाँ दिखाई देता है, संकेंद्रित ऊर्जाका एक रूपायण, अपनी गतिधारामें चित्-शक्तिकी एक ग्रंथि है, वह ग्रंथि है जिसका अस्तित्व क्रियाके सतत आवर्तसे कायम रखा जाता है; परंतु रूप जिस किसी भी विश्वातीत सत्य या सद्वस्तुसे आया हो या उसे व्यक्त करता हो, वह अभिव्यक्तिमें अपने किसी भी अंगमें स्थायी या नित्य नहीं। उसका समग्रत्व नित्य नहीं, उसके संघटक परमाणु भी नित्य नहीं; कारण, उनके प्रतीयमान स्थायित्वको बनाये रखनेवाली एकमात्र वस्तु है अनवरत संकेंद्रित क्रियामें रत ऊर्जाकी ग्रंथि, और उस ग्रंथिका विघटन करके वे परमाणु भी विघटित कर दिये जा सकते हैं। यह शक्तिकी गतिधारामें तपस्का रूपपर संकेन्द्रण है जो रूपको अस्तित्वमें रखता और विभाजनका स्थूल आधार खड़ा करता है। परंतु हम यह भी देख चुके हैं कि क्रियाशीलतामें सारी वस्तुएँ शक्तिकी गतिधारामें तपस्का अपने विषयपर संकेंद्रण हैं। सुतरां, अज्ञानके मूलको शक्तिकी पृथक् गतिधारापर तपस्के, क्रियारत चित्-शक्तिके किसी आत्म-समाहित संकेंद्रणमें खोजना होगा; यह हमारे लिये मनका पृथक् गतिधाराके साथ एकात्म हो जाने और साथ ही गतिधारामें उसके परिणामी रूपोंमेंसे प्रत्येकके साथ भी पृथक्तया एकात्म हो जानेका रूप लेता है। इस भाँति वह पार्थक्यकी एकदीवार बना देता है जो प्रत्येक रूपके अंदर चेतनाको उसके स्वीय समग्र आत्म-स्वरूप, अन्य शरीरधारी चेतनाओं और विश्वसत्ताके ज्ञानकी ओरसे बंद कर देती है। यही वह स्थल है जहाँ हमें भौतिक प्रकृतिकी महती प्रतीयमान निश्चेतना और शरीरधारी मनोमय पुरुषके प्रतीयमान अज्ञानका भी रहस्य खोजना होगा। हमें अपने-आपसे यह पूछना होगा कि जो यह निमग्नकारी, विभाजनकारी, आत्म-विस्मृतिकारी संकेंद्रण विश्वका अंधकाराच्छन्न चमत्कार है, उसका स्वरूप क्या है।

अध्याय तेरह

चित्-शक्तिका ऐकांतिक संकेंद्रण और अज्ञान

(तपस् और अज्ञान)

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।

तपके प्रज्वलित अग्निसे उत्पत्ति हुई सत्य एवं ऋतकी; उससे उत्पत्ति हुई रात्रिकी और उससे सत्ताके वहते समुद्रकी ।

—ऋग्वेद
10.190.1

चूँकि ब्रह्म अपनी विश्वसत्ताके सारत्वमें वह एकत्व और वह बहुत्व है जो एक दूसरेके प्रति और एक दूसरेमें संविद् हैं, और चूंकि ब्रह्म तत्त्वतः ऐसा कुछ है जो 'एक' और 'वहु'से अतीत है, दोनोंका आधार तथा संवेत्ता है, अतएव अज्ञान तो सत्ताके किसी आंशिक ज्ञान या आंशिक क्रियामें निमग्न हुई और वाकी सव कुछका अपनी संवित्‌मेंसे वर्जन करती चेतनाके किसी संकेंद्रणसे उत्पन्न एक गौण व्यापारके रूपमें ही आ सकता है। संकेंद्रण या तो 'वहु'का वर्जन करके उस 'एक'का अपने-आपमें या उस 'एक'की सर्व-संवित्‌का वर्जन करके 'वहु'का अपनी ही क्रियामें हो सकता है, या उस 'एक' और शेष 'वहु' दोनोंका वर्जन कर व्यष्टि-जीवका अपने-आपमें संकेंद्रण हो सकता है, वे वहु तब उस जीवके लिये वे पृथक्कृत इकाइयाँ होते हैं जो उसकी अपरोक्ष संवित्‌के अंतर्गत नहीं। या फिर कहीं पर, ऐकांतिक संकेंद्रणका कोई सामान्य नियम हो सकता या प्रविष्ट हो जा सकता है जो इन तीनों दिशाओंमें सक्रिय हो, भेदात्मिका सक्रिय चेतनाका भेदात्मिका गतिमें संकेंद्रण हो; परन्तु यह सच्चे आत्मा या पुरुषमें नहीं, अपितु प्रकृतिमें, सक्रिय सत्ताकी शक्तिमें घटित होता है।

इस प्राक्कल्पनाको हम अन्य प्राक्कल्पनाओंसे श्रेष्ठतर मानकर अपनाते हैं; कारण, अन्य प्राक्कल्पनाओंमेंसे कोई भी ऐसी नहीं है जो अपने-आपसे

खड़ी रह सके या जीवन के समस्त तथ्योंके साथ संगत हो सके। अखंड ब्रह्म अपने अखंडत्वमें अज्ञानका कारण नहीं हो सकता; कारण, उसका अखंडत्व स्वरूपतः ही सर्व-चैतन्य है। वह 'एक' अपनी अखंड चित्-सत्तामें अपने-आपमेंसे 'बहु'का बहिष्कार नहीं कर सकता, कारण, वैसा करनेसे 'बहु'का अस्तित्व ही नहीं रह जायगा; अधिकसे अधिक वह अपनी चेतनामें कहीं विश्व-क्रीड़ासे पीछे हटकर खड़ा हो जा सकता है जिससे व्यष्टि-सत्तामें वैसी ही गतिधारा हो सके। अखंडत्वमें या अपने प्रत्येक आत्मामें बहु उस 'एक' या दूसरोंके प्रति वस्तुतः अज्ञ नहीं हो सकता; कारण, बहुसे हमारा अभिप्राय सबके अन्दर रहनेवाले उसी दिव्य 'आत्मा'से होता है जो निस्संदेह व्यष्टि-रूपित तो है, परंतु फिर भी चित्-सत्तामें एक ही विश्वत्वमें सबके साथ एक है और आदि तथा विश्वातीत सत्-पुरुषके साथ भी एक। अतः अज्ञान आत्मा-चैतन्यका स्वभाव-धर्म नहीं, व्यष्टि-आत्माके चैतन्यका भी नहीं। जब कार्यकारिणी चित्-शक्ति अपने कर्मोंमें तल्लीन हो जाती और अपने-आपकी तथा प्रकृतिकी समग्र सत्यताको विस्मृत कर देती है तब उसमें होने-वाली किसी विशिष्टकारी क्रियाका परिणाम ही अज्ञान है। यह विशिष्ट-कारी क्रिया संपूर्ण सत्ताकी या सत्ताकी संपूर्ण शक्तिकी नहीं हो सकती, कारण, उस संपूर्णताकी प्रकृति है अखंड चेतना, न कि आंशिक चेतना; यह तो कोई बहिस्तलीय या आंशिक गतिधारा ही होनी चाहिए जो चेतना और ऊर्जाकी किसी बहिस्तलीय या आंशिक क्रियामें निमग्न है, अपनी रचनामें लीन है; बाकी जो कुछ उस रचनामें सम्मिलित नहीं अथवा वहाँ प्रकट रूपसे सक्रिय नहीं, उसके प्रति विस्मरणशील है। अज्ञान है प्रकृति द्वारा 'आत्मा' और 'सर्व'का सोद्देश्य विस्मरण, उन्हें अलग छोड़ देना, अपने-आपके पीछे हटा देना, ताकि उसे सत्ताकी किसी बाहरी लीलामें जो कुछ करना है उसे वह एकांतभावसे कर सके।

सत्ताकी अनंतता और अनंत संवित्में चेतनाका संकेंद्रण, तपस्, चित्-शक्तिके अंतर्निहित सामर्थ्य-रूपमें सदा विद्यमान है; यह शाश्वत 'संवित्'का अपने-आपमें और अपने-आपपर या अपने विषयपर आत्म-धृत अथवा आत्म-संहृत निदिध्यासन है; परंतु विषय भी सदा ही किसी न किसी रूपमें स्वयं वही है, उसकी अपनी सत्ता है या उसकी सत्ताकी कोई अभिव्यक्ति और स्पंद है। यह संकेंद्रण सारसत्तागत हो सकता है; यहाँ तक कि वह स्वीय सत्ताके सारमें ऐकांतिक अंतर्वास अथवा सम्पूर्ण लीनता, एक ज्योतिर्मय या नहीं तो, आत्म-विस्मरणशील आत्म-निमज्जन भी हो सकता है। या, यह संकेंद्रण सर्वांगीण, या नहीं तो, समग्र-बहुक या अंशतया बहुक हो सकता

है। या, यह अपनी सत्ता अथवा गतिधाराके किसी एक क्षेत्रपर कोई एकाकी भेदात्मक दृष्टि, किसी एक केंद्रमें कोई एकाग्र संकेंद्रण या अपनी आत्म-सत्ताके किसी एक वहिर्व्यक्त रूपमें तल्लीनता हो सकता है। इनमें जो पहला सकेंद्रण है, सारसत्तागत, वह एक छोरपर अतिचेतन 'नीरवता' है और दूसरे छोरपर 'निश्चेतना'; दूसरा, जो सर्वांगीण है, सच्चिदानंदकी अखंड चेतना है, अतिमानसिक संकेंद्रण है; तीसरा, जो बहुक है, अधिमानसकी सामग्रिक अथवा विश्वमंडलीय संवित्की पद्धति है; चौथा, जो भेदात्मक है, अज्ञानका विशिष्ट स्वभाव है। निर्विशेषकी परा अखंडता अपनी चेतनाकी इन सारी स्थितियों या शक्तियोंको एक साथ धारण किये रहती है, जैसे कि अद्वय अखंड पुरुष अभिव्यक्तिमें सबको, युगपत आत्म-दृष्टिसे, आत्मवत् देखता है।

अतः अपने-आपके अंदर अथवा अपने-आपपर विषयरूपमें आत्म-धृत अभिनिवेशके अर्थमें जो संकेंद्रण है वह चित्-सत्ताकी स्वभावगत वस्तु ही कहा जा सकता है। कारण, यद्यपि चेतनाका एक अनंत विस्तरण है और चेतनाका एक विसरण है, यह एक आत्म-धृत आत्म-पूर्ण विस्तरण अथवा आत्म-धृत आत्म-पूर्ण विसरण है। यद्यपि उसकी ऊर्जाओंका विक्षेपण प्रतीत हो सकता है, वह यथार्थमें वितरणका एक रूप है, और केवल बाह्य क्षेत्रमें संभव है क्योंकि वह अंतःस्यूत आत्म-धृत संकेंद्रणपर अवलम्बित है। सत्ता या गतिधाराके किसी एक ही विषयी या विषय या क्षेत्रपर या उसमें ऐकांतिक संकेंद्रण आत्माकी अखंड संवित्का निषेध नहीं, उससे विच्युति भी नहीं; यह तो तपस्की शक्तिके आत्मसहंरणका एक रूप है। परंतु संकेंद्रण जब ऐकांतिक होता है, तब परिणाममें आत्मज्ञानके शेष भागको अपने पीछेकी ओर रोक देता है। शेष भागकी संवित् सब समय रखते हुए भी वह इस तरह क्रिया कर सकता है मानों उसे उसकी संवित् नहीं; वह अवस्था या क्रिया अज्ञानकी नहीं होगी। परंतु, चेतना यदि संकेंद्रणसे वर्जनकी कोई दीवार खड़ी कर देती है और अपने-आपको गतिधारामें किसी एक ही क्षेत्र, प्रदेश या आवासतक सीमित कर देती है, जिसके फलस्वरूप उसे केवल उसीकी संवित् रहती है अथवा शेष सब कुछकी इस रूपमें संवित् होती है कि वह सब स्वयं उससे बाहर है, तब हमें आत्म-सीमाकारी ज्ञानका ऐसा तत्त्व मिलता है जिसका परिणाम भेदात्मक ज्ञान हो सकता है और जिसकी अंतिम परिणति निश्चित तथा कार्यकर अज्ञानमें हो सकती है।

इसका क्या अर्थ है, इसका व्यावहारिक परिणाम क्या है, इसकी झलक हमें मनोमय मनुष्यमें हमारी अपनी चेतनामें होनेवाले ऐकांतिक संकेंद्रणके

स्वरूपका अवलोकन करनेसे मिल सकती है। सबसे पहले हमें यह ध्यानमें लेना चाहिये कि साधारणतया मनुष्यसे हमारा अभिप्राय उसके आंतरिक स्वरूपसे नहीं, अपितु भूत, वर्तमान और भविष्यमें चेतना तथा ऊर्जाके प्रतीयमान अनवरत प्रवाहके एक समाहारसे ही रहता है जिसे हम मनुष्यका नाम देते हैं। प्रतीयमान रूपमें यही मनुष्यके सारे कार्य करता, उसके सारे विचारोंको सोचता, उसके सारे भावावेगोंका अनुभव करता है। यह ऊर्जा अंतर्मुखी और बहिर्मुखी क्रियाओंके किसी कालिक प्रवाहपर संकेंद्रित चित्-शक्तिकी ही एक गतिधारा है। परंतु हम जानते हैं कि इस ऊर्जा-प्रवाह के पीछे चेतनाका सारा समुद्र होता है, उस समुद्रको तो उस प्रवाहकी संवित् है, परंतु उस प्रवाहको समुद्रकी संवित् नहीं, कारण, शेष सब कुछ जो अदृश्य है उसमेंसे निर्वाचित कुछ, उसका एक परिणाम ही बाह्य ऊर्जाका यह समाहार है। वह समुद्र है अवगूढ़ आत्मा, अतिचेतन, अवचेतन, अंतश्चेतन और परिचेतन सत्ता, और इन सबको संयुक्त रखनेवाला है अंतरात्मा, चैत्य पुरुष। वह प्रवाह है प्राकृत, बहिस्तलीय मनुष्य। इस बहिस्तलीय मनुष्यमें तपस्, सत्ताकी सक्रिय चेतना-शक्ति, बहिस्तलीय क्रियाओंके किसी पुंजमें बहिस्तलपर संकेंद्रित है; अपने-आपका शेष भाग उसने पीछेकी ओर रख दिया है, और अपनी सत्ताके अरूपायित पृष्ठभागमें उसे उसका अस्पष्ट बोध भी हो सकता है, परंतु सामनेके भागमें इस बहिस्तलीय तल्लीन गति धारामें उसे उसका बोध नहीं। वह अज्ञ शब्दके किसी भी मूलभूत अर्थमें अपने-आपके प्रति, पृष्ठभागमें अथवा गहराईमें तो अवश्य ही, ठीक-ठीक अज्ञ नहीं, परंतु अपनी बहिस्तलीय गतिधाराके प्रयोजनोंके लिये और केवल उस गतिधारामें अपने सच्चे, अपने महत्तर आत्माके प्रति विस्मरणशील है, जिसका कारण है अपने बहिस्तलीय क्रियाकलापमें उसकी निमग्नता, उस क्रियाकलापपर उसका ऐकांतिक संकेंद्रण। तो भी, वस्तुतः, सकल क्रिया-का कर्त्ता यह प्रच्छन्न समुद्र है, न कि वह बहिस्तलीय प्रवाह : इस गतिधारा-का मूल उद्गम उस समुद्रमें है न कि उस समुद्रसे उत्क्षिप्त चेतन तरंगमें, भले ही उस तरंगकी चेतना अपनी गतिमें लीन रहती हुई, उसमें निवास करती हुई, उसके अतिरिक्त अन्य किसी को न देखती हुई, इस विषयमें चाहे जो कुछ भी सोचे। और वह समुद्र, सच्चा आत्मा, अखंड चित्-सत्ता, सत्ताकी अखंड शक्ति, अज्ञ नहीं; वह तरंग भी मूलतः अज्ञ नहीं,—कारण, जो चेतना उससे विस्मृत हो गयी है उस सारी चेतनाको वह अपनेमें समाये रखती है और उसके बिना न तो वह क्रिया कर सकती थी, न उसका अस्तित्व ही रह सकता था,—परंतु वह तरंग आत्म-विस्मृत है, अपनी ही

गति-धारामें लीन है, इतनी अधिक लीन कि जबतक वह उस गति-धारामें व्यस्त रहती है तबतक उसके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी ओर उसका ध्यान नहीं जाता। इस ऐकांतिक संकेंद्रणका स्वरूप एक सीमित व्यावहारिक आत्म-विस्मृति है, न कि मूलस्थ और अटल अज्ञान; -तथापि जो अज्ञानके रूपमें क्रिया करता है, उसका मूल यह संकेंद्रण ही है।

इसी भाँति हम देखते हैं कि मनुष्य यद्यपि काल-क्षेत्रमें चित्-ऊर्जाका, तपस्का एक सचमुच अविभाज्य प्रवाह है, अपनी अतीत क्रिया-शक्तिकी राशिसे ही वर्तमानमें क्रिया करनेमें समर्थ है, अपने अतीत और अपने वर्तमान कर्मसे अपने भविष्यका सर्जन कर चुकता है, तदपि वह वर्तमान क्षणमें लीन रहता है, क्षण-क्षणांतरमें निवास करता है, और फ़लतः, चेतनाकी इस बहिस्तलीय क्रियामें अपने भविष्यके प्रति अज्ञ है और अपने अतीतके जिस स्वल्पांशको वह किसी भी क्षण स्मृति द्वारा वापस ला सकता है उसे छोड़कर अतीतके शेष भागके प्रति भी अज्ञ है। तथापि, वह अतीतमें निवास नहीं करता; वह जिसे यों वापस लाता है वह स्वयं अतीत नहीं, अपितु केवल उसकी प्रेतच्छाया है, एक ऐसी वास्तवताकी धारणात्मक छाया है जो उसके लिये अब मर चुकी है, असत् है, अस्तित्वहीन हो गयी है। परंतु यह सब बहिस्तलीय अज्ञानकी क्रिया है। अन्दरकी सच्ची चेतना अपने अतीतके बोधसे विहीन नहीं होती, वह उसे वहाँ धारित रखती है, अनिवार्य रूपसे स्मृतिमें नहीं, अपितु सत्तामें। वहाँ वह अतीत तब भी सक्रिय है, जीवंत है, अपने फल साथ लिये प्रस्तुत है, और अंदरकी चेतना उस अतीतको समय-समय पर बहिस्तलीय सचेतन सत्ताके पास स्मृतिके रूपमें या अतीत कर्म या अतीत कारणोंके परिणामके अधिक मूर्त रूपमें ऊपर भेजती है,—कर्मवादकी सच्ची युक्तियुक्तता वस्तुतः यही है। उस आंतरिक चेतनाको भविष्यका भी बोध है या हो सकता है; कारण, आंतरिक सत्तामें कहींपर ज्ञानका ऐसा क्षेत्र है जो भविष्यके ज्ञानकी ओर खुला है, जिसे अतीत-विषयक और भविष्य-विषयक काल-बोध, काल-दर्शन, काल-प्रत्यक्षण है; उसके अंदर कोई वस्तु तीनों कालोंमें अविभाज्य रूपसे रहती है और उनके प्रतीयमान विभाजनोंको अंतर्विष्ट रखती है, भविष्यको अभिव्यक्तिके लिये प्रस्तुत अपने अंदर धारण किये रहती है। तो यहाँ, वर्तमानमें रहनेके इस अभ्यासमें, हमें एक दूसरी तल्लीनता, एक दूसरा ऐकान्तिक संकेंद्रण मिलता है जो सत्ताको जटिल बनाता और और भी सीमित करता, परंतु कर्मकी प्रतीयमान धाराको कालके सारे अनंत प्रवाहसे संबंधित करनेके बदले क्षणोंके किसी निश्चित अनुक्रमसे संबंधित कर उसे सरल बना देता है।

अतः अपनी बहिस्तलीय चेतनामें, मनुष्य अपने-आपके सम्मुख क्रियात्मक, व्यावहारिक रूपसे वर्तमान क्षणका मनुष्य है, न कि अतीतका मनुष्य जो किसी समय तो था परंतु अभी अस्तित्वमें नहीं है, न भविष्यका ही मनुष्य जो अभी तक अस्तित्वमें आया नहीं है; उसके लिये इनमेंसे एकके साथ युक्त होनेकी कड़ी है स्मृति और दूसरेके साथ युक्त होनेकी कड़ी है पूर्वानुमान। तीनों कालोंके मध्य एक अविच्छिन्न अहं-बोध चलता रहता है, परंतु यह एक केन्द्रणकारी मानसिक निर्माण है, कोई सारगत या विस्तृत सत्ता नहीं जिसमें वह सब अंतर्विष्ट हो जो था, है और होगा। इसके पीछे आत्माकी संबोधि है, परंतु वह एक आधारभूत एकात्मता है जिस पर उसके व्यक्तित्वके परिवर्तनोंका प्रभाव नहीं पड़ता; अपनी सत्ताके बाह्य निर्माणमें मनुष्य वैसा नहीं, बल्कि उस क्षण जैसा है वैसा होता है। तथापि यह क्षणगत जीवन कभी भी उसकी सत्ताका यथार्थ या संपूर्ण सत्य नहीं, अपितु उसके जीवनकी बहिस्तलीय गतिधाराके प्रयोजनार्थ और उसकी सीमाके अंतर्गत एक व्यावहारिक सत्य है। वह सत्य है, न कि अवास्तव, परंतु अपने भावात्मक अंशमें ही सत्य; अपने अभावात्मक अंशोंमें वह अज्ञान है, और यह निषेधात्मक अज्ञान व्यावहारिक सत्यको भी सीमित और प्रायः विकृत कर देता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्यका सचेतन जीवन एक अज्ञान, एक आंशिक, एक अर्ध-सत्य और अर्ध-मिथ्या ज्ञानके अनुसार अग्रसर होता है, न कि अपने-आपके यथार्थ सत्यके अनुसार जो उससे विस्मृत हो गया है। तो भी, चूंकि उसका वास्तविक आत्मा ही सच्चा निर्धारक है और सबको पीछेसे गुप्त रूपसे शासित करता है, अंततः यह पीछे रहनेवाला ज्ञान ही मनुष्यके जीवनकी निर्मित धाराकी वस्तुतः निर्देशना करता है; बहिस्तलीय अज्ञान तो एक आवश्यक सीमाकारी रूपरेखा निर्मित करता और उन तत्त्वों की आपूर्ति करता है जिनके द्वारा उसके वर्तमान मानव-जीवन और उसके वर्तमान क्षणके लिये आवश्यक बाहरी रंग और मोड़ उसकी चेतना और उसकी क्रियाशीलताको दिये जाते हैं। उसी भाँति और उसी कारण मनुष्य एकमात्र अपने वर्तमान जीवनमें धारण किये गये नाम और रूपसे एकात्म हो जाता है; उसे जैसे अपनी मृत्युके बादके भविष्यका ज्ञान नहीं, वैसे ही अपने जन्मसे पूर्वके अतीतका भी नहीं। तदपि, जो कुछ वह भूल जाता है, वह सब उसके अंतरकी सर्व-संचिका अखंड चेतनामें वर्तमान और कार्यकर रूपमें समाया रहता है।

बहिस्तलपर ऐकांतिक संकेंद्रणका एक स्वल्प व्यावहारिक उपयोग है और उसका स्वरूप यद्यपि अस्थायी है उससे भी हमें एक संकेत मिल सकता

है। बहिश्चर मनुष्य, क्षण-क्षणांतरमें जीता हुआ, अपने वर्तमान जीवनमें मानों नाना भूमिकाएँ खेलता है, और वह उनमेंसे जिस किसीमें संलग्न रहता है, उस प्रत्येकमें ऐकांतिक रूपसे संकेंद्रित होनेमें, उसमें लीन हो जानेमें समर्थ है, और ऐसा करते हुए वह अपने शेष भागको भुला देता है, उसे उस क्षणके लिये अपने पीछे रख देता है, और उस दूरीतक वह आत्म-विस्मृत रहता है। क्षण विशेषके लिये मनुष्य अभिनेता है, कवि है, सैनिक है या वैसा और कुछ है जैसा कि उसे उसकी सत्ताकी शक्ति, उसके तपस्, उसकी अतीतकी चेतन ऊर्जाकी किसी विशिष्ट और विशेषधर्मी क्रिया और उससे विकसित होनेवाले कर्मने उसे गढ़ा और रूपायित किया है। केवल यही नहीं है कि उसमें अपने-आपको समय विशेषके लिये अपने-आपके किसी अंगमें इस ऐकांतिक संकेंद्रणमें डाल देनेकी प्रवणता है, वरन् कर्ममें उसकी सफलता ही वहुत दूरीतक इसपर निर्भर करती है कि वह कितने पूरेपनसे अपने-आपके शेष भागको इस भाँति अलग रख दे सकता और केवल अपने तात्कालिक कार्यमें निवास कर सकता है। फिर भी, सव समय ही हम देख सकते हैं कि मनुष्यका यह कोई विशेष अंग मात्र नहीं, अपितु समग्र मनुष्य ही कर्मका यथार्थ कर्त्ता है; वह क्या करता है, उसे किस तरह करता है, उसके अंदर कौनसे तत्त्व लाता है, अपने कर्मपर कौन सी छाप डालता है, यह निर्भर करता है उसके समूचे चरित्र, मन, संचित ज्ञान और प्रतिभापर, उसके अतीतने उसे जैसा बनाया है उसपर,—और केवल इसी जीवनका अतीत नहीं, अपितु अन्य जीवन-कालोंका अतीत भी, और फिर, केवल उसीका अतीत नहीं, अपितु उसके निजके और उसके चारों ओरके जगत्के, दोनोंके अतीत, वर्तमान और पूर्वनियत भविष्य उसके कर्मके निर्धारक हैं। उसके अंदरका वर्तमान अभिनेता, कवि या सैनिक उसके तपस्का एक पृथक्कारी निर्धारण मात्र है; वह उसकी सत्ताकी शक्ति है, अपनी ऊर्जाकी किसी विशेष प्रकारकी क्रियाके लिये, तपस्की एक पृथक्करिणी गतिधाराके लिये संगठित, जिसके लिये यह संभव है,—और यह संभावना कोई दुर्बलता नहीं, त्रुटि नहीं, अपितु चेतनाकी एक महती शक्ति है,—कि वह उस विशेष क्रियामें इतनी तल्लीन हो जाय कि कुछ कालके लिये अपने-आपके शेष भागके प्रति आत्म-विस्मृत हो जाय, यद्यपि भले ही, वह शेष भाग हमेशा ही चेतनाके पृष्ठ भागमें और स्वयं कर्मके वीच विद्यमान रहता हो और कर्मको रूप देनेमें सक्रिय रहता या प्रभाव डालता हो। मनुष्यका अपने कार्य और अभिनय-भूमिकामें यह सक्रिय आत्म-विस्मरण उस अन्य, गभीरतर आत्म-विस्मरणसे इस दिशामें भिन्न होता है कि पार्थक्यकी दीवार

कम दृश्य रूपसे संपूर्ण होती है और उसकी संपूर्णता बिल्कुल ही स्थायी नहीं; मन अपना संकेंद्रण विघटित कर दे सकता है और किसी भी समय अपने कार्यको छोड़कर वृहत्तर आत्माकी चेतनामें वापस चला जा सकता है जिसकी एक आंशिक क्रिया ही वह था। किंतु वाह्य या प्रतीयमान मनुष्य इस भाँति, जब चाहे, अपने अंदरके सच्चे मनुष्यतक वापस नहीं जा सकता; वह ऐसा केवल कुछ दूरी तक, असामान्य या अधिसामान्य रूपमें, अपनी मानसताकी अपवादस्वरूप अवस्थाओंमें ही कर सकता है, या यदि अधिक स्थायी और संपूर्ण रूपसे कर सकता है तो यह आत्म-शिक्षण, आत्म-निमज्जन, आत्म-उन्नयन और आत्म-विस्तरणके एक लंबे और कठोर अभ्यासका परिणाम होता है। तो भी, वह वापस तो जा ही सकता है; अतः भिन्नता केवल 'व्यावहारिक' है, मूलस्थ नहीं: मूलतः दोनों ही दशाओंमें, यह ऐकांतिक संकेंद्रणकी, मनुष्यकी अपने-आपके किसी विशेष पहलूमें, कर्ममें, शक्तिकी गतिधारामें तल्लीन होनेकी वही वृत्ति है, यद्यपि परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं और क्रियाकी विधि भिन्न होती है।

ऐकांतिक संकेंद्रणकी यह शक्ति अपने बृहत्तर आत्माके किसी विशेष स्वधर्म अथवा प्रकारमें तल्लीनता तक ही सीमित नहीं, अपितु जिस क्षण हम जिस कर्म विशेषमें संलग्न हैं उसमें संपूर्ण आत्म-विस्मरणतक विस्तृत है। प्रवल तीव्रताके क्षणोंमें अभिनेता भूल जाता है कि वह अभिनेता है और रंगमंचपर जिसकी भूमिका अभिनीत कर रहा है वही हो जाता है; यह नहीं कि वह वस्तुतः अपने-आपको राम या रावण मानने लगता है, अपितु यह होता है कि वह समय विशेषके लिये चरित्र और कर्मके उस रूपके साथ एकात्म हो जाता है जिसका प्रतीक वह नाम है और इतनी संपूर्णतासे एकात्म हो जाता है कि जो वास्तविक मनुष्य वह अभिनय कर रहा है उसे भूल जाता है। इसी भाँति कवि अपने कार्यमें अपने-आपको, अपने मनुष्य-रूपको, कर्त्ता-रूपको भूल जाता है, और उस क्षण वह केवल एक प्रेरित निर्व्यक्तिक ऊर्जा होता है जो शब्द और छंदकी रचनामें निष्पादित हो रही है; अन्य सब कुछ उससे विस्मृत हो जाता है। सैनिक अपने कार्यमें अपने-आपको भूल जाता है और आक्रमण, रोष और जिघांसा बन जाता है। उसी भाँति, तीव्र क्रोधसे अभिभूत मनुष्य, जैसा साधारणतः कहा जाता है, अपने-आपको भूल जाता अथवा, जैसा और भी अधिक उपयुक्त और सबल रूपसे कहा गया है, क्रोध बन जाता है; और ये कथन एक वास्तविक सत्यको व्यक्त करते हैं जो मनुष्यकी उस समयकी सत्ताका संपूर्ण सत्य तो नहीं, किंतु उसकी क्रियारत चेतन ऊर्जाका एक

व्यावहारिक तथ्य होता है। वह अपने-आपको भूल अवश्य जाता है; उसके अपने-आपका जो शेष भाग है, जिसमें अन्य अंतर्वेग हैं, आत्म-संयम और आत्म-निर्देशनकी अन्य शक्तियाँ हैं, इन सबको वह भूल जाता है, जिसका फल यह होता है कि वह, जो रागावेश उसे अधिकृत किये होता है, उसकी ऊर्जाके रूपमें कार्य करता है, समय विशेषके लिये वह वही ऊर्जा हो जाता है। मनुष्यकी सामान्य सक्रिय मनश्चेतनामें आत्म-विस्मृति इतनी दूर ही जा सकती है; कारण, उसे शीघ्र ही उस बृहत्तर आत्म-संविद् चेतनाकी ओर वापस चले जाना होता है जिसकी एक स्वल्पकालीन गतिधारा ही यह आत्म-विस्मृति होती है।

परंतु इस गतिधाराको उसके चरम बिंदुतक ले जानेका सामर्थ्य, किसी भी सापेक्ष गतिधाराके लिये जिस महत्तम चरमतक पहुँचना संभव हो वहाँ तक ले जानेका सामर्थ्य बृहत्तर विश्वचेतनामें रहना ही चाहिये। और, यह बिन्दु मानव-अचेतनतामें नहीं मिलता, क्योंकि मानव-अचेतनता स्थायी नहीं होती और जो जाग्रत् सचेतन सत्ता मनुष्यकी सामान्यावस्था और उसका विशिष्ट स्वरूप है उसीमें वह अचेतनता सर्वदा वापस जाती है; वह बिंदु मिलता है जड़ प्रकृतिकी निश्चेतनामें। अपनी अल्पस्थायी सत्तामें ऐकांतिक संकेंद्रणका अज्ञान, जो मनुष्यकी जाग्रत् चेतनाको परिसीमित करता है, जितनी सत्य वस्तु है, उससे कोई अधिक सत्य वस्तु यह निश्चेतना नहीं; कारण, हम जानते हैं कि जैसे हममें, वैसे ही परमाणु, धातु और वनस्पतिमें, भौतिक प्रकृतिके हर रूप, भौतिक प्रकृतिकी हर ऊर्जामें एक गूढ़ अंतरात्मा, एक गूढ़ इच्छा, एक गूढ़ बुद्धि सक्रिय भावसे विद्यमान है; वह मूक और आत्म-विस्मृत बाह्य आकारसे भिन्न है; वह है उपनिषदोंका "चेतनाश्चेतनानाम्", वह 'चेतन' जो अचेतन वस्तुओंमें भी चेतन है, जिसकी विद्यमानता और अनुप्राणनकारी चित्-शक्ति या तपस्के बिना प्रकृतिका कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता। वहाँ जो निश्चेतन है, वह प्रकृति ही है, ऊर्जाकी आकारिक, सचल क्रिया है,—क्रियामें इतनी तल्लीन, उसके साथ इतनी एकात्म कि वह एक प्रकारकी एकाग्रताकी समाधि या मूर्च्छामें बद्ध हो जाती है, और जबतक वह उस रूपके अंदर बंदी रहती है तबतक अपने सच्चे आत्मातक, अखंड चिन्मय पुरुष और चिन्मय पुरुषकी अखंड शक्तितक वापस नहीं जा सकती; उस पुरुष और शक्तिको उसने अपने पीछे रख दिया है, अपनी निरी क्रिया और ऊर्जाकी आनंदमयी समाधिमें विस्मृत कर दिया है। कार्यकारिणी शक्ति प्रकृतिको चिन्मय पुरुषकी संवित् नहीं रह जाती, वह पुरुषको अपने-आपके अंदर छिपाये रखती और धीमे-धीमे संवित्

केवल तव प्राप्त करती है जब निश्चेतनाकी इस मूर्च्छामेंसे चेतनाका उन्मज्जन होता है। वास्तवमें पुरुष अपने-आपका वह प्रतीयमान रूप धारण करनेको सहमत होता है जिसे प्रकृति उसके लिये निर्मित करती है; वह पुरुष ही 'निश्चेतन', अन्नमय पुरुष, प्राणमय पुरुष, मनोमय पुरुष हो जाता लगता है, परंतु फिर भी उन सबमें वह सत्यतः स्वरूपस्थ वना रहता है; गूढ़ चिन्मय पुरुषका प्रकाश प्रकृतिकी निश्चेतन या उन्मज्जनमान् चेतन ऊर्जाकी क्रियाको अवलंब देता और अनुप्राणित करता है।

जागृत मानव-मनके अज्ञान या उसके निद्रित मनकी निश्चेतना या अवचेतनाकी भाँति निश्चेतना भी वहिस्तलीय ही है, और उसके अंदर 'सर्व-चेतन' विद्यमान है; यह निश्चेतना सर्वथा प्रातिभासिक है, परंतु यह संपूर्ण प्रतिभास है। वह इतनी संपूर्ण है कि क्रियाकी इस निश्चेतन पद्धतिसे कम वंदीभूत अन्य रूपोंमें उन्मज्जित होती क्रमविकसनशील चेतनाके प्रेरण द्वारा ही वह अपना स्वरूप फिर पा सकती, पशुमें एक आंशिक संवित्का पुनरुद्धार कर सकती, तदनंतर मनुष्यमें, उसके श्रेष्ठतम रूपमें, एक सत्यतः चेतन क्रियाके प्रथम, अधिक संपूर्ण, किंतु फिर भी वहिस्तलीय, सूत्रपातकी ओर जानेकी कुछ संभावना पुनः प्राप्त कर सकती है। परंतु तो भी, वहिस्तलीय और यथार्थ मनुष्यकी भाँति, जहाँ सदृश परंतु कम असामर्थ्य है, यहाँ भी भेद प्रातिभासिक ही है। मूल तत्त्वको देखें तो वस्तुओंके विश्व-विधानमें भौतिक प्रकृतिकी निश्चेतना भी कार्य और ऊर्जामें वही ऐकांतिक संकेंद्रण, वही तल्लीनता है जैसी जागृत मानव-मनके आत्म-परिसीमनमें होती है, अथवा जैसी एकाग्रता आत्म-विस्मरणकारी मनकी अपनी क्रियामें होती है; केवल यह है कि वही आत्म-परिसीमन आत्म-विस्मरणके एक दूरतम बिंदुतक ले जाया जाता है जो उसका कोई अस्थायी व्यापार नहीं होकर उसकी क्रियाका धर्म वन जाता है। प्रकृतिमें निर्ज्ञान संपूर्ण आत्म-अज्ञान है; मनुष्यका आंशिक ज्ञान और सामान्य अज्ञान एक आंशिक आत्म-अज्ञान है, वह प्रकृतिके विकास-क्रममें आत्म-ज्ञानकी ओर वापसीका सूचक है; परंतु ये दोनों, और ध्यानसे देखा जाय तो सकल अज्ञान भी, तपस्का, सत्ताकी चित्-ऊर्जाका अपनी गतिधाराकी किसी विशिष्ट दिशा या विभागमें वहिस्तलीय रूपसे ऐकांतिक आत्म-विस्मरणशील संकेंद्रण हैं, वह चित्-ऊर्जा उस समय केवल उसी गतिधाराके प्रति संविद् रहती अथवा सतहपर वही गतिधारा हो गयी लगती है। अज्ञान उस गतिधाराकी सीमाओंमें प्रभावी और उसके प्रयोजनोंके लिये प्रामाणिक है, परंतु वह प्रातिभासिक अथवा 'व्यावहारिक', आंशिक और उपरितलीय ही है, मूलतः वास्तव नहीं, समग्र

नहीं। हमें "वास्तव" शब्दका अवश्य ही एक सर्वथा परिसीमित अर्थमें व्यवहार करना पड़ रहा है, न कि उसके पूर्ण अर्थमें; कारण, अज्ञान काफी वास्तव है, परंतु वह हमारी सत्ताका संपूर्ण सत्य नहीं और उसे अपने-आपमें ही देखें तो उसका सत्य भी हमारी बाह्य संवित्के सामने भ्रांत रूपमें प्रत्युपस्थित होता है। अपने-आपके उस सच्चे सत्यमें अज्ञान एक संवृत 'चैतन्य' तथा 'ज्ञान' ही है जो अपने-आपकी ओर वापस विकसित हो रहा है, परंतु क्रियात्मक रूपमें वह 'निश्चेतना' और 'अज्ञान'के रूपमें कार्यकर है।

अतः अज्ञानका मूल स्वरूप यही है, यह कि वह अपने कार्योंमें तल्लीन होकर अपने अखंड और यथार्थ स्वरूपको प्रतीयमान रूपसे विस्मृत करनेवाली, वस्तुतः नहीं परंतु प्रातिभासिक रूपसे विभाजनकारिणी, एक सीमाकारिणी और पार्थक्यकारिणी चित्-ऊर्जाका व्यावहारिक सत्य है। अब हम इस गतिधाराके संबंधमें उठनेवाले इन प्रश्नोंका उत्तर दे सकते हैं कि वह क्यों है, कहाँ है और कैसे है? अज्ञानका हेतु, अज्ञानकी आवश्यकता पर्याप्त रूपसे तब स्पष्ट हो जाती है जब हम एक बार यह देख चुकते हैं कि उसके बिना हमारे जगत्की अभिव्यक्तिका उद्देश्य असंभव होता, वह उद्देश्य संपादित ही नहीं किया जा सकता था, या संपूर्णतः नहीं किया जा सकता था, या उस भाँति नहीं किया जा सकता था जिस भाँति कि किया जाना चाहिये और किया जाता है। बहुमुख अज्ञानके हर पहलूका अपना औचित्य है, वह उस एक सर्वसामान्य आवश्यकताका अंग मात्र है। मनुष्य, अपनी कालातीत सत्तामें रहता हुआ, काल-धाराके क्षण-क्षणके प्रवाहकी उस दासताको स्वीकार करता हुआ, अपने-आपको काल-धारामें डाल नहीं दे सकता था जो कि उसके वर्तमान जीवनका स्वरूप है। वह, अपनी अतिचेतन या अवगूढ़ सत्तामें निवास करता हुआ, अपनी वैयक्तिक मानसताकी ग्रंथिमेंसे अपने चारों ओरके जगत्के साथ उन संबंधोंको कार्यान्वित नहीं कर सकता था जिन्हें उसे उलझाना और सुलझाना पड़ता है, या उसे यह मूलतः भिन्न रीतिसे संपन्न करना होता। वह, अहमात्मिका पृथक्कारिणी चेतनामें नहीं, अपितु विश्वात्मभावमें निवास करता हुआ, अपने-आपको एकमात्र अथवा प्रारंभिक केंद्र और निर्देश-बिंदु बना कर वहाँसे उस पृथक् क्रिया, व्यक्तित्व और दृष्टिकोणको विकसित नहीं कर सकता था जो जगत्की क्रियाओंको अहं-भावकी देन है। उसे कालिक, मानसिक, अहमात्मक अज्ञानको धारण करना पड़ता है ताकि वह अनंतके प्रकाश और विश्वकी बृहत्ताकी ओरसे अपनी रक्षा कर सके, इस रक्षक प्राचीरके पीछे विश्वमें अपनी कालिक वैयक्तिकताको विकसित कर

सके। उसे इस प्रकार रहना पड़ता है मानों उसे बस इसी जीवनमें रहना है, उसे अपने अनंत अतीत और अपने भविष्यका अज्ञान धारण करना पड़ता है: कारण, नहीं तो, यदि अतीत उसके लिये वर्तमान रहता तो वह अपने पर्यावरणके साथ अपने निर्वाचित संबंधोंको अभिप्रेत रूपमें कार्यान्वित नहीं कर सकता था; उसका ज्ञान उसके लिये अति अधिक हो जाता, इससे उसके कर्मके सारे अंतर्भाव, संतुलन और रूपमें अनिवार्य रूपसे परिवर्तन हो जाता। मनुष्यको इस शारीरिक जीवनमें तल्लीन मनमें निवास करना होता है, न कि अतिमानसमें; कारण, नहीं तो, मनके सीमाकारी, विभाजन-कारी, विभेदकारी बलसे सृष्ट अज्ञानकी ये सारी रक्षक दीवारें बनती ही नहीं या इतनी अधिक पतली और पारदर्शी हो जातीं कि मनुष्यका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

जिस प्रयोजनके लिये यह सारा ऐकांतिक संकेंद्रण, जिसे हम अज्ञान कहते हैं, आवश्यक है, वह है आत्म-विस्मरण तथा आत्मानुसंधानका चक्र पूरा करना जिसके आनंदके लिये अंतर्गूढ़ पुरुष प्रकृतिमें अज्ञान धारण करता है। यह नहीं है कि ऐसा न होता तो सारी विश्वाभिव्यक्ति ही असंभव हो जाती, अपितु यह है कि हम जिस सृष्टिमें रह रहे हैं उससे सर्वथा भिन्न होती, दिव्य 'सत्ता'के उच्चतर लोकों या किसी प्ररूपनिष्ठ अविकसनशील विश्वतक सीमित रहती जहाँ प्रत्येक सत्ता अपने स्व-भावके समग्र प्रकाशके अनुसार ही रहती, और यह प्रतीप अभिव्यक्ति, विकासक्रमका यह चक्र असंभव होते। यहाँ जो लक्ष्य है वह तब वहाँकी नित्यावस्था होता, यहाँ जो एक अस्थायी भूमिका है वह वहाँ सत्ताका चिरस्थायी बना प्ररूप होता। अपनी सत्ता और अपनी प्रकृतिके प्रतीयमान विरोधियोंके बीच अपने-आपको प्राप्त करने के लिये ही सच्चिदानंद भौतिक 'निर्ज्ञान'में उतर आते और उसके प्रापंचिक अज्ञानको बाह्य छद्मवेशकी भाँति धारण करते हैं, उस छद्मवेशमें वह अपने-आपको अपनी ही चेतन ऊर्जाकी दृष्टिसे छिपा लेते हैं, उस ऊर्जाको अपने कार्यों और रूपोंमें आत्म-विस्मरणशील और तल्लीन छोड़ देते हैं। धीमे-धीमे जागृत होते जीवको इन्हीं रूपोंके अंदर अज्ञानकी प्रापंचिक क्रिया अंगीकार करनी होती है; वह अज्ञान, यथार्थमें, आदि 'निर्ज्ञान'मेंसे प्रगतिशील रूपसे जागृत होता ज्ञान ही हैं, और जीवको इन क्रियाओं द्वारा सृष्ट नयी अवस्थाओंमें ही अपने-आपको पुनःप्राप्त करना है और उस प्रकाशसे जीवनका दिव्य रूपांतर करना है जो निश्चेतनामें अपने अवतरणका प्रयोजन पूरा करनेके लिये इस भाँति श्रम कर रहा है। जिन स्वर्ग-लोकोंमें पूर्ण ज्योति एवं आनंद नित्य विद्यमान हैं उनमें या

विश्वातीत आनंदकी ओर यथासंभव द्रुतवेगसे वापस जाना इस विश्व-चक्रका उद्देश्य नहीं ; वह उद्देश्य ज्ञानको खोजनेवाले, किंतु उसे कभी भी पूर्णतासे प्राप्त न करनेवाले अज्ञानके लंबे और असंतोषदायी खाँचेमें निष्प्रयोजन चक्करको दुहराते जाना मात्र भी नहीं। यदि ऐसा न हो तो अज्ञान या तो 'सर्व-चेतन' की एक अव्याख्येय भूल-भ्रांति होगा या एक कष्टपूर्ण और निष्प्रयोजन 'नियति', जो समान रूपसे अव्याख्येय होगी। वरंच, आत्माके आनंदको विश्वातीत सत्तासे भिन्न अवस्थाओंमें विश्वसत्ताके अंदर उपलब्ध-करना, और अपने आनंद एवं ज्योतिके स्वर्गको शरीरी भौतिक जीवनकी अवस्थाओं द्वारा खड़े किये गये विरोधोंमें भी प्राप्त करना, अतएव आत्म-आविष्कारके आनंदके लिये संघर्ष भी करना,—यही मानव-शरीरमें अंतरात्माके जन्मका और अपने चक्रावर्तनोंकी परंपरामें मानव-जातिके श्रमका सच्चा लक्ष्य प्रतीत होगा। अज्ञान एक आवश्यक, किंतु सर्वथा अधस्तन तत्त्व है जिसे सार्वभौम ज्ञानने उस गतिधाराको संभव बनानेके लिये ही अपने-आपपर आरोपित किया है,—अज्ञान कोई घोर भ्रान्ति नहीं, पतन नहीं, अपितु एक सप्रयोजन अवरोहण है ; वह अभिशाप नहीं, अपितु एक दिव्य अवसर है। सर्वानंदको उसकी बहुविवताके एक प्रगाढ़ संक्षिप्त रूपमें पाना और मूर्त करना, अनंत सत्ताकी एक ऐसी संभावनाको संसिद्ध करना जो अन्य अवस्थाओंमें संसिद्ध नहीं हो सकती थी, जड़तत्त्वमेंसे भगवान्‌के मंदिरका सृजन करना, यही बीड़ा भौतिक विश्वमें जन्म लेनेवाले आत्माको सौंपा गया लगता है।

हम देखते हैं कि अज्ञान गुप्त अंतरात्मामें नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रकृतिमें है ; फिर, वह अज्ञान उस प्रकृतिके भी समग्र रूपकी वस्तु नहीं,—और हो भी नहीं सकता, कारण, प्रकृति 'सर्व-चेतन' की क्रिया-शक्ति है,—अपितु वह उसकी ज्योति और बलकी आद्या पूर्णतामेंसे किसी विकाससे उद्‌भूत होता है। वह विकास कहाँ घटित होता है ? उसे सत्ताके किस तत्त्वमें अपना सुयोग और आरंभ-बिंदु मिलता है ? अवश्य ही, अनंत सत्ता, अनंत चेतना, अनंत आनंदमें नहीं, जो सत्ताके परम लोक हैं और जिनसे सब कुछ निःसृत या अवतरित होकर इस अधिक तमसाच्छन्न अस्पष्ट अभिव्यक्तिमें आता है। वहाँ उसका कोई स्थान नहीं हो सकता। अतिमानसमें भी नहीं ; कारण, अतिमानसमें अनंत ज्योति एवं शक्ति सांतसे सांत क्रियाओंमें सदैव विद्यमान रहती हैं, और एकत्वकी चेतना वैचित्र्यकी चेतनाका आलिंगन किये रहती है। यह तो मनके स्तरपर ही सच्ची आत्म-चेतनाको इस भाँति पीछेकी ओर कर देना संभव

हो जाता है। कारण, मन चिन्मय-पुरुषकी वह शक्ति है जो भेद करती है और एकत्व-भावको अपनी क्रियाओंका विशिष्ट धर्म, उनका स्वयं उपादान-तत्त्व माननेके स्थानपर उसे अपने पीछे ही रखती हुई, वैविध्य-भावको प्रधान और विशिष्ट धर्म बनाती हुई, भेदकरणकी रेखाओंका अनुसरण करती चलती है। यदि किसी संयोगसे एकत्वका यह अवलंबदायी भाव पीछे खींच लिया जा सके,—यह भाव मनको उसके पृथक् स्वाधिकारसे नहीं, वरन् इस कारण प्राप्त रहता है कि उसके पीछे अतिमानस है और वह अतिमानसकी ज्योतिको प्रतिबिंबित करता है जिससे उत्पन्न और जिसकी एक अप्रधान शक्ति ही वह है,—यदि मानस और अतिमानसके बीच कोई पर्दा गिर सके जो सत्यकी ज्योतिको आने नहीं दे या केवल छितरी और बिखरी किरणोंके रूपमें आने दे जिनमें वह ज्योति प्रतिबिंबित तो हो परंतु विकृत और विभक्त होकर ही, तो अज्ञानका प्रपंच प्रवेश कर जायगा। उपनिषद् कहती है कि ऐसा पर्दा है, और वह पर्दा स्वयं 'मन'के द्वारा संघटित है: अधिमानसमें वह सुनहले ढक्कन-जैसा है जो अतिमानसिक सत्यके मुखको छिपाये रखता, परंतु उसकी मूर्तिको प्रतिबिंबित करता है; 'मन'में वह अधिक अपारदर्शी, धूमाच्छन्न-प्रकाशमय आवरण हो जाता है। वह क्रिया मनका तल्लीन होकर नीचेकी ओर वैविध्यको देखना है, जो कि उसकी विशिष्ट वृत्ति है, और जिस परम एकत्वको वह वैविध्य प्रकट करता है उससे दूर है, और अंतमें उसे उस एकत्वको याद रखना और अपने लिये उसका अवलंब लेना सर्वथा विस्मृत हो जाता है। वैसा होनेपर भी एकत्व उसे अवलंब देता और उसके क्रियाकलापोंको संभव बनाता है, परंतु तल्लीन 'ऊर्जा'को निजके मूल और अपने महत्तर तथा सच्चे आत्माकी संवित् नहीं होती। चूंकि रूपायणकारिणी ऊर्जाकी क्रियाओंमें तल्लीन होनेके कारण 'मन' उसे भूल जाता है जिसमेंसे वह उद्गत है, अतः वह उस 'ऊर्जा'से इतना अधिक एकात्म हो जाता है कि उसकी अपने-आपपरसे पकड़ छूट जाती है, वह कर्मकी समाधिमें संपूर्णतः विस्मरणशील हो जाता है, उसे वह अपनी निद्राचर क्रियामें अवलंब तो तब भी देता है किंतु उसकी उसे संवित् नहीं रह जाती। यह है चेतनाके अवतरणकी अंतिम भूमिका, एक अगाध निद्रा, चेतनाकी अथाह समाधि जो भौतिक प्रकृतिकी क्रियाका गहन आधार है।

तथापि, यह स्मरण रखना होगा कि जब हम अपने रूपों और कर्मोंमें, अपनी क्रियाके सीमित क्षेत्रमें तल्लीन चित्-शक्तिकी आंशिक गतिधाराकी बात कहते हैं तो इसका अर्थ उस चित्-शक्तिकी अखंडतामें कोई यथार्थ विभाजन नहीं होता। अपने शेष भागको अपने पीछेकी ओर कर देनेका

परिणाम केवल यह होता है कि उस गतिधाराके सीमित क्षेत्रमें जो पुरःक्षिप्त ऊर्जा उस क्षण विशेषमें सक्रिय है उसके लिये वह सारा शेष भाग गुह्य हो जाता है, यह नहीं कि वह शेष भाग क्षेत्रमेंसे बाहर चला जाता हो; वस्तुतः वह अखंड शक्ति वहाँ होती है, यद्यपि निश्चेतनासे आवृत, और अखंड आत्म-सत्तापर आधृत वह अखंड शक्ति ही अपनी पुरःक्षिप्त ऊर्जासे सारा कार्य करती और उस गतिधारा द्वारा सृष्ट सकल रूपोंमें निवास करती है। यह भी ध्यानमें रखना है कि अज्ञानके आवरणको दूर करनेके लिये हमारे अंदर सत्ताकी चित्-शक्ति अपनी ऐकांतिक संकेंद्रणकी शक्तिकी एक विपरीत क्रियाका उपयोग करती है; वह वैयक्तिक चेतनामें प्रकृतिकी पुरःक्षिप्त गतिधाराको शांत करती और प्रच्छन्न आंतरिक सत्तापर,—आत्मापर, अथवा सच्ची आंतरिक, चैत्य या मनोमयी या प्राणमयी सत्तापर, पुरुषपर,—उसे प्रकट करने ऐकांतिक रूपसे केन्द्रित होती है। परंतु ऐसा कर चुकनेपर उसके लिये इस विपरीत ऐकांतिकतामें रहना आवश्यक नहीं रह जाता; वह अपनी अखंड चेतना या एक ऐसी विश्वमंडलीय चेतनाको पुनः धारण कर सकती है जिसमें पुरुषकी सत्ता और प्रकृतिकी क्रिया, अंतरात्मा और उसके उपकरण, आत्मा और आत्म-शक्तिकी क्रिया-गतियाँ, ये उभयपक्ष समाविष्ट हैं: तब वह अपनी अभिव्यक्तिका आलिंगन एक विशालतर चेतनासे कर सकती है; वह विशालतर चेतना पूर्वतन सीमाओंसे मुक्त होगी, अंतर्निवासी 'अध्यात्म-पुरुष' के प्रति प्रकृतिकी विस्मरणशीलताके परिणामोंसे मुक्त होगी। अथवा, ऐसा हो सकता है कि उसने जो क्रियाशीलता अभिव्यक्त की है उस समूचीको शांत कर दे, पुरुष और प्रकृतिके एक उच्चतर स्तरपर संकेंद्रित हो जाय, सत्ताको उस स्तरतक उन्नीत कर दे और पहलेकी अभिव्यक्तिको रूपांतरित करने उच्चतर स्तरकी शक्तियोंको उतार लाय: जो कुछ इस भाँति रूपांतरित होता है उस सबको एक नयी और महत्तर आत्म-सृष्टिमें फिर भी सम्मिलित किया जाता है, परंतु उसकी उच्चतर क्रियाशक्ति और उसके उच्चतर मूल्योंके अंग-रूपमें ही। हमारी सत्तामें अंतःस्थ चित्-शक्ति जब उसके विकासको मनके स्तरसे उठाकर अतिमानसिक स्तरपर ले जानेका निश्चय करती है तब ऐसा ही घटित हो जा सकता है। प्रत्येक दशामें तपस् ही कार्यकर होता है, परंतु वह, जो करना है उसके अनुसार, 'अनंत'की पूर्वनिर्धारित प्रक्रिया, क्रियाधारा और आत्म-प्रविस्तारके अनुसार, भिन्न-भिन्न रीतियोंसे कार्य करता है।

परंतु, फिर भी, अज्ञानका यंत्रविन्यास यही हो तो भी, यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या अभी तक यह रहस्य नहीं बचा रह गया है कि जो

'सर्व-चेतन' है वह, अपनी चेतन ऊर्जाकी आंशिक क्रियामें ही सही, इस वहिस्तलीय अज्ञान और निश्चेतनाकी अवस्था तक भी पहुँचनेमें कैसे सफल हुआ। यदि ऐसा हो, तो भी, इस रहस्यकी ठीक-ठीक क्रिया, इसके स्वरूप और इसकी सीमाओंका निर्धारण करना सार्थक होगा, ताकि हम इससे भयभीत न हो जायँ और इससे जो वास्तव प्रयोजन पूरा होता और जो सुयोग प्राप्त होता है उनसे अलग न भटक जायँ। परंतु यह रहस्य विभाजनकारी बुद्धिकी कल्पना है; कारण, चूँकि वह बुद्धि दो संप्रत्ययोंके वीच युक्तिसंगत विरोध पाती या रच देती है, अतः वह यह सोचती है कि दोनों दृष्ट तथ्योंके बीच एक सच्चा विरोध है और इस कारण उनका सह-अस्तित्व और उनके वीच एकत्व असंभव है। जैसा हम देख चुके हैं, यह अज्ञान ज्ञानका ही एक सामर्थ्य है जिसके द्वारा वह अपने-आपको सीमित करता है, जो कार्य हाथमें है उसपर संकेंद्रित होता है; यह संकेंद्रण व्यवहारतया ऐकांतिक होता है जो पीछेकी ओर स्थित संपूर्ण चिन्मय पुरुषकी परिपूर्ण सत्ता और क्रियाको रोकता नहीं है, अपितु चुनी गई और प्रकृतिपर स्वारोपित अवस्थाओंमें क्रिया-संपादन है। समस्त चेतन आत्म-परिसीमन उसके विशेष प्रयोजनके लिये एक सामर्थ्य होता है, कोई दौर्बल्य नहीं; सकल संकेंद्रण चिन्मय पुरुषकी एक शक्ति होता है, कोई अक्षमता नहीं। यह सच है कि जब कि अतिमानस एक समग्र, व्यापक, बहुपद, अनंत आत्म-संकेंद्रणके लिये समर्थ है, यह संकेंद्रण तो विभाजनकारी और सीमित होता है; यह भी सच है कि यह वस्तुओंके विकृत और आंशिक, और उस दूरीतक, उनके मिथ्या अथवा केवल अर्ध-सत्य मूल्योंकी रचना करता है; परंतु हम देख चुके हैं कि ज्ञानके परिसीमन और इस आंशिकताका उद्देश्य क्या है, और वह उद्देश्य यदि स्वीकार कर लिया जाय तो यह भी स्वीकार करना होगा कि उसे पूरा करनेका सामर्थ्य भी परम पुरुषकी परमा शक्तिमें है। किसी विशिष्ट क्रियाके लिये आत्म-परिसीमनका यह सामर्थ्य उस परम पुरुषकी परमा चित्-शक्तिसे असंगत होनेके स्थानपर, वस्तुतः ठीक उन सामर्थ्योंमेंसे एक है जिनके 'अनंत' की वहुविध ऊर्जाओंके वीच होनेकी आशा हमें करनी चाहिये।

संबंधोंसे वने विश्वको अपने-आपके अंदर प्रकट करनेसे निर्विशेष सचमुच सीमित नहीं हो जाता; यह तो उसकी परम सत्ता, चेतना, शक्ति एवं आत्मानंदकी स्वाभाविक लीला है। परस्पर क्रीड़ारत सांत प्रपंचोंका अनंत तांता अपने-आपके अंदर निर्मित करनेसे 'अनंत' सीमित नहीं हो जाता; वल्कि यह उसकी स्वाभाविक स्वाभिव्यक्ति है। वहुत्वके लिये अपने

सामर्थ्यसे वह 'एकमेव' सीमित नहीं हो जाता, उस वहुत्वमें तो वह अपनी ही सत्ताका विविध रूपसे भोग करता है; वल्कि वह सामर्थ्य किसी अनमनीय, सांत और धारणात्मक एकत्वसे विपरीत अनंत एकत्वके सच्चे निरूपणका अंग है। इसी भाँति, अज्ञान भी, उसे यदि चिन्मय पुरुषका वहुविध रूपसे आत्म-लीन और आत्म-सीमाकारी संकेंद्रण माना जाय तो, पुरुषकी अपने आत्म-चेतन ज्ञानमें विविध परिवर्तन लानेकी स्वाभाविक समर्थता है, 'निर्विशेष'की अभिव्यक्तिमें उसकी संवंधकी संभव स्थितियोंमेंसे एक है, 'अनंत'की सांत क्रियाओंकी क्रम-धारामें उसकी संभव स्थितियोंमें से एक है, 'अद्वय' की 'वहु'में अपने आत्म-भोगकी संभव स्थितियोंमेंसे एक है। आत्म-लीनताके द्वारा जगत्का वोध खो देनेका सामर्थ्य, जव कि जगत् फिर भी सत्तामें वना रहता है, चेतनाके इस सामर्थ्यकी एक ओरकी चरम सीमा है; विश्व-क्रियाओंमें तल्लीन होकर आत्माका वोध खो देना, जव कि आत्मा सव समय ही वे क्रियाएँ चलाता रहता है, विपरीत दिशाकी चरम सीमा है। परंतु सच्चिदानंदकी अखंड स्वयं-प्रज्ञ सत्ताको इनमेंसे कोई भी वास्तवमें सीमित नहीं करती, वह तो इन प्रतीयमान विरोधोंसे महत्तर है; ये अपने विरोधमें भी 'अनिर्वचनीय'को प्रकट और अभिव्यक्त करनेमें सहायक हैं।

अध्याय चौदह

मिथ्यात्व, भ्रांति, प्रमाद और अशुभका निदान और प्रतिकार

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

विभु न तो किसीका पाप ग्रहण करते हैं, न किसीका सुकृत ही। ज्ञान अज्ञानसे आवृत है, इसी लिये मर्त्य मनुष्य मोहित होते हैं।

—गीता
5.15

अमन्यतान्यतात्मानो वै ते······तदिमे मूढा उपजीवन्त्यभिष्वङ्गिनः
······अनृताभिशंसिनः सत्यमिवानृतं पश्यन्ति इन्द्रजालवदिति॥

वे आत्माकी धारणा सद्वस्तुसे भिन्नतया करते हुए, मूढ़, आसक्त रहते हुए, मिथ्यात्वको प्रकट करते हुए जीते हैं,—वे मानों इन्द्रजालके वश अनृतको सत्यके रूपमें देखते हैं।

—मैत्र्युपनिषद्
7.10

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः·············।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥

वे अज्ञानमें रहते और विचरण करते हैं और अंधेके निर्देशनमें चलते अंधेके जैसे चकनाचूर होते और ठोकर खाते हुए चक्करपर चक्कर लगाते रहते हैं।

—मुण्डकोपनिषद्
1.2.8

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते॥
जिसकी बुद्धिने एकत्व प्राप्त कर लिया है, वह दुष्कृत्य और सुकृत्य

दोनोंका त्याग कर देता है।

—गीता
2.50

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्······एतं ह वाव न तपति
किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवमिति।
स यः······विद्वान्······आत्मानम्······
उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते।

जिसने ब्रह्मका आनंद पा लिया है, वह फिर इस विचारसे संतप्त नहीं होता, "मैंने शुभ कार्य क्यों नहीं किया? मैंने अशुभ कार्य क्यों किया?" जो आत्माको जानता है, वह अपने-आपको इन दोनोंसे मुक्त कर लेता है।

—तैत्तिरीयोपनिषद्
2.9

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेः············।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः॥

ये वे हैं जिन्हें जगत्‌का प्रचुर मिथ्यात्व ज्ञात है; ये सत्यके गृहमें वर्द्धित होते हैं, ये 'अनंत'के शक्तिमान् और अजेय पुत्र हैं।

—ऋग्वेद
7.60.5

प्रथमोत्तमे······सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृत-
मुभयतः सत्येन परिगृहीतं, सत्यभूयमेव भवति॥

प्रथम और उच्चतम सत्य हैं; मध्यमें अनृत है, किंतु वह दोनों ओरके सत्यके द्वारा परिगृहीत है और वह सत्य[1]से ही अपनी सत्ता पाता है।

—बृहदारण्यकोपनिषद्
5.5.1

---

1. भौतिक तत्त्वका सत्य और आध्यात्मिक तथा अतिचेतन तत्त्वका सत्य। इन दोनोंके बीच अवस्थित मध्यवर्ती विषयिगत और मनोमय सत्यताओंके अंदर मिथ्यात्व प्रविष्ट हो सकता है, परंतु वह मिथ्यात्व या तो ऊपरसे या नीचेसे सत्यका उपादान-रूपमें आहरण कर उससे अपने-आपका निर्माण करता है, और ये दोनों ही उसके भ्रांत निर्माणोंको जीवन-सत्य एवं अध्यात्म-सत्यमें परिणत करनेके लिये उसपर चाप डालते रहते हैं।

यदि अज्ञानका स्वरूप यह है कि वह एक आत्मसीमाकारी ज्ञान है जो पूर्ण आत्म-संवित्को भूल जाता और किसी एक ही क्षेत्रमें या विश्व-व्यापारके प्रच्छादक वाह्य तलपर ऐकांतिक संकेंद्रणमें सीमित हो जाता है, तो इस दृष्टिके अनुसार, हम उस समस्याका क्या करें जिसमें मनुष्यका मन सवसे अधिक प्रखरतासे तव संलग्न होता है जब वह मनुष्यके अपने जीवन और विश्व-जीवनके रहस्यकी ओर, अशुभकी समस्याकी ओर अभिमुख होता है? एक सीमित ज्ञानको तो, जिसे एक निगूढ़ सर्व-प्रज्ञा आवश्यक सीमाओंके अंतर्गत एक सीमित विश्व-व्यवस्थाको संपादित करनेके लिये उपकरण-रूपमें अवलंब दे रही है, विश्व-चेतना तथा विश्व-ऊर्जाकी बुद्धिगम्य प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार कर लिया जा सकता है; किंतु मिथ्यात्व और भ्रांतिकी आवश्यकता, प्रमाद और अशुभकी आवश्यकता या सर्वत्र-विद्यमान दिव्य 'सद्वस्तु'की क्रियाओंमें उनकी उपादेयताको स्वीकार करना कम आसान है। किंतु तो भी, वह 'सद्वस्तु' यदि वैसी है जैसी कि हमने उसे माना है, तो इन विपरीत व्यापारोंके प्राकटचकी कोई आवश्यकता, उनकी कोई सार्थकता होनी ही चाहिए, उनका ऐसा कोई कार्य होना ही चाहिए जिसे उन्हें विश्वकी व्यवस्थामें पूरा करना था। कारण, चूंकि यह सब जो कुछ है, ब्रह्म ही है अतः ब्रह्मका संपूर्ण एवं अक्षर आत्म-ज्ञान अनिवार्य रूपसे सर्व-ज्ञान है, और उसमें इस प्रकारका प्रपंच किसी संयोग, किसी आकस्मिक उत्पात, सर्व-प्रज्ञावान्की चेतना-शक्तिकी विश्वमें किसी अ-स्वैच्छिक विस्मरणशीलता या संभ्रम, या किसी कुचक्रके अप्रत्याशित घटनके रूपमें नहीं चला आ सकता; जिसके लिये अंतर्वासी 'आत्मा' तैयार नहीं था और जिसका वंदी होकर वह भूलभुलैयामें भटकता रहता हो और जिसमेंसे वच निकलना अत्यंत दुष्कर हो। यह सत्ताका कोई आद्य और सनातन रहस्य भी नहीं हो सकता, जो अव्याख्येय हो और जिसका समाधान वह दिव्य सर्व-गुरु न तो अपने लिये कर सकता हो, न हमें दे सकता हो। इसके पीछे अवश्य ही स्वयं सर्वप्रज्ञाका कोई तात्पर्य होगा, सर्व-चेतनाकी कोई शक्ति होगी जो हमारे स्वानुभव और जागतिक अनुभवकी वर्तमान क्रियाओंमें कोई अपरिहार्य कार्य पूरा करनेके लिये उसे अनुमति देती और उसका उपयोग करती है। अव विश्वजीवनके इस पहलूकी अधिक सीधी जाँच करनी और यह निर्णय करना आवश्यक है कि उसका मूल क्या है, उसकी वास्तवताकी सीमाएँ क्या हैं और प्रकृतिमें उसका स्थान क्या है।

इस समस्याको तीन दृष्टिकोणोंसे लिया जा सकता है,—'निर्विशेष'से, परम 'सद्वस्तु'से उसका संवंध; वैश्व क्रियाकलापोंमें उसका उद्गम और

स्थान, व्यष्टि-सत्तामें उसकी क्रिया और अधिकार-स्थल। यह प्रकट है कि इन विपरीत प्रपंचोंकी कोई भी सीधी जड़ स्वयं परम 'सद्वस्तु'में नहीं, वहाँ ऐसे स्वरूपवाला कुछ भी नहीं; ये अज्ञान तथा निश्चेतनाकी रचनाएँ हैं, 'सत्-पुरुष'के मूलभूत या प्राथमिक रूप नहीं, विश्वातीतके या विश्वपुरुषकी अनंत शक्तिके सहज धर्म भी नहीं। कभी-कभी यह युक्ति दी जाती है कि जैसे सत्य और शिवके परम या निरपेक्ष स्वरूप हैं, वैसे ही मिथ्यात्व और अशिवके भी होने ही चाहियें, या यदि ऐसा नहीं है तो फिर दोनों सापेक्षताकी ही वस्तुएँ होनी चाहिए; ज्ञान और अज्ञान, सत्य और मिथ्यात्व, शिव और अशिव एक-दूसरेके संबंधमें ही अस्तित्व रखते हैं, यहाँके द्वैतोंसे आगे जानेपर उनका कोई भी अस्तित्व नहीं। परंतु यह इन विपरीतोंके संबंधोंका मूलभूत सत्य नहीं; कारण, पहले तो, सत्य और शिवसे भिन्नतया, मिथ्या और अशिव बहुत ही स्पष्ट रूपमें अज्ञानके परिणाम हैं और जहाँ अज्ञान नहीं, वहाँ उनका अस्तित्व नहीं हो सकता: 'दिव्य पुरुष'के अंदर उनकी स्वयम्भू सत्ता नहीं हो सकती, वे परमा प्रकृतिके सहज तत्त्व नहीं हो सकते। अतएव, सीमित ज्ञान, जो अज्ञानका स्वरूप है, यदि अपनी सीमाओंका त्याग कर देता है, अज्ञान यदि ज्ञानमें विलुप्त हो जाता है, तो अशिव और मिथ्यात्व फिर टिक नहीं सकते: कारण, दोनों ही अचेतना और गलत चेतनाके फल हैं, और यदि सच्ची अथवा अखंड चेतना अज्ञानका स्थान लेती हुई विद्यमान हो तो उनके अस्तित्वका कोई आधार नहीं रह जाता। अतः मिथ्यात्वका कोई परम या निरपेक्ष स्वरूप नहीं हो सकता, अशिवका भी नहीं; ये चीजें जागतिक गतिधाराकी उपोत्पत्ति हैं: मिथ्यात्व, कष्ट तथा अशिवके मलिनवर्ण पुष्पोंकी जड़ निश्चेतनाकी काली मिट्टीमें है। दूसरी ओर, सत्य तथा शिवकी परमता तथा निरपेक्षताके लिये कोई ऐसी अंतर्जात बाधा नहीं: सत्य और भ्रांति, शुभ और अशुभकी सापेक्षता हमारे अनुभवका सत्य है, परंतु सदृश रूपसे यह भी एक उपोत्पत्ति है, विश्व-जीवनका चिरस्थायी स्वभावज अंग नहीं; कारण यह केवल मानव-चेतना द्वारा किये गये मूल्यांकनोंके संबंधमें सत्य है, केवल हमारे आंशिक ज्ञान और आंशिक अज्ञानके संबंधमें सत्य है।

सत्य हमारे लिये इस कारण सापेक्ष है कि हमारा ज्ञान अज्ञानसे घिरा है। हमारी यथातथ्य दृष्टि-क्षमता बाह्य रूपोंपर ही रुक जाती है, किंतु ये बाह्य रूप वस्तुओंका संपूर्ण सत्य नहीं होते, और यदि हम अधिक गहरे जाते हैं तो हमें मिलनेवाले ज्ञानप्रकाश अनुमान या अनुमितियाँ या सूचनाएँ होते हैं, असंदिग्ध वास्तवताओंका दर्शन नहीं। हमारी निष्पत्तियाँ आंशिक,

परिकल्पित या निर्मित होती हैं; हमारा उनका कथन सत्यताके साथ हमारे परोक्ष संपर्ककी ही व्यंजना होता है और उसका स्वरूप प्रतिरूपों या आकारोंका, विचार-प्रत्यक्षणोंके शब्द-चित्रोंका होता है, जब कि ये प्रत्यक्षण भी चित्र ही होते हैं, स्वयं सत्यके मूर्त रूप नहीं होते, अपरोक्ष रूपसे सत्य और प्रामाणिक नहीं होते। ये आकार या प्रतिरूप अपूर्ण और धुँधले होते हैं, उनकी निर्ज्ञानता या भ्रांतिकी छाया उनके साथ चलती है; कारण, वे अन्य सत्योंका निषेध या उनका प्रवेश अवरुद्ध करते लगते हैं और जिस सत्यको वे प्रकट करते हैं वह भी अपना पूरा मूल्य नहीं पाता: उसका कोई छोर या किनारा ही रूपमें प्रक्षिप्त होता है, बाकी भागको छायामें अदृश्य या विरूपित या अनिश्चित रूपसे दृश्य छोड़ दिया जाता है। लगभग ऐसा कहा जा सकता है कि कोई भी मानसिक वर्णन सर्वथा सत्य नहीं हो सकता; वह सत्यका शुद्ध और नग्न विग्रह नहीं, अपितु एक सजायी आकृति ही होता है,—और प्रायः केवल सजावट दिखाई देती है। परंतु चेतनाकी अपरोक्ष क्रिया द्वारा दृष्ट सत्य या तादात्म्य-ज्ञानके सत्यके स्वरूपपर यह बात लागू नहीं होती; वहाँ हमारा देखना सीमित तो हो सकता है, किंतु जहाँ तक उसका विस्तार है प्रामाणिक होता है, और प्रामाणिकता अद्वितीयताकी ओर प्रथम डग है: अपरोक्ष या तदात्म दृष्टिमें भी, मानसिक संस्कारसे, भ्रांत या अनुचित विस्तारणसे, मनकी गलत व्याख्यासे, भूल जुड़ जा सकती है, परंतु वह उसके धातु-तत्त्वमें प्रवेश नहीं करती। यह प्रामाणिक या तदात्म दृष्टि या अनुभूति ही ज्ञानका सच्चा स्वरूप है और सत्तामें स्वयम्भू है, यद्यपि हमारे मनमें वह एक द्वितीयक रूपायणसे अनूदित होती है जो अप्रमाणिक और व्युत्पादिक होता है। अज्ञानको, मूलतः, न तो यह स्वयम्भुत्व प्राप्त है, न यह प्रामाणिकता ही; अज्ञानका अस्तित्व ज्ञानके परिसीमन या अभाव या आस्थगनपर, भूल-भ्रांतिका अस्तित्व सत्यसे विच्युतिपर, मिथ्यात्वका अस्तित्व सत्यकी विकृति या सत्यके खंडन और निषेधपर आश्रित है। परंतु ज्ञानके लिये सदृश रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व स्वरूपतः ही केवल अज्ञानके परिसीमन या अभाव या आस्थगनसे होता है। निस्संदेह मानव-मनमें ज्ञानका उन्मज्जन अंशतः ऐसे परिसीमन या आस्थगनकी प्रक्रियासे, एक आंशिक प्रकाशसे अंधकारके पीछे हटनेसे हो सकता है, या उसका रूप ज्ञानमें परिणत होते अज्ञानका हो सकता है; किंतु वास्तवमें, ज्ञानका उद्भव हमारी उन गहराइयोंमेंसे एक स्वतंत्र जन्मसे होता है जहाँ ज्ञानका सहज अस्तित्व है।

फिर, शुभ और अशुभके बारेमें यह कहा जा सकता है कि उनमेंसे

एकका अस्तित्व सच्ची चेतनाके सहारे है, दूसरेका टिकाव केवल गलत चेतनाके सहारे : यदि अमिश्र सच्ची चेतना हो तो एकमात्र शुभका अस्तित्व रह सकता है; वह त ब न तो अशुभसे मिश्रित होता है, न उसकी उपस्थितिमें गठित ही। शुभ और अशुभके मानव-मूल्य, उसके सत्य और भ्रांतिके मूल्योंकी तरह ही, वास्तवमें अनिश्चित और सापेक्ष हैं : किसी स्थान या समयमें जिसे सत्य माना जाता है, उसे अन्य स्थान या समयमें भूल माना जाता है; जिसे शुभ माना जाता है, उसे अन्यत्र या अन्य समय अशुभ माना जाता है। हम यह भी देखते हैं कि जिसे हम अशुभ कहते हैं उसका परिणाम शुभ और जिसे शुभ कहते हैं उसका परिणाम अशुभ होता है। परंतु शुभसे अशुभकी उत्पत्तिके इस अनपेक्षित परिणामका कारण है ज्ञान और अज्ञानका संभ्रम और मिश्रण, सच्ची चेतनामें गलत चेतनाका अनुप्रवेश, जिसके फल-स्वरूप हमारे शुभत्वका अज्ञानमय या भ्रांत प्रयोग होता है, या यह कारण उपद्रवकारिणी शक्तियोंका हस्तक्षेप है। अशुभसे शुभकी उत्पत्तिके उल्टे व्यापारमें इस विपरीत और सुखद परिणामका कारण है गलत चेतना और गलत इच्छाके वावजूद भी पीछेसे क्रिया करती किसी सच्ची चेतना और शक्तिका हस्तक्षेप, या परित्राण देनेवाली शक्तियोंका हस्तक्षेप। यह सापेक्षता, यह मिश्रण, मानव-मनकी और मानव-जीवनमें विश्वशक्तिके क्रियासंपादनकी एक परिस्थिति है; यह शुभ और अशुभका मूलभूत सत्य नहीं। यह आपत्ति की जा सकती है कि भौतिक अमंगल,—जैसे वेदना और अधिकांश शारीरिक कष्ट,—ज्ञान और अज्ञानसे, उचित और अनुचित चेतनासे स्वतंत्र रहकर भौतिक प्रकृतिमें अंतर्निहित है : परंतु, मूलभूत रूपसे, समस्त कष्ट और वेदना वहिस्तलकी सत्तामें चित्-शक्तिकी अपर्याप्तताका परिणाम हैं, इस अपर्याप्तताके फल-स्वरूप वहिस्तलकी सत्ता अपने साथ और प्रकृतिके साथ सम्यक् व्यवहार करने या विश्वव्यापी ऊर्जाके संपर्कोंको आत्मसात् करने और उनके साथ समस्वर होनेमें अक्षम हो जाती है; यदि हममें अखंड सत्-पुरुषकी ज्योतिर्मयी चेतना एवं दिव्य शक्ति संपूर्ण रूपसे विद्यमान हों तो कष्ट और वेदनाका हममें अस्तित्व नहीं रह जायगा। अतएव मिथ्यात्वके साथ सत्यका, अशुभके साथ शुभका संबंध अन्योन्य निर्भरताका नहीं, अपितु प्रकाश और छायाकी तरह परस्पर विरोधके जैसा है : छायाका अस्तित्व प्रकाशपर निर्भर है, परंतु प्रकाशका छायापर नहीं। परम सत् और उसके कुछ मूलभूत पहलुओंके इन विपरीतोंके बीच यह संबंध नहीं कि वे परम सत्के विरोधी मूलभूत पहलू हों; मिथ्यात्व और अशुभमें कोई मूलभूत सत्ता नहीं, अनंतता या सनातन सत्ताकी

शक्ति नहीं, 'स्वयम्भू'के अंदर प्रसुप्तावस्थाका भी स्वयम्भुत्व नहीं, किसी आदि अंत:स्थितिकी प्रामाणिकता नहीं।

निस्संदेह, यह एक तथ्य है कि एक वार जव सत्य या शुभ अभिव्यक्त हो गया तो मिथ्यात्व और अशुभकी धारणा संभव हो जाती है; कारण, जहाँ कहीं भी अस्ति-भाव है, उसका नास्ति-रूप भी कल्पनीय हो जाता है। जैसे सत्, चित् एवं आनंदकी अभिव्यक्तिने असत्, निश्चेतना और संवेदनहीनताको कल्पनीय कर दिया, और कल्पनीयताके फल-स्वरूप उन्हें एक प्रकारसे अवश्यम्भावी कर दिया, क्योंकि संभावनाएँ जब तक वास्तविक नहीं वन जातीं वे सभी वास्तविकताकी ओर वढ़नेको बल लगाती रहती हैं, यही वात दिव्य सत्ताके रूपोंके इन विपरीतोंपर लागू होती है। इस आधारपर कहा जा सकता है कि चूँकि अभिव्यक्त होती चेतनाको अभिव्यक्तिकी देहलीपर ही ये विरोधी साक्षात् दृष्टिगम्य रहे होंगे, अतः इन्हें भी निहित परम तत्त्वोंकी श्रेणीमें रखा जा सकता है और ये समूची विश्वसत्तासे अपृथक्य हैं। परंतु पहले तो यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ये विश्वाभिव्यक्तिमें ही संभव होते हैं; ये पहलेसे कालातीत सत्तामें विद्यमान नहीं हो सकते, क्योंकि कालातीत सत्ताकी स्वरूप-धातु एकता तथा आनंद है जिनसे इनकी संगति नहीं। विश्वमें भी इनका अस्तित्वमें केवल तव आना हो सकता है जव कि सत्य और शुभका आंशिक तथा सापेक्ष रूपोंमें परिसीमन और सत्ता तथा चेतनाके एकत्वका भेदात्मिका चेतना और भेदात्मिका सत्तामें विखंडन हो जाय। कारण, जहाँ चेतनाशक्तिकी एकता और संपूर्ण पारस्परिकता वहुत्व तथा विविधत्वके वीच भी है, वहाँ आत्म-ज्ञान तथा पारस्परिक ज्ञानका सत्य स्वतःस्फूर्त है और आत्म-अज्ञान तथा पारस्परिक अज्ञानकी भ्रांति असंभव है। इसी भाँति, जहाँ सत्य स्वतःसंविन्मय एकत्वपर आश्रित हो अखंड रूपमें रहता है, वहाँ मिथ्यात्व प्रवेश नहीं कर सकता और, गलत चेतना और गलत इच्छा और उनकी मिथ्यात्व तथा भ्रांतिकी क्रियाशक्तिके अपवर्जनके कारण, अशुभको भी वाहर ही रह जाना होता है। विविक्तताका प्रवेश होते ही ये वस्तुएँ भी प्रवेश कर जा सकती हैं; परंतु यह युगपत्ता भी अनिवार्य नहीं। एकत्वका सक्रिय भाव चाहे नहीं हो, तो भी, यदि पर्याप्त पारस्परिकता हो और पृथक् जीव अपने सीमित ज्ञानके आदर्शोंका उल्लंघन न करें या उनसे च्युत न हो जाएँ, तो सामंजस्य और ज्ञान फिर भी प्रभुत्वशाली रह सकते हैं और अशुभको प्रवेश-द्वार नहीं प्राप्त होगा। अतः, जैसे मिथ्यात्व और अशुभकी कोई परमता या निरपेक्षता नहीं, वैसे ही उनका विश्वत्व भी

प्रामाणिक और अनिवार्य नहीं ; वे तो परिणाम या परिस्थितियाँ ही हैं जिनका उद्भव केवल एक विशेष स्थितिमें होता है जब कि विविक्तताकी परिणति विरोधमें और अज्ञानकी परिणति ज्ञानके प्रति आरंभिक अचेतनामें हो जाती है और फलतः गलत चेतना और गलत ज्ञानका आना होता है जिनके अंदर गलत इच्छा, गलत भावना, गलत कर्म और गलत प्रतिक्रिया निहित हैं। अब प्रश्न यह है कि विश्वाभिव्यक्तिके किस सन्धि-स्थलपर ये विरोधी अंदर प्रवेश कर जाते हैं ; कारण, यह प्रवेश या तो भेदात्मक मन तथा प्राणमें चेतनाके आत्म-निगूहनकी प्रगतिके किसी पर्वमें हो सकता है या निश्चेतनामें निमज्जनके बाद ही। और यह प्रश्न इस प्रश्नमें बदल जाता है : क्या मिथ्यात्व, भ्रांति, प्रमाद और अशुभ मनोमय और प्राणिक स्तरोंमें आद्य रूपसे अस्तित्ववान् हैं और मन तथा प्राणके सहज धर्म हैं, या कि वे भौतिक अभिव्यक्तिके ही गुण-धर्म हैं, क्योंकि वे उस अभिव्यक्तिमें निश्चेतनासे उद्गत हो रहे अंधकारसे ही मन और प्राणपर आरोपित होते हैं ? यह प्रश्न भी किया जा सकता है : यदि उनका अस्तित्व अतिभौतिक मन और प्राणमें भी हो ही, तो क्या वहाँ वे आद्य रूपमें हैं, क्या उनका वहाँ होना अनिवार्य है ? कारण, यह भी तो संभव है कि वे वहाँ बल्कि भौतिक अभिव्यक्तिके परिणाम-रूपमें या उसके किसी अतिभौतिक विस्तरण-रूपमें प्रवेश कर गये हों ? या यदि यह विकल्प मान्य नहीं, तो ऐसा हो सकता है कि विश्वमन तथा विश्वप्राणमें उनका उद्भव एक समर्थकारी अतिभौतिक प्रतिष्ठापनके रूपमें, सृजनशील निश्चेतनाके अनिवार्य परिणाम-स्वरूप वे जिस अभिव्यक्तिकी अधिक स्वाभाविक वस्तुएँ हैं उसमें प्रकट होनेके लिये एक पूर्ववर्ती आवश्यकताके रूपमें हुआ हो।

मानव-मनने लंबे समयतक पारंपरिक ज्ञानके रूपमें यह मान रखा था कि जब हम भौतिक लोकसे परे चले जाते हैं, ये वस्तुएँ वहाँ भी, हमसे परेके लोकोंमें भी अस्तित्ववान् मिलती हैं। अतिभौतिक अनुभवके उन लोकोंमें प्राणमय मन एवं प्राणकी शक्तियाँ और रूप हैं जो हमें पार्थिव जीवनमें मिलनेवाले प्राण-मन और प्राण-शक्तिके विसंवादी, त्रुटिपूर्ण या विकृत रूपों और शक्तियोंकी प्राग्भौतिक नींव हैं। ऐसी शक्तियाँ हैं जो अपनी मूला प्रकृतिमें अज्ञानसे, चेतनाके अंधकारसे, शक्तिके दुरुपयोगसे, आनंदकी विकृतिसे, जिन्हें हम अशुभ कहते हैं उन वस्तुओंके सारे कारणों और परिणामोंसे संसक्त हैं, और अवगूढ़ अनुभव हमें यह प्रदर्शित करता लगता है कि ऐसी अतिभौतिक सत्ताएँ भी हैं जिनमें वे शक्तियाँ शरीर लेती हैं।

ये सामर्थ्य, सत्ताएँ या शक्तियाँ पार्थिव जीवोंपर अपने विरोधी निर्माण थोपनेके लिये क्रियाशील हैं; सृष्टिमें अपना राज्य कायम रखनेको उत्सुक रहती हुई ये प्रकाश, सत्य एवं शुभके वर्द्धनका विरोध, और इससे भी अधिक, दिव्य चेतना एवं दिव्य जीवनकी ओर जीवकी प्रगतिका प्रतिरोध करती हैं। प्रकाश और अंधकार, शुभ और अशुभ, विश्व-सामंजस्य और विश्व-अराजकताकी शक्तियोंके बीच संघर्षकी जो परंपरा प्राचीन पुराण-कथाओं और धर्मोंमें सर्वत्र मिलती है और गुह्य विद्याकी सारी पद्धतियोंमें भी है, उसमें हम विश्व-सत्ताके इसी लक्षणका चित्रण पाते हैं।

इस परंपरागत ज्ञानका सिद्धांत पूर्णतया युक्तियुक्त और आंतरिक अनुभव द्वारा प्रमाण्य है, और हम यदि अतिभौतिकको स्वीकार करें और संकुचित होकर इस मान्यतामें बंदी नहीं हो जायँ कि भौतिक सत्ता ही एकमात्र वास्तवता है तो यह सिद्धांत अनिवार्य हो उठता है। जैसे एक विश्वपुरुष और विश्वात्मा है जो विश्व और उसके भूतोंमें व्याप्त और उनका धारयिता है, वैसे ही एक विश्वशक्ति भी है जो सकल वस्तुओंकी संचालिका है, और इस आद्या विश्वशक्तिपर आश्रित बहुसंख्यक सक्रिय विश्वशक्तियाँ हैं जो उसी शक्तिकी शक्तियाँ हैं या उसकी विश्वक्रियाके रूपोंकी भाँति उद्भूत होती हैं। विश्वमें जो कुछ भी रूपायित होता है उसे अवलंब देनेको कोई शक्ति या शक्तियाँ होती हैं; वे शक्तियाँ उसकी पूर्ति या वृद्धि चाहती हैं, उसकी क्रियाशीलतामें अपनी भित्ति, उसकी सफलता, वृद्धि और प्रधानतामें अपनी सफलताका लेखा, उसकी विजय या अतिजीवितामें अपनी आत्म-परिपूर्ति या अपनी सत्ताकी दीर्घतर आयु पाती हैं। जैसे ज्ञानकी शक्तियाँ या ज्योतिकी शक्तियाँ हैं वैसे ही अज्ञानकी शक्तियाँ और अंधकारकी तमोमयी शक्तियाँ हैं जिनका कार्य अज्ञान तथा निश्चेतनाके राज्यको चिरायु बनाना है। जैसे सत्यकी शक्तियाँ हैं वैसे ही वे शक्तियाँ हैं जो मिथ्यात्वसे जीतीं, मिथ्यात्वको अवलंब देतीं और उसकी विजयके लिये कार्य करती हैं। जैसे ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका जीवन 'शिव'के अस्तित्व, भाव और प्रेरणासे अंतरंग रूपसे संबद्ध है, वैसे ही ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका जीवन 'अशिव'के अस्तित्व, भाव और प्रेरणासे संबद्ध है। जगत्पर अधिकार और मनुष्यके जीवनपर शासनके लिये प्रकाश और अंधकार, शुभ और अशुभकी शक्तियोंके बीच संघर्षकी प्राचीन मान्यता विश्वव्यापी अदृश्य सत्ताके इसी सत्यका प्रतीक थी,—वैदिक सुरों और उनके विरोधी 'अंधकार' और 'विभाजन'के पुत्रोंके बीच संघर्षका तात्पर्य यही सत्य था, बादकी परंपरामें 'अंधकार' और 'विभाजन'के ये पुत्र ही असुर, राक्षस और पिशाचके रूपमें आए;

यही परंपरा जोरोआस्त्रीय मतके द्वैत तत्त्व और बादके यहूदी विरोध-द्वैतमें मिलती है जिसमें एक ओर तो ईश्वर और उसके देवदूत हैं और दूसरी ओर शैतान और उसका दल। तात्पर्य यह है कि अदृश्य व्यक्तित्व और शक्तियाँ हैं जो मनुष्यको दिव्य ज्योति, सत्य एवं शिवकी ओर खींचतीं या उसे अंधकार, मिथ्यात्व और अशिवके अदिव्य तत्त्वके अधीन होनेकी ओर प्रलोभित करती हैं। आधुनिक मनको भौतिक विज्ञानकी आविष्कृत या निर्मित अदृश्य शक्तियोंके अतिरिक्त अन्य अदृश्य शक्तियोंका ज्ञान नहीं; वह यह विश्वास नहीं करता कि भौतिक जगत्में हमारे चारों ओर जो मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, मछली, कीट, जीवाणु और कीटाणु या जन्तुक हैं उनके अतिरिक्त अन्य सत्ताओंकी भी सृष्टि करनेकी क्षमता प्रकृतिमें है। परंतु यदि भौतिक स्वभाववाली अदृश्य विश्वशक्तियाँ हैं जो निर्जीव पदार्थोंके शरीरपर क्रिया करती हैं, तो इसका कोई वैध कारण नहीं कि मानसिक और प्राणिक स्वभाववाली अदृश्य विश्वशक्तियाँ क्यों न हों जो मनुष्यके मन और उसकी प्राण-शक्तिपर भी क्रिया करें। और, यदि मन और प्राण, जो कि निर्व्यक्तिक शक्तियाँ हैं, उन्हें भौतिक रूपों और भौतिक जगत्में सदेह करनेके लिये सचेतन सत्ताओंकी रचना या व्यक्तियोंका उपयोग करते हैं और जड़पर और जड़के द्वारा क्रिया करते हैं, तो यह असंभव नहीं कि वे अपने स्वधामोंमें ऐसी सचेतन सत्ताओंकी रचना करें जिनका सूक्ष्मतर उपादान हमारे लिये अदृश्य हो, या कि वे भौतिक प्रकृतिमें रहनेवाली सत्ताओंपर उन लोकोंसे क्रिया करें। मनुष्यकी भूतकालकी मान्यताओं या अनुभवोंके पारंपरिक रूपकोंमें हम जो कुछ भी सत्यता या पौराणिक कल्पना मानते हों, वे रूपक इस दशामें, तत्त्वतः सत्य रहनेवाली वस्तुओंके प्रतिरूप हो जाते हैं। यदि ऐसा हो तो शुभ और अशुभका प्रथम मूल पार्थिव जीवनमें या निश्चेतनामेंसे होते क्रमविकासमें नहीं, अपितु स्वयं 'प्राण'में होगा; उनका मूल अतिभौतिक होगा और यहाँ वे एक विशालतर अतिभौतिक प्रकृतिसे प्रतिबिंबित होते होंगे।

यह निश्चित है कि जब हम बहिस्तलीय सत्तासे दूर अपने अंदर बहुत गहरे वापस चले जाते हैं तो देखते हैं कि मनुष्यके मन, हृदय और संवेदनात्मक सत्ताका संचालन ऐसी शक्तियोंसे होता है जो उसके अपने नियंत्रणमें नहीं हैं और मनुष्य अपनी क्रियाओंके मूलको जाने बिना विश्वीय 'ऊर्जाओं'के हाथोंमें यंत्र बन जा सकता है। स्थूल सतहसे पीछे हटकर, अपनी आंतरिक सत्ता और अवगूढ़ चेतनामें जानेसे ही वह उनका अपरोक्ष बोध प्राप्त कर सकता और उसपर उनकी जो क्रिया होती है उसका अपरोक्ष

ज्ञान प्राप्त कर सकता और उसके साथ व्यवहार कर सकता है। उसे ऐसे हस्तक्षेपोंका बोध होता है जो उसे इस या उस दिशामें ले जाना चाहते हैं, ऐसे सुझावों और प्रेरणोंका बोध होता है जिन्होंने उसके स्वीय मनकी मौलिक गतिविधिका छद्मवेश धारण कर लिया था और जिनके विरुद्ध उसे लड़ना पड़ा था। वह यह अनुभव कर सकता है कि वह कोई ऐसा सचेतन जीव नहीं जो एक अचेतन जगत्में निश्चेतन जड़तत्त्वके बीजसे अव्याख्येय रूपसे उत्पन्न हुआ हो और एक तमोवृत आत्म-अज्ञानमें विचरण कर रहा हो, अपितु एक शरीरधारी आत्मा है जिसकी क्रियाके द्वारा विश्वप्रकृति अपने आपकी परिपूर्ति करना चाह रही है, एक विशाल विवादका सजीव स्थल है जिसमें एक ओर अज्ञानका अंधकार है जिसमेंसे वह यहाँ उन्मज्जित होता है और दूसरी ओर ज्ञानकी ज्योति है जो एक अदृष्टपूर्व अंतकी दिशामें ऊपरकी ओर बढ़ रही है। उसे चलाना चाहनेवाली शक्तियाँ, और उनमें शुभ और अशुभकी शक्तियाँ भी हैं, विश्वप्रकृतिकी शक्तियोंके रूपमें उपस्थित होती हैं, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि वे केवल भौतिक विश्वकी नहीं, वरन् उससे परेके प्राण और मनके लोकोंकी भी हैं।

हम अभी जिस समस्यामें संलग्न हैं उसके लिये पहली महत्त्वपूर्ण बात ध्यानमें लेनेकी यह है कि ये शक्तियाँ अपनी क्रियामें प्रायः मानवीय सापेक्षताके मापोंका अतिक्रमण करती लगती हैं; ये अपनी बृहत्तर क्रियामें अतिमानवीय, दिव्य, आसुरिक या पैशाचिक हैं, परंतु मनुष्यमें अपने रूपायणोंकी रचना कम या अधिक परिमाणमें, मनुष्यकी महानता या उसकी लघुतामें कर सकती हैं, मनुष्यको विशेष क्षणोंमें या कुछ अवधियोंके लिये पकड़में ले सकती और संचालित कर सकती हैं, उसके अंतर्वेगों या उसके कार्योंको प्रभावित या उसकी सारी प्रकृतिको अधिकृत कर सकती हैं। यदि वैसा अधिकार संपन्न हो जाय तो स्वयं वह मनुष्य सामान्य मानवताकी शुभ या अशुभकी सीमाओंके उल्लंघनकी ओर धकेला जा सकता है; विशेषतः अशुभ ऐसे रूप लेता है जो मानव-मर्यादाकी भावनापर आघात करते हैं, मानवीय व्यक्तित्वकी सीमाओंको पार कर जाते हैं और भीमकाय, अत्यधिक, अपरिमेय जैसे हो जाते हैं। तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि अशुभकी परमता या निरपेक्षताको नहीं मानना कहीं भूल तो नहीं हुआ; कारण, जैसे मनुष्यमें एक निरपेक्ष सत्य-शिव-सुंदरके लिये प्रवृत्ति है, अभीप्सा है, एषणा है, वैसे ही ये वृत्तियाँ—और कष्ट तथा वेदनासे प्राप्य अतिक्रामक तीव्रताएँ भी—एक निरपेक्ष अशुभकी आत्मोपलब्धिके प्रयत्नका संकेत करती लगती हैं। परंतु अपरिमेयता परमता या निरपेक्षताका लक्षण नहीं : कारण, परम या निरपेक्ष

अपने-आपमें परिमाणकी वस्तु नहीं; वह मापसे अतीत है, एकमात्र वृहत्ताके अर्थमें नहीं, अपितु अपनी सार सत्ताकी स्वतंत्रताके अर्थमें भी; वह जैसे अपने-आपको अंनतमें अभिव्यक्त कर सकता है वैसे ही अत्यणुमें भी। यह सच है कि हम ज्यों-ज्यों मानसिकसे आध्यात्मिक स्तरकी ओर जाते हैं,—और यह यात्रा परम या निर्विशेषकी ओर होती है,—एक सूक्ष्म विशालता और एक प्रकाश, शक्ति, शांति, आनंदकी वढ़ती तीव्रता हमारे अपनी सीमाओंको पार करते जानेकी सूचना होती है: परंतु, आरंभमें यह केवल स्वतंत्रताका, ऊँचाईका, विश्वव्याप्तिका चिह्न होती है; तब तक वह स्वयम्भू सत्ताकी अंतर्गूढ़ परमता या निरपेक्षताका चिह्न नहीं होती जो हमारे प्रस्तुत विषयका सार है। इस निरपेक्षता या परम पदकी प्राप्ति अशुभ और वेदनाको नहीं हो सकती, वे तो परिसीमनसे आवद्ध हैं और उत्पन्न वस्तुएँ हैं। यदि वेदना अपरिमेय हो जाती है तो वह या तो अपना या उसीका अंत कर देती है जिसमें वह प्रकट होती है, या तो असंवेदनशीलतामें ढह जाती है या, विरली परिस्थितियोंमें, आनंदके उल्लासमें परिणत हो सकती है। यदि अशुभ अकेला रह जाय और अपरिमेय हो जाय तो वह या तो जगत्को नष्ट कर देगा या उसे नष्ट कर देगा जो उसका आश्रयदाता और धारयिता था; वह विश्वको और अपने-आपको विघटन द्वारा वापस अस्तित्वहीनतामें ले आयगा। निस्संदेह, अंधकार और अशुभका समर्थन करनेवाली शक्तियाँ अपने आत्म-विवर्द्धनके परिमाणसे अनंतताका रूप प्राप्त करनेकी चेष्टा करती हैं, परंतु वे अनंतता नहीं, अपरिमेयता ही प्राप्त कर सकती हैं; या, अधिकसे अधिक, वे अपने तत्त्वको एक प्रकारके अतल अनंतकी भाँति प्रदर्शित कर सकती हैं जो निश्चेतनके समानुपातिक हो, परंतु यह मिथ्या अनंत होता है। स्वयम्भुत्व, वह चाहे स्वरूपभूत हो, चाहे स्वयम्भूमें शाश्वत अंत:स्थितिगत, निरपेक्षताकी शर्त है: भूल-भ्रांति, मिथ्यात्व और अशुभ विश्वशक्तियाँ तो हैं, परंतु अपने स्वरूपमें सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं, कारण, अपने अस्तित्वके लिये वे अपने विरोधियोंके विकार या प्रतिपेधपर निर्भर करते हैं, वे सत्य एवं शिवकी तरह स्वयम्भू निरपेक्ष नहीं, परम स्वयम्भूके अंतर्निष्ठ रूप नहीं।

इन तमोमय विरोधियोंका अस्तित्व अतिभौतिक और प्राग्भौतिक होनेके पक्षमें दिये गये प्रमाणसे एक दूसरी वातका प्रश्न उठता है; कारण, इससे यह इंगित मिलता है कि हो सकता है कि वे अंतमें आद्य विश्वतत्त्व ही हों। परंतु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि उनका प्राकट्य निम्नतर अति-भौतिक प्राणमय स्तरोंकी ऊँचाईतक ही विस्तृत है; वे "वायुदेवकी शक्तियाँ"

हैं,—प्राचीन प्रतीकोंमें वायु प्राणका, और फलतः, मध्यवर्ती लोकोंका तत्त्व था, जहाँ प्राणिक तत्त्व प्रधान और सारभूत है। सुतरां, प्रतिकूल विरोधी विश्वकी मौल शक्तियाँ नहीं, अपितु प्राणकी या प्राणमें मनकी सृष्टियाँ हैं। उनके अतिभौतिक रूपों और पार्थिव प्रकृतिपर उनके प्रभावों-की यह व्याख्या दी जा सकती है कि अवरोही संवरणके लोकोंके साथ-साथ आरोही विवर्तनके समान्तर लोकोंका सह-अस्तित्व है जिनकी सृष्टि ठीक पार्थिव जीवन द्वारा नहीं, वरन् अवरोही जगत्-क्रमके उपप्रांत-रूपमें और क्रमविकासशील पार्थिव रचनाओंके लिये तैयार किये गये अवलंब-रूपमें हुई है; यहाँ अशुभ इस रूपमें प्रकट हो सकता है कि वह समस्त प्राणमें अंतर्निष्ठ नहीं, अपितु एक संभावना और एक पूर्व-रचना है जो निश्चेतन-मेंसे चेतनाके क्रमविकासशील उन्मज्जनमें उसकी रचनाको अवश्यम्भावी कर देती है। यह बात चाहे जैसी भी हो, मिथ्यात्व, भ्रान्ति, प्रमाद और अशुभके उद्गमको हम सबसे अच्छी तरह निश्चेतनाके परिणाम-रूपमें ही देख और समझ सकते हैं, क्योंकि निश्चेतनाकी चेतनाकी ओर वापसी यात्रामें ही ये तत्त्व साकार होते देखे जा सकते हैं और वहीं ये स्वाभाविक, यहाँ तक कि अनिवार्य भी जान पड़ते हैं।

निश्चेतनमेंसे प्रथम उन्मज्जन है जड़, और जड़में, ऐसा लगेगा, मिथ्यात्व और अशुभका अस्तित्व हो नहीं सकता, क्योंकि दोनोंका सृजन एक विभक्त और अज्ञ वहिस्तलीय चेतना और उसकी प्रतिक्रियाओंसे होता है। भौतिक शक्तियों या पदार्थोंमें चेतनाका वहिस्तलपर ऐसा कोई सक्रिय संगठन, ऐसी कोई प्रतिक्रियाएँ नहीं : उनमें जो कोई भी अंतर्वासिनी निगूढ़ चेतना क्यों न हो, वह अद्वय, अभेद, मूक लगती है; जिस 'ऊर्जा'से पदार्थका निर्माण होता है उसमें जड़ भावसे अंतर्निष्ठ और अंतर्भूत रह कर, वह अपने अंदरके नीरव गुह्य 'भाव'से ही रूपको संपादित करती और बनाये रखती है, परंतु अन्य दशाओंमें वह अपने द्वारा सृष्ट ऊर्जाके रूपमें आत्म-मग्न, निर्वाक् और व्यंजनाहीन रहती है। यदि वह अपने-आपको जड़के रूपके अनुसार आत्म-सत्ताके संगत रूपमें विभेदित करती भी है, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव,[1] तो भी वहाँ कोई मनोमय संगठन नहीं, चेतन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंका कोई तंत्र नहीं। यह तो जब चेतन जीवोंके साथ संपर्क होता है तभी भौतिक पदार्थ शुभ या अशुभ कही जा सकनेवाली शक्तियों या प्रभावोंको व्यवहृत कर सकते हैं : परंतु उस शुभ या अशुभका निर्धारण इससे होता है

1 कठोपनिषद् 5.9

कि संस्पृष्ट जीव उन्हें सहायता-रूपमें अनुभव करता है या हानि-रूपमें, उन्हें हितकर अनुभव करता है या अहितकर। ये मूल्य उस भौतिक पदार्थके धर्म नहीं, अपितु उन्हें व्यवहृत करनेवाली किसी शक्तिके होते हैं, या उनकी रचना उस पदार्थसे संपर्क करनेवाली चेतनासे होती है। अग्नि मनुष्यको ऊष्णता देती या उसे जलाती है, यह इसपर निर्भर करता है कि वह स्वेच्छासे उसका उपयोग करता है अथवा उसकी उससे अनचाहे भेंट होती है; औषधीय जड़ी-बूटी उपचार करती है, विष प्राण ले लेता है, परंतु शुभ या अशुभका मूल्य उपयोक्ताके ही द्वारा क्रियान्वित होता है : यह भी द्रष्टव्य है कि विष जैसे प्राणघाती होता है, वैसे ही उपचार भी कर सकता है, औषध उपचार या लाभ कर सकता है तो हानि भी पहुँचा सकता है, प्राण भी ले सकता है। शुद्ध जड़-तत्त्वका जगत् तटस्थ, अनुत्तरदायी है; इन मूल्योंका, जिनपर मानव-प्राणीका इतना आग्रह होता है, भौतिक प्रकृतिमें अस्तित्व नहीं : जैसे एक उच्चतर प्रकृति शुभ और अशुभके द्वन्द्वसे ऊपर उठी रहती है वैसे ही यह निम्नतर प्रकृति उससे नीचेके स्तरमें रहती है। परंतु हम यदि भौतिक ज्ञानके पीछे जायें और गुह्य समीक्षाके निष्कर्षोंको स्वीकार करें तो प्रश्न एक भिन्न रूप लेना आरंभ कर सकता है,—क्योंकि तव हमें यह कहा जाता है कि ऐसे चेतन प्रभाव हैं जो पदार्थोंसे संलग्न होते हैं और शुभ या अशुभ कहे जा सकते हैं; परन्तु यह फिर भी प्रतिपादित किया जा सकता है कि इससे पदार्थकी तटस्थतामें परिवर्तन नहीं होता, उसकी क्रिया किसी व्यष्टिरूपित चेतनासे नहीं, वरन् केवल उस भाँति होती है जिस भाँति कि उसका उपयोग शुभके लिये या अशुभके लिये या एक-साथ दोनोंके लिये किया जाता है : शुभ और अशुभका द्वन्द्व भौतिक तत्त्वका जन्मजात धर्म नहीं, जड़ जगत्में उसका अस्तित्व नहीं।

इस द्वन्द्वका आरंभ होता है सचेतन प्राणसे और प्राणमें मनका विकास होनेसे वह पूरा प्रकट होता है; प्राणमय मन, कामनामय और संवेदनामय मन अशुभके बोध और अशुभकी वास्तविकताका स्रष्टा है। इसके अतिरिक्त, पशु-जीवनमें अशुभकी वास्तविकता तो है, कष्टका अशुभ और कष्टका बोध, हिंसा और क्रूरता, कलह और छलका अशुभ तो हैं, परंतु नैतिक अशुभका बोध अनुपस्थित है; पशु-जीवनमें पाप-पुण्यका द्वन्द्व नहीं, वहाँ सभी कर्म पाप-पुण्यकी भावनाकी ओर तटस्थ हैं, प्राण-रक्षाके लिये, जीवन बनाये रखनेके लिये और प्राणकी सहज प्रवृत्तियोंके लिये सभी कर्म अनुमेय हैं। शुभ और अशुभके संवेदनात्मक मूल्य सुख और कष्टके रूपमें, प्राणिक संतुष्टि और प्राणिक विफलताके रूपमें तो अंतर्निष्ठ हैं, परंतु इनका मान-

सिक भाव, इन मूल्योंको मनका नैतिक प्रत्युत्तर,—ये मानव-प्राणीकी रचना हैं। उतावलीमें यह निष्कर्ष निकाल लिया जा सकता है कि ये अवास्तव हैं, मनके निर्माण मात्र हैं और प्रकृतिके क्रियाकलापोंको ग्रहण करनेका एकमात्र सच्चा मार्ग है या तो तटस्थ उदासीनता या समभावसे स्वीकरण या बौद्धिक रूपसे यह स्वीकरण कि प्रकृति जो कुछ भी करे वह एक दिव्य या प्राकृतिक विधान है जिसमें प्रत्येक वस्तु निष्पक्षतासे स्वीकार्य है, परंतु यह निष्कर्ष सिद्ध नहीं होता। निस्संदेह यह सत्यका एक पहलू है: प्राण और जड़का एक अवयौक्तिक सत्य है जो निष्पक्ष और तटस्थ है और सारी वस्तुओंको प्रकृतिके तथ्योंके रूपमें और प्राणके सृजन, पालन और नाशनके लिये उपयोगी होनेके रूपमें स्वीकार करता है,—यह सृजन, पालन और नाशन विश्वऊर्जाकी तीन आवश्यक गतिधाराएँ हैं जो परस्पर संबंधित रहती हुई अनिवार्य हैं और जिनमें प्रत्येक, अपने-अपने स्थानमें, समान मूल्यवाली है। एक सत्य अनासक्त बुद्धिका भी है जो प्रकृति द्वारा इस भाँति अंगीकृत सब कुछको प्राण और जड़में प्रकृतिकी प्रक्रियाओंके लिये उपादेय होनेके रूपमें देख सकती है और जो कुछ भी है उसका अवलोकन अविचल तथा तटस्थ निष्पक्षता और स्वीकरणके साथ कर सकती है; यह दार्शनिक और वैज्ञानिक बुद्धि है जो विश्वऊर्जाके क्रियाकलापोंकी दर्शिका है और उन्हें समझना चाहती है, परंतु उनके प्रति अपना कोई निर्णय देना व्यर्थ मानती है। आध्यात्मिक अनुभवमें रूपायित होता एक अतियौक्तिक सत्य भी है; वह अनुभव विश्व-संभावनाकी क्रीड़ाका प्रेक्षण कर सकता है, सबको निष्पक्ष भावसे अज्ञान और निश्चेतनाके जगत्के सच्चे और स्वाभाविक लक्षणों और परिणामोंके रूपमें स्वीकार कर सकता है, या सबको प्रशांति और करुणा-भावसे दिव्य क्रियाके अंगके रूपमें अंगीकार कर सकता है, परंतु जब कि वह एक ओर, अशुभके रूपमें जो उपस्थित होता है उससे एकमात्र परित्राणके साधन-रूपमें एक उच्चतर चेतना तथा ज्ञानके जागरणकी प्रतीक्षा करता है, दूसरी ओर, जहाँ जहाँ उसका साहाय्य और हस्तक्षेप सत्यतः सहायक और संभव हों, वहाँ वहाँ सहायता देने और हस्तक्षेप करनेको प्रस्तुत रहता है। परंतु तो भी, चेतनाका यह अन्य मध्यवर्ती सत्य भी है जिससे हमारी शुभाशुभके मूल्यों और उनकी आवश्यकता तथा उनके महत्वके अंकनकी ओर जागृति होती है। यह जागृति, उसके निर्णय विशेषोंका प्रामाण्य या अधिकार चाहे जो कुछ भी हो, क्रमवैकासिकी प्रकृतिकी प्रक्रियामें अनिवार्य डगोंमेंसे एक है।

परंतु तब यह जागृति उद्भूत किससे होती है? मानव-प्राणीमें वह क्या है जो शुभाशुभके बोधका आरंभ करता और उसे उसका बल और

स्थान देता है? हम यदि केवल प्रक्रियाको देखें तो सहमत हो सकते हैं कि प्राणिक मन ही यह विभेद करता है। उसका प्रथम मूल्यन संवेदनात्मक और वैयक्तिक होता है,—जो कुछ भी प्राणमय अहंके लिये प्रिय, सहायक, लाभकारी है, वह शुभ है, जो कुछ भी अप्रिय, अनिष्टकारी, हानिकारक या नाशकारक है, वह अशुभ। उसका अगला मूल्यन उपयोगिता और समाजकी दृष्टिसे होता है: जो कुछ भी संघ-जीवनके लिये सहायक माना जाता है, संघमें रहनेके लिये और संघ-जीवन और उसकी इकाइयोंके उत्तम भरण-पोषण, तृप्ति, विकास, सुव्यवस्थाके हेतु संघको नियमित करनेके लिये व्यक्तिसे जो कोई भी मांग की जाती है, वह शुभ है; समाजकी दृष्टिसे जो कुछ भी विपरीत प्रभाव या प्रवृत्तिवाला है, वह अशुभ है। परंतु तब विचारशील मनका प्रवेश होता है जो अपने संग अपना ही मूल्यांकन लाता है; वह एक बौद्धिक आधार पाना चाहता है, किसी यौक्तिक या सार्वभौम धर्म या नियमका भाव, शायद कर्मका विधान या कोई नैतिक तंत्र पाना चाहता है जो युक्तिपर आधारित हो अथवा किसी सौंदर्यबोधी, भावुक या सुखवादी आधारपर। धर्म आता है अपने अनुशासन साथ लिये; ईश्वरका ऐसा विधान या शब्द होता है जो ऋतपरायणताका आदेश देता है, प्रकृति भले ही उसके विरोधीको अनुमति देती या उद्दीप्त करती हो,—या शायद स्वयं सत्य और ऋत ही ईश्वर हैं, अन्य कोई भगवान् नहीं। परंतु मनुष्यकी नैतिक सहज-प्रवृत्तिके इस सारे व्यावहारिक या बौद्धिक प्रवर्तनके पीछे यह भावना है कि कोई गभीरतर वस्तु भी है: ये सारे मानदंड या तो अति संकीर्ण और अनमनीय या संश्लिष्ट और व्यामिश्र हैं, अनिश्चित हैं, मानसिक या प्राणिक परिवर्तन या क्रमविकास द्वारा परिवर्तनशील हैं; फिर भी यह अनुभव किया जाता है कि एक गभीरतर स्थायी सत्य है और हमारे अंदर ऐसा कुछ है जिसे उस सत्यकी संबोधि हो सकती है,—अन्य शब्दोंमें, सच्चा अनुशासन आंतरिक, आध्यात्मिक और चैत्य है। इस आंतरिक साक्षीका परंपरागत परिचय यह है कि वह विवेक है, हमारे अंदर प्रत्यक्षणकी शक्ति है, अर्ध-मनोमय, अर्ध-संबोधिमूलक। परंतु यह एक वहिस्तलीय, निर्मित और अविश्वसनीय वस्तु है: हमारे अंदर, निश्चय ही, एक गभीरतर आध्यात्मिक बोध है, अंतरात्माकी दृष्टि है, हमारी प्रकृतिमें एक अंतर्जात प्रकाश है, यद्यपि वह कम आसानीसे सक्रिय होता है और सतहके तत्त्वोंसे अधिक अवगुंठित है।

अब, यह आध्यात्मिक या चैत्य साक्षी क्या है, या इसके लिये शुभाशुभकी भावनाका मूल्य क्या है? यह दावा किया जा सकता है कि पाप और

अशुभकी भावनाका एक उपयोग यह है कि शरीरधारी जीवको निश्चेतना और अज्ञानके इस जगत्‌की प्रकृतिका बोध हो जाय, इस जगत्‌के अमंगल और कष्टका ज्ञान, इस जगत्‌के मंगल और सुखकी सापेक्षताका ज्ञान हो जाय और इससे हटकर, जो निरपेक्ष है, उसकी ओर अभिमुख हो जाय। या फिर, इसका आध्यात्मिक उपयोग प्रकृतिको शुभके अनुसरण और अशुभके निराकरण द्वारा शुद्ध करते रहना हो सकता है जिससे कि वह परम शुभको देखने और जगत्‌से हटकर ईश्वरकी ओर मुड़नेको प्रस्तुत हो जाय या, जैसा कि बौद्ध सिद्धांतके नैतिक आग्रहमें है, इसका उपयोग अज्ञानमयी अहं-ग्रंथिके विघटन और व्यक्तित्व तथा दुःखसे छुटकारेकी तैयारीके लिये हो सकता है। परंतु ऐसा भी हो सकता है कि यह जागृति स्वयं क्रमविकासकी एक आध्यामित्क आवश्यकता हो, जीवके अज्ञानसे निकल कर दिव्य एकत्वके सत्यमें प्रवेशकी ओर विकासके लिये और एक दिव्य चेतना एवं दिव्य सत्ताके विकासके लिये एक डग हो। कारण, मन या प्राणकी अपेक्षा, जो या तो शुभकी ओर मुड़ सकता है या अशुभकी ओर, शुभाशुभके विवेकपर अंतरात्मा-पुरुष, चैत्य पुरुष कहीं अधिक बल देता है, साथ ही यह विवेक निरे नैतिक भेदकी अपेक्षा विशालतर अर्थमें होता है। हमारा अंतरात्मा ही सत्य, शिव एवं सुंदरकी ओर सर्वदा अभिमुख होता है, क्योंकि स्वयं उसका आकार इन्हींसे वृद्धि पाता है ; शेष, उनके विपरीत तत्त्व, अनुभवका आवश्यक अंग तो हैं, परंतु सत्ताके आध्यात्मिक वर्द्धनमें उन सबसे आगे बढ़ जाना होगा। हमारे अंदर चैत्य सत्ता जीवनके आनंद और समस्त अनुभवको आत्माकी प्रगतिशील अभिव्यक्तिके अंगके रूपमें लेती है, परंतु उसे जो जीवनका आनंद मिलता है उसका तो विधान ही सारे संपर्कों और घटनाओंमेंसे उनके गुप्त दिव्य अर्थ और सारको, एक दिव्य उपयोग और उद्देश्यको उपलब्ध करना है जिससे कि हमारे मन और प्राण अनुभव द्वारा निश्चेतनामेंसे एक परा चेतनाकी ओर, अज्ञानके विभाजनोंमेंसे एक सर्वांगपूर्णकारी चैतन्य एवं ज्ञानकी ओर प्रगति कर सकें। चैत्य सत्ता वहाँ इसीके लिये है और अपनी नित्य-वर्द्धमान ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति और आग्रहका अनुसरण जीवन-जीवनांतरमें करती रहती है ; अंतरात्माका विकास तममेंसे ज्योतिकी ओर, असत्यमेंसे सत्यकी ओर, दुःखमेंसे स्वकीय परम और सार्वभौम आनंदकी ओर विकास है। अंतरात्माका शुभाशुभका विवेक मनके कृत्रिम मानदंडोंसे भिन्न हो सकता है, परंतु कौन उच्चतर ज्योतिकी ओर संकेत कर रहा है और कौन उससे भिन्न दिशामें, इसका उसे गभीरतर बोध, एक पक्की पहचान रहती है। यह सच है कि जैसे निम्नतर प्रकाश शुभाशुभसे नीचे है, वैसे ही श्रेष्ठतर

आध्यात्मिक प्रकाश शुभाशुभसे परे है; परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि सारी वस्तुओंको निष्पक्ष तटस्थतासे अंगीकार किया जाय या शुभ या अशुभके अंतर्वेगोंका अनुगमन समान रूपसे किया जाय, वरं यह है कि तब सत्ताका एक उच्चतर धर्म प्रवेश करता है जिसमें इन मूल्योंका कोई स्थान या उपयोग नहीं रह जाता। परम सत्यका एक स्वधर्म है जो सारे मानदंडोंसे ऊपर है; एक परम और सार्वभौम शिव है, अंतर्निहित, अंतर्भूत, स्वयम्भू, स्वयंप्रज्ञ, स्वयंचालित एवं स्वयंशासित, परम अनंतकी ज्योतिर्मयी चेतनाकी शुद्ध नमनीयतासे युक्त होनेके कारण अनंत रूपसे नमनीय।

अतएव, यदि अशुभ और मिथ्यात्व निश्चेतनाकी स्वाभाविक उत्पत्तियाँ हैं, अज्ञानकी प्रक्रिया-धारामें निश्चेतनासे प्राण तथा मनके क्रमविकासके स्वयंवह परिणाम हैं, तो हमें यह देखना है कि उनका उद्भव कैसे होता है, उनका अस्तित्व किसपर निर्भर करता है और उनका क्या उपाय है, उनसे क्या निस्तार है। ये व्यापार जिस प्रक्रियासे अस्तित्वमें आते हैं वह निश्चेतनामेंसे मनोमयी और प्राणमयी चेतनाके बाह्य उन्मज्जनमें ही मिलेगी। यहाँ दो निर्धारक तत्त्व हैं,—ओर ये ही मिथ्यात्व और अशुभके युगपत् प्राकटयके निमित्त-कारण हैं। प्रथम, अंतर्निष्ठ ज्ञानकी एक अधःशायिनी चेतना और शक्ति है, जो तब भी गुह्य ही रहती है, और उसके ऊपर एक और परत पड़ी होती है जो प्राणमयी और अन्नमयी चेतनाके अनिर्दिष्ट या अधूरे-गठित उपादानकी कही जा सकती है; उन्मज्जित होते मनको अपना मार्ग इस अँधियाले कठिन माध्यममेंसे होकर निकालना होता है और उस माध्यमपर अपने-आपको एक ऐसे ज्ञान द्वारा आरोपित करना होता है जो तब अंतर्निष्ठ नहीं बल्कि निर्मित ज्ञान होता है, कारण, यह उपादान तब भी निर्ज्ञानसे भरा होता है, जड़-तत्त्वकी निश्चेतनाका भारी बोझ और आच्छादन उसपर डला होता है। तदनंतर उन्मज्जन प्राणके पृथक्कृत रूपमें होता है जिसे अपना प्रतिष्ठापन निर्जीव भौतिक तत्त्वकी जड़ताके विरोधमें और विघटन और आद्या निर्जीव निश्चेतनामें पुनः पतनकी ओर उस भौतिक जड़ताके सतत खिचावके विरोधमें बनाये रखना होता है। इस पृथक्कृत प्राण-रूपको, साहचर्यके एक सीमित तत्त्वका ही सहारा पाते हुए, अपने-आपका प्रतिष्ठापन ऐसे बाह्य जगत्के विरोधमें भी करना होता है जो उसके अस्तित्वका शत्रु न होनेपर भी संकटोंसे भरा है; वह यदि अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना चाहता है तो उसे उस बाहरी जगत्पर अपने-आपको आरोपित करना होगा, जीवन-स्थान जीतना होगा, अपने-आपको व्यक्त करना होगा, अपना संवर्द्धन करना होगा। इन अवस्थाओंमें चेतनाके

उन्मज्जनका परिणाम है एक आत्म-प्रतिष्ठापक प्राणिक और शारीरिक व्यक्तिका विकास, जो प्रकृतिका प्राण और भौतिक तत्त्वको लेकर एक ऐसा निर्माण है जिसके पीछे वह प्रच्छन्न चैत्य या आध्यात्मिक सच्चा व्यक्ति रहता है जिसके लिये प्रकृति प्राकट्यका यह बाह्य साधन रच रही है। जैसे-जैसे मानसताका वर्द्धन होता है, यह प्राणिक और भौतिक व्यक्ति एक निरंतर आत्म-प्रतिष्ठापक मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अहंका अधिक विकसित रूप लेता है। क्रमवैकासिक उन्मज्जनके इन दो आरंभिक और आधारभूत तथ्योंकी बाध्यताके नीचे ही हमारी बहिस्तलीय चेतना और जीवन-प्रकारका, हमारी प्राकृत सत्ताका वर्तमान स्वरूप गठित हुआ है।

चेतनाके प्रथम प्राकट्यमें एक चमत्कारका, एक ऐसी शक्तिका आभास होता है जो जड़-तत्त्वसे विजातीय हो और निश्चेतन प्रकृतिके जगत्में अव्याख्येय रूपसे अभिव्यक्त होती और धीमे-धीमे तथा कठिनाईसे वर्द्धित होती हो। क्षणभंगुर अज्ञ प्राणी ज्ञानका अर्जन करता है, मानों शून्यमेंसे उसका सर्जन करता है, उसे सीखता, वर्द्धित करता, संचित करता है, जब कि उस प्राणीमें जन्मके समय ज्ञान संपूर्णतया अनुपस्थित था या यदि उपस्थित था भी तो ज्ञान-रूपमें नहीं, अपितु इस धीमे-धीमे सीखते अज्ञानके विकासकी अवस्थाके अनुरूप विरासतमें मिले सामर्थ्य-रूपमें ही। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चेतना आद्या निश्चेतना ही है जो मस्तिष्कके कोषाणुओंपर बहिर्जगतके तथ्योंका अभिलेखन यंत्रवत् करती है और उस अभिलेखको स्वचलित रूपसे पढ़ने और अपना उत्तर लिखानेवाले उन कोषाणुओंमें प्रतिवर्त या प्रत्युत्तर होता है; वे अभिलेख, प्रतिवर्त और प्रत्युत्तर मिलकर वह वस्तु हो जाते हैं जो कि चेतना प्रतीत होती है। परंतु स्पष्ट ही, यह संपूर्ण सत्य नहीं, क्योंकि इससे प्रेक्षण और यांत्रिक क्रियाकी व्याख्या तो हो सकती है,—यद्यपि यह स्पष्ट नहीं होता कि कोई अचेतन अभिलेख और प्रत्युत्तर चेतन प्रेक्षणमें, विषयोंके चेतन बोध और आत्म-बोधमें कैसे परिणत हो सकता है,—परंतु भावन, कल्पन और परिकल्पनकी, अपनी प्रेक्षित सामग्रीसे बुद्धिकी निर्बंध क्रीड़ाकी विश्वासदायिनी व्याख्या इससे नहीं होती। चेतना और ज्ञानके विकासकी तब तक कोई व्याख्या नहीं हो सकती जब तक कि वस्तुओंके अंदर प्रच्छन्न चेतना पहलेसे विद्यमान न हो जिसकी अंतर्निहित और सहज शक्तियाँ धीरे-धीरे उन्मज्जित हो रही हों। इसके अतिरिक्त, पशु-जीवनके तथ्य और उन्मज्जित होते मनकी क्रियाएँ हमें इस निष्कर्षके लिये बाध्य करती हैं कि इस प्रच्छन्न चेतनामें एक अंतःशायी ज्ञान या

ज्ञानका बल है जो परिवेशके साथ प्राणके संपर्कोंकी आवश्यकताके कारण सतहपर आता है।

वैयक्तिक पशु-प्राणीको अपने प्रथम चेतन आत्म-प्रतिष्ठापनमें ज्ञानके दो स्रोतोंपर निर्भर करना होता है। चूँकि यह प्राणी निर्ज्ञान और असहाय है, एक अज्ञात जगत्में अनभिज्ञ बाह्य चेतनाका एक स्वल्पांश है, अतएव अंतर्गूढ़ चित्-शक्ति इस बहिस्तलपर संबोधिका उतना न्यूनतम अंश भेज देती है जो उस प्राणीके लिये अपना अस्तित्व बनाए रखने और जीवन तथा जीवन-संरक्षणकी अपरिहार्य क्रियाओंमेंसे गुजरनेके लिये आवश्यक है। यह संबोधि पशुके अधिकारमें नहीं, वरं यह संबोधि ही पशुको अधिकृत रखती और संचालित करती है; यह ऐसी वस्तु है जो किसी आवश्यकताके दबावमें और आवश्यक अवसरके लिये स्वतः ही चेतनाकी प्राणिक और भौतिक धातुके मर्मकोषमें अभिव्यक्त होती है: परंतु, साथ ही, इस संबोधिका एक बहिस्तलीय परिणाम भी संचित होता है और एक स्वतःस्फूर्त सहज-प्रवृत्तिका रूप ले लेता है जो, जब जब उसके लिये अवसर पुनरुपस्थित होता है, कार्य करती है; यह सहज-प्रवृत्ति पशु-जातिका धर्म है और प्रत्येक पशुको उसके जन्मके समय दे दी जाती है। संबोधि जब कभी आती या पुनः उदित होती है, वह सदा निर्भूल होती है; सहज-प्रवृत्ति स्वयमेव सही होती है, यह नियम तो है, परंतु वह भूल कर सकती है क्योंकि जब बाह्य चेतना या अधूरी विकसित बुद्धि हस्तक्षेप करती है, या जब परिवर्तित परिस्थितियोंके कारण आवश्यकता या आवश्यक परिस्थितियाँ न रह जाने पर भी सहज-प्रवृत्ति यंत्रवत् क्रिया करना चालू रखती है, तब सहज-प्रवृत्ति विफल होती या भारी भूल करती है। ज्ञानका दूसरा स्रोत है प्राकृत व्यष्टि-सत्तासे बाहरके जगत्के साथ बाह्य संपर्क; यह संपर्क ही पहले तो एक चेतन संवेदन और ऐंद्रिय प्रत्यक्ष बोधका कारण होता है, तदनंतर बुद्धिका। यदि अंतःशायिनी चेतना न हो तो संपर्कसे किसी प्रत्यक्ष बोध या प्रतिक्रियाकी रचना भी न होगी; संपर्क अवचेतन प्राण-तत्त्व और उसकी प्रथम आवश्यकताओं और चाहोंसे प्राणवंत हो चुकी सत्ताके अवगूढ़ भागको अनुभव और बाह्य प्रत्युत्तरके लिये उद्दीप्त करता है, इसीसे बाह्य संवित् रूप लेना और विकसित होना आरंभ करती है। मूलतः, प्राण-सपर्कोंकी शक्तिसे बहिस्तलीय चेतनाका उन्मज्जन इस तथ्यके कारण होता है कि संपर्कके विषयी और विषय दोनोंमें चित्-शक्ति पहलेसे ही अवगूढ़ बीजावस्थामें विद्यमान है: जब विषयीमें, संपर्कके गृहीतामें, प्राण-तत्त्व तैयार हो जाता, पर्याप्त रूपसे संवेदनशील हो जाता है, तब यह अवगूढ़

चेतना उस उद्दीपनके प्रत्युत्तरमें उन्मज्जित होती है जिससे प्राणिक या प्राणमय मन, पशु-मन, और तव क्रमविकासकी यात्रामें विचारशील वुद्धिकी गठन आरंभ होती है। अंतर्गूढ़ चेतना वहिस्तलके संवेदन और प्रत्यक्ष वोधमें रूपायित हो जाती है, अंतर्गूढ़ शक्ति वहिस्तलके अंतर्वेगमें।

यदि स्वयं यह अंतःशायिनी अवगूढ़ चेतना वाह्य तलपर आ जाय, तो विपयीकी चेतना और विपयकी अंतर्वस्तुओंका साक्षात् मिलना हो जायगा और इसका परिणाम होगा अपरोक्ष ज्ञान। परंतु यह संभव नहीं होता; पहले तो निश्चेतनाके रोधाधिकार (विटो) या विघ्नके कारण, और दूसरे इस कारण कि क्रमविकासका अभिप्राय धीमे-धीमे, एक अपूर्ण परंतु वर्द्धमान वहिस्तलीय संवित्‌मेंसे प्रगति करना है। अतः अंतर्गूढ़ चित्-शक्तिको वाह्य प्राण तथा मनके स्पंदन और चालनमें अपूर्ण अनुवादोंतक सीमित होना होता है, और चूंकि अपरोक्ष संवित् होती नहीं, पीछेकी ओर रोक रखी गयी या अपर्याप्त होती है, अतएव वह परोक्ष ज्ञानके लिये अवयव और सहज प्रवृत्तियाँ विकसित करनेको वाध्य होती है। वाह्य ज्ञान और वुद्धिका यह सृजन एक पहलेसे प्रस्तुत की गयी अनिर्दिष्ट चेतन निर्मितिमें होता है जो वाह्य तलपर सवसे पहला रूपायण है। आरंभमें यह निर्मिति अस्पष्ट संवेदनात्मक वोध और प्रत्युत्तरात्मक अंतर्वेगको साथ लिये चेतनाका एक न्यूनतम रूपायण ही होती है; परंतु जैसे-जैसे प्राणके अधिक संगठित रूप प्रकट होते हैं, इसका वर्द्धन प्राणिक मन और प्राणिक वुद्धिमें होता है जो आरंभमें प्रधानतः यांत्रिक और स्वचलित होती, और केवल व्यावहारिक आवश्यकताओं, कामनाओं और अंतर्वेगोंसे संवंध रखती है। यह सारी क्रिया आरंभमें संवोधिमूलक और सहजंप्रवृत्तिमूलक होती है; अंतःशायिनी चेतना वाह्य अधःस्तरमें प्राण और शरीरकी चेतन धातुकी स्वचलित गतियोंमें अनूदित होती है: मनकी गतियाँ, जव वे प्रकट होती हैं, इन स्वचलित गतियोंमें ग्रस्त हो जाती हैं, वे सर्व-प्रमुख प्राणमय ऐंद्रिय अंकनके अंतर्गत अधीनस्थ मनोमय अंकनके रूपमें होती हैं। परंतु, धीरे-धीरे, मन अपने-आपको वियुक्त करनेका कार्य आरंभ करता है; वह तव भी प्राणकी सहज-प्रवृत्ति, प्राणकी आवश्यकता और प्राणकी कामनाके लिये कार्य करता है, परंतु उसके अपने वैशिष्ट्य,—प्रेक्षण, आविष्कार, कौशल, अभिप्राय, अभिप्रायका क्रियान्वयन,—वाहर आते हैं, और साथ ही, संवेदन और अंतर्वेग अपने साथ भावावेगको संयुक्त कर लेते और अपरिष्कृत प्राणिक प्रतिक्रियामें सूक्ष्मतर और अधिक सुकुमार भावुक प्रवृत्ति और मूल्य ले आते हैं। मन तव भी प्राणमें वहुत उलझा रहता है और उसकी उच्चतम शुद्ध

मनोमयी क्रियाएँ सामने नहीं आतीं ; वह सहज-प्रवृत्ति और प्राणिक संबोधिकी एक विशाल पृष्ठभूमिको अपने अवलंब के रूपमें लेता है, और जो बुद्धि विकसित हुई होती है, वह यद्यपि पशुके जीवन-क्रमके उन्नयनके साथ-साथ निरंतर वर्द्धित होती जाती है, फिर भी एक और अधिरचना ही होती है।

जब पशु-आधारके साथ मानव-बुद्धि जुड़ जाती है तब भी यह आधार विद्यमान और सक्रिय रहता है, परंतु यह चेतन संकल्प और अभिप्रायके द्वारा बहुत परिवर्तित, सूक्ष्मीकृत और उन्नीत हो गया होता है ; सहज-प्रवृत्ति और प्राणिक संबोधिका स्वचलित जीवन क्षीण हो जाता है और आत्म-संविद् मानस-बुद्धिकी तुलनामें अपना आदि सर्वप्रधान अनुपात नहीं रख पाता। संबोधिका संबोधित्व कम विशुद्ध हो जाता है : जब सबल प्राणिक संबोधि होती है तब भी उसका प्राणिक स्वरूप मनोधर्मसे आच्छन्न हो जाता है, और मनोमयी संबोधि बहुत प्रायः एक मिश्रण होती है, शुद्ध वस्तु नहीं, क्योंकि उसे मनोमय रूपमें चालू और व्यवहार्य करनेके लिये उसमें कोई मिश्रधातु जोड़ दी जाती है। पशुमें भी बहिस्तलकी चेतना संबोधिको बाधा दे सकती या बदल दे सकती है, परंतु उसका सामर्थ्य कम रहनेके कारण वह प्रकृतिकी स्वचलित, यांत्रिक या सहज-प्रवृत्तिमूलक क्रियामें कम हस्तक्षेप करती है : मनोमय मनुष्यमें जब संबोधि बाहरी सतहकी ओर उठती है, तो वहाँ पहुँचनेसे पहले ही वह तुरंत पकड़ ली जाती है और मानस-बुद्धिके पदोंमें अनूदित कर दी जाती है, साथमें उसपर कोई टीका या मानसिक व्याख्या जोड़ दी जाती है जिससे उस ज्ञानका मूल छिप जाता है। सहज-प्रवृत्ति भी हाथमें ली जाती है, मनोधर्मिणी कर दी जाती है, और इस तरह अपने संबोधि-धर्मसे वंचित कर दी जाती है, और उस परिवर्तनके फल-स्वरूप वह कम सुनिश्चित हो जाती है, किंतु वस्तुओंके अनुकूलीकरण और आत्म-अनुकूलीकरणकी जो नमनीय शक्ति बुद्धिका धर्म है, उस शक्तिने यदि सहज-प्रवृत्तिका स्थान नहीं भी लिया हो, सहज-प्रवृत्तिको उसकी सहायता अधिक प्राप्त होती ही है। प्राणमें मनका उन्मज्जन विकसित होती चित्-शक्तिके परास और सामर्थ्यमें अपरिमेय वृद्धि ले आता है, परंतु वह भूलके परास और सामर्थ्यमें भी अपरिमेय वृद्धि ले आता है। कारण, क्रमविकसनशील मनके पीछे भूल सदा ही छायाकी तरह लगी चलती है, वह छाया चेतना और ज्ञानकी कायाके वर्द्धनके साथ-साथ वर्द्धित होती जाती है।

यदि क्रमविकासमें बहिश्चेतना संबोधिकी क्रियाकी ओर सर्वदा खुली रहती तो भूल-भ्रांतिका प्रवेश संभव नहीं होता। कारण, संबोधि प्रकाशका

एक किनारा है जिसे अंतर्गूढ़ अतिमानसने वाहर उत्क्षिप्त किया है, और इसका परिणाम उन्मज्जनशील ऋत-चित् होगा, जो चाहे कितना ही सीमित क्यों न हो अपनी क्रियामें सुनिश्चित होगा। सहज-प्रवृत्ति, उसे यदि रूप लेना होता, संबोधिके प्रति नमनीय होती और क्रमवैकासिक परिवर्तन तथा आंतरिक पर्यावारिक परिस्थितिके परिवर्तनके प्रति अपने-आपका अनुकूलीकरण स्वच्छंदतासे करती। बुद्धि, उसे यदि रूप लेना होता, संबोधिकी अनुसेविका और उसकी ठीक-ठीक मानसिक अभिव्यक्ति होती ; उसकी दीप्ति संभवतः एक ह्लसित क्रियाके लिये हल्की कर दी गई होती जो अभीकी तरह प्रधान नहीं, अपितु गौण कार्य और गतिके रूपमें स्थान लेती, परंतु तव वह पथभ्रष्ट होकर अनियत नहीं होती, अपने अप्रकाशके अंगोंके कारण गिरकर मिथ्या या भ्रमशील नहीं होती। परंतु ऐसा हो नहीं सका ; कारण, मन और प्राणको अपनी अभिव्यक्ति करनी होती है वाह्य उपादान जड़-तत्त्वमें जिसपर निश्चेतनाका आधिपत्य है, और यह आधिपत्य वाह्य चेतनाको अंधकारावृत और अंदरके प्रकाशके प्रति अ-प्रत्युत्तरशील कर देता है ; इसके अतिरिक्त उसे इस ओर प्रवृत्त किया जाता है कि वह इस दोषसे प्रीति करे, अव्याख्येय आंतरिक सूचनाओंके स्थानपर अपनी ही अपूर्ण, परंतु अधिक अच्छी तरह गृहीत स्पष्टताओंको अधिकाधिक प्रतिष्ठित करे, कारण, ऋत-चित्का द्रुत विकास प्रकृतिमें अभिप्रेत नहीं है। वस्तुतः प्रकृतिने पद्धति चुनी है एक धीमे और कठिन क्रमविकासकी, जिसमें विकसित होती निश्चेतना अज्ञानमें परिणत होती है और अज्ञान एक मिश्रित, परिवर्तित और आंशिक ज्ञानका रूप लेता है जिसके वाद ही वह उच्चतर ऋत-चित् एवं सत्यात्मक ज्ञानमें रूपांतरित होनेके लिये तैयार हो सकता है। यह उच्चतर रूपांतर संभव किया जा सके इसके पूर्वकी आवश्यक संक्रमण-भूमिका हमारी अपूर्ण मानस-वुद्धि है।

व्यावहारिक वास्तविकतामें चित्-सत्ताके दो छोर हैं जिनके वीच क्रमवैकासिक प्रक्रिया कार्य करती है, एक है वाह्य तलकी निर्ज्ञानता जिसे क्रमशः ज्ञानमें परिवर्तित होना है, और एक है अंतर्गूढ़ चित्-शक्ति जिसमें ज्ञानकी सारी शक्ति है और जिसे निर्ज्ञानतामें धीरे-धीरे अभिव्यक्त होना है। वाह्य निर्ज्ञानता, जिसमें अवधारण और प्रज्ञान दोनोंका अभाव है, ज्ञानमें इस कारण परिवर्तित हो सकती है कि चेतना वहाँ उसमें संवृत है ; वह यदि अंतर्भूत रूपसे चेतनाका संपूर्ण अभाव होती तो परिवर्तन असंभव होता : परंतु फिर भी वह चेतन होनेका प्रयत्न करती निश्चेतनाकी तरह कार्य करती है ; आरंभमें वह आवश्यकता और वाह्य आघातसे अनुभव

और प्रत्युत्तरके लिये बाध्य होती निर्ज्ञानता है और इसके बाद है जाननेका उद्यम करता अज्ञान। इसके लिये जिस साधनका उपयोग किया जाता है वह है जगत् और उसकी शक्तियों तथा पदार्थोंसे संपर्क, जो दो लकड़ियोंकी रगड़की तरह संवित्का स्फुलिंग उत्पन्न करता है; अंदरसे उठता प्रत्युत्तर उसी स्फुलिंगका अभिव्यक्तिमें छलाँग लगाना है। परंतु ज्ञानके अंतःशायी स्रोतसे आते प्रत्युत्तरको ग्रहण करनेमें बाह्य तलकी निर्ज्ञानता उसे मद्धिम और परिवर्तित करके एक अप्रकाशित और असंपूर्ण वस्तु बना देती है; संपर्कको उत्तर देती संबोधिका एक अपूर्ण या भ्रांत ग्रहण होता है: फिर भी, इस प्रक्रियासे प्रत्युत्तरशील चेतनाका सूत्रपात, अंतर्निहित या अभ्यासबद्ध सहज-प्रवृत्तिमूलक ज्ञानका प्रथम संचय आरंभ होता है, और इसके पीछे ग्रहणशील संवित्की, समझनेकी, कर्मके उत्तरकी, कर्मके पूर्वदृष्टिशाली प्रवर्तनकी, पहले आरंभिक, और बादमें वर्द्धित क्षमता आती है,—यह एक क्रमविकसनशील चेतना है जो अर्ध-ज्ञान, अर्ध-अज्ञान है। जो सब अज्ञात है उसकी ओर उसका हाथ ज्ञातके आधारपर ही बढ़ता है; परंतु, चूँकि यह ज्ञान अपूर्ण होता है, वस्तुओंके संपर्कोंको अपूर्ण रूपसे ग्रहण करता और अपूर्ण रूपसे प्रत्युत्तर देता है, अतः जैसे संबोधिमूलक प्रत्युत्तरका भ्रांत ग्रहण या विरूपण किया जाता है, वैसे ही नये संपर्कका भी भ्रांत ग्रहण किया जा सकता है,—भूल-भ्रांतिके ये दो स्रोत हो सकते हैं।

इन अवस्थाओंमें यह स्पष्ट है कि जो चेतना निर्ज्ञानसे आरंभ करती और व्यापक निर्ज्ञानके उपादानमें कार्य करती है, ज्ञानकी ओर उसके धीमे क्रमविकासमें भूल-भ्रांति एक आवश्यक संगिनी, लगभग एक आवश्यक अवस्था और यंत्र, एक अपरिहार्य डग या भूमिका है। क्रमविकासशील चेतनाको परोक्ष साधनसे ज्ञान प्राप्त करना होता है जिससे आंशिक निश्चितता भी नहीं मिलती; कारण, आरंभमें, विषयके साथ संपर्कसे केवल किसी स्थूलधर्मी आकार या चिह्न, प्रतिबिंब या स्पंदनकी रचना होती है, उसके परिणाममें प्राणिक संवेदन होता है, और इनकी मन और इंद्रियोंसे व्याख्या करनी होती है और इन्हें तदनुरूप मनोमय भाव या आकारमें परिणत करना होता है। जो वस्तुएँ इस प्रकार अनुभूत की गयी और मन द्वारा जानी गयी हैं उन्हें एक साथ संबंधित करना होता है, अज्ञात वस्तुओंका प्रेक्षण करना होता है, आविष्कार करना होता है, उन्हें अनुभव और ज्ञानकी अर्जित की जा जा चुकी राशिमें यथास्थान बैठना होता है। प्रत्येक डगपर तथ्य, तात्पर्य, निर्णय, व्याख्या और संबंधकी विभिन्न संभावनाएँ उपस्थित होती हैं; कुछको जाँचना और त्यागना और कुछको स्वीकार और पुष्ट करना होता

है : ज्ञान-प्राप्तिके सुयोगोंको सीमित किये बिना भूल-भ्रांतिको बाहर रखना असंभव है। प्रेक्षण मनका पहला साधन है, परंतु स्वयं प्रेक्षण एक सम्मिश्र प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक डगपर अज्ञ प्रेक्षिका चेतनाकी भूलोंकी संभावना रहती है; तथ्यको इंद्रियों और ऐंद्रिय मन द्वारा भ्रांत रूपसे ग्रहण करना, कुछको छोड़ देना, गलत चुनाव करना, गलत साथ-साथ रखना, व्यक्तिगत संस्कारवश या व्यक्तिगत प्रतिक्रियाके परिणाम-स्वरूप अचेतन रूपसे जोड़ जाड़ करना, इनसे एक मिथ्या या एक अपूर्ण मिले-जुले चित्रकी रचना होती है; इन भूल-भ्रांतियोंमें बुद्धिकी अनमिति, निर्णय, तथ्योंकी व्याख्याकी भूल-भ्रांतियाँ जुड़ जाती हैं: यदि आधार-सामग्री ही अनिश्चित या अपूर्ण हो तो उसपर बनाये निष्कर्षोंको भी अनिश्चित और अपूर्ण होना ही चाहिये।

अपने ज्ञानोपार्जनमें चेतना ज्ञातसे अज्ञातकी ओर बढ़ती है; वह अर्जित अनुभवों, स्मृतियों, संस्कारों, निर्णयोंकी इमारत बनाती है, वस्तुओंका एक मिला-जुला मानसिक चित्र बनाती है जिसका स्वरूप एक चंचल और नित्य परिवर्तनीय स्थिरताका होता है। नये ज्ञानके ग्रहणमें जो कुछ भी ग्रहण होनेको आता है वह भूतकालके ज्ञानके प्रकाशमें निर्णीत किया जाता और उस इमारतमें जँचा दिया जाता है; यदि वह ठीकसे नहीं जँच सकता है तो उसे या तो किसी तरह चूलके सहारे अंदर बैठा दिया जाता या उसका परित्याग कर दिया जाता है: परंतु विद्यमान ज्ञान और उसकी इमारतें या मानदंड ज्ञानके नये विषय या नये क्षेत्रपर लागू नहीं होनेवाले हो सकते हैं, वह जँचा दिया जाना गलत जँचा दिया जाना हो सकता है या वह परित्याग भ्रांत प्रत्युत्तर हो सकता है। तथ्योंके भ्रांत ग्रहण और गलत व्याख्याके साथ ज्ञानका अपप्रयोग, अपसम्मिलन, अपनिर्माण, अपनिरूपण, मानसिक भूल-भ्रांतिका संश्लिष्ट यंत्रविन्यास भी जुड़ जाते हैं। हमारे मानसिक अंगोंकी इस सारी आलोकित धूमिलतामें एक अंतर्गूढ़ संबोधि कार्य करती है, एक सत्य-प्रवृत्ति रहती है जो गलतको सुधारती या बुद्धिको इस ओर प्रवृत्त करती है कि वह गलतको सुधारे, विषयोंके सच्चे चित्र और सच्चे व्याख्याकारी ज्ञानकी दिशामें उद्योग करे। परंतु मनुष्यका मन संबोधिकी सूचनाओंको भ्रांत रूपसे ग्रहण करता है और फलतः मानव-मनमें स्वयं संबोधि सीमित हो जाती है और अपने स्वाधिकारसे क्रिया नहीं कर सकती; कारण, संबोधि चाहे शारीरिक हो चाहे प्राणिक या मानसिक, ग्रहण किये जानेके लिये उसे नग्न और शुद्ध रूपमें नहीं, अपितु मानसिक लेप लगा कर या प्रचुर मानसिक वस्त्रसे संपूर्णतया आवरित होकर ही उपस्थित होना पड़ता है; इस भाँति छद्मवेश धारण करनेके बाद उसका सच्चा स्वरूप

पहचानमें नहीं आ सकता और मनके साथ उसका क्या संबंध है, उसका क्या कार्य है, यह समझमें नहीं आता, और उसकी क्रियाविधि उतावली और अर्ध-संविद् मानव-बुद्धि द्वारा उपेक्षित हो जाती है। वास्तविकताकी संबोधि होती है, संभावनाकी संबोधि होती है, वस्तुओंके पीछे अवस्थित निर्धारक सत्यकी संबोधि होती है, परंतु मन इनमें प्रत्येकको एकके बदले अन्य दूसरी ही समझ लेनेकी भूल किया करता है। अर्ध-गृहीत सामग्रीको लेकर बुरी तरह भ्रमित हो जाना और उससे परीक्षणात्मक निर्माण करना, आत्मा और जगत्की आकृतिका ऐसा प्रतिरूप या मानसिक ढाँचा बनाना जो अनम्य होता हुआ भी विश्रृंखल, अर्ध-गठित, अर्ध-व्यवस्थित, अर्ध-अव्यवस्थित, अर्ध-सत्य और अर्ध-भ्रांत, परंतु सर्वदा अपूर्ण होता है, यही मानव-ज्ञानका स्वरूप है।

तथापि भूल-भ्रांति अपने-आपमें मिथ्यात्व नहीं कही जायगी। वह केवल सत्यकी अपूर्णता होगी, संभावनाओंका एक जाँचा जाना, एक परीक्षण होगी : कारण, जब हम जानते नहीं तब न जाँची हुई और अनिश्चित संभावनाओंको स्वीकार करना होता है, और परिणाममें यदि विचारकी अपूर्ण या अनुपयुक्त इमारत ही बनती हो, तो भी उसका औचित्य यह ठहर सकता है कि उससे नवीन ज्ञानके द्वार अप्रत्याशित दिशाओंमें खुलते हैं और या तो उसका विघटन और पुनर्निर्माण या उसने जो सत्य छिपा रखा था उसका आविष्कार हमारे ज्ञान या हमारे अनुभवकी वृद्धि कर सकेगा। मिश्रणकी रचना होनेके बावजूद भी चेतना, बुद्धि और युक्तिकी वृद्धि इस मिश्रित सत्यके बीचमेंसे होकर आत्म-ज्ञान और जगत्-ज्ञानकी स्पष्टतर और सत्यतर आकृतिको प्राप्त कर सकी है। आद्या और आवरिका निश्चेतनाकी बाधा ह्रसित होगी, और वर्द्धित होती मनश्चेतना ऐसी स्पष्टता और संपूर्णताको प्राप्त करेगी जो यह संभव करेगी कि अपरोक्ष ज्ञान और संबोधि-मूलक प्रक्रियाकी छिपी शक्तियाँ उन्मज्जित हों, तैयार किये गये और प्रबुद्ध उपकरणोंका उपयोग करें और मानस-बुद्धिको क्रमवैकासिक बाह्य तलपर अपनी सच्ची अभिकर्त्री और सत्य-निर्मात्री बनायें।

परंतु यहाँ क्रमविकासकी दूसरी स्थिति या उसके दूसरे तत्त्वका प्रवेश होता है; कारण, ज्ञानकी यह खोज कोई निर्व्यक्तिक मानसिक प्रक्रिया नहीं है जो मानस-बुद्धिकी सर्वसामान्य सीमाओंसे ही बाधा पाती हो : अहं भी है, शारीरिक अहं, प्राणिक अहं, जो आत्म-ज्ञानके लिये नहीं, वस्तुओंके सत्य और जीवनके सत्यके आविष्कारके लिये नहीं, अपितु प्राणिक आत्म-प्रतिष्ठापनके लिये तुला रहता है; फिर मनोमय अहं भी है जो अपने ही आत्म-प्रतिष्ठापनके लिये तुला है और प्रधानतः प्राणिक प्रवृत्ति द्वारा उसकी

प्राणिक कामना और प्राणिक उद्देश्यके लिये निर्देशित होता है। कारण, जैसे-जैसे मन विकसित होता है, एक मनोमय व्यक्तित्वका भी विकास होता है जिसके साथ मानसिक प्रवृत्तिका व्यक्तिगत चालन रहता है, एक अपना मनोस्वभाव, एक अपनी ही मानसिक रचना रहती है। यह बाह्य मनोमय व्यक्तित्व अहं-केंद्रिक है; वह जगत्, वस्तुओं और घटनाओंको अपने ही दृष्टिकोणसे देखता है, उन्हें उस रूपमें नहीं जिसमें वे हैं, अपितु उस रूपमें देखता है जिसमें उनका उसपर प्रभाव पड़ता है: वस्तुओंका प्रेक्षण करनेमें वह उन्हें वैसा मोड़ दे देता है जो उसकी अपनी प्रवृत्ति और प्रकृतिके अनुकूल होता है और अपनी ही मनोभिरुचि और सुविधाके अनुसार सत्यका चुनाव या परित्याग, उसका विन्यास करता है; प्रेक्षण, निर्णय, युक्ति-विचार, ये सब इस मनोमय व्यक्तित्वसे निर्धारित या प्रभावित होते और वैयक्तिकता तथा अहंकी आवश्यकताओंके लिये आत्मसात् किये जाते हैं। जब मन सत्य और युक्तिकी शुद्ध निर्व्यक्तिकताके लक्ष्यके लिये अधिकतम प्रयास करता है तब भी शुद्ध निर्व्यक्तिकता उसके लिये असंभव है; अधिकसे अधिक प्रशिक्षित, कठोर और सतर्क बुद्धि भी तथ्य और भावके ग्रहणमें और उसके मानसिक ज्ञानके निर्माणमें उसके द्वारा दी जाती मरोड़ों और मोड़ोंको नहीं देख पाती। यहाँ हमें सत्यकी विकृतिका एक लगभग अक्षय स्रोत मिलता है, मिथ्या ज्ञानका कारण मिलता है, भूल-भ्रांतिके लिये अचेतन या अर्धचेतन इच्छा मिलती है, भावों या तथ्योंका सत्य और मिथ्याके प्रत्यक्षण द्वारा नहीं, अपितु अभिरुचि, व्यक्तिगत अनुकूलता, व्यक्तिगत प्रकृतिके निर्वाचनके आधारपर पूर्व-निर्णयसे स्वीकार किया जाना मिलता है। यहाँ मिथ्यात्वके वर्द्धनके लिये उपजाऊ बीज-भूमि है अथवा एक या अनेक द्वार हैं जिनसे होकर मिथ्यात्व चोरीसे या अपहरणकारी, किंतु स्वीकार्य, बल-प्रयोगसे प्रवेश कर सकता है। सत्य भी अंदर प्रवेश कर सकता और वहाँ अपना आवास बना सकता है, किंतु स्वाधिकारसे नहीं, अपितु मनकी इच्छापर आश्रित रहकर।

सांख्य मनोविज्ञानकी भाषामें हम मनोमय व्यक्तित्वके तीन प्रकार देख सकते हैं: तामसिक,—अंधकार और जड़ताके तत्त्वसे शासित, निश्चेतनाकी प्रथम संतान; राजसिक,—भाव-संवेग और क्रियाशीलताकी शक्तिसे शासित; सात्त्विक,—प्रकाश, सामंजस्य और संतुलनके तत्त्वके साँचेमें ढला हुआ। तामसिक बुद्धिका आसन अन्नमय मनमें है: वह बुद्धि किसी माने हुए उत्स या अधिकारी सूत्रसे आते जिन भावोंको जड़ता, अंधता और निष्क्रियतासे ग्रहण करती है, इनके अलावा अन्य भावोंके प्रति जड़ है, उनको ग्रहण करनेमें कुन्द है; वह अपने अभिवर्द्धनके लिये अनिच्छुक है, नये उद्दीपनकी उपेक्षा

करती है, रूढ़िप्रिय और अचल है; उसे ज्ञानकी जो इमारत प्राप्त है उसीसे वह चिपकी रहती है और पुनरावृत्तिकारी व्यावहारिकता उसका एकमात्र वल है, परंतु इस बलकी सीमा जो अभ्यासगत, स्पष्ट, स्थापित और परिचित है और सुरक्षित भी हो चुका है उसी तक जाती है, जो कुछ भी नया है और उसमें खलल डाल सकता है उस सबको यह बुद्धि दूर हटाती है। राजसिक बुद्धिका मुख्य आसन प्राणमय मनमें है और वह दो प्रकारकी होती है: एक वह है जो उग्रता और भावावेगके साथ रक्षणात्मक है, अपने मनोमय व्यक्तित्वके लिये और जो कुछ उसके अनुकूल है, जो कुछ उसकी इच्छाभिरुचि चाहती है, जो कुछ उसके दृष्टिकोणसे सम्मत है, इन सबके लिये आग्रहशील है, परंतु जो कुछ उसके मनोमय अहं-निर्माणके प्रतिकूल या उसकी व्यक्तिगत बौद्धिकताको अस्वीकार्य है उसके प्रति आक्रामक है; दूसरे प्रकारकी वह है जो नयी वस्तुओंके लिये उत्साहपूर्ण है, रागावेशमयी, आग्रही, उतावली, प्रायः मर्यादासे अधिक सचल, अस्थिर और सदा अशांत है, अपने भावमें सत्य और प्रकाशसे नहीं, अपितु बौद्धिक संग्राम और संचलन और अभियानके उत्साहसे शासित होती है। सात्त्विक बुद्धिको ज्ञानका चाव है, ज्ञानकी ओर जितना खुल सकती है खुली हुई है, जो कुछ भी सत्यके रूपमें मान्य होकर उसके सामने आता है उसपर विचार करने, उसके सत्यको जाँचने और तौलने, उसे अपनी दृष्टिके अनुकूल और समंजस करनेको वह सावधान है, जो कुछ वह आत्मसात् कर सकती है उसे ग्रहण करती हुई, सत्यको सामंजस्यपूर्ण बौद्धिक संरचनाके रूपमें निर्मित करनेमें कुशल है: परंतु चूँकि उसका प्रकाश सीमित है, जैसा कि समस्त मनोमय प्रकाश होगा ही, अतः वह अपना इतना अभिवर्द्धन करनेमें असमर्थ है जिससे वह सकल सत्य और सकल ज्ञानको समान रूपसे ग्रहण कर सके; उसका एक मनोमय अहं है, यहाँ तक कि प्रबुद्ध अहं भी है, और वह अपने प्रेक्षण, निर्णय, युक्तिविचार, मानसिक चुनाव और अभिरुचिमें उस अहंसे शासित होती है। अधिकतर मनुष्योंमें इन गुणोंमेंसे किसी एकका प्रधानाधिपत्य होता है, परंतु साथ ही मिश्रण भी रहता है; वही मन एक दिशामें उन्मीलित, नमनीय और सामंजस्यमय हो सकता है, दूसरीमें क्रियाशील और प्राणिक, उतावला, पूर्वाग्रहयुक्त तथा असंतुलित हो सकता है, फिर तीसरीमें अंधकारमय और अग्रहणशील हो सकता है। व्यक्तित्व द्वारा यह परिसीमन, व्यक्तित्वका यह रक्षण और जो कुछ आत्मसात् किये जानेके योग्य नहीं उसे ग्रहण करनेसे यह इनकार, व्यष्टि-जीवके लिये आवश्यक है; कारण, अपने क्रमविकासमें वह जिस मंजिलपर पहुँचा है, उसकी एक विशेष स्वाभिव्यंजना है, एक विशेष

प्रकारका अनुभव और अनुभवका उपयोग है जो प्रकृतिको, कमसे कम मन और प्राणके लिये तो अवश्य ही, शासित करेगा; उस समयके लिये वही उसकी सत्ताका विधान, उसका धर्म है। व्यक्तित्वके द्वारा मनश्चेतनाका और मानसिक प्रकृति तथा अभिरुचिके द्वारा सत्यका यह सीमायन हमारी प्रकृतिका नियम तब तक रहेगा ही जब तक कि व्यक्ति विश्वत्वको प्राप्त नहीं कर ले, मनके अतिक्रमणकी तैयारी नहीं करने लगे। परंतु यह स्पष्ट है कि यह अवस्था अनिवार्य रूपसे भूल-भ्रांतिका उत्स है और किसी भी क्षण ज्ञानके मिथ्या ज्ञानमें परिवर्तनका, अचेतन या अर्ध-इच्छित आत्म-वंचनाका, सच्चे ज्ञानको अस्वीकार करनेका, स्वीकार्य झूठे ज्ञानको सच्चे ज्ञानके रूपमें प्रतिष्ठित करनेकी उद्यतताका कारण बन सकती है।

यह ज्ञानके क्षेत्रकी बात हुई, परंतु यही नियम इच्छा और कर्मपर लागू होता है। अज्ञानमेंसे एक गलत चेतनाका सृजन होता है जो लोगों, वस्तुओं और घटनाओंके संपर्कके प्रति गलत क्रियात्मक प्रतिक्रिया करती है: निगूढ़ अंतरतम चेतनासे, चैत्य पुरुषसे, क्रियाके लिये या क्रियाके विरोधमें जो सुझाव आते हैं उनकी उपेक्षा करने, उन्हें गलत तरहसे समझने या न माननेका अभ्यास बाह्य तलकी चेतनाको हो जाता है; उसके स्थानपर वह अप्रबुद्ध मानसिक तथा प्राणिक सुझावोंको उत्तर देती या प्राणिक अहंकी मांगों और प्रवर्तनोंके अनुसार कार्य करती है। यहाँ क्रमविकासकी प्राथमिक अवस्थाओंमें दूसरी, जो पृथक् प्राण-सत्ताका उसके लिये अनात्म रहनेवाले जगत्में अपना ही प्रतिष्ठापन करनेका विधान है, प्रधान हो जाती और विपुल महत्व धारण कर लेती है। यहीं बाह्य प्राणिक व्यक्तित्व या प्राण-पुरुष अपनी प्रमुखताकी घोषणा करता है, और अज्ञ प्राण-सत्ताकी यह प्रमुखता विसंवाद और असामंजस्यका एक प्रधान सक्रिय स्रोत, जीवनके आंतरिक और बाह्य विक्षोभोंका एक कारण, अपकर्म और अशुभका एक मुख्य स्रोत होती है। हमारे अंदर प्राकृत प्राणमय तत्त्व, जहाँ तक वह अनवरुद्ध या अप्रशिक्षित रहता या अपना आदिम स्वभाव बनाये रखता है, सत्य या ऋत-चेतना या ऋत-कर्मसे संबंध नहीं रखता; वह तो संबंध रखता है आत्म-प्रतिष्ठापनसे, प्राण-वृद्धिसे, अधिकारसे, अंतर्वेगकी तुष्टिसे, कामनाकी सारी संतुष्टियोंसे। प्राण-पुरुषकी यह मुख्य आवश्यकता और मांग उसे सर्व-महत्वपूर्ण प्रतीत होती है; वह सत्य या न्याय या शुभ या अन्य किसी भी बातपर विचार किये बिना उसे पूरी करनेको तैयार रहता है: परंतु चूँकि वहाँ मन भी है और उसमें ये धारणाएँ होती हैं, चूँकि वहाँ अंतरात्मा भी है और उसे ये आंतरात्मिक अनुभूतियाँ होती हैं, अतः

वह मनपर अपनी प्रधानताकी स्थापनाका और इस बातका प्रयत्न करता है कि मन उसकी आज्ञाको मानता हुआ उसीकी आत्म-प्रतिष्ठापनकी इच्छाके लिये अनुमोदन और कार्यान्वयनका आदेश दे, उसके अपने ही प्राणिक प्रस्थापनों, अंतर्वेगों और कामनाओंके सत्य, न्याय्य और शुभ होनेका निर्णय दे। वह संपूर्ण आत्म-प्रतिष्ठापनके लिये स्थान पा सकनेके लिये ही अपना औचित्य सिद्ध करनेमें रुचि रखता है। परंतु यदि वह मनका अनुमोदन प्राप्त कर सके तो वह इन सारे मानदंडोंकी उपेक्षा करने और केवल एकको, प्राणिक अहंकी संतुष्टि, वृद्धि, बल और महत्ताके मानदंडको ही खड़ा करनेको बिलकुल तत्पर रहता है। प्राण-पुरुषको स्थान और प्रसारकी, अपने जगत्पर अधिकारकी, वस्तुओं और प्राणियोंपर प्रधानता और नियंत्रणकी अपेक्षा है; वह जीवनके लिये स्थान, सूर्यके प्रकाशमें खुला स्थान चाहता है, आत्म-प्रतिष्ठापन और अतिजीविता चाहता है। इन्हें वह अपने लिये और जिनके साथ उसका साहचर्य है उनके लिये, निजके अहं और सामूहिक अहंके लिये, चाहता है; उसे उनकी आवश्यकता अपने भावों, मतों, आदर्शों, हितों और कल्पनाओंके लिये है: कारण, उसे अहंता और ममताके इन रूपोंका आग्रह करना और उन्हें अपने चारों ओरके जगत्पर आरोपित करना होता है, या यदि ऐसा करनेको वह पर्याप्त सबल न भी हो तो उसे, कमसे कम, उनका बचाव और संरक्षण तो दूसरोंके विरोधमें यथाशक्ति और यथासाधन करना ही पड़ता है। यह कार्य वह ऐसे साधनोंसे करनेका प्रयत्न कर सकता है जिन्हें वह न्याय्य समझता या न्याय्य समझना या प्रदर्शित करना पसंद करता हो; इसे वह हिंसा, छल, मिथ्यात्व, नाशकारी आक्रमणशीलताके नग्न प्रयोगसे, अन्य प्राण-रूपायणोंको कुचल कर भी कर सकता है: तत्त्व या सिद्धांत वही है, साधन या नैतिक अभिवृत्ति जो भी हो। मनुष्यके प्राण-पुरुषने केवल स्वार्थोंके क्षेत्रमें नहीं, अपितु भावोंके प्रदेश और धर्मके प्रदेशमें भी आत्म-प्रतिष्ठापन और संघर्षके इस अंतर्भाव और अभिवृत्ति और हिंसा, उत्पीड़न, दमन, असहिष्णुता तथा आक्रामकताके व्यवहारको प्रविष्ट कर दिया है: प्राणमयी अहंताके सिद्धांतको उसने बौद्धिक सत्यके प्रदेश और आत्माके प्रदेशपर भी आरोपित कर दिया है। स्वाग्रहशील प्राण अपने-आपके प्रतिष्ठापनके अंदर उस सबके प्रति घृणा और अरुचि ले आता है जो उसके विस्तारके मार्गमें बाधक हो या उसके अहंपर चोट पहुँचाता हो; निर्दयता, विश्वासघात और सब प्रकारकी बुराइयोंको वह साधनके रूपमें या प्राण-प्रकृतिकी सबल अनुरक्ति या प्रतिक्रियाके रूपमें विकसित करता है: कामना और अंतर्वेगकी संतुष्टिके लिये वह सही और

गलतका विचार नहीं करता, अपितु कामना और अंतर्वेगकी पूर्ति मात्रको ध्यानमें रखता है। इस तुष्टिके लिये वह नाशके संकट और कष्टकी वास्तविकताका सामना करनेको तैयार है; कारण, प्रकृति उसे जिस लक्ष्यकी ओर धकेलती है वह आत्म-संरक्षण ही नहीं, अपितु प्राणका प्रतिष्ठापन और प्राणकी तुष्टि है, प्राण-शक्ति और प्राण-सत्ताका रूपायण है।

इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि प्राणिक व्यक्तित्व मूल रूपसे केवल इसी धातुसे गठित है या कि उसका स्वभाव ही बुराईका है। यह ठीक है कि वह मुख्यतया सत्य और शुभसे संबंध नहीं रखता, परंतु उसे सत्य और शुभके लिये भी वैसे ही सबल अनुरक्ति हो सकती है जैसे उसे, अधिक सहज भावसे, हर्ष और सौंदर्यके लिये होती है। प्राण-शक्ति जो कुछ भी विकसित करती है, उसमें साथ ही साथ सत्तामें कहीं एक निगूढ़ आनंद भी विकसित हो जाता है, शुभमें एक आनंद और अशुभमें एक आनंद, सत्यमें एक आनंद और मिथ्यात्वमें एक आनंद, जीवनमें एक आनंद और मृत्युका एक आकर्षण, सुखमें एक आनंद और दुःखमें एक आनंद, अपने निजके कष्ट और दूसरोंके कष्टमें एक आनंद, अपने निजके हर्ष, सुख तथा मंगलमें एक आनंद और दूसरोंके हर्ष, सुख तथा मंगलमें भी एक आनंद। कारण, प्राण-प्रतिष्ठापनकी शक्ति शुभ और अशुभ दोनोंकी प्रतिष्ठा एक समान करती है: उसमें सहायता और साहचर्यके, उदारता, स्नेह, निष्ठा और आत्म-दानके अपने अंतर्वेग हैं; वह जैसे अहंताको अंगीकार करती है, वैसे ही परहितकारिताको भी; वह जैसे दूसरोंका नाश करती है, वैसे ही अपना बलिदान भी; और उसके सारे कार्योंमें प्राण-प्रतिष्ठापनके लिये वही सबल अनुरक्ति, क्रिया और परिपूर्तिकी वही शक्ति होती है। प्राण-पुरुषकी यह प्रकृति और उसके अस्तित्वकी यह प्रवृत्ति जिसमें वे, जिन्हें हम शुभ और अशुभ कहते हैं, अपना स्थान तो रखते हैं परंतु उसके मुख्य नियामक नहीं होते, मनुष्यसे नीचेके जीवनमें स्पष्ट दिखाई देती है; मानव-जीवमें चूंकि एक मानसिक, नैतिक और चैत्य दृष्टि विकसित हुई है, प्राण-पुरुषको नियंत्रण या छद्मावरणके अधीन तो किया जाता है, परंतु उसकी प्रकृति नहीं बदलती। आध्यात्मिक शक्ति, 'आत्मशक्ति'की प्रकट क्रियाके अभावमें प्राण-पुरुष और उसकी जीवनी-शक्ति और आत्म-प्रतिष्ठापनकी ओर उनका प्रणोदन ही कार्य-संपादनके लिये प्रकृतिके प्रधान साधन हैं, और इसके अवलंबके बिना न तो मन, न शरीर ही अपनी संभावनाओंको व्यवहृत कर सकते हैं और न वे यहां जीवनमें अपना लक्ष्य ही संसिद्ध कर सकते हैं। बाह्य प्राण-व्यक्तित्वके स्थानपर आंतरिक या सच्चे प्राण-पुरुषके आ जानेपर ही प्राणिक अहंके

परिचालनसे पूरा छुटकारा पाया जा सकता है और प्राण-शक्ति अंतरात्माकी सेविका और हमारे सच्चे आध्यात्मिक पुरुषकी क्रियाके लिये सशक्त उपकरण वन सकती है।

अतः यही व्यक्तिकी चेतना और इच्छामें भ्रांति, मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभकी उत्पत्ति और प्रकृति है; निर्ज्ञानमेंसे वढ़ती सीमित चेतना भूल-भ्रांतिका स्रोत है, उस परिसीमनके प्रति व्यक्तिगत आसक्ति और उससे उत्पन्न भ्रांति मिथ्यात्वका स्रोत है, प्राणिक अहंसे शासित गलत चेतना अशुभका स्रोत है। परंतु यह स्पष्ट है कि उनका सापेक्ष अस्तित्व एक दृश्य व्यापार मात्र है जिसे विश्वशक्तिने क्रमवैकासिकी आत्माभिव्यक्तिकी ओर अपने अभियानके दौरानमें ही व्यक्त किया है और उसीमें हमें इस व्यापारका तात्पर्य खोजना होगा। कारण, जैसा हम देख चुके हैं, प्राणमय अहंका उद्‌भव व्यक्तिके प्रतिष्ठापनके लिये, अवचेतनके अनिर्दिष्ट उपादान-पिंडमेंसे व्यक्तिकी आत्म-वियुक्तिके लिये, निश्चेतना द्वारा तैयार की गयी भूमिपर चेतन सत्ताके प्राकट्यके लिये प्रकृतिका एक साधन-यंत्र है; अहंका प्राण-प्रतिष्ठापनका तत्त्व इसका आवश्यक परिणाम है। वैयक्तिक अहं एक व्यावहारिक और कार्यकर कल्पना है, अंतर्गूढ़ आत्माका वाह्य चेतनाकी अभिधाओंमें अनुवाद है, अथवा हमारे वहिस्तलके अनुभवमें सच्चे आत्माके स्थानपर लाया गया एक विषयिगत अनुकल्प है: वह अज्ञानके कारण अन्यात्मा और आंतरिक भगवान्‌से पृथक् होता है, परंतु फिर भी, विविधताके मध्य एक क्रमवैकासिक एकीकरणकी ओर गुप्त रूपसे धकेला जाता रहता है; स्वयं वह सांत है, किंतु उसके पीछे अनंतकी ओर अंतर्वेग है। परंतु अज्ञानमयी चेतनाकी अभिधाओंमें इस अंतर्वेगका अनुवाद होता है प्रसारित होनेकी, असीम सांत होनेकी, जो कुछ भी अपने अंदर ले सकता है उसे लेनेकी, प्रत्येक वस्तुमें प्रवेश करने और उसे अधिकृत करनेकी, यहाँ तक कि स्वयं ही अधिकृत हो जानेकी इच्छामें, यदि वैसा करनेसे उसे तुष्टि अनुभव होती हो, दूसरोंके अंदर या उनके द्वारा अपना वर्द्धन दीखता हो, या दूसरोंके अधीन होकर वह उनकी सत्ता और शक्तिको अपने अंदर ले सकता हो, या इससे उसे अपने प्राण-प्रतिष्ठापन, अपने जीवन-आनंद, अपने मानसिक, प्राणिक या शारीरिक जीवनकी समृद्धिके लिये सहायता और प्रेरणा मिलती हो।

परंतु चूंकि यह सव वह पृथक् अहंके रूपमें, अपने पृथक् लाभके लिये करता है, न कि सचेतन आदान-प्रदान और पारस्परिकताके भावसे, न कि एकत्वके भावसे, अतः प्राणिक विसंवाद, संघर्ष और असामंजस्यका उद्‌भव होता है

और इस प्राणिक विसंवाद तथा आसामंजस्यके उत्पादनोंको ही हम प्रमाद और अशुभ कहते हैं। प्रकृति उन्हें इसलिये स्वीकार करती है कि वे क्रमविकासकी आवश्यक परिस्थितियाँ हैं, विभक्त सत्ताके वर्द्धनके लिये आवश्यक हैं; वे अज्ञानकी उत्पत्तियाँ हैं, उन्हें विभाजनपर अधिष्ठित अज्ञानमयी चेतनाका, विभाजन द्वारा कार्य करती अज्ञानमयी इच्छाका, विभाजनमें रस लेनेवाले अस्तित्वके अज्ञानमय आनंदका अवलंब है। क्रम-विकासका अभिप्राय जैसे शुभ द्वारा कार्य करता है, वैसे ही अशुभ द्वारा भी; उसे सबका उपयोग करना होता है, क्योंकि सीमित शुभमें आबद्ध रहनेसे अभिप्रेत क्रमविकास भी बंदी और अवरुद्ध हो जायगा; जो कोई सामग्री प्राप्य है उसका वह उपयोग करता है और उससे जो कुछ कर सकता है करता है: यही कारण है कि हम जिसे अशुभ कहते हैं उसमेंसे अशुभको और जिसे अशुभ कहते हैं उसमेंसे शुभको बाहर आते देखते हैं; और, यदि हम यह भी देखते हों कि जिसे अशुभ माना गया था वह शुभके रूपमें स्वीकृत होता है और जिसे शुभ सोचा था वह अशुभके रूपमें, तो इसका कारण यह है कि दोनोंके लिये हमारे मानदंड विकासशील, सीमित और परिवर्तन-शील हैं। अतः क्रमवैकासिकी प्रकृति, पार्थिव वैश्व शक्ति, आरंभमें इन विरोधियोंमेंसे किसीके भी लिये कोई पसंद रखती नहीं जान पड़ती; वह दोनोंका उपयोग अपने उद्देश्यके लिये समान रूपसे करती है। किंतु तो भी यह वही प्रकृति, वही शक्ति है जिसने मनुष्यपर शुभाशुभकी भावनाका भार लाद दिया है और जो उसके महत्त्वपर बल देती है: अतएव, स्पष्ट ही, इस शुभाशुभकी भावनाका भी क्रमविकासमें एक उद्देश्य है; वह भी आवश्यक होगी ही, उसे भी होना ही चाहिये ताकि मनुष्य कुछ चीजोंको अपने पीछे छोड़ सके, किन्हीं और चीजोंकी ओर बढ़ सके, अंतमें शुभाशुभमेंसे उत्तीर्ण होकर किसी ऐसे 'शिवत्व'में पहुँच सके जो शाश्वत एवं अनंत हो।

परंतु प्रकृतिका क्रमविकासका यह अभिप्राय कैसे पूरा होगा? किस शक्ति, साधन और प्रेरणसे? निर्वाचन और सामंजस्यके किस विधान और प्रक्रियासे? युग-युगमें मनुष्यके मनने जो पद्धति अपनायी है वह सदा निर्वाचन और वर्जनका विधान रही है, और उसने धार्मिक अनुशासन, जीवनके सामाजिक या नैतिक नियम या सदाचारके आदर्शके रूप लिये हैं। परंतु यह वाह्य परीक्षणपर आश्रित साधन है जो समस्याकी जड़को नहीं छूता, कारण, वह जिस रोगका उपचार करनेकी चेष्टा करता है उसके कारण और मूलतक उसकी दृष्टि नहीं पहुँचती; वह रोगके लक्षणोंका उपाय करता है, परंतु करता है गहराईमें गये विना, यह जाने विना कि प्रकृतिके उद्देश्यार्थ

वे कौन सा कार्य पूरा कर रहे हैं, और मन तथा प्राणमें वह क्या है जो उन्हें अवलंब देता और अस्तित्वमें रखता है। इसके अतिरिक्त, मानवीय शुभाशुभ सापेक्ष हैं, नीतिशास्त्रके बनाये मानक अनिश्चित और सापेक्ष दोनों ही हैं: कोई धर्म किसे निषिद्ध करता है, सामाजिक मत किसे शुभ और अशुभ मानता है, किसे समाजके लिये उपयोगी या हानिकर माना जाता है, किसे मनुष्यका कोई सामयिक विधान अनुमति देता या मना करता है, कौन अपने लिये या दूसरोंके लिये सहायक या हानिकर है या माना जाता है, कौन किसी आदर्शसे संगत है, जिस सहज-प्रवृत्तिको हम विवेक कहते हैं वह किसे प्रोत्साहन देती या किससे असम्मत है,—इन सारे दृष्टिकोणोंका सम्मिलन नैतिकताका नियामक विषमांग भाव, उसका संश्लिष्ट उपादान होता है; इन सबमें सत्य, अर्ध-सत्य और भूल-भ्रांतिका सतत मिश्रण है जो हमारे सीमाकारी मानसिक ज्ञान-अज्ञानके सारे क्रियाकलापोंके पीछे लगा रहता है। हमारी प्राणिक और मानसिक कामनाओं और सहज-प्रवृत्तियोंपर, हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक कर्मपर, दूसरोंके साथ हमारे व्यवहारपर मनका एक नियंत्रण हमारे मानव-प्राणी होनेके नाते हमारे लिये अपरिहार्य है और नैतिकता एक ऐसे मानककी सृष्टि करती है जिससे हम अपने-आपका निर्देशन और एक प्रथागत नियंत्रण प्रतिष्ठित कर सकते हैं; परंतु यह नियंत्रण सदा ही अपूर्ण होता है और एक सामयिक साधन मात्र है, समाधान नहीं। मनुष्य सदा वैसा ही रहता है जैसा वह है और होता आया है,—वह है शुभ और अशुभ, पुण्य और पापका मिश्रण, एक मनोमय अहं, जिसका अपनी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रकृतिपर अपूर्ण अधिकार ही होता है।

जो सब हमें शुभ लगता है उसे अपनी चेतना और कर्ममेंसे चुनने और संचित रखने, जो सब अशुभ लगता है उसका वर्जन करने और इस प्रकार अपनी सत्ताकी पुनर्गठन करने, अपने-आपको किसी आदर्शके मूर्त रूपमें पुनर्गठित और रूपायित करनेका प्रयास अधिक गभीर नैतिक हेतु होता है, क्योंकि वह सच्चे प्रश्नके अधिक समीप आता है; वह इस प्रामाणिक भावपर आधारित है कि हमारा जीवन एक संभूति है और कोई ऐसी चीज है जो हमें बनना और होना है। परंतु मानव-मनके बनाये आदर्श चयनशील और सापेक्ष होते हैं; अपने स्वभावको अनम्य रूपसे उनके अनुसार गढ़ना अपने-आपको सीमित करना और एक निर्माण बना डालना है जब कि आवश्यकता विशालतर सत्तामें विकसित होनेकी है। हमें सच्चा आह्वान 'अनंत' और 'परम' का है; हमपर प्रकृति द्वारा आरोपित आत्म-प्रतिष्ठापन और आत्म-त्याग, दोनों ही उसी लक्ष्यकी ओर गतिधाराएँ हैं, और अहंके

मार्गके स्थानपर, जो अज्ञानमय होनेके कारण गलत है, और प्रकृतिके हाँ और ना के बीच संघर्षके स्थानपर हमें आत्म-प्रतिष्ठापन और आत्म-त्याग, दोनोंको साथ लेनेवाले सही मार्गका आविष्कार करना होगा। यदि हमसे उसका आविष्कार नहीं होता है तो या तो प्राणका प्रेरण हमारे पूर्णताके संकुचित आदर्शके लिये अति सबल होगा, उसका साधन-यंत्र टूट जायगा और वह अपनी चरम सिद्धितक पहुँचने और चिरस्थायी होनेमें असफल हो जायगा या, अधिकसे अधिक, हमें बस एक आधा परिणाम ही प्राप्त होगा, या नहीं तो, जीवनसे दूर हट जानेका प्रेरण ही एकमात्र उपायके रूपमें, अज्ञानकी अन्यथा अजेय रहनेवाली पकड़मेंसे निकल सकनेकी एकमात्र राहके रूपमें उपस्थित होगा। वास्तवमें धर्म सामान्यतः इसी मार्गका संकेत करते हैं; भगवदादिष्ट नैतिकता, आचरणकी किसी धार्मिक संहिताके आदेशानुसार सच्चरित्रता, धर्मपरायणता और पुण्यका अनुसरण, किसी मानवीय प्रेरणा द्वारा निर्धारित ईश्वरीय विधान, इसे हमारे उस निष्क्रमणरूपी समाधानकी ही ओर ले जानेवाली राहपर चलनेके लिये साधन और निदेशनके अंग-रूपमें उपस्थित किया जाता है। परंतु यह निष्क्रमण समस्याको वहीं छोड़ देता है जहाँ वह थी; यह विश्वजीवनकी अनसुलझी जटिलतामेंसे व्यक्तिगत सत्ताके बच निकलनेका ही मार्ग है। प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक चिंतनमें इस कठिनाईका बोध अधिक स्पष्ट रूपसे था; वहाँ सत्य, पुण्य, सत्संकल्प और सत्कर्मके अभ्यासको आध्यात्मिक सिद्धिकी ओर जानेके लिये एक आवश्यकता माना गया है, परंतु स्वयं उस सिद्धिमें जीव 'अनंत' और 'शाश्वत'की महत्तर चेतनामें आरोहण कर जाता और पाप-पुण्यके भारको अपने-आपपरसे झाड़ फेंकता है, क्योंकि यह भार सापेक्षता और अज्ञानका है। इस विशालतर और सत्यतर अनुभवके पीछे यह संबोधि थी कि सापेक्ष शुभ हमपर विश्व-प्रकृति द्वारा आरोपित एक प्रशिक्षण है ताकि हम उसके बीचमेंसे निकलते हुए उस सच्चे 'शिव'की ओर जा सकें जो निरपेक्ष या परम है। ये समस्याएँ मन और अज्ञानमय प्राणकी हैं, हम जब मनसे आगे चले जाते हैं तो वे साथ नहीं जातीं; जैसे अनंत ऋत-चित्में सत्य और भ्रांतिके द्वन्द्वका अवसान है, वैसे ही अनंत 'शिव'में शुभ और अशुभके द्वन्द्वसे मुक्ति है, अतिक्रांति है।

मानव-जातिको यह समस्या सदा सताती रही है, किंतु उसे इसका संतोषजनक समाधान नहीं मिला है, और इस समस्यासे कोई कृत्रिम परित्राण पाना संभव भी नहीं है। जिस निश्चेतनामेंसे हमारी सत्ताका उन्मज्जन हुआ है और जिसे हमारे शारीरिक अस्तित्वकी नीचेकी भूमि और आधार बनाकर हमारी सत्ता खड़ी होती है, उस निश्चेतनाके स्वरूप ही के

अंदर शुभाशुभके ज्ञानके मधुर और कटु फलवाले वृक्षकी जड़ें छिपी हैं; वह वृक्ष वाह्य स्तरपर दृश्य रूपसे अज्ञानकी वहुविध शाखाओंमें फैला है और वह अज्ञान परा चेतना और अखंड संवित्की ओर हमारी चेतनाके कठिन क्रमविकासमें अभी भी प्रमुख भाग और अवस्था वना हुआ है। यह भूमि जव तक उन अज्ञात जड़ोंको अपने अंदर लिये होगी और अज्ञानके इस पुष्टिकारी वायु और वातावरणमें रहेगी, वह वृक्ष भी पनपता और वढ़ता जायगा और अपने द्वैध पुष्प और अपने मिश्र प्रकृतिवाले फल उत्पन्न करता रहेगा। इससे यह परिणाम निकलता है कि कोई अंतिम समाधान तव तक नहीं हो सकता जव तक कि हम अपनी निश्चेतनाको महत्तर चेतनामें परिवर्तित न कर दें, आत्मा और अध्यात्म-सत्ताके सत्यको अपने जीवनका आधार न वना दें और अपने अज्ञानको उच्चतर ज्ञानमें परिवर्तित न कर दें। अन्य सारे उपाय कामचलाऊ साधन या वंद गलियाँ होंगे; एकमात्र सच्चा समाधान हमारी प्रकृतिका संपूर्ण और आमूल रूपांतर ही है। हमारी आत्म-संवित् और जगत्-संवित्पर निश्चेतना अपना आदि अंधकार थोपती है, अज्ञान उसे अपूर्ण और विभाजित चेतनापर आधारित करता है और हम उस अंधकार तथा विभाजनमें रहते हैं; इन्हीं कारणोंसे गलत ज्ञान और गलत इच्छा संभव होती हैं। गलत ज्ञानके विना भूल-भ्रांति या मिथ्यात्व नहीं हो सकता था, हमारे सक्रिय भागोंमें भूल-भ्रांति या मिथ्यात्वके विना हमारे अंगोंमें गलत इच्छा नहीं हो सकती थी, गलत इच्छाके विना गलत कर्म या बुराई नहीं हो सकती थी : जबतक ये कारण रहेंगे, हमारे कर्म और हमारी प्रकृतिमें ये परिणाम भी होते रहेंगे। मानसिक नियंत्रण एक नियंत्रण मात्र हो सकता है, उपचार नहीं; मानसिक शिक्षण, नियम और मानदंड हमपर कोई कृत्रिम खाँचा ही थोप सकते हैं जिसमें हमारा कर्म याँत्रिक रूपसे या कठिनाईसे चक्कर काटता है और जो हमारी प्रकृतिके गति-पथपर एक अनुबंधित और सीमित रचनाको आरोपित करता है। एकमात्र उपाय, एकमात्र समाधान है चेतनाका संपूर्ण परिवर्तन, प्रकृतिका आमूल परिवर्तन।

परंतु चूँकि कठिनाईकी जड़ विभक्त, सीमित और पृथगात्मक जीवन है, अतः इस परिवर्तनको हमारी सत्ताकी विभक्त चेतनाका नीरोगण, एक सर्वांग-पूर्णीकरण होना होगा, और चूँकि वह विभाजन संश्लिष्ट और वहुविध है, अतः सत्ताके किसी एक पार्श्वमें होनेवाले परिवर्तनको सर्वांगीण रूपांतरके स्थानपर पर्याप्त अनुकल्पके रूपमें नहीं चलाया जा सकता। हमारा प्रथम विभाजन वह है जिसे हमारे अहंने, और मुख्यतः, सवसे अधिक वल, सवसे

अधिक स्पष्टतासे, हमारे प्राणिक अहंने रचा है जो अन्य सारी सत्ताओंको अनात्मा कहकर हमें उनसे विभक्त करता और हमें हमारी अहं-केंद्रिकता और अहमात्मक आत्म-प्रतिष्ठापनके धर्मके साथ बाँधता है। इस आत्म-प्रतिष्ठापनकी भ्रांतियोंमें ही प्रमाद और अशुभका प्रथम उद्भव होता है: गलत चेतना हमारे अंगोंमें, विचारशील मनमें, हृदयमें, प्राणमय मन और संवेदनात्मक सत्तामें, स्वयं शरीरकी चेतनामें, गलत इच्छा उत्पन्न करती है; गलत इच्छा इन सारे उपकरणोंकी गलत क्रिया, विचार, इच्छा, इंद्रिय-बोध और अनुभवकी बहुल भूल-भ्रांति और बहुशाखाशाली कुटिलता उत्पन्न करती है। फिर, दूसरोंके साथ भी सही व्यवहार हम तब तक नहीं कर सकते जब तक वे हमारे लिये दूसरे रहते हों, हमारे अपने-आपके लिये अजनबी सत्ताएँ रहते हों, जिनकी आंतरिक चेतना, जिनके अंतरात्माकी आवश्यकता, जिनके मनकी आवश्यकता, जिनके हृदयकी आवश्यकता, जिनकी प्राणसत्ताकी आवश्यकता, जिनके शरीरकी आवश्यकताको हम अल्प ही जानते हों या कुछ भी न जानते हों। साहचर्यके विधान, आवश्यकता और अभ्याससे उत्पन्न अपूर्ण सहानुभूति, ज्ञान और सद्भावनाका स्वल्प परिमाण सच्ची क्रियाके लिये आवश्यक परिमाणकी एक दरिद्र प्रमात्रा ही है। एक विशालतर मन, एक विशालतर हृदय, एक अधिक प्रचुर और उदार प्राण-शक्ति हमें सहायता देने या दूसरोंको सहायता देने और निकृष्टतम अपराध रोकनेके लिये कुछ कर सकती है, परंतु यह भी अपर्याप्त है और बहुत सारी विपत्तियाँ और हानियाँ और दूसरोंके मंगलके साथ हमारे अभीष्ट मंगलकी टक्करें इससे नहीं रुक सकतीं। हमारे अहं और अज्ञानका स्वरूप ही ऐसा है कि जब हम निःस्वार्थ होनेका गर्व सबसे अधिक करते हैं तब भी हम अहंतासे आत्म-प्रतिष्ठापन ही करते हैं, जब हम अपनी समझ और ज्ञानका गर्व सबसे अधिक करते हैं तब भी हम अज्ञानसे आत्म-प्रतिष्ठापन ही करते हैं। परहितवादको जीवनका नियम बना लेनेसे भी हमारी मुक्ति नहीं होती; वह आत्म-अभिवर्द्धनके लिये और संकीर्णतर अहंको सुधारनेके लिये सशक्त साधन है, परंतु वह न तो अहंको नष्ट करता है, न उसे उस सच्चे आत्मामें ही रूपांतरित करता है जो सबके साथ एक है; परहित-वादीका अहं उतना ही सबल और निमग्नकारी होता है जितना कि स्वार्थीका, और वह प्रायः अधिक सबल और हठी होता है क्योंकि वह धर्माभिमानी और आवर्द्धित अहं है। यदि हम अपने आत्म-स्वरूपको दूसरोंके आत्म-स्वरूपके अधीनस्थ करनेके भावसे अपने अंतरात्मा, अपने मन, प्राण या शरीरपर अन्याय करते हैं, तो इससे तो और भी कम सहायता मिलती

है। अपनी सत्ताका सम्यक् रूपसे प्रतिष्ठापन ही, जिससे कि वह सबके साथ एक हो सके, सच्चा विधान है, न कि उसे विकलांग करना या उसका बलिदान करना। आत्म-बलिदान विशेष अवसरोंपर, अपवाद-रूपमें, किसी विशेष उद्देश्यके लिये, हृदयकी किसी मांगके उत्तरके रूपमें या किसी सम्यक् या उच्च उद्देश्यके लिये, आवश्यक हो सकता है, परंतु उसे जीवनका नियम या स्वभाव नहीं बनाया जा सकता; इस भाँति आत्म-बलिदानको अतिरंजित करनेसे वह केवल दूसरोंके अहंको पुष्ट और अतिरंजित या किसी सामूहिक अहंको आवर्द्धित ही करेगा, हमें या मानव-जातिको हमारी या उसकी सच्ची सत्ताके आविष्कार और प्रतिष्ठापनकी ओर नहीं ले जायगा। त्याग और आत्म-दान निस्संदेह एक सच्चा विधान हैं और आध्यात्मिक आवश्यकता भी, कारण, अपने अहंसे विशालतर किसी वस्तुके लिये त्याग या आत्म-दानके बिना हम अपनी सत्ताका सम्यक् रूपसे प्रस्थापन नहीं कर सकते; परंतु त्याग या आत्म-दान भी सच्चे ज्ञानपर प्रतिष्ठित सम्यक् चेतना तथा इच्छासे ही किया जाना चाहिए। अपनी प्रकृतिके सात्त्विक भागका विकास, उस प्रकृतिका विकास जो प्रकाश, अवबोध, संतुलन, सामंजस्य, सहानुभूति, शुभेच्छा, दयालुता, मैत्रीभाव, आत्म-संयम, सम्यक् रूपसे व्यवस्थित और सामंजस्यपूर्ण कर्मकी है, मनोमय रूपायणकी सीमाओंमें हमारे द्वारा की जा सकनेवाली उत्तम वस्तु है, परंतु यह हमारी सत्ताके विकासमें आनेवाली एक भूमिका है, उसका लक्ष्य नहीं। ये समाधान आनुषंगिक हैं, उपशामक हैं, इस मूल कठिनाईसे आंशिक व्यवहार करनेके लिये आवश्यक साधन हैं, हमें एक अस्थायी सहायता और निर्देशनके रूपमें ही दिये गये अस्थायी मानदंड और उपाय हैं क्योंकि सच्चा और समग्र समाधान हमारे वर्तमान सामर्थ्यसे परे है और केवल तब आ सकता है जब हमारा विकास इतना पर्याप्त हो जाय कि हम उसे देख सकें और अपना प्रधान व्रत बना लें।

सच्चे समाधानका प्रवेश केवल तब हो सकता है जब हम अपने आध्यात्मिक विकाससे समस्त भूतोंके साथ एकात्म हो जायँ, उन्हें अपने आत्माका अंग जानें, उनसे इस तरह व्यवहार करें मानों वे हमारे ही अन्य आत्मा हों; कारण, तब विभाजनका नीरोगण हो जाता है, पृथक् आत्म-प्रतिष्ठापनका धर्म, जो स्वयमेव ही दूसरोंके विरुद्ध या दूसरोंकी हानि करके आत्म-प्रतिष्ठापनकी ओर ले जाता है, दूसरोंके लिये हमारे आत्म-प्रतिष्ठापन और उनकी आत्म-प्राप्ति तथा आत्मोपलब्धिमें हमारी आत्म-प्राप्तिके धर्मको अपने साथ जोड़ करके विस्तृत और मुक्त हो जाता है। धार्मिक सदाचारका यह नियम बनाया गया है कि हम विश्वकरुणाके भावसे कार्य करें, अपने

पड़ोसीसे वैसे ही प्रेम करें जैसे निजसे, दूसरोंसे वैसा ही वर्ताव करें जैसा हम चाहते हैं कि वे हमसे करें, दूसरोंके सुख-दुःखको अपने ही सुख-दुःखकी तरह अनुभव करें; परंतु अपने अहंमें निवास करता हुआ कोई भी मनुष्य ये सारी चीजें सच्चे और पूर्ण रूपसे नहीं कर सकता, इन्हें वह केवल अपने मनकी एक मांगके रूपमें, अपने हृदयकी एक अभीप्साके रूपमें, अपने संकल्पके एक प्रयासके रूपमें स्वीकार कर सकता है जिसका लक्ष्य एक उच्च मानदंडके अनुसार रहना और एक सच्चे प्रयाससे अपनी असंस्कृत अहं-प्रकृतिको संशोधित करना हो। यह आदर्श हमारे जीवनका स्वाभाविक और सहज नियम तभी बन सकता और जैसे सिद्धांतमें वैसे ही व्यवहारमें भी तभी निष्पन्न किया जा सकता है जब हम दूसरोंको अंतरंग रूपसे आत्मवत् जानें और अनुभव करें। किंतु दूसरोंके साथ एकत्व भी, यदि वह एकत्व उनके अज्ञानके साथ हो, अपने-आपमें पर्याप्त नहीं, क्योंकि तब तो अज्ञानका विधान कार्य करेगा और कर्मकी भूल-भ्रांति और गलत कर्म टिके रहेंगे, भले ही उनकी मात्रा न्यून हो जाय और उनका प्रभाव और स्वभाव नरम पड़ जायँ। दूसरोंके साथ हमारा एकत्व मूलभूत होना ही चाहिये, उनके मन, हृदय, प्राणिक सत्ता, अहंके साथ एकत्व नहीं,—यद्यपि हमारी विश्वभावापन्न चेतनामें इनके साथका एकत्व भी सम्मिलित होगा,—वरं अंतरात्मा तथा अध्यात्म-सत्तामें एकत्व; और ऐसा केवल तब हो सकता है यदि हम मुक्ति लाभ कर आंतरात्मिक संवित् एवं आत्मज्ञानमें जा पहुँचे। अहंसे स्वयं हमारा मुक्त होना और सच्चे आत्म-स्वरूपको प्राप्त करना पहली आवश्यकता है, अन्य सब कुछ एक प्रकाशमय फल, एक आवश्यक परिणामके रूपमें प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक पुकारको अनुल्लंघ्य मानकर अंगीकार करना ही चाहिये, और अन्य जितने दावे हैं, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक, जो अज्ञानके क्षेत्रकी वस्तुएँ हैं, उन सबकी अपेक्षा उस आध्यात्मिक पुकारको प्रधानता देनी ही चाहिये। कारण, शुभका मानसिक विधान उसी क्षेत्रमें रहता है और कुछ परिवर्तन और उपशमन ही कर सकता है; सच्चे और पूर्ण शुभकी उपलब्धिके लिये आध्यात्मिक परिवर्तनका स्थान लेनेको अन्य कुछ भी पर्याप्त नहीं, कारण कर्म और जीवनके मूलमें हम अध्यात्म द्वारा ही पहुँचते हैं।

आध्यात्मिक आत्म-ज्ञानमें उसकी आत्मोपलब्धिके तीन डग हैं जो साथ ही साथ एक ही ज्ञानके तीन अंग हैं। प्रथम है अंतरात्माका आविष्कार; विचार, भावावेग और कामनाके बहिरात्माका नहीं, वरं हमारे अंदरके दिव्य तत्त्व, निगूढ़ चैत्य पुरुषका आविष्कार। वह जब प्रकृतिपर प्रधान हो

जाता है, जब हम सचेतन रूपसे अंतरात्मा हो जाते हैं और जब मन, प्राण और शरीर उसके उपकरण-रूपमें अपना सच्चा स्थान लेते हैं, तब हमें एक अंत:स्थ पथ-प्रदर्शकका बोध होता है जो सत्यको, शिवको, अस्तित्वके सच्चे आनंद एवं सौंदर्यको जानता, हृदय और बुद्धिको अपने ज्योतिर्मय विधानसे नियंत्रित करता और हमारे जीवन तथा सत्ताको आध्यात्मिक संपूर्णताकी ओर ले जाता है। तब अज्ञानकी अंधाकारमयी क्रियाओंके मध्य भी हमें एक साक्षी मिलता है जो ईक्षण करता है, एक जीवंत ज्योति मिलती है जो आलोकित करती है, एक इच्छा-शक्ति मिलती है जो दिग्भ्रांत होनेसे इनकार करती और मनके सत्यको उसकी भूल-भ्रांतिसे, हृदयके अंतरंग प्रत्युत्तरको हृदय पर की गयी गलत पुकार और गलत मांगके प्रति उसके स्पंदनोंसे, प्राणके सच्चे उत्साह और परिपूर्ण गतिशीलताको प्राणिक आवेशसे, हमारी प्राणिक प्रकृतिके मलिन मिथ्यात्वों और उसकी अंधकारमयी स्वार्थ-एषणाओंसे पृथक् करती है। अहंके स्थानपर अंतरात्माको, दिव्य चैत्य पुरुषको सिंहासनस्थ करना आत्मोपलब्धिका पहला डग है। हमारे अंदर जो आत्मा नित्य, अज और समस्त भूतोंके साथ एक है, उसके प्रति संविद् होना अगला डग है। यह आत्मोपलब्धि मुक्त करती और विश्वव्यापकताका भाव देती है; हमारा कर्म यदि तब भी अज्ञानकी क्रियाधारामें चल रहा हो तो भी वह कर्म हमारे लिये बंधनकारी या पथभ्रष्टकारी नहीं होता, क्योंकि हमारा आंतरिक पुरुष आत्मज्ञानकी ज्योतिमें आसीन है। तीसरा डग है उस 'दिव्य पुरुष' को जानना जो एक साथ ही हमारा परम विश्वातीत आत्मा है, हमारे विश्वत्वका अधिष्ठान-रूप 'विश्वपुरुष' है, और हमारे अंदरका 'दिव्य सत्' है जिसका कि हमारा चैत्य पुरुष, हमारी प्रकृतिमें क्रमविकसित होता सच्चा पुरुष, एक अंश, एक स्फुलिंग, एक अग्नि-शिखा है जो उस शाश्वत वैश्वानरकी ओर बढ़ती जा रही है जिससे वह प्रदीप्त हुई थी, जिसकी वह हमारे अंदर नित्य विद्यमान उपद्रष्ट्री है और जिसके प्रकाश, बल, आनंद तथा सौंदर्यका वह सचेतन उपकरण है। भगवान्‌को हमारी सत्ता और हमारे कर्मके स्वामी जानते हुए हम उनकी शक्तिकी, दिव्य शक्तिकी सरणियाँ होना सीख सकते हैं और उस शक्तिके आदेशों या अपने अंदर विद्यमान उसके प्रकाश और बलके शासनके अनुसार कार्य कर सकते हैं। तब हमारा कर्म हमारे प्राणिक अंतर्वेगके अधीन नहीं होगा, मनके मानदंडसे शासित नहीं होगा; कारण, वह दिव्य शक्ति विश्वके चिरस्थायी और साथ ही नमनीय रहते सत्यके अनुसार कार्य करती है,—उस सत्यके अनुसार नहीं जिसे मन निर्मित करता है, अपितु प्रत्येक स्पंद और परिस्थिति

के उच्चतर, गभीरतर और सूक्ष्मतर सत्यके अनुसार, जैसा कि परमा प्रज्ञाको ज्ञात है और विश्वमें परमा इच्छाके द्वारा इच्छित है। इच्छाकी मुक्ति ज्ञानमें मुक्ति होनेपर आती है और उसका क्रियात्मक परिणाम है; ज्ञान ही शुद्धिकर है, सत्य ही मुक्तिदायी। अशुभ है आध्यात्मिक अज्ञानका परिणाम और आध्यात्मिक चेतनाके विकास तथा आध्यात्मिक ज्ञानके प्रकाशके वर्द्धनसे ही वह विलीन हो सकेगा। दूसरोंकी सत्तासे हमारी सत्ताके विभाजनका उपचार केवल तब हो सकता है जब कि हमारी प्रकृतिका अंतःस्थ अंतरात्मा-सद्वस्तुसे विच्छेद दूर हो जाय; हमारी संभूति और हमारी आत्म-सत्ताके बीचका आवरण विनष्ट हो जाय, हमारे प्रकृति-स्थ व्यक्तित्व और प्रकृति-स्थ तथा प्रकृत्यातीत सर्वगत सद्वस्तु-स्वरूप दिव्य पुरुषके बीचकी दूरी पाट दी जाय।

परंतु जिस अंतिम विभाजनको दूर करना होगा वह इस प्रकृति और उस पराप्रकृतिके बीच विच्छेद है जो दिव्य सत्‌की आत्म-शक्ति है। सक्रिय ज्ञान-अज्ञानको दूर करनेके पहले भी, जब कि वह अध्यात्म-सत्ताके अपर्याप्त साधन-यंत्रके रूपमें ही रह रहा हो, तब भी पराशक्ति या पराप्रकृति हमारे द्वारा क्रिया कर सकती है, और हमें उसकी क्रियाओंका बोध हो सकता है; परंतु उस अवस्थामें वह यह क्रिया अपने प्रकाश और बलको हल्का या मंद करके ही कर सकती है, जिससे कि मन, प्राण और शरीरकी निम्नतर प्रकृति उसे ग्रहण और आत्मसात् कर सके। किंतु यह पर्याप्त नहीं; आवश्यक यह है कि हम जो कुछ हैं उसे दिव्य पराप्रकृतिके पंथ और बलको आधार बनाकर फिरसे संपूर्णतया गढ़ा जाय। हमारी सत्ताका समाकलन तबतक संपूर्ण नहीं हो सकता जबतक सक्रिय क्रियातंत्रका यह रूपांतर न हो जाय; केवल सत्ताके आंतरिक पंथोंका कुछ दीप्तिकरण और रूपांतर ही नहीं, वरं स्वयं प्रकृतिकी समस्त रीतिका उन्नयन और परिवर्तन करना होगा। यह आवश्यक है कि शाश्वत ऋत-चित् हमें अधिकृत करे और हमारी सारी प्राकृतिक रीतियोंका अपनी सत्ता, ज्ञान एवं कर्मकी स्वीय रीतियोंमें उन्नयन करे; तब एक स्वतःस्फूर्त सत्य-संवित्, सत्य-इच्छा, सत्य-अनुभूति, सत्य-वृत्ति, सत्य-कृति, हमारी प्रकृतिका अखंड धर्म बन सकती है।

द्वितीय ग्रंथका पूर्वार्द्ध
समाप्त

परिशिष्ट

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

अ	
अनुकल्प	substitute
अनुवृत्ति	continuation, prolongation
अ-मौल	derivative
अस्ति-काल	Time positive
आ	
आदिभौतिक सत्ताएँ	elemental beings
आत्माभिव्यक्ति	self-manifestation
आत्माभिव्यक्ति-कारी	self-manifesting
ऊ	
ऊर्ध्वपातन	sublimation
क	
क्रियामुख, क्रियाशील	kinetic
क्रियात्मकता, क्रियापरकता, क्रियाशीलता	kinesis
घ	
घन-सैद्धांतिक कला	cubist art
ज	
जड़वस्तु	Matter
द	
दीर्घायु	prolongation
न	
नास्ति-काल	Time negative

प	
परिणति-विकास	growth into
प्रमाणिक	sound
प्रायोगिक	experimental
भ	
भूतार्थ और भव्यार्थ	actuals and potentials
म	
मृण्मय	physical
व	
वस्तुनिष्ठता	objectivity
वास्तव	Real
विश्वभ्रम, विश्वमाया	Cosmic illusion
वीर्य-विभूति	power
व्यावहारिक	practical, pragmatic
'व्यावहारिक'	phenomenal
स	
संधृत	sustained
संपरिवर्तन	conversion
सचल क्रिया	dynamic action
सूरि	seer
स्वयं-प्रकाशक, स्वयं-प्रकाशमान्	self-manifesting
स्वाभिव्यक्ति	self-manifestation